साहित्य भवन पब्लिकेशन्स

भारत में सामाजिक चिन्तन

SOCIAL THOUGHT IN INDIA

प्रो. एम. एल. गुप्ता
डॉ. डी. डी. शर्मा

लघु उत्तरीय, अति लघु उत्तरीय एवं
वस्तुनिष्ठ प्रश्न सहित

भारत में
सामाजिक चिन्तन
एवं समाजशास्त्र
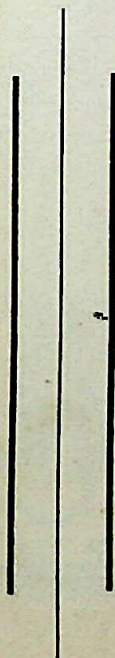
पूर्वांचल विश्वविद्यालय के बी. ए. तृतीय वर्ष (प्रथम प्रश्न-पत्र) हेतु नवीनतम् पाठ्यक्रमानुसार

भारत में सामाजिक चिन्तन एवं समाजशास्त्र

(SOCIAL THOUGHT IN INDIA AND SOCIOLOGY)

प्रो. एम. एल. गुप्ता
प्राचार्य एवं स्नातकोत्तर विभागाध्यक्ष

एवं

डॉ. डी. डी. शर्मा
प्राचार्य
राजकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, बारां

2002

साहित्य भवन पब्लिकेशन्स : आगरा

all
about the book

I S B N-81-7288-626-8

Price : Rs. 80.00

Second Edition : 1998
Third Revised Edition : 2002

Published by
Sahitya Bhawan Publications
HOSPITAL ROAD, AGRA-282 003
Tel. 351665, 353400, 360899
Fax 0562-351568

Printed at
Bhawan Printers
Agra

Note : Due care and diligence has been taken while editing and printing the book, neither the author nor the publisher of the book hold any responsibility for any mistake that may have inadvertently crept in.

भूमिका

सामाजिक विचारक अपने मौलिक चिन्तन, मनन एवं अध्ययन द्वारा सामाजिक विज्ञानों की आधार-शिला निर्मित करने में अपूर्व योग देते हैं। समाजशास्त्र के विकास में भी अनेक सामाजिक विचारकों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ऐसे भारतीय विचारकों में श्री अरबिन्द घोष, महात्मा गांधी, जी. एस. घुरिये तथा एम. एन. श्रीनिवास के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहां पुस्तक में इन्हीं विचारकों की कृतियों, योगदान—विविध अवधारणाओं एवं सिद्धान्तों पर विचार किया गया है।

पुस्तक में मुख्य ध्यान इस बात का रखा गया है कि सामाजिक विचारकों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं को विद्यार्थी सही रूप में सुगमता के साथ समझ सकें। पाठ्यक्रम के काफी कुछ बदल जाने तथा छात्रों की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए विषय से सम्बन्धित नवीन सामग्री को पुस्तक में सम्मिलित करने का पूर्ण प्रयास किया गया है। भाषा, शैली तथा विषय की उदाहरणों सहित सरल अभिव्यक्ति पुस्तक की प्रमुख विशेषताएं हैं। पुस्तक के लेखन में जिन विद्वानों की रचनाओं का लाभ उठाया गया है, उनके प्रति आभार व्यक्त करना हम अपना पुनीत दायित्व समझते हैं। पुस्तक के प्रकाशक श्री के. एल. बंसल को हम विशेष रूप से धन्यवाद देना चाहेंगे जिनकी प्रेरणा एवं प्रयास से बहुत ही कम समय में पुस्तक का यह तृतीय संस्करण आकर्षक रूप में प्रकाशित हो सका है।

यह पुस्तक पूर्वांचल विश्वविद्यालय के बी. ए. पार्ट III समाजशास्त्र पेपर I 'भारत में सामाजिक चिन्तन एवं समाजशास्त्र' हेतु विशेषतः लिखी गयी है, परन्तु इससे अन्य विश्वविद्यालयों के विद्यार्थी भी अवश्य लाभान्वित हो सकेंगे। सहृदय पाठकों एवं विज्ञजनों से अपने रचनात्मक सुझाव भेजने का नम्र निवेदन है।

(एम. एल. गुप्ता)

(डी. डी. शर्मा)

आपका नवीनतम् पाठ्क्रम

पूर्वांचल विश्वविद्यालय

बी. ए. पार्ट III : समाजशास्त्र

प्रथम प्रश्न-पत्र : भारत में सामाजिक चिन्तन एवं समाजशास्त्र

भारतीय सामाजिक चिन्तन :

प्रमुख विशेषताएं, मनुस्मृति के विशेष सन्दर्भ में भारत में सामाजिक चिन्तन का विकास, सामाजिक संरचना (वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ, संस्कार, विवाह एवं परिवार)

सामाजिक विचारक :

(अ) श्री अरबिन्द घोष (सामाजिक उद्विकास तथा अतिमानव की अवधारणा)

(ब) महात्मा गांधी (सत्य एवं अहिंसा की अवधारणा, सर्वोदय तथा सामाजिक पुनर्निर्माण कार्यक्रम)

भारतीय पुनर्जागरण के काल में सामाजिक चिन्तन :

(ब्रह्म समाज, आर्य समाज)

जी. एस. घुरिये तथा एम. एन. श्रीनिवास के विशेष सन्दर्भ में भारत में समाजशास्त्र।

विषय-सूची

1

भारतीय सामाजिक चिन्तन (विचारधारा)
(प्रमुख विशेषताएं एवं विकास)
[INDIAN SOCIAL THOUGHT]
(SALIENT FEATURES AND DEVELOPMENT)

विचार एवं चिन्तन मानव की प्रमुख विशेषता है। जब मानव के सम्मुख कोई समस्या आती है तो वह उस पर चिन्तन करने लगता है और चिन्तन के बाद ही वह किसी निष्कर्ष पर पहुंचता है, उसे ही हम विचार कहते हैं। सामाजिक विचारधारा का तात्पर्य है सामाजिक जीवन से सम्बन्धित समस्याओं के बारे में चिन्तन करने से उत्पन्न विचार। मानव जीवन की जटिलता ने आरम्भ से ही मानव के सम्मुख अनेक प्रश्न और समस्याएं उत्पन्न की हैं, जिनका समाधान करने के लिए मानव ने चिन्तन किया और कई विचारधाराओं को जन्म दिया। इस प्रकार से सामाजिक जीवन की समस्याओं के बारे में समाज के विचारक, सुधारक, चिन्तनशील और बुद्धिवान प्राणी सदैव ही अपने विचार व्यक्त करते रहे हैं, उनके बारे में अपने सुझाव, नियम और सिद्धान्त प्रतिपादित करते रहे हैं।

चूंकि प्रत्येक युग, समाज और स्थान की अपनी-अपनी समस्याएं रही हैं, अतः विभिन्न युगों एवं समाजों में सामाजिक विचारों में भी अन्तर पाया जाता है। भारतीय सामाजिक विचारधारा की भी अपनी कुछ अनूठी विशेषताएं हैं। भारतीय सामाजिक विचारधारा को जानने से पूर्व हम यहां सामाजिक विचारधारा की परिभाषा एवं विशेषताओं का उल्लेख करेंगे।

सामाजिक विचारधारा का अर्थ एवं परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF SOCIAL THOUGHT)

शाब्दिक दृष्टि से सामाजिक विचारधारा का अर्थ है, "समाज के बारे में विचार या चिन्तन।" यह विचार व्यक्तिगत रूप से भी किया जा सकता है और सामूहिक रूप से भी। विभिन्न विद्वानों ने सामाजिक विचारधारा को निम्नांकित प्रकार से परिभाषित किया है:

बोगार्डस (Bogardus) के अनुसार, "जहां तक भूतकाल और वर्तमान का प्रश्न है, सामान्यतः सामाजिक समस्याओं पर अकेले व्यक्तियों के विचार को ही सामाजिक विचार

कहा जा सकता है। इस दृष्टि से मानव इतिहास या वर्तमान में यहां वहां एक या कुछ व्यक्तियों द्वारा सामाजिक समस्याओं के बारे में सोचना या विचारना ही सामाजिक विचार है।"[1]

रोलिन चेम्बलिस (Rollin Chambliss) के अनुसार, "सामाजिक विचार साथियों के बीच सम्बन्धों में मानव प्राणियों से सम्बन्धित है।"[2]

फरफे (Furfey) के अनुसार, "सामाजिक विचारधारा मानवीय जीवन से सम्बन्धित है।........सामाजिक विचार एक शब्द है क्योंकि इसमें मानव समूह की सभी प्रकार की गतिविधियां सम्मिलित हैं।"[3]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि सामाजिक विचारधारा का सम्बन्ध मानव के सामाजिक जीवन और सामाजिक समस्याओं से है। सामाजिक जीवन एवं सामाजिक समस्याओं के बारे में विचार किसी अकेले व्यक्ति द्वारा या सामूहिक रूप से भी व्यक्त किये जा सकते हैं, इसे ही सामाजिक विचार कहते हैं। चूंकि प्रत्येक समाज और युग की सामाजिक समस्याएं और सामाजिक जीवन भिन्न-भिन्न रहा है, अतः हमें प्रत्येक युग की एक विशिष्ट विचारधारा देखने को मिलती है। भारत में ही वैदिककालीन समाज, मध्य युग से और मध्ययुगीन समाज आधुनिक युग से भिन्न था अतः हमें प्राचीन, मध्य युग और आधुनिक युग में भिन्न-भिन्न विचारधाराएं देखने को मिलती हैं। मानव के सामने जब तक समस्याएं नहीं आयेंगी तब तक वह जीवन में कठिनाई महसूस नहीं करता। जब कठिनाई आती है तो उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित होती है और तभी वह उन कठिनाइयों के सम्बन्ध में विचार करना प्रारम्भ कर देता है। व्यक्तियों के विचारों को जो किसी समस्या के बारे में व्यक्त किये जाते हैं, सामाजिक विचारधारा कहते हैं।

सामाजिक विचारधारा की प्रकृति एवं प्रमुख विशेषताएं
(NATURE AND SALIENT FEATURES OF SOCIAL THOUGHT)

बोगार्डस के अनुसार, सामाजिक विचारधारा मानवीय विचारधारा की वह शाखा है जो कि अपनी सामाजिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर मानवीय अन्तर्सम्बन्धों तथा अन्तःक्रियाओं के विशेष रूप से सम्बन्धित है। सामाजिक विचार अमूर्त होते हैं। समाज में प्रचलित विचार विचारधारा की श्रेणी में नहीं आते क्योंकि इनमें कोई गहराई नहीं होती। प्रचलित विचारों में कुछ प्रश्न उठाये जाते हैं, सन्देह प्रकट किये जाते हैं तथा दूरगामी सम्बन्धों का पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है। दूसरी ओर अमूर्त विचारों में कारणवादी व्याख्याओं वास्तविकता का वर्गीकरण, सम्बन्धों में दूरदर्शिता तथा सन्तुलित विधियों की तरफ काफी ध्यान दिया जाता है। व्यावहारिक चिन्तन प्रत्येक सामान्य व्यक्ति द्वारा सम्भव है, किन्तु अमूर्त चिन्तन नहीं।

1 "As far past and present are concerned social thought amounts, as a rule to the thought about social questions by individual persons. In this sense social thought is thinking about social problems by one or a few persons here and there in human history or at the present."
—E. S. Bogardus, *Development of Social Thought*, p. 3.

2 "Social thought is concerned with human beings in their relations with their fellows." —Rollin Chambliss, *Social Thought*, p. 3.

3 "Social thought is thought bearing on human group life......Social thought is very inclusive term since it covers all thinking about human group activities."
—P. H. Furfey, *History of Social Thought*, p. 3.

सामाजिक विचारधारा का सम्बन्ध केवल सामाजिक समस्याओं के बारे में ही चिन्तन नहीं है, वरन् इसका सम्बन्ध समाज के आर्थिक, राजनीतिक एवं अन्य विषयों से भी हो सकता है। यद्यपि इसकी उत्पत्ति मुख्यतः सामाज़िक समस्याओं के हल के लिए होती है।

सामाजिक जीवन से सामाजिक विचारधारा का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। चूंकि सामाजिक जीवन विकासवादी है अतः सामाजिक विचारधारा की प्रकृति भी विकासवादी है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर सामाजिक विचारधारा की निम्नांकित विशेषताएं प्रकट होती हैं :

(1) सामाजिक विचारधारा का सम्बन्ध सामाजिक समस्याओं के समाधान से होता है।

(2) सामाजिक विचारधारा अमूर्त है।

(3) सामाजिक विचारधारा का सम्बन्ध सामाजिक समस्याओं से ही नहीं वरन् आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं तथा सामाजिक नियोजन से भी है।

(4) प्रत्येक समाज़ की एवं प्रत्येक युग की एक विचारधारा होती है इसलिए विभिन्न युगों में विभिन्न विचारधाराएं पायी जाती हैं।

(5) सामाजिक अनुभवों के आधार पर सामाजिक विचारधाराओं का विकास होता है एवं उनसे वह प्रभावित भी होती है।

(6) सामाजिक विचारधारा की प्रकृति विकासवादी है।

भारत में सामाजिक चिन्तन (विचारधारा) का विकास
(DEVELOPMENT OF SOCIAL THOUGHT IN INDIA)

भारतीय सामाजिक विचारधारा को समझने के लिए उसका विकास और उसकी ऐतिहासिक विवेचना करनी होगी। भारतीय सामाजिक विचारधारा के विकास को चार युगों में बांटा जा सकता है : (I) आदिम (प्राचीन) सामाजिक विचार, (II) वैदिककालीन सामाजिक विचार (चिन्तन), (III) मध्यकालीन सामाजिक विचार, (IV) आधुनिक सामाजिक विचार।

(I) आदिम (प्राचीन) सामाजिक विचार

आदिम सामाजिक विचार मानव इतिहास के प्रारम्भिक युग का स्मरण कराता है। उस समय लोग बर्बर अवस्था में थे और प्रकृति से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था तथा जीवन की रक्षा ही सबसे बड़ा कर्तव्य था। सामाजिक विचारों की दृष्टि से भारत किसी भी देश से पिछड़ा हुआ नहीं था। भारतीय चिन्तन का स्वरूप हमें लोक-कथाओं, लोक-वार्ताओं, गीतों और कहावतों, आदि के रूप में मिलता है। उस समय के चिन्तन पर प्रकृति का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। उस समय के विचारों में जीवन और मृत्यु ही प्रमुख विषय थे।

भारत में सामाजिक विचारों का प्रारम्भ आर्यों के आगमन से ही माना जाता है। आर्यों और अनार्यों के मन में आत्मरक्षा की प्रबल भावना काम करती थी। विजय और पराजय की समस्याओं ने भी आर्यों के चिन्तन को प्रभावित किया जो लोक कथाओं, लोक-वार्ताओं और धर्मगाथाओं के रूप में अभिव्यक्त हुआ। जीवन की दुरूहता, बर्बरता और कठिनाइयों से लड़ने के लिए किसी अलौकिक शक्ति की आवश्यकता महसूस हुई होगी और तभी से देवी-देवताओं का पूजन प्रारम्भ हुआ होगा। उस समय आक्रमण का दौर होने के कारण जिस पर आक्रमण होता वह भी रक्षा के उपाय के बारे में चिन्तन करता। इस प्रकार से संघर्ष के विचारों का प्रादुर्भाव हुआ।

संघर्षों के बाद धीरे-धीरे शान्ति स्थापित हो गयी होगी। लोगों ने अपनी जीवन-रक्षा के बारे में सामूहिक रूप से सोचना प्रारम्भ कर दिया होगा। इस समय तक मानव ने छोटे-छोटे कबीलों के रूपों में रहना शुरू कर दिया होगा। गण और गोत्र के रूप में सम्बन्ध दृढ़ हुए होंगे। आदिम सामाजिक चिन्तन में हमें मुख्य रूप से देवी-देवताओं, जादू-टोना और आत्मा के बारे में विवरण देखने को मिलता है। भारत की लोक-कथाओं, लोक गीतों एवं धार्मिक गाथाओं में यही सब कुछ देखा जा सकता है। 'हितोपदेश' एवं 'पंचतन्त्र' की कहानियों में हमें तत्कालीन सामाजिक विचार देखने को मिलते हैं। इन ग्रन्थों में पशु-पक्षियों को माध्यम बनाकर उपदेश दिये गये हैं। इस प्रकार से हमें भारतीय आदिकालीन चिन्तन में जीवन, मृत्यु और रक्षा से सम्बन्धित विचारों की प्रधानता देखने को मिलती है जो किसी न किसी रूप में आज भी जीवित हैं।

प्राचीन भारतीय चिन्तन के प्रमुख स्रोत
(MAIN SOURCES OF ANCIENT INDIAN SOCIAL THOUGHT)

प्राचीन भारतीय सामाजिक चिन्तन का ज्ञान हमें प्रमुख रूप से धर्म गाथाओं, पौराणिक गाथाओं एवं लोकवार्ता और गीतों के माध्यम से प्राप्त होता है।

(1) धर्म गाथाएं—धर्म गाथाओं में लोक चिन्तन के उन विचारों का संग्रह है जिनमें सृष्टि, मनुष्य, सूर्य, चन्द्र, तारे पृथ्वी, जीव-जन्तुओं, आदि का उल्लेख किया गया है। इनमें जीववाद और जीवसत्तावाद तथा सृष्टि और उसके तत्वों का उल्लेख भी किया गया है। भारतीय धर्म ग्रन्थों में मनु को प्रथम मनुष्य के रूप में दर्शाया गया है। प्रलय के बाद ब्रह्मा ने जब सृष्टि की रचना की तो मनु ही प्रथम मानव थे। सभ्यता के विकास, धार्मिक घटनाओं एवं सामाजिक घटनाओं, आदि का उल्लेख भी हमें भारतीय धर्मग्रन्थों में देखने को मिलता है। भारतीय धर्मग्रन्थों में प्रत्येक परिस्थिति, समस्या और घटना में किसी न किसी दैवीय शक्ति को भी साथ में जोड़ा गया है जो समस्या का कारण या समाधान प्रस्तुत करती है। अलौकिक शक्ति के पुट के कारण कई समाजों में कई धार्मिक एवं सामाजिक अन्धविश्वासों ने भी जन्म लिया और साथ ही जादू तथा धर्म से सम्बन्धित अनेक कर्मकाण्डों का भी प्रचलन हुआ।

(2) पौराणिक गाथाएं—पौराणिक गाथाओं से भी हमें सामाजिक विचारों के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। इन गाथाओं में भी हमें सृष्टि की रचना, इष्ट देवता और महापुरुषों के कार्यों का वर्णन मिलता है। इनके यश को बढ़ा-चढ़ाकर व्यक्त किया गया है। कई बार तो पौराणिक गाथाएं वास्तविकता से बहुत दूर होती हैं। आदिकालीन भारतीय चिन्तन का एक बहुत बड़ा भाग पौराणिक गाथाओं में निहित है।

(3) लोकवार्ताएं एवं गीत—सामाजिक चिन्तन और विचारों का एक बहुत बड़ा भाग मानव के मनोरंजन के लिए उपयोग में लाया गया है। आदिकाल से ही हमें भारतीय लोक-गीतों एवं वार्ताओं में देवी-देवताओं, पशु-पक्षियों, राजा-रानियों एवं महापुरुषों के चमत्कारिक कार्यों का उल्लेख मिलता है। भारत का आदिकालीन लोक चिन्तन लोकवार्ताओं और लोक-गीतों में बिखरा पड़ा है। लोकोक्तियों और मुहावरों में भी हमें लोक-साहित्य देखने को मिलता है। लोकवार्ताएं, लोकगीत, कहावतें और मुहावरे एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को मौखिक रूप से हस्तान्तरित होते रहे हैं। यह मौखिक साहित्य है जिनके द्वारा आदिम सामाजिक चिन्तन मुखरित हुआ है।

प्राचीन भारतीय सामाजिक चिन्तन की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF ANCIENT INDIAN SOCIAL THOUGHT)

प्राचीन भारतीय सामाजिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएं निम्नांकित हैं :

(1) **स्पष्टता का अभाव**—प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारों में हमें स्पष्टता का अभाव देखने को मिलता है। चूंकि आदिम विचारों का हस्तान्तरण प्रमुखतः मौखिक रूप से होता था। अतः एक द्वारा किसी बात को दूसरे के कहने पर स्वाभाविक रूप से उसमें कुछ अन्य नई बातें जुड़ जातीं और उनमें स्पष्टता भी नहीं रह पाती।

(2) **स्थिरता एवं व्यवस्था का अभाव**—प्राचीन सामाजिक विचारों में हमें तारतम्य, क्रम और व्यवस्था का अभाव देखने को मिलता है, साथ ही उनमें स्थिरता भी नहीं पायी जाती है। विषय-वस्तु और उसकी व्याख्या में कोई सम्बन्ध नहीं पाया जाता। लोक गाथाओं में कई ऐसी बातें भी देखने को मिलेंगी जिनका चिन्तन से कहीं कोई सम्बन्ध दिखायी नहीं देता।

(3) **सामाजिक समस्याओं का अभाव**—प्राचीन विचार व्यक्ति प्रधान हैं। आदिम मानव जंगली और स्वार्थी था वह सामूहिकता के स्थान पर वैयक्तिकता को महत्व देता था। वह आत्मरक्षा की बात ही अधिक सोचता था। व्यक्ति का जीवन अपने परिवार, झुण्ड और कबीले तक ही सीमित था वही उसका सम्पूर्ण संसार और समाज था अतः उसका चिन्तन भी वहीं तक सीमित था।

(4) **अमूर्त विषयों का अभाव**—प्राचीन विचारों में हमें अमूर्त विचारों की नहीं, वरन् व्यावहारिकता की प्रधानता देखने को मिलती है। मनुष्य अपने विचार अपने साथियों को प्रसन्न रखने के लिए प्रकट करता था। अधिकांशतः उसका चिन्तन जीवन की व्यावहारिक समस्याओं तक सीमित था। जीवन के अमूर्त विषयों के बारे में विचार करने की न तो आवश्यकता ही थी और न आदि मानव की इतनी बुद्धि ही विकसित हो पायी थी। वह तुरन्त पैदा होने वाली समस्याओं का समाधान शीघ्र ढूंढ़ लिया करता था। जादू-टोना, पूजा और बलि, आदि व्यावहारिक विचार ही उसकी समस्याओं के समाधान थे।

(5) **उपदेशात्मक विचारों की प्रधानता**—प्राचीन विचारों में उपदेशात्मक विचारों की प्रधानता पायी जाती है। मुखिया को क्या करना चाहिए और क्या नहीं, ऐसे विचारों की बहुलता थी। ईश्वरीय इच्छा का उल्लंघन करना पाप और अधार्मिक माना जाता था और उससे सम्बन्धित कहानियां गढ़ ली जाती थीं। विचारों में प्रेरणा, परामर्श और उपदेश ही अधिक थे जिनके पालन को अच्छा माना जाता था तथा उल्लंघन को पाप एवं दण्डनीय।

(6) **व्यापकता का अभाव**—प्राचीन विचारों का विस्तार परिवार, गोत्र, नातेदारी और विभिन्न व्यक्तियों के अधिकारों तक ही सीमित था, अतः सामाजिक विचार भी यहीं तक सीमित थे, उनका व्यापक समाज से कोई सम्बन्ध नहीं था।

(7) **सामाजिक चिन्तन में समानता**—यदि हम विभिन्न समस्याओं और संस्कृतियों का अवलोकन करें तो पायेंगे कि उनमें पर्याप्त समानता पायी जाती है। उस समय लोगों की विचार शक्ति, बौद्धिक स्तर और सामाजिक समस्याओं में पर्याप्त समानताएं थीं, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने एक ही प्रकार के विचार प्रस्तुत किये। प्रकृति और परिस्थितियों की भिन्नता होते हुए भी सामाजिक आवश्यकताओं एवं जीवन के अनुभवों में समानता होने के कारण विचार में भी साम्यता देखने को मिलती है।

(II) वैदिककालीन सामाजिक विचार (चिन्तन)

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के बारे में जानकारी प्रदान करने वाले सर्वप्रथम लिखित ग्रन्थ वेद हैं। वेदों से ही हमें उस समय की सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक स्थिति का ज्ञान होता है। वेदों में ऋग्वेद सबसे प्राचीन है। हिन्दू लोग वेदों से ही सृष्टि का आरम्भ मानते हैं। ब्रह्मा ने राज्य के नियमों एवं समाज के बारे में जो व्यवस्था दी वही वेदों में निहित है। वेदों के रचनाकाल के बारे में भी मतभेद है। लोकमान्य तिलक इनका रचना काल ईसा से 4,000 वर्ष पूर्व और मैक्समूलर 1,200 वर्ष पूर्व मानते हैं। वेदों के अतिरिक्त उपनिषदों और पुराणों को भी वैदिककालीन सामाजिक विचारों के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। वैदिककालीन विचारों में हमें स्पष्टता, स्थिरता, अमूर्तता, व्यवस्था और सामाजिकता देखने को मिलते हैं। वैदिककालीन सामाजिक विचारों में परिवार, गोत्र, वर्ण, आश्रम, जाति, धर्म, संस्कार, कर्म पुरुषार्थ, यज्ञ, विवाह, जन्म, मृत्यु, आदि अनेक विषयों पर विचार मिलते हैं। वेदों से जो चिन्तन हमें प्राप्त होता है वह किसी विशेष युग, समाज या देश विशेष के लिए ही नहीं, वरन् प्रत्येक युग, समाज और देश के लिए है। वेदों में निहित ज्ञान कभी पुराना नहीं होगा। वेदों में धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन, मनोविज्ञान, आदि सभी से सम्बन्धित ज्ञान निहित है। इसका प्रभाव अन्य देशों पर भी पड़ा। मैक्समूलर का मत है कि एक भारतीय ब्राह्मण ने एन्थेस में **सुकरात** से धर्म चर्चा की थी। पाइथोगोरस ने तो कहा कि प्लेटो को समझने के लिए पहले हिन्दू विचारधारा को समझना होगा।

वेदों में केवल सामाजिक विचार ही निहित नहीं हैं, वरन् संगीत, कला और वाद्ययन्त्रों तथा रोगों और औषधियों का भी उल्लेख है। यजुर्वेद, सामवेद में गायन के सिद्धान्तों के बारे में विस्तृत चर्चा की गयी है। वेदों में धर्म और आध्यात्मिक चिन्तन की प्रमुखता पायी जाती है। सामाजिक जीवन के बारे में भी विस्तार से चिन्तन पाया जाता है।

वैदिककालीन भारतीय चिन्तन की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF VEDIC INDIAN SOCIAL THOUGHT)

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में जो चिन्तन उपलब्ध है उसकी मुख्य विशेषताएं निम्न हैं :

(1) **धार्मिक विचारों की प्रधानता**—वेदों में वर्णित धर्म केवल ईश्वरीय और अलौकिक ही नहीं, वरन् लौकिक, व्यावहारिक और सामाजिक भी है। व्यक्ति के अपने परिवार, राष्ट्र और समाज के प्रति किये जाने वाले कर्तव्यों को ही धर्म माना गया है। वेदों में वर्णित धर्म 'रिलिजन' (Religion) का पर्यायवाची नहीं है। वैदिक धर्म मानवीय कर्तव्यों, आचार और नैतिकता पर आधारित है। वेदों की ऋचाओं में भारतीय राष्ट्र की जो कल्पना की गयी है वह आज के भारत से भी विस्तृत है। वेदों में देश के नदी-नद, वनों, पर्वतों, समुद्रों एवं भूमि की वन्दना की गयी है।

वेदों में आत्मा, कर्म, जन्म, मृत्यु के बारे में भी विचार किया गया है। आत्मा को अविनाशी और अजर-अमर माना गया है। कर्मों के अनुसार ही उसका विभिन्न योनियों में जन्म होता है। श्रेष्ठ कर्म एवं ईश्वर भजन से ही आत्मा जन्ममरण के चक्र से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करती है। वेदों में मोक्ष के साधनों का भी उल्लेख किया गया है। इस प्रकार से

वैदिक ग्रन्थों में धर्म और उससे सम्बन्धित कर्मों की चर्चा इस प्रकार से की गयी है कि वह सामाजिक नियन्त्रण के रूप में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

(2) सामाजिक संस्थाओं सम्बन्धी विचार—सामाजिक संस्थाओं का जन्म भी मानव संगठनों के जन्म के साथ ही हुआ। वैदिक साहित्य में परिवार, धर्म, वर्ण, आश्रम, गोत्र, वंश, विवाह, आदि संस्थाओं के बारे में विस्तार से चर्चा की गयी है।

(3) आश्रम व्यवस्था—वैदिककालीन सामाजिक चिन्तन में आश्रम व्यवस्था की विस्तार से चर्चा की गयी है। वैदिककालीन विचारकों द्वारा मानव जीवन की आयु 100 वर्ष मानकर 25-25 वर्ष के चार भाग किये गये। प्रत्येक भाग आश्रम कहलाता है। ये चार आश्रम हैं—ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम तथा संन्यास आश्रम। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति 8 या 10 वर्ष की आयु से 25 वर्ष तक की आयु में रहता है। वह गुरु के पास गुरुकुल में रहकर विद्याध्ययन करता और गुरु की सेवा करता। इसके बाद वह विवाह करके गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता जहां 50 वर्ष की आयु तक रहता। गृहस्थी के रूप में व्यक्ति अपने अनेक पारिवारिक एवं सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करता। 50 वर्ष की आयु के बाद अपने दायित्वों को अपने पुत्र, आदि को सौंपकर जंगल में रहने लगता और भजन करता; यह वानप्रस्थ आश्रम कहलाता है। 75 वर्ष से आगे की आयु तक वह संन्यास आश्रम गृहण करता, इधर-उधर विचरण करता और मोक्ष प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता। इस प्रकार से आश्रम व्यवस्था में मानव जीवन को वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर विभाजित किया गया है।

(4) वर्ण व्यवस्था—वैदिक काल में समाज का विभाजन विभिन्न वर्गों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र चार भागों में किया गया। चार वर्णों की उत्पत्ति सृष्टि रचयिता ब्रह्मा के शरीर से विभिन्न अंगों द्वारा मानी गयी है। ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से, क्षत्रिय भुजाओं से, वैश्य जंघाओं से एवं शूद्र पैरों से उत्पन्न हुए। इस प्रकार से वर्ण-व्यवस्था समाज के सावयव सिद्धान्त को अभिव्यक्त करती है। वेदों में विभिन्न वर्गों के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया गया है। ब्राह्मण का कर्तव्य अध्ययन-अध्यापन, दान, हवन, आदि हैं, क्षत्रिय का कर्तव्य समाज की रक्षा, वैश्य का कर्तव्य व्यापार और कृषि करना तथा शूद्र का कर्तव्य उपर्युक्त तीनों वर्णों की सेवा करना है।

(5) विवाह एवं परिवार—वैदिक काल में पितृ सत्तात्मक परिवार व्यवस्था विद्यमान थी जिसे कुल कहा जाता था। उस समय परिवार संयुक्त हुआ करते थे और मुखिया के हाथों में ही परिवार की शक्ति केन्द्रित थी। विवाह को एक धार्मिक संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया जिसे कभी तोड़ा नहीं जा सकता। वैदिक काल में विवाह के आठ स्वरूपों ब्राह्मण, दैव, प्राजापत्य, आर्ष, असुर, गान्धर्व, क्षात्र और पैशाच विवाह का प्रचलन था। विभिन्न वर्गों के लिए विभिन्न प्रकार के विवाहों का भी विधान किया गया है।

(6) वैदिककालीन राजव्यवस्था—वैदिककालीन चिन्तन में राज्य की दैवीय उत्पत्ति, राजा के कर्तव्यों, मन्त्री एवं मन्त्रिपरिषद् तथा प्रजा के कर्तव्यों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में एक आदर्श राज्य की कल्पना की गयी है जो आज के समाजवादी राज्य के निकट है। राजा वंशानुगत भी होता था तथा कई बार उसका चुनाव भी किया जाता था। यजुर्वेद में 'जन राज्य' की बात कही गयी है। उस समय के राज्य गणतन्त्रात्मक होते थे।

इन विचारों के अतिरिक्त वैदिक चिन्तन में स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों एवं अधिकारों, अन्तर्विवादों, गोत्र, संयुक्त परिवार, संस्कार, पुरुषार्थ, आदि पर भी चिन्तन किया गया है।

वैदिक युग का प्रारम्भ उस समय हुआ जब मानव ने बर्बर अवस्था त्यागकर संगठित जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार से वैदिककालीन चिन्तन भारतीय सामाजिक चिन्तन का आधार रहा है जिसका प्रभाव आगे आने वाले समयों में व आज तक बना हुआ है।

(III) मध्यकालीन सामाजिक विचार

वैदिक काल के बाद महाकाव्य काल प्रारम्भ होता है जिसमें रामायण और महाभारत की रचना की गयी। इस युग में भी धर्म, परिवार, कुल, गोत्र, वर्ण, आश्रम, विवाह, स्त्री की स्थिति, राजा एवं प्रजा के कर्तव्यों, आदि पर विशद चिन्तन किया गया। मध्यकाल में ही पुराणों एवं स्मृतियों की रचना हुई। महाकाव्य काल के बाद जैन और बौद्ध युग आता है जिसने प्राचीन वैदिक ब्राह्मण धर्म के विरुद्ध विद्रोह किया और उसमें सुधार किया। इस युग के सामाजिक चिन्तन में भी हमें वर्ण एवं जाति, जन्म, मृत्यु, मोक्ष, संसार, दुख, समाज में आचरण के नियमों, आदि के बारे में दोनों ही धर्मों के संस्थापकों के विचारों का ज्ञान प्राप्त होता है।

(IV) आधुनिक सामाजिक विचार

मध्यकाल के बाद आधुनिक काल का सामाजिक चिन्तन आता है जिनमें विचारकों ने मानव जीवन के विभिन्न पक्षों पर विचार किया है। आधुनिक काल के विचारकों में अरविन्द, महात्मा गांधी, तिलक, विनोबा भावे, जय प्रकाश नारायण, आचार्य नरेन्द्र देव, पण्डित नेहरू, एम. एन. राय, राधा कमल मुकर्जी, डी. पी. मुकर्जी, जी. एस. घुरिये, एम. एन. श्रीनिवास, आदि प्रमुख हैं। इनके विचारों के विषय थे—मानव जीवन, सत्य और अहिंसा, समाजवाद औद्योगीकरण, पश्चिमीकरण, सामाजिक मूल्य, जाति व्यवस्था, सामाजिक परिवर्तन, भूदान, सहकारिता, सर्वोदय, आदि।

उपर्युक्त उल्लेख से स्पष्ट है कि भारतीय सामाजिक चिन्तन एक लम्बे दौर से गुजरा है और प्रत्येक युग के चिन्तन के अलग-अलग विषय रहे हैं।

प्रश्न

1. सामाजिक विचार से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रकृति एवं विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
2. प्राचीन भारतीय सामाजिक चिन्तन एवं उनमें वर्णित विषयों पर एक निबन्ध लिखिए।
3. भारतीय सामाजिक चिन्तन के विशिष्ट लक्षणों की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1992)
4. भारत में सामाजिक चिन्तन (विचारधारा) के विकास का उल्लेख कीजिए।
5. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए : प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आधार। (पूर्वांचल, 1991)
6. हिन्दू मामाजिक दर्शन लौकिक तथा पारलौकिक जीवन का एक सन्तुलित दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।" इसकी विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1993)
7. "भारतवर्ष का साहित्य विचारों का वह स्रोत है जिनसे हम अपने जीवन के लिए वह सुधारक वस्तु प्राप्त कर सकते हैं जिसकी हमें अपने जीवन की अधिक पूर्ण, अधिक विस्तृत व अधिक व्यापक बनाने के लिए सबसे अधिक आवश्यकता है, न केवल इस जीवन के लिए अपितु अनन्त जीवन के लिए।" इस कथन की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1994)
8. भारतीय सामाजिक विचारधारा की प्रमुख विशिष्टताओं की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए। (पूर्वांचल, 1996)

2

मनुस्मृति के सन्दर्भ में भारत में सामाजिक चिन्तन का विकास

[DEVELOPMENT OF SOCIAL THOUGHT IN INDIA WITH SPECIAL REFERENCE TO MANUSMRITI]

हिन्दू धर्म के प्राचीनतम ग्रन्थों में मनुस्मृति एक महत्वपूर्ण धर्म ग्रन्थ है, जिसकी रचना महाराज मनु ने की थी। मनु भी एक नहीं अनेक हुए हैं अतः यह विवाद का विषय रहा है कि मनुस्मृति के लेखक कौन से मनु रहे हैं। ऋग्वेद में मनु को पिता के रूप में स्वीकार किया गया है। पी. बी. काणे कहते हैं, वैदिक संस्कृत साहित्य में मनु का वर्णन कई रूपों में किया गया है। सर्वप्रथम वे मानव जाति के पिता तथा आदि पुरुष के रूप में स्वीकार किये गये हैं। मनु की सन्तान ही मानव के नाम से जानी जाती है। वैदिक ऋचाओं में यह उल्लेखित है कि मनु ही सर्वप्रथम अग्नि को पृथ्वी पर लाये। मनु वैदिक साहित्य में अर्द्ध-दैवी सत्ता के रूप में भी मान्य हैं, जिन्होंने ईश्वर से नियमों एवं उपनियमों को प्राप्त किया। कहीं-कहीं पर उनका उल्लेख कृत युग के राजा के रूप में भी हुआ है। मनुस्मृति में मनु द्वारा भिन्न विषयों पर व्यक्त किये गये विचारों को जानने से पूर्व मनु कौन थे, यह जान लेना आवश्यक है।

मनु : एक परिचय
(MANU : AN INTRODUCTION)

प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थों में मनु को मानव जाति का प्रथम पुरुष और जनक माना जाता है। मनु की सन्तान ही मनुष्य या मानव कहलाती है। ऋग्वेद में मनु को मानव सृष्टि का प्रवर्तक व मानव जाति का पिता माना गया है। मनुस्मृति के अनुसार सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्मा ने विराट पुरुष को उत्पन्न किया और विराट पुरुष से मनु की उत्पत्ति हुई। मनु ही आदि पुरुष हैं, जिन्होंने ब्रह्मा की इच्छास्वरूप तप द्वारा दस प्रजापति महार्षियों को उत्पन्न किया। उनके नाम मरीचि, अत्रि, अंगिरा, पुलस्त्य, ऋतु, प्रचेता, पुलह, वशिष्ठ, भृगु तथा नारद हैं। सृष्टि के आरम्भ में धर्म तथा आचार के नियम ब्रह्मा द्वारा मनु को ज्ञात हुए और उन्होंने इन नियमों को अन्य महर्षियों को सुनाया। मनु ने भृगु से कहा कि वे अन्य लोगों को ये नियम सुनायें। मनु शब्द 'मनन' शब्द से बना है। तैत्तरीय संहिता में भी मानव जाति

को मनु की सन्तान कहा गया है। वह यज्ञ को प्रारम्भ करने वाला प्रथम यज्ञ कर्ता भी कहा जाता है। पुराणों में उसे सूर्य-पुत्र एवं पहला राजा माना गया है। पुराणों में 14 मनु होने का भी उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार से शंकराचार्य की गद्दी पर बैठने वाले सभी महन्तों को शंकराचार्य कहा जाता है उसी प्रकार से जिसको सृजन करने का अधिकार होता वह मनु कहा जाने लगा होगा। इस प्रकार से मनु एक वंश है। इसी वंश के लोगों ने ही समय-समय पर मनुस्मृति में नियमों को काटने-छांटने, घटाने व बढ़ाने का कार्य किया। यही कारण है कि मनुस्मृति में एकरूपता का अभाव पाया जाता है और एक ही विषय के बारे में विरोधी विचार भी पाये जाते हैं।

जनश्रुति के आधार पर मनु को ब्रह्मा का मानव पुत्र बताया गया है और पुराणों में ऐसा उल्लेख है कि जब जल प्रलय में सारी सृष्टि नष्ट हो गयी, उस समय नाव में बैठे हुए मनु और उनकी स्त्री शतरूपा ही बची। इस जोड़े से दो पुत्र और तीन पुत्रियां उत्पन्न हुईं। उनके प्रथम पुत्र प्रियव्रत के वंश में ऋषभदेव तथा भरत, आदि हुए। भरत के नाम पर ही इस देश का नाम भारत रखा गया। उनके दूसरे पुत्र और पुत्रियों के कुल में अनेक ऋषि और बलशाली योद्धा हुए। इस प्रकार से धीरे-धीरे मनु की सन्तानों की संख्या बढ़ती गयी और आज सम्पूर्ण मानव जाति उसके वंशज के रूप में जीवित है।

फ्रांसीसी विचारक **रैनेग्रिनो** ने मनु को धार्मिक एवं ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया है। उनका मत है कि मनु द्वारा बताये हुए नियम साधारण नियम हैं, जो सर्वव्याप्त हैं। प्रसिद्ध विचारक पी. वी. काणे ने अपनी पुस्तक '**धर्मशास्त्र का इतिहास**' में कहा है कि "यह कह सकना प्रायः असम्भव है कि मनुस्मृति की रचना किसने की? जिस पौराणिक मनु की चर्चा होती है और जिनका वर्णन ऋग्वेद में है, उन्होंने मनुस्मृति की रचना नहीं की है।" स्पष्ट है कि जिस मनु की चर्चा धार्मिक, पौराणिक तथा दन्त कथाओं में होती है, उसने मनुस्मृति नहीं लिखी है।

इस प्रकार से मनु की सत्ता के संम्बन्ध में तो सन्देह नहीं है, किन्तु यह कहना कठिन है कि सम्पूर्ण मनुस्मृति की रचना किसी एक ही मनु ने की है। मनुस्मृति को पढ़ने से ज्ञात होता है कि इसमें जो बातें कही गयी हैं वे एक युग की नहीं हैं वरन् बदलते युगों का सत्य उससे प्राप्त होता है। अतः यह एक व्यक्ति की रचना नहीं हो सकती। इसलिए मनु भी एक नहीं अनेक हुए हैं।

मनुस्मृति : रचना एवं प्रतिपाद्य विषय
(MANUSMRITI : CREATION AND ITS CONTENT)

जिस प्रकार से मनु के बारे में विद्वानों में मतभेद है उसी प्रकार से इस बात को लेकर भी मत भिन्नता है कि मनुस्मृति के रचयिता कौन से मनु थे और उनका रचना काल क्या रहा होगा। मनुस्मृति में जिन नियमों की चर्चा की गयी है वे किसी एक युग से नहीं, वरन् अनेक युगों से सम्बन्धित हैं तथा इसमें संशोधन एकाधिबार हुआ है।

डॉ. बी. सी. सरकार मनुस्मृति को ईसा से लगभग 150 वर्ष पूर्व की रचना मानते हैं। **मैक्समूलर** के मतानुसार मनुस्मृति चौथी शताब्दी के बाद लिखी गयी जॉर्ज बुलर के अनुसार इस ग्रन्थ का अस्तित्व ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में भी था। डॉ. हण्टर इसकी रचना का काल ईसा से 6,000 वर्ष पूर्व, काल्डवेल एवं एलफिन्सटन ईसा से 900 वर्ष पूर्व, मजूमदार एवं

पुसालकर ईसा पूर्व 3,110 वर्ष, एवं पी. वी. काणे 200 ई. पूर्व और 200 ई. के मध्य मानते हैं। फ्रांसीसी विचारक रेनेग्रिनो का मत है जिस प्रकार से वेदों की रचना की कोई निश्चित तिथि निर्धारित नहीं की जा सकती, उसी प्रकार से स्मृतियों की रचना के विषय में तिथि निर्धारण का प्रयत्न भी निष्फल होगा।

मनुस्मृति में हमें सर्वत्र ही ब्राह्मणों का वर्चस्व दिखाई देता है। इससे स्पष्ट है कि मनुस्मृति उस समय लिखी गयी जबकि ब्राह्मणों का आधिपत्य और सुनहरा युग था तथा जैन और बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था। इसलिए ही मनु ने बौद्ध और जैन धर्म को मानने वालों को पुर से निकाल देने के नियम बनाये।

मनु एक मौलिक चिन्तक नहीं थे, वरन् उन्होंने वैदिक मान्यताओं को स्वीकार किया तथा वैदिक दृष्टिकोण से विचार किया। उन्होंने प्राचीन वैदिक दर्शन को जिसका निरन्तर ह्रास हो रहा था, उसे क्रमबद्ध रूप देकर मनुस्मृति की रचना की। स्मृतियों में मनुस्मृति का स्थान सर्वोपरि है, यह वेद के अधिक निकट है। मनु ने सर्वप्रथम मानव के व्यवहारों के लिए एक व्यवस्थित व्यवस्था दी। मनुस्मृति में एक विशुद्ध भारतीय विचारधारा है। इसमें उस युग के सामाजिक जीवन के दर्शन होते हैं। मनु को हिन्दू कानूनी व्यवस्था का पिता कहा जाता है और मनुस्मृति को मानव धर्मशास्त्र की संज्ञा दी जाती है। जर्मन विद्वान नीत्शे के अनुसार, "मनुस्मृति बाईबिल की अपेक्षा कहीं अधिक अनुपम, उत्कृष्ट और बौद्धिक ग्रन्थ है।" डॉ. भगवान दास के अनुसार मनुस्मृति मानवीय संसार में प्राचीनतम् विधि की पुस्तक है जो कि सम्पूर्ण जीवन की वैज्ञानिक व्यवस्था को बताती है।[1] बृहस्पति का कथन है कि मनुस्मृति में प्रतिपादित नियम वेदानुकूल हैं, अतः इससे भिन्न स्मृतियां मान्य नहीं हैं। मनु सामाजिक विचारकों की प्रथम पंक्ति में आते हैं क्योंकि उन्होंने अपने प्रबन्ध में वेदों के सम्पूर्ण अर्थ की अभिव्यक्ति की है जिसका कोई भी शास्त्र खण्डन नहीं करता है।

मनुस्मृति में अनेक विषयों की व्याख्या की गयी है। इसमें ब्रह्माण्ड, विज्ञान, धर्म-विज्ञान, दर्शन, शरीर, रचना विज्ञान, मनोविज्ञान, राजनीति, राजतन्त्र एवं अर्थशास्त्र तथा प्रजा के कर्तव्यों, आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। इसमें 2,694 श्लोक और 12 अध्याय हैं। यह ग्रन्थ संस्कृत भाषा में लिखा हुआ है। इसकी भाषा सरल, शैली आकर्षक तथा बौद्धिक है।

मनुस्मृति के प्रथम अध्याय में सृष्टि का वर्णन है। जगत् की उत्पत्ति से पूर्व की अवस्था, ईश्वर द्वारा सृष्टि की रचना करना, द्युलोक, भूलोक, अन्तरिक्ष, दिशा जल स्थान की उत्पत्ति, मन, अहंकार, तीन गुण, पांच इन्द्रियों की उत्पत्ति, अन्य देवताओं की उत्पत्ति, वेदों की उत्पत्ति, काल विभाजन, नदी व समुद्र की उत्पत्ति, विराट की उत्पत्ति, स्त्री-पुरुषों एवं अन्य जीवों की उत्पत्ति, प्रलय, चारों युगों एवं वर्णों के धर्म, आदि विषयों पर विचार किया गया है। अध्याय के अन्त में संक्षिप्त सूची पत्र दिया गया है।

दूसरे अध्याय में धर्मोपदेश, विभिन्न कर्म-काण्डों, संस्कारों और उनके विधि-विधानों, धर्म की प्रशंसा, आर्यावर्त की सीमा, सदाचार के लक्षणों, यज्ञ, माता-पिता तथा आचार्य के साथ कैसा व्यवहार किया जाय तथा चारों आश्रमों, आदि के बारे में चर्चा की गयी है।

तीसरे अध्याय में ब्रह्मचर्य की महिमा, गृहस्थ के कर्तव्यों एवं यज्ञादि, का वर्णन है।

1 **Bhagwan Das, *The Science of Social Organization*, p. 186.**

चतुर्थ अध्याय में मनुष्य के नित्य कर्मों, दिनचर्या, करने योग्य और न करने योग्य कार्यों का उल्लेख किया गया है।

पांचवें अध्याय में स्त्री के कर्तव्यों सम्बन्धी धर्मोपदेश तथा शिक्षा का वर्णन किया गया है।

छठवें अध्याय में वानप्रस्थ आश्रम की महिमा, वानप्रस्थ धर्म से मुक्ति, संन्यास आश्रम, परमात्मा की सूक्ष्मता, आदि विषयों का वर्णन है।

सातवें अध्याय में राजशास्त्र सम्बन्धी विषयों का वर्णन है जैसे राजधर्म, राज्य की उत्पत्ति का प्रयोजन, राजा का दैवत्व, राजा का प्रभाव, दण्ड की उत्पत्ति, राजा के कर्तव्य, कर के नियम, सेना, आदि के बारे में विचार किया गया है।

आठवें अध्याय में अभियोगों की छानबीन, न्याय के सम्बन्ध में राजा के कर्तव्यों, न्याय सभा की रचना, साक्षी, धर्म, दण्ड, साझा, विभिन्न प्रकार के अपराधों एवं उनके दण्डों, आदि का उल्लेख किया गया है।

नवें अध्याय में स्त्री-पुरुष के संयोग-वियोग, पतिव्रत धर्म, सपिण्ड, सगोत्र निषेधों, स्त्री धर्म, बन्दीगृहों, आदि का विवेचन है।

दसवें अध्याय में ब्राह्मणों से सम्बन्धित अधिकारों एवं कर्तव्यों, चारों वर्णों के सामान्य धर्मों, ब्राह्मणों की पवित्रता एवं अपवित्रता तथा राजा और शूद्र के आपद् धर्मों का उल्लेख किया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में दान का उल्लेख है। दान किसे दिया व किससे लिया जाय, देव एवं असुर के लक्षणों, पाप एवं प्रायश्चित, आदि की विवेचना भी इसी अध्याय में की गयी है।

बारहवें अध्याय में कर्म फल, स्वर्ग-नर्क, मोक्ष, पाखण्ड और गुण-धर्म, आदि का उल्लेख किया गया है।

हम यहां मनुस्मृति में वर्णित धर्म, वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, विवाह प्रणाली, स्त्री की स्थिति तथा राजनीतिक विचारों का उल्लेख करेंगे।

मनुस्मृति में धर्म (Dharma in Manusmriti)

मनुस्मृति में 'धर्म' का प्रतिपादन प्रमुख रूप से किया गया है, किन्तु यहां धर्म का अर्थ पश्चिम के 'रिलिजन' (Religion) से भिन्न है। मनुस्मृति के प्रथम अध्याय के दूसरे श्लोक में 'धर्म' क्या है, यह प्रश्न मनु से किया गया है और इसके उत्तर में ही मनुस्मृति की रचना की गयी। धर्म का विस्तृत अर्थों में प्रयोग किया गया है। इसका अर्थ केवल ईश्वरीय सत्ता या अलौकिक सत्ता में विश्वास ही नहीं है, वरन् यह तो व्यक्ति के सम्पूर्ण नैतिक कर्तव्यों की व्याख्या करता है।

धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है जिसका अर्थ है धारण करना, बनाये रखना अथवा पुष्ट करना। धर्म का अर्थ सभी जीवों के प्रति दया धारण करने से है। धर्म सभी प्राणियों की रक्षा करता है। धर्म का प्रयोग नैतिक कर्तव्यों के रूप में भी किया गया है। मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षण बताये गये हैं। वे हैं—धैर्य, क्षमा, दम, अस्तेय, (चोरी न करना), पवित्रता इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य एवं क्रोध पर नियन्त्रण।[1]

मनु ने धर्म के तीन स्वरूपों सामान्य धर्म, विशिष्ट धर्म एवं आपद्धर्म का उल्लेख किया है।

1 मनुस्मृति, अध्याय 6, श्लोक 2।

(1) सामान्य धर्म (*Samanya Dharma*)

सामान्य धर्म को मानव धर्म भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत वे नैतिक नियम आते हैं जिनके अनुसार आचरण करना प्रत्येक व्यक्ति का परम दायित्व है। इस धर्म का लक्ष्य मानव मात्र में सद्गुणों का विकास और उसकी श्रेष्ठता को जागृत करना है। यह वह धर्म है जो प्रत्येक के लिए अनुसरणीय है। चाहे बालक हो या वृद्ध, स्त्री हो या पुरुष, गरीब हो या अमीर, सवर्ण हो या अवर्ण, राजा हो या प्रजा, सबके लिए सामान्य धर्म का पालन करना आवश्यक कर्तव्य है। श्रीमद्भागवत् में सामान्य धर्म के ये तीस लक्षण बतलाये गये हैं : सत्य, दया, तपस्या, पवित्रता, कष्ट सहने की क्षमता, उचित-अनुचित का विचार, मन का संयम, इन्द्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, त्याग, स्वाध्याय, सरलता, सन्तोष, सभी के लिए समान दृष्टि, सेवा, उदासीनता, मौन, आत्म चिन्तन, सभी प्राणियों में अपने आराध्य को देखना और उन्हें अन्न देना, महापुरुषों का संग, ईश्वर का गुण-गान, ईश्वर-चिन्तन, ईश्वर सेवा, पूजा और यज्ञों का निर्वाह, ईश्वर के प्रति दास्य-भाव, ईश्वर वन्दना, सखा-भाव, ईश्वर को आत्म-समर्पण।[1] धर्म के ये लक्षण सामान्यतः सभी संस्कृतियों में पाये जाते हैं। ये ऐसे लक्षण हैं जो व्यक्तित्व के बहुमुखी विकास में योग देते हैं जो व्यक्ति को दायित्व-निर्वाह की ओर अग्रसर करते हैं, तथा आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करते हैं।

मनुस्मृति में धर्म के दस लक्षणों पर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है :

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशमं धर्मलक्षणम् ।।[2]

ये दस लक्षण हैं—(1) धृति अर्थात् अपनी जीभ या जननेन्द्रियों पर संयम रखना, (2) क्षमा अर्थात् शक्तिशाली होते हुए भी क्षमाशील होना, उदार कार्य करना, दूसरों को क्षमा कर देना, (3) काम एवं लोभ पर नियन्त्रण अर्थात् शारीरिक वासनाओं पर संयम रखना, (4) अस्तेय अर्थात् सोये हुए, पागल या अविवेकी व्यक्ति से विविध तरीकों द्वारा कपट करके कोई वस्तु न लेना, (5) शुचिता अर्थात् पवित्रता अपने मन, जीवात्मा और बुद्धि को पवित्र रखना, (6) इन्द्रिय-निग्रह अर्थात् इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखना, (7) धी का तात्पर्य बुद्धि के समुचित विकास से है, किसी वस्तु के गुण-दोष की विवेचना शक्ति से है, (8) विद्या वह है जो व्यक्ति को काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि क्षुद्र वृत्तियों से मुक्त करती है और धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थों को समझाकर तदनुरूप आचरण योग्य बनाती है, (9) सत्य, (10) अक्रोध अर्थात् क्रोध न करना।

सामान्य धर्म के उपर्युक्त लक्षण मानव मात्र के विकास में योग देते हैं। इन गुणों को अपने आप में विकसित करने की प्रत्येक मानव से अपेक्षा की जाती है।

(2) विशिष्ट धर्म (*Vishistha Dharma*)

विशिष्ट धर्म को 'स्वधर्म' भी कहा गया है। विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वे कर्तव्य आते हैं जिनका समय, परिस्थिति और स्थान विशेष को ध्यान में रखते हुए पालन करना व्यक्ति के लिए आवश्यक है। विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत ब्राह्मण व शूद्र, गुरु-शिष्य, पति-पत्नी, माता-पिता और पुत्र सभी के लिए अलग-अलग कर्तव्यों के निर्वाह की बात कही गई है।

1 श्रीमद्भागवत्, 7-11/8/12।
2 मनुस्मृति, 6/92।

विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत वर्ण धर्म, आश्रम धर्म, कुल धर्म, राज धर्म, युग धर्म, मित्र धर्म, गुरु धर्म, आदि आते हैं। इन सभी का हम यहां संक्षेप में उल्लेख करेंगे :

(1) **आश्रम धर्म**—हिन्दू शास्त्रकारों ने व्यक्ति के जीवन को चार अवस्थाओं में विभाजित किया है जिन्हें **ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम** और **संन्यास आश्रम** कहा गया है। ब्रह्मचारी गुरु के आश्रम में सादा जीवन व्यतीत करते हुए विद्याध्ययन, अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास तथा मानवोचित गुणों से अपने को विभूषित करता था। धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति गृहस्थ के परम कर्तव्य थे। वह पंच महायज्ञों के द्वारा अन्य लोगों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता था और सन्तानोत्पत्ति के द्वारा समाज की निरन्तरता में योग देता था। वानप्रस्थी निष्काम भाव से धर्म-संचय और मानव कल्याण के लिए अपने आपको लगा देता था। वह सम्पत्ति, परिवार और संसार का मोह त्याग कर जंगल में कुटिया बनाकर रहता था तथा अपनी सामर्थ्य के अनुसार अन्य आश्रमों के लोगों का मार्ग-दर्शन करता था। संन्यासी का धर्म संसार का पूर्णतया त्याग करके अपने आपको परम सत्य की खोज में लगाना, ईश्वर में लीन करना और मोक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर होना था।

(2) **वर्ण धर्म**—वर्ण-धर्म के अन्तर्गत चारों वर्णों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—प्रत्येक के अलग-अलग कर्तव्य बतलाये गये हैं। ब्राह्मण का धर्म अध्ययन, अध्यापन, यज्ञ और धार्मिक कार्यों की व्यवस्था करना, आदि है; क्षत्रिय का जीवन व सम्पत्ति की रक्षा, युद्ध और प्रशासन है; वैश्य का कृषि, उद्योग एवं व्यवसाय से धनोपार्जन और विभिन्न वर्णों की आवश्यकताओं की पूर्ति और शूद्र का उपर्युक्त तीनों वर्णों की मन, वचन व कर्म से सेवा करना है।

(3) **कुल धर्म—कुल धर्म** का लक्ष्य पारिवारिक संगठन को बनाये रखना, कुल परम्पराओं की रक्षा और विभिन्न संस्कारों को पूर्ण करना है। परिवार के सदस्य के रूप में व्यक्ति के अन्य सदस्यों के प्रति कुछ कर्तव्य होते हैं। पति का पत्नी के प्रति, पत्नी का पति के प्रति, माता-पिता का सन्तान के प्रति और सन्तान का माता-पिता के प्रति, भाई का भाई के प्रति कुछ कर्तव्य, कुछ धर्म होता है। परिवार में प्रत्येक सदस्य से उसकी विशिष्ट प्रस्थिति और आयु के अनुसार व्यवहार करने की आशा की जाती है।

(4) **राज धर्म—राज धर्म** के अन्तर्गत राजा या शासक के प्रजा के प्रति कुछ कर्तव्य आते हैं जिनका पालन करना उसके लिए जनहित की दृष्टि से आवश्यक है। राजा का धर्म है कि वह राजोचित व्यवहारों का पालन करे अर्थात् उसे दृढ़-प्रतिज्ञ होना चाहिए, अपने कर्मचारियों के पोषण की समुचित व्यवस्था, योद्धाओं का आदर-सत्कार करना एवं उद्देश्य प्राप्ति के लिए कुटिल नीति का भी प्रयोग कर लेना चाहिए।

(5) **युग धर्म—युग धर्म** को काल के धर्म के नाम से भी पुकारते हैं। हिन्दू शास्त्रकार इस तथ्य से परिचित थे कि समय परिवर्तन के साथ-साथ शक्ति के कर्तव्यों में परिवर्तन आना भी आवश्यक है। जो धर्म स्थिर हो जाता है, जिसमें गति नहीं रहती, वह मनुष्य के व्यवहारों को अधिक समय तक प्रभावित नहीं कर पाता और विघटित होने लगता है। मनुस्मृति, पाराशर स्मृति और पद्मपुराण में युग धर्म की चर्चा की गयी है। अलग-अलग व्यक्ति के अलग-अलग कर्तव्य बताये गये हैं। हर युग में परिवर्तित परिस्थितियों के अनुसार नैतिक संहिताओं में परिवर्तन लाना आवश्यक होता है।

(6) **मित्र धर्म**—मित्र धर्म के अन्तर्गत एक मित्र के दूसरे मित्र के प्रति कर्तव्य आते हैं, जो दोनों पक्षों के लिए समान रूप से मान्य होते हैं। मित्र और मित्र में आयु, धन और पद के आधार पर किसी प्रकार का कोई भेद नहीं किया जाता। एक मित्र का अपने मित्र के प्रति यह कर्तव्य है कि वह सुख-दुख में उसका साथ दे; कर्तव्य का पालन करने के लिए उसे प्रेरित करे; मन, कर्म और वचन से उसकी रक्षा करे और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए सब प्रकार का त्याग करने के लिए तत्पर रहे।

(7) **गुरु धर्म**—हिन्दू समाज में गुरु को बहुत ऊंचा स्थान प्रदान किया गया है, परन्तु साथ ही उसके कुछ कर्तव्य (धर्म) भी बतलाये गये हैं : उसे सदैव अपने शिष्यों की हित कामना, लोभ एवं दम्भ से दूर रहना तथा अहिंसा और त्याग भावना से ज्ञान का प्रसार करना चाहिए।

सामान्य तथा विशिष्ट धर्म में अन्तर
(DISTINCTION BETWEEN *SAMANYA* AND *VISHISTHA DHARMA*)

सामान्य और विशिष्ट धर्म में कुछ अन्तर पाये जाते हैं : (1) सामान्य धर्म का क्षेत्र व्यापक है जबकि विशिष्ट धर्म का क्षेत्र अपेक्षाकृत रूप में सीमित। इसी कारण सामान्य धर्म को 'मानव धर्म' भी कहा गया है।

(2) सामान्य धर्म का सम्बन्ध प्रमुखतः ईश्वर प्राप्ति के साथ है जबकि विशिष्ट धर्म का सम्बन्ध लौकिक और व्यावहारिक जीवन के साथ।

(3) ईश्वरीय विश्वास तथा देवी-देवताओं की पूजा सामान्य धर्म के अन्तर्गत और कर्तव्य-पालन विशिष्ट धर्म के अन्तर्गत आते हैं।

(4) सामान्य धर्म सम्पूर्ण समाज के कल्याण से सम्बन्धित है जबकि विशिष्ट धर्म अन्य व्यक्तियों के सन्दर्भ में दायित्व निर्वाह से।

(5) सामान्य धर्म का प्रमुख लक्ष्य मानवीय गुणों के विकास से है और विशिष्ट धर्म का लक्ष्य विभिन्न व्यक्तियों और समूहों में सामंजस्य तथा समाज में संगठन बनाये रखने से।

(6) यदि सामान्य धर्म और विशिष्ट धर्म के आदेशों में कहीं टकराव की स्थिति पैदा हो जाय तो व्यक्ति से विशिष्ट धर्म के अनुरूप आचरण करने की आशा की गयी है।

(7) सामान्य धर्म के नियम स्थिर हैं जबकि विशिष्ट धर्म के नियम समय, स्थान और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन की छूट भी देते हैं।

(8) सामान्य धर्म की प्रकृति समूहवादी है जबकि विशिष्ट धर्म की व्यक्तिवादी।

(3) आपद्धर्म (*Apat Dharma*)

आपद्धर्म का तात्पर्य यह है कि आपत्तिकाल में या संकट के समय व्यक्ति को अपने सामान्य और विशिष्ट धर्म में कुछ परिवर्तन कर लेना चाहिए। रोग, शोक, विपत्ति और धर्म-संकट की स्थिति में व्यक्ति को कर्तव्य-नियमों में कुछ छूट दी गयी है, अपवाद की अनुमति प्रदान की गयी है। यह परिस्थिति विशेष से सम्बन्धित अस्थायी धर्म है। जब व्यक्ति के कर्तव्यों की दृष्टि से दो धर्मों के बीच टकराव की स्थिति पैदा हो जाय तो अधिक महत्वपूर्ण धर्म या दायित्व के निर्वाह के लिए दूसरे धर्म के नियमों को कुछ समय के लिए छोड़ देना आपद्धर्म है। आपद्धर्म के नियमों के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने प्राणों की रक्षा के लिए किसी भी प्रकार का आचरण करने की स्वीकृति दी गयी है। उदाहरण के रूप में, 'कल्याण' के हिन्दू संस्कृति

विशेषांक में एक ऋषि का वर्णन मिलता है जो अकाल के कारण भूख से पीड़ित और मरणासन्न स्थिति में थे। इस स्थिति में अपने वर्ण धर्म पालन की बजाय अपने प्राणों की रक्षा करना उनके लिए अधिक महत्वपूर्ण था। अतः उन्होंने एक शूद्र से जूठे उड़द लेकर खा लिये।[1] धर्मानुकूल जीने के लिए यह आवश्यक है कि पहले जीवित रहा जाय। आपत्तिकाल में धर्म की रक्षा के लिए झूठ बोलने तक की आज्ञा है। केवल असामान्य परिस्थितियों में ही आपद्धर्म का सहारा लेने की स्वीकृति प्रदान की गयी है।

हिन्दू सामाजिक जीवन में धर्म का महत्व
(IMPORTANCE OF *DHARMA* IN HINDU SOCIAL LIFE)

हिन्दू धर्म अगणित रूपों में हिन्दुओं के सामाजिक जीवन को अनुप्राणित करता रहा है। वह जन्म से लेकर मृत्यु तक सामान्यतः प्रत्येक हिन्दू के जीवन को अनेक धार्मिक विश्वासों, विधि-संस्कारों, आराधना विधियों और कर्तव्य पालन में दृढ़ आस्था आदि रूपों में प्रभावित करता रहा है। सामाजिक जीवन में निम्नलिखित रूपों में हिन्दू धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है :

(1) **धर्म ने व्यक्तित्व के निर्माण में सदैव सहायता पहुंचायी है।** बालक के समाजीकरण में परिवार का विशेष महत्व है और परिवार सदैव से ही धार्मिक क्रियाओं का मुख्य केन्द्र रहा है। परिवार में धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन-अध्यापन, धार्मिक कथाओं से बालकों को परिचित कराना, सदस्यों में परस्पर कर्तव्य भावना तथा पारिवारिक प्रेम और त्यागपूर्ण पर्यावरण, बालक में समाज के नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था उत्पन्न करने में, उसमें सद्गुणों का विकास करने तथा उसके चरित्र निर्माण में निश्चित रूप में सहायक रहे हैं।

(2) **धर्म सामाजिक नियन्त्रण का भी एक महत्वपूर्ण साधन रहा है।** धर्म में पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक के विचार निहित हैं जिनसे डर कर ही व्यक्ति समाज विरोधी कार्य नहीं करता है तथा नियमित व नियन्त्रित जीवन व्यतीत करता है।

(3) **धर्म ने व्यक्ति को कर्तव्यों का पालन करने के लिए सदैव प्रेरित किया है।** अलग-अलग परिस्थितियों में प्रस्थिति के अनुरूप व्यक्ति के निश्चित स्वधर्म रहे हैं और अपने स्वधर्म का पालन करना उसका नैतिक कर्तव्य रहा है। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, कर्म और पुनर्जन्म की धारणा ने व्यक्ति को अपनी प्रस्थिति से सन्तुष्ट रहने और उचित रीति से अपनी भूमिका निभाने को प्रोत्साहित किया है।

(4) **हिन्दू धर्म ने व्यक्ति को अनेक मानसिक संघर्षों से बचाने में योग दिया है।** व्यक्ति को यहां कर्म करने का आदेश दिया गया है, परन्तु फल के प्रति तटस्थ रहने को कहा गया है। परिणाम यह हुआ है कि हिन्दू समाज के लोग बहुत कुछ सीमा तक मानसिक संघर्षों से बचे रहे हैं।

(5) **भारतीय संस्कृति की निरन्तरता को बनाये रखने में हिन्दू धर्म ने विशेष योग दिया है।** इतिहास बतलाता है कि अनेक संस्कृतियां काल का ग्रास बन गयीं, विकसित हुईं और मिट भी गयीं, परन्तु भारतीय संस्कृति का अस्तित्व आज भी बना हुआ है। इसका मुख्य कारण हिन्दू धर्म का व्यावहारिक स्वरूप है।

---

1 **कल्याण; हिन्दू संस्कृति विशेषांक, पृ. 166।**

(6) **व्यक्ति में सद्गुणों का विकास** करने की दृष्टि से धर्म ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यदि व्यक्ति हिन्दू धर्म में बताये गये कर्तव्यों एवं निर्देशों का पालन करे तो वह एक सच्चरित्र व्यक्ति एवं समाजोपयोगी प्राणी बन सकता है।

(7) **हिन्दू धर्म सामाजिक एकता का पोषक है।** इसने सभी लोगों को अपने-अपने निर्धारित कर्तव्यों को निभाने तथा सभी प्राणियों के हित एवं कल्याण की बात कही है। हिन्दू धर्म में बन्धुत्व, प्रेम, सहयोग और संगठन पर विशेष जोर दिया गया है।

(8) **मनोरंजन प्रदान करने की दृष्टि से** भी धर्म ने समाज की महत्वपूर्ण सेवा की है। धर्म के अन्तर्गत समय-समय पर सम्पन्न किये जाने वाले उत्सवों, त्यौहारों एवं कर्मकाण्डों ने मानव को यन्त्रवत व उदासीनता-युक्त जीवन से मुक्ति दिला कर आनन्द एवं मनोरंजन के अवसर प्रदान किये हैं।

इनके अतिरिक्त मनु ने दार्शनिक दृष्टि से धर्म के दो स्वरूपों प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का भी उल्लेख किया है।

वर्ण-व्यवस्था
(VARNA-VYAVASTHA)

भारतीय सामाजिक संगठन के मूल आधार के रूप में वर्ण-व्यवस्था का विशेष महत्व पाया जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्तियों एवं गुणों को ध्यान में रखकर ही समाज में उसका स्थान और कार्य निश्चित किये गये हैं। वर्ण और आश्रम व्यवस्थाओं के आधार पर ही व्यक्ति और समाज के सर्वांगीण विकास का प्रयत्न किया गया है, व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन को संगठित करने का प्रयत्न किया गया है। मनुस्मृति में कहा गया है कि लोक वृद्धि हेतु ब्रह्मा ने विभिन्न वर्णों को जन्म दिया। उनके मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। वर्ण शब्द की उत्पत्ति 'वृ' धातु से हुई है जिसका अर्थ है जीविका के लिए वरण या चुनाव करना। इस प्रकार से समाज व्यवसाय करने वाले एक वर्ण के कहे जाने लगे। मनुस्मृति में वर्ण शब्द का प्रयोग, चुनाव करने, रंग एवं वृत्ति, आदि अनेक अर्थों में किया गया है। वर्ण व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण का आधार थी इसके अन्तर्गत समाज का विभाजन चार वर्णों ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र में किया गया है।

मनुस्मृति में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्णों के अलग-अलग कर्तव्य या वर्ण-धर्म बताये गये हैं। ऐसा करने का उद्देश्य समाज को श्रम-विभाजन का लाभ पहुंचाना रहा है। प्रत्येक वर्ण के दायित्वों को निर्धारित कर एक ओर यह प्रयत्न किया गया कि सभी कार्य विशेष ज्ञान के आधार पर पूर्ण किये जायें और दूसरी ओर यह कि कोई भी वर्ण किसी अन्य वर्ण के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करे। विभिन्न वर्णों के धर्मों का उल्लेख अध्याय 3 'सामाजिक संरचना : वर्ण' में विस्तारपूर्वक किया गया है।

आश्रम-व्यवस्था
(ASHRAMA VYAVASTHA)

आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की आयु को 100 वर्ष मानकर उसके सम्पूर्ण जीवन को चार बराबर भागों में विभाजित किया गया। इस प्रकार जीवन को 25-25 वर्ष के चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास में बांटा गया है। इन चारों आश्रमों में क्रम

से रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थ की प्राप्ति करता है। इन चारों आश्रमों का एक-दूसरे के साथ इतना निकट का सम्बन्ध है कि एक आश्रम के कर्तव्यों को निभाये बिना व्यक्ति दूसरे आश्रम से सम्बन्धित दायित्वों को ठीक से पूर्ण नहीं कर सकता। प्रत्येक आश्रम में धर्म की मर्यादा के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने के पश्चात् ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनता है। विभिन्न आश्रमों का उल्लेख अध्याय 4 'आश्रम-व्यवस्था' में विस्तारपूर्वक किया गया है।

संस्कार
(SANSKAR)

हिन्दुओं के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में संस्कारों का विशेष महत्व पाया जाता रहा है। यहां धार्मिक जीवन के लिए परिशुद्धता एवं पवित्रता को आवश्यक माना गया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न संस्कारों की व्यवस्था की गयी है। ये संस्कार ही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्ति परिष्कृत तथा समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन पाता है। संस्कार वे विधियां या धार्मिक अनुष्ठान हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के 'अहम्' का समाजीकरण एवं व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। संस्कारों के अन्तर्गत विभिन्न अनुष्ठान या प्रतीकात्मक क्रियाकलाप आते हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति के जीवन को परिशुद्ध एवं पवित्र बनाने का प्रयास किया जाता है। संस्कार में यद्यपि कुछ अनुष्ठान तथा कर्मकाण्ड सम्मिलित होते हैं, परन्तु इसका अर्थ इन्हें सम्पन्न करने मात्र से नहीं है। संस्कार वास्तव में व्यक्ति की आत्म-शुद्धि एवं उसे सामाजिक दायित्वों से भलीभांति परिचित कराने से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से संस्कार एक धार्मिक-सामाजिक प्रत्यय है जो व्यक्ति को अपने समाज के सांस्कृतिक जीवन का बोध कराते हैं। संस्कारों के माध्यम से ही समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप व्यक्ति का समाजीकरण किया जाता है। जीवन में सफलता प्राप्त करने एवं व्यक्तित्व के समुचित विकास की दृष्टि से संस्कारों का हिन्दू जीवन-क्रम में विशेष महत्व पाया जाता है। संस्कारों की विस्तृत विवेचना अध्याय 6 'संस्कार' में की गयी है।

हिन्दू विवाह
(HINDU MARRIAGE)

मनुस्मृति में विवाह साथी कैसा हो, उसके चुनाव का क्षेत्र, चुनाव का पक्ष एवं कसौटियों, विवाह के नियमों एवं निषेधों का उल्लेख किया गया है। हम यहां मनु द्वारा बताये विवाह के निषेध एवं प्रकारों का उल्लेख करेंगे।

विवाह के निषेध (नियम)

हिन्दू विवाह से सम्बन्धित सभी निषेधों को चार भागों में बांट सकते हैं—अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह, अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह।

(i) **अन्तर्विवाह**—अन्तर्विवाह का तात्पर्य है एक व्यक्ति अपने जीवन साथी का चुनाव अपने ही समूह से करे। वैदिक एवं उत्तर वैदिक काल में द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) का एक ही वर्ण था और वे अपने में ही विवाह करते थे। शूद्र वर्ण पृथक् था। स्मृतिकाल में अन्तवर्ण विवाहों को स्वीकृति प्रदान की गयी। मनु ब्राह्मण के तीन क्षत्रिय के दो एवं वैश्य को एक विवाह करने की छूट देते हैं। जिनमें से एक विवाह अपने ही वर्ण में एवं अन्य दूसरे वर्णों में किये जा सकते थे। कालान्तर में एक वर्ण कई जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हो

गया तो विवाह का दायरा सीमित होता गया और लोग अपनी ही जाति एवं उप-जाति में विवाह करने लगे।

(ii) **बहिर्विवाह**—बहिर्विवाह से तात्पर्य है कि एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। हिन्दुओं में बहिर्विवाह के नियम के अनुसार एक व्यक्ति को अपने परिवार, गोत्र, प्रवर, पिण्ड एवं जाति के कुछ समूहों से बाहर विवाह करना चाहिए। हिन्दुओं में संगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक ही ऋषि पूर्वज में हुई हो। स्मृतिकारों ने संगोत्र विवाह करने वालों के लिए अनेक दण्ड, प्रायश्चित एवं जाति बहिष्कार करने की व्यवस्था की है, किन्तु मनु संगोत्र विवाह को पाप नहीं मानते हैं। इसी प्रकार से सपिण्ड विवाह भी निषेध रहे हैं। मृत व्यक्ति को पिण्डदान करने वाले या एक ही रक्त कण से सम्बन्धित व्यक्तियों को सपिण्ड माना गया है। सामान्यतः पिता की ओर से सात एवं माता की ओर से पांच पीढ़ियों के व्यक्तियों में परस्पर विवाह निषेध थे। मनु सपिण्ड विवाह करने वाले व्यक्तियों के लिए प्रायश्चित एवं बहिष्कार के दण्ड की व्यवस्था देते हैं।

(iii) **अनुलोम**—जब एक उच्चवर्ण, जाति, उप-जाति, कुल एवं गोत्र के लड़के का विवाह ऐसी लड़की से किया जाय जिसका वर्ण, जाति, उप-जाति, कुल एवं वंश के लड़के से नीचा हो तो ऐसे विवाह को अनुलोम विवाह कहते हैं। मनु एक ब्राह्मण को ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय एवं वैश्य वर्ण में, क्षत्रिय को क्षत्रिय वर्ण के अतिरिक्त वैश्य वर्ण में और एक वैश्य को अपने ही वर्ण में विवाह की छूट देते हैं। वे शूद्र वर्ण की कन्या से विवाह पर रोक लगाते हैं।

(iv) **प्रतिलोम**—अनुलोम विवाह का विपरीत रूप प्रतिलोम विवाह है। इस प्रकार के विवाह में लड़की उच्च वर्ण, जाति, उप-जाति, कुल या वंश की होती है और लड़का निम्न वर्ण, जाति, उप-जाति, कुल एवं वंश का होता है। मनु इस प्रकार के विवाह की छूट नहीं देते हैं। इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान को चाण्डाल या 'निषाद' कहा गया है। ऐसा विवाह करने वाले व्यक्ति के लिए कठोर दण्ड का विधान किया गया है।

मनु ने आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख किया है। मनु का कहना है कि प्रथम चार प्रकार के विवाह ब्राह्म, दैव, आर्ष और प्राजापत्य श्रेष्ठ एवं धर्मानुसार हैं जबकि शेष चार असुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच निकृष्ट कोटि के हैं। प्रथम चार प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तान यशस्वी, शीलवान, सम्पत्तिवान और अध्ययनशील होती है जबकि शेष चार प्रकार के विवाहों से उत्पन्न सन्तान दुराचारी, धर्म विरोधी एवं मिथ्यावादी होती है। यहां इस बात का उल्लेख करना आवश्यक है कि हिन्दू शास्त्रकार स्त्री की सामाजिक प्रतिष्ठा एवं सम्मान को बनाए रखने के प्रति बड़े सजग थे इसलिए उन्होंने पैशाच एवं राक्षस विवाहों को भी सामाजिक स्वीकृति प्रदान की है। हिन्दू विवाह के प्रमुख आठ स्वरूप हैं ज़िनका विस्तृत वर्णन पुस्तक के अध्याय 7 में दिया हुआ है।

मनु ने विवाह के कई नियमों का भी उल्लेख किया है। उन्होंने संगोत्र एवं सपिण्ड विवाह को निषेध बताया है। मनु ने विवाह की आयु का उल्लेख करते हुए लिखा है 30 वर्ष की आयु वाला पुरुष 12 वर्ष की कन्या से या 24 वर्ष की आयु का पुरुष 8 वर्ष की कन्या से विवाह करे।

स्त्रियों की स्थिति—नारी के सन्दर्भ में मनु के विचार विचित्र स्थिति लिए हुए हैं। मनु एक ओर तो कहते हैं, 'यत्र नार्यस्तु पुज्यन्ते, रमन्ते तत्र देवता,' अर्थात् जहां नारी की पूजा होती है वहां देवता निवास करते हैं। मनु ने यह बात पारिवारिक जीवन एवं कुल के सन्दर्भ में कही है। मनु कहते हैं, "जिस कुल में स्त्रियों के सम्मान और हितों की उपेक्षा होती है, उस कुल के समस्त कर्म निष्फल हो जाते हैं।" मनु का मत है कि परिवार में स्त्रियों को मान-सम्मान, धन व आभूषण, आदि के माध्यम से प्रसन्न रखा जाना आवश्यक है अन्यथा पारिवारिक जीवन सुखमय नहीं हो सकता। उन्होंने नारी को देवी एवं शक्तिरूपा माना है। ईश्वर के विधान में स्त्री और पुरुष समान हैं। उसे गृहकार्य सौंपे गये हैं अतः वह गृहलक्ष्मी है। मनु ने स्त्रियों के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया है। स्त्री का कर्तव्य है कि वह पति की सेवा करे और उसके मरणोपरान्त भी इस व्रत का उल्लंघन न करे। पति की सेवा में ही उसे स्वर्ग प्राप्त होता है। मनु ने स्त्री के लिए पतिव्रत धर्म का उल्लेख किया है।

दूसरी ओर मनु स्त्री की स्वतन्त्रता में विश्वास नहीं करते। उसे बचपन में पिता, जवानी में पति एवं वृद्धावस्था में पुत्र के अधीन रहना चाहिए।[1] मनु स्त्रियों को परिवार की सीमा के बाहर किसी कार्य को सम्पन्न करने की अनुमति नहीं देते। मनु ने स्त्रियों के स्वभाव की चर्चा करते हुए लिखा है उन्हें भोग-विलास बहुत पसन्द होता है। इस सन्दर्भ में वे रूप, सौन्दर्य और आयु की परवाह किये बिना ही पुरुष के साथ संसर्ग कर लेती हैं। अतः पति को चाहिए कि वे स्त्री से सावधान रहें। शय्या, आसन, आभूषण, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोह और दुराचार से स्त्री को लगाव होता है। मनु की दृष्टि में स्त्री प्रकृति से ही मन्द बुद्धिवाली और कमजोर प्राणी है। मनु का मत है कि ब्रह्मा ने स्त्रियों की प्रकृति में ही कुछ ऐसे दुर्गुणों का सृजन कर दिया है कि यदि उन्हें स्वतन्त्र छोड़ दिया गया तो वे व्यभिचार, आदि दोषों में लिप्त हो जायेंगी। मनुस्मृति में स्त्री शिक्षा के लिए कोई विधान नहीं किया गया है। मनु सम्भवतया स्त्री शिक्षा की कोई आवश्यकता नहीं समझते क्योंकि उसे तो परिवार के पुरुषों—पिता, पति एवं पुत्र के नियन्त्रण में ही जीवन व्यतीत करना है।

स्त्री का कर्तव्य है सन्तानोत्पत्ति कर उनका लालन-पालन करे, अतिथियों का सत्कार करे। स्त्री और पुरुष मिलकर ही पूर्ण होते हैं। मनु कहते हैं लड़की कोमल स्वभाव की होती है अतः उसका लालन-पालन बड़े लाड़-प्यार से किया जाना चाहिए। मनु ने स्त्री का क्षेत्र घर बताया है अतः उसके लिए अधिक शिक्षा की आवश्यकता नहीं है। स्त्री पति का आधा भाग है अतः वह अर्धांगिनी कहलाती है। मनु ने स्त्री को तलाक देने की बात नहीं कही है। मनु ने विधवा विवाह को कहीं भी मान्यता नहीं दी है। वे कहते हैं कि विधवा स्त्री को संयत जीवन व्यतीत करना चाहिए। वे कहते हैं विधवा स्त्री सगोत्र पुत्र को गोद ले, किन्तु पुनर्विवाह कभी न करे। मनु मां के रूप में स्त्री को सर्वोच्च स्थान प्रदान करते हैं। मां का कभी अनादर नहीं किया जाना चाहिए। वह पिता की तुलना में हजारों गुना अधिक पूजनीय है।

मनु की राजव्यवस्था
(POLITICAL SYSTEM OF MANU)

धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारों की ही भांति मनु ने राजव्यवस्था के बारे में भी अपने महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं। इसके अन्तर्गत उन्होंने राज्य की उत्पत्ति, राजा

1 मनुस्मृति, अध्याय 5, श्लोक 164।

के गुण एवं कर्तव्य, राज्य के स्वरूप, न्याय व्यवस्था एवं मन्त्रिपरिषद्, आदि का उल्लेख किया है। अब हम यहां उसी पर विचार करेंगे।

राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त—मनु राज्य की उत्पत्ति के दैविक सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं जिसका उल्लेख उन्होंने मनुस्मृति के सातवें अध्याय में किया है। वे कहते हैं सृष्टि के प्रारम्भ में कोई राजा या राज्य नहीं था। सर्वत्र ही अराजकता और भय व्याप्त था, सभी दुखी थे और कोई भी अपने कर्तव्य का पालन नहीं करता था। ऐसी स्थिति में सृष्टि की रक्षा के लिए ईश्वर ने राजा की पुष्टि की। मनु के अनुसार राजा का निर्माण आठ प्रधान देवताओं—इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र और कुबेर की शक्तियों और सार तत्वों से किया गया। अतः राजा सामान्य व्यक्ति न होकर दैवीय गुणों से युक्त होता है, वह पवित्र होता है। उसकी अवज्ञा या अपमान नहीं किया जाय, उसका विरोध नहीं किया जाय।

राजा—राजा ईश्वर की सृष्टि है उसमें देवांश है। फिर भी मनु का राजा निरंकुश, आततायी एवं स्वेच्छाचारी नहीं है। मनु ने राजा को धर्मानुसार आचरण करने को कहा है और राजा के धर्म एवं कर्तव्यों का उल्लेख किया है। राजा का प्रमुख कार्य प्रजा का पालन करना है। राजा को जितेन्द्रिय होना चाहिए एवं शिकार, जुआ, दिन में सोना, निन्दा, स्त्री से आसक्ति, मद्यपान, नृत्य और गायन, निष्प्रयोजन भ्रमण, चुगली, बलात्कार, द्रोह, ईर्ष्या, असहिष्णुता, बुरे कार्य में धन को खर्च करना, कठोर वचन बोलना और बिना अपराध के दण्ड देना, आदि दुर्गुणों से दूर रहना चाहिए। राजा को दान देना चाहिए एवं यज्ञ कराने चाहिए, उसे युद्ध से नहीं भागना चाहिए तथा दण्ड द्वारा लोगों को वश में रखना चाहिए।

राजा का कर्तव्य है कि वह राज्य की रक्षा करे, गांवों एवं नगरों की सुव्यवस्था के लिए अधिकारी नियुक्त करे गुप्तचर रखे। राजा को दण्ड धारण कर प्रजा की रक्षा करना और दुष्टों को दण्ड देना चाहिए। दण्ड ही धर्म एवं राजा है। जब सब सोये रहते हैं तो दण्ड ही जागता रहता है। मनु ने राजा की दिनचर्या का भी उल्लेख किया है।

सप्तांग राज्य—मनु ने राज्य के सात आवश्यक अंग बताये हैं—स्वामी, मन्त्री, पुर, राष्ट्र, कोष, दण्ड और मित्र। ये सात सप्तांग राज्य कहलाते हैं और राज प्रकृतियां भी कही जाती हैं। इनमें से किसी एक के भी विकारग्रस्त होने पर सम्पूर्ण राज्य विकारग्रस्त हो सकता है।

मन्त्रिपरिषद्—राज्य कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए मनु ने मन्त्रिपरिषद् का भी उल्लेख किया है जो राजा को सलाह-मशविरा दे। यह परिषद् राजा की स्वेच्छाचारिता पर भी अंकुश रखती है। मन्त्रिपरिषद् इसलिए भी आवश्यक है कि राज्य कार्य का संचालक अकेला राजा ही नहीं कर सकता। मनु राजा को ब्राह्मण से मन्त्रणा करने एवं मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों से एकान्त में मन्त्रणा करने की सलाह देता है। मनु कहते हैं कि मन्त्रिपरिषद् में 7 या 8 सदस्य होने चाहिए। इसके सदस्य दृढ़ संकल्प, कार्यकुशल, साहसी, शारीरिक और मानसिक रूप से स्वस्थ, पवित्र रक्त और उच्च वंश के होने चाहिए।

कानून और न्याय व्यवस्था

दण्ड-व्यवस्था—मनु के अनुसार दण्ड ही राजा है, उसमें ही राज्य करने की शक्ति है। राजा को अपराधियों को शारीरिक, आर्थिक और मृत्यु दण्ड उनके अपराध के अनुसार देने चाहिए। मनु कहते हैं कि दण्ड देने के पूर्व अपराध का प्रसंग अपराध की मात्रा, उसके प्रकार

एवं स्वरूप अपराधी की सामर्थ्य, देशकाल और परिस्थिति पर गम्भीरतापूर्वक विचारकर लेना चाहिए। पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों को कम दण्ड दिया जाना चाहिए। मनुस्मृति में ब्राह्मणों के लिए गम्भीर अपराध पर भी देश निर्वासन जैसे साधारण दण्ड की व्यवस्था की गई है। मनु ने विभिन्न प्रकार के दण्ड का विधान किया है, उनमें से प्रमुख हैं—**वाग्दण्ड** (समझना-बुझाना), छिग्दण्ड (निन्दा-भर्त्सना करना), धनदण्ड, कामदण्ड (शारीरिक यातना), वध दण्ड, कारागार दण्ड, जाति बहिष्कार, प्रायश्चित सम्पत्ति हरण एवं निर्वासन दण्ड, आदि। वे राजा को दण्ड से मुक्त करते हैं।

मनु के अनुसार वेद ही **कानून का स्रोत** है। इनके अतिरिक्त स्मृतियां, सज्जनों का आचार एवं स्वसन्तोष भी कानून के स्रोत हैं।

न्याय-व्यवस्था—मनु ने न्यायपालिका का भी उल्लेख किया है। राजा का सबसे बड़ा न्यायालय धर्मसभा है। इसमें राजा, मुख्य न्यायाधीश और ब्राह्मण न्यायाधीश होते हैं। न्यायपालिका में 18 विषयों पर विचार किया जाता है। ये हैं—ऋण लेना व देना, धरोहर, स्वामी के अभाव में वस्तु को बेचना, साझे में व्यापार, दिया हुआ धन वापस लेना, वेतन, प्रतिज्ञा तोड़ना, क्रय-विक्रय, पशुपालन व पशुस्वामित्व के विवाद, कुट शब्दों का प्रयोग, मारपीट, चोरी, डाका, स्त्री का अपहरण, स्त्री पुरुष के धर्म की व्यवस्था एवं दाय भाग, आदि।

मनु ने साक्षी और प्रमाणों का भी उल्लेख किया है। प्रमाण दो प्रकार के होते हैं—मानुष एवं दिव्य। मानुष प्रमाण लिखित, साक्ष्य और युक्ति के रूप में हो सकते हैं। लिखित एवं आंखों देखा प्रमाण अधिक उपयोगी हैं। दिव्य प्रमाणों में शपथ, कठोर परीक्षा, आदि मुख्य हैं। मनु के अनुसार असत्य बोलने वाले, सेवक, शत्रु, संन्यासी और कोढ़ी के कथनों पर विश्वास नहीं करना चाहिए। साक्ष्य के पूर्व शपथ का विधान रखा जाना चाहिए और मिथ्या साक्षी देने वालों को कड़ा दण्ड दिया जाना चाहिए। स्त्रियों के लिए स्त्रियों का साक्ष्य लिया जाना चाहिए। ब्राह्मण की साक्षी एक विशेषज्ञ के रूप में लेकर उसे सर्वाधिक महत्व दिया जाना चाहिए। विवाद पर निर्णय होने जाने पर उस पर पुनः विचार करने के लिए प्रार्थना-पत्र देने का भी मनु ने उल्लेख किया है।

राजकोष—मनु ने राज्य के संगठन, संचालन एवं समृद्धि के लिए राजकोष का भी उल्लेख किया है जिसका संग्रह शनैः-शनैः व अल्प मात्रा में किया जाना चाहिए, न कि जनता के शोषण द्वारा। कर के द्वारा राजा राज कोष का संग्रह करे। अर्थ दण्ड, व्यापारिक कर एवं कृषि लगान, आदि से राजकोष की आय होती है। मनु कहते हैं कर न लेने से राजा के और अत्यधिक कर लेने से प्रजा के जीवन का अन्त हो जाता है।

परराष्ट्र सम्बन्ध—मनु ने परराष्ट्र सम्बन्धों के बारे में दो सिद्धान्त बताये हैं—**मण्डल सिद्धान्त एवं षाड्गुण्य नीति। मण्डल सिद्धान्त** के अनुसार राजा को महत्वाकांक्षी होना चाहिए एवं अपने राज्य के विस्तार के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए। उसे दूसरे राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करना चाहिए। राजा को सन्धि एवं युद्ध, आदि का भी राज्य के प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि के लिए सहारा लेना चाहिए। **षाड्गुण्य नीति** के अनुसार राजा को सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधी और संश्रय नीति के अनुसार काम करना चाहिए। शत्रु राजाओं से अलग-अलग मिलकर **साम, दाम, दण्ड और भेद नीति** के द्वारा उन्हें वश में करना चाहिए। मनु राजदूत भेजने की बात भी कहते हैं। राजदूत पर ही राज्यों के साथ मित्रता व शान्ति निर्भर करती है। अतः

राजदूत मित्र, विद्वान, शास्त्रों का ज्ञाता, चतुर और कुलीन होना चाहिए। मनु अन्य राज्यों की व्यवस्था, शक्ति एवं दुर्बलताओं को जानने के लिए गुप्तचर व्यवस्था का सुझाव देते हैं। गुप्तचरों का यह कार्य है कि वे अपने राज्य में कार्य कर रहे अन्य राज्यों के गुप्तचरों एवं उनकी गतिविधियों का पता लगायें एवं राजा को सूचित करें। मनु कहते हैं कि राजा को युद्ध से डरकर नहीं भागना चाहिए। उसे युद्ध में सैनिकों का साहस बढ़ाना चाहिए। युद्ध में प्राप्त सामग्री विजेता की होती है।

मनु ने शासन के लिए गुल्म व्यवस्था एवं ग्रामिक व्यवस्था का भी उल्लेख किया है। 2 से लेकर 5 गांवों से मिलकर एक गुल्म बनाया जाता था। इन गुल्मों में शासन के लिए 'ग्रामिकों' (ग्राम पंचायतों के प्रधान) की नियुक्ति की जाती थी जो गांव का शासन चलाता था। इस प्रकार से भारतीय गांव छोटे-छोटे गणराज्य के समान थे।

इस प्रकार से मनु एक विधिवेत्ता और संहिताकार थे जिन्होंने मानव जीवन के नियमों की एक ऐसी शृंखला प्रस्तुत की जिसे अपनाकर सुव्यस्थित जीवन व्यतीत किया जा सकता है। **सत्यमित्र दुबे** ने अपनी पुस्तक 'मनु की समाज व्यवस्था' में लिखा है, "भारतीय सामाजिक व्यवस्था में मनुस्मृति की परम्परा द्वारा प्रतिपादित नियमों का विशेष महत्व है। विकृत रूप में ही सही, आज भी ये नियम भारतीय राष्ट्र के बहुसंख्यक जन-मानस की आचार पद्धति के नियामक हैं।"

प्रश्न

1. मनुस्मृति में वर्णित 'सामाजिक संगठन' की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1994)
2. स्त्रियों की स्थिति पर मनु के विचारों का वर्णन संक्षेप में कीजिए। (पूर्वांचल, 1990, 96)
3. संस्कार पर मनु के विचारों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (पूर्वांचल, 1991)
4. मनु द्वारा सम्पादित हिन्दू विवाह के विभिन्न प्रकारों की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1992)
5. मनु के धर्म तथा विवाह के विचार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (पूर्वांचल, 1990)
6. मनु का हिन्दू विवाह के विचार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (पूर्वांचल, 1991)
7. संस्कार से आप क्या समझते हैं? उपनयन संस्कार के समाजशास्त्रीय महत्व की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1993)
8. मनु के सामाजिक विचारों की समीक्षा कीजिए। (पूर्वांचल, 1995)
9. संस्कारों के समाजशास्त्रीय महत्व का मूल्यांकन कीजिए। (पूर्वांचल, 1997)
10. धर्म की परिभाषा कीजिए। सामान्य और विशिष्ट धर्म में भेद कीजिए। (पूर्वांचल, 1993)
11. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
    (i) आश्रम व्यवस्था (पूर्वांचल, 1993, 94)
    (ii) आपद्धर्म (पूर्वांचल, 1994, 96)
    (iii) संस्कार (पूर्वांचल, 1996)
    (iv) विवाह सम्बन्धी निषेध (मनुस्मृति)। (पूर्वांचल, 1997)

3

सामाजिक संरचना : वर्ण

[SOCIAL STRUCTURE : VARNA]

संरचना एवं प्रकार्य समाजशास्त्र में महत्वपूर्ण अवधारणाएं हैं। इन्हें समझे बिना हम सामाजिक परिवर्तन, सामाजिक विघटन, सामाजिक व्यवस्था एवं सामाजिक संगठन जैसी महत्वपूर्ण अवधारणाओं को नहीं समझ सकते। **मिचैल** ने लिखा है कि कुछ समाजशास्त्री तो समाजशास्त्र को मानव-समाज के संरचनात्मक पक्षों का वर्णनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन करने वाला विज्ञान मानते हैं। यही कारण है कि कई समाजशास्त्रियों ने सामाजिक संरचना को ही अपना शोध-विषय चुना। हम सामाजिक संरचना में उत्पन्न होने वाली समस्याओं की जानकारी प्राप्त कर उन्हें दूर करने में प्रशासकों एवं सामाजिक कार्यकर्ताओं की सहायता कर सकते एवं व्यवस्थित समाज रचना में योग दे सकते हैं। समाजशास्त्र में संरचना एवं प्रकार्य की अवधारणाओं का सर्वप्रथम प्रयोग हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपनी पुस्तक '*Principles of Sociology*' में किया। दुर्खीम ने भी अपनी कृति '*The Rules of Sociological Method*' तथा '*The Division of Labour in Society*' नामक पुस्तकों में इन अवधारणाओं पर विचार किया है। इन अवधारणाओं पर विचार व्यक्त करने वाले अन्य विद्वानों में रैडक्लिफ ब्राउन, कार्ल मानहीम, नैडेल, पारसन्स, जॉनसन, मैकाइवर, पैरेटो, मेरियन जे. लेवी, डेविस तथा मूर, आदि प्रमुख हैं, किन्तु प्रकार्य के क्षेत्र में मर्टन का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है क्योंकि उन्होंने प्रकार्य से सम्बन्धित कई नयी अवधारणाओं को जन्म दिया तथा उनका सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक विश्लेषण एवं उपयोग बताया।

संरचना
(STRUCTURE)

प्रत्येक भौतिक वस्तु की एक संरचना होती है जो कई इकाइयों या तत्वों से मिलकर बनी होती है। ये इकाइयां परस्पर व्यवस्थित रूप से सम्बन्धित होती हैं तथा इन इकाइयों में स्थिरता पायी जाती है। संरचना को परिभाषित करते हुए **रैडक्लिफ ब्राउन** लिखते हैं, "जब हम संरचना शब्द का प्रयोग करते हैं तब हम उसके भागों अथवा संघटकों के क्रम-विन्यास की ओर संकेत करते हैं।"[1] इसे हम मानव शरीर की संरचना के उदाहरण द्वारा समझ सकते

1 R. Brown, *Structure and Function in Primitive Society*, p. 9.

हैं। शरीर की संरचना हाथ, पांव, नाक, कान, आंख एवं मुंह, आदि कई अंगों (इकाइयों) से मिलकर बनी होती है। यें सभी अंग अपने-अपने स्थान पर स्थिर भी हैं और परस्पर एक-दूसरे से व्यवस्थित रूप से जुड़े हुए भी। इस प्रकार **प्रत्येक संरचना में चार विशेषताएं देखने को मिलती हैं :** (1) प्रत्येक संरचना का निर्माण कई अंगों, तत्वों या इकाइयों से होता है। उदाहरण के लिए, मकान की संरचना ईंट, पत्थर; चूना, सीमेण्ट, आदि कई इकाइयों से निर्मित होती है। (2) इन इकाइयों में परस्पर स्थायी एवं व्यवस्थित सम्बन्ध पाए जाते हैं, जैसे ईंट, चूना, पत्थर, आदि को व्यवस्थित रूप से जमाने पर ही मकान की संरचना बनती है। केवल ईंट, चूना व पत्थर के ढेर से मकान की संरचना नहीं बनती। (3) ये इकाइयां अपने-अपने स्थान पर स्थिर रहती हैं, यदि इनमें स्थायित्व न हो तो संरचना बनती-बिगड़ती रहेगी। (4) संरचना का सम्बन्ध वस्तु की बाहरी आकृति या स्वरूप से होता है, न कि उसकी आन्तरिक संरचना से। शरीर और मकान की संरचना से हमें इनकी बाह्य आकृति दिखायी देती है, आन्तरिक नहीं।

जिस प्रकार से किसी शरीर या भौतिक वस्तु की संरचना होती है, उसी प्रकार से **समाज की भी एक संरचना होती है जिसे हम सामाजिक संरचना कहते हैं। समाज की संरचना भी कई इकाइयों जैसे परिवार, संस्थाओं, संघों, प्रतिमानित सम्बन्धों, मूल्यों एवं पदों, आदि से मिलकर बनी होती है।** ये सभी इकाइयां परस्पर व्यवस्थित रूप से सम्बन्धित होती हैं और अपने-अपने स्थान पर अपेक्षतया स्थिर होती हैं। इन सभी के संयोग से समाज का एक बाह्य स्वरूप प्रकट होता है जिसे हम सामाजिक संरचना कहते हैं। सामाजिक संरचना को स्पष्टतः समझने के लिए हम यहां इनकी कुछ प्रमुख परिभाषाओं एवं विभिन्न विद्वानों के विचारों का उल्लेख करेंगे।

सामाजिक संरचना का अर्थ एवं परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF SOCIAL STRUCTURE)

कार्ल मानहीम के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर क्रिया करती हुई सामाजिक शक्तियों का जाल है जिससे अवलोकन और चिन्तन की विभिन्न प्रणालियों का जन्म होता है।"[1] मानहीम सामाजिक सरंचना को सामाजिक शक्तियों का जाल मानते हैं। 'जाल' से उनका तात्पर्य व्यवस्थित प्रतिमानों (Arranged patterns) से है। एक जाल का निर्माण कई धागों से होता है, ये धागे जाल की इकाइयां हैं, इनके क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित रूप से जमने पर ही जाल बनता है। सामाजिक संरचना का जाल भी सामाजिक शक्तियों रूपी धागों से बना हुआ है। सामाजिक शक्तियों से उनका तात्पर्य नियन्त्रण के उन साधनों से है जो सामाजिक जीवन को स्थिरता प्रदान करते हैं। ये शक्तियां परस्पर अन्तःक्रिया करती रहती हैं और समाज में निरीक्षण एवं चिन्तन की पद्धतियों को भी जन्म देती हैं। मानहीम की यह परिभाषा संरचना की अन्य विशेषताओं को प्रकट करने में असफल रही है।

पारसन्स के अनुसार, "सामाजिक संरचना परस्पर सम्बन्धित संस्थाओं, एजेन्सियों और सामाजिक प्रतिमानों तथा साथ ही समूह के प्रत्येक सदस्य द्वारा ग्रहण किए गए पदों तथा

1 "Social structure is the web of interacting social forces from which have arisen the various modes of observing and thinking."
—Karl Manheim, *Ideology and Utopia*, pp. 55-56.

कार्यों की विशिष्ट क्रमबद्धता को कहते हैं।"[1] पारसन्स की इस परिभाषा से तीन बातें स्पष्ट होती हैं : (i) सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक संस्थाओं, एजेन्सियों, प्रतिमानों एवं व्यक्तियों द्वारा ग्रहण किए गए पदों एवं भूमिकाओं रूपी इकाइयों से होता है। (ii) ये सभी इकाइयां परस्पर एक-दूसरे से सम्बन्धित होती हैं। (iii) सामाजिक संरचना में एक विशिष्ट क्रमबद्धता पायी जाती है। इन विशेषताओं से यह भी स्पष्ट है कि सामाजिक संरचना एक अमूर्त धारणा है क्योंकि समाज की संरचना का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों, संस्थाओं, प्रतिमानों, पदों एवं भूमिकाओं से होता है और ये सभी अमूर्त हैं।

गिन्सबर्ग के अनुसार, "सामाजिक संरचना का अध्ययन सामाजिक संगठन के प्रमुख स्वरूपों अर्थात् समूहों, समितियों तथा संस्थाओं के प्रकार एवं इन सबके संकुल (Complex) जिनसे कि समाज का निर्माण होता है, से सम्बन्धित है।"[2] गिन्सबर्ग ने अपनी परिभाषा में सामाजिक संरचना एवं सामाजिक संगठन में कोई भेद नहीं किया है। उसका मत है कि सामाजिक संरचना का निर्माण समूहों, समितियों एवं संस्थाओं से मिलकर होता है।

मैकाइवर तथा **पेज** के अनुसार, "समूह निर्माण के विभिन्न तरीके संयुक्त रूप में सामाजिक संरचना के जटिल प्रतिमान का निर्माण करते हैं। सामाजिक संरचना के विश्लेषण में सामाजिक प्राणियों की विविध प्रकार की मनोवृत्तियों तथा रुचियों के कार्य प्रकट होते हैं।"[3] इस प्रकार मैकाइवर तथा पेज ने समूह निर्माण के विभिन्न तरीकों को ही सामाजिक संरचना का आधार माना है। वे सामाजिक संरचना को अमूर्त मानते हैं क्योंकि समाज का ताना-बाना सामाजिक सम्बन्धों से बना होता है और सामाजिक सम्बन्ध अमूर्त होते हैं। वे इसे स्पष्ट करते हुए पुनः लिखते हैं, "न तो हम सामाजिक संरचना को देखते हैं और न ही देख सकते हैं। हम समाज को देख नहीं सकते, उसके बाह्य पक्षों को भले ही देख लें क्योंकि समाज मानवीय सम्बन्धों का संगठन है जो कि मनुष्यों द्वारा ही बनाया जाता है, स्थिर रहता है और उनके द्वारा ही सदैव परिवर्तित किया जाता है।

मजूमदार एवं **मदान** लिखते हैं, "पुनरावृत्तीय सामाजिक सम्बन्धों के तुलनात्मक स्थायी पक्षों से सामाजिक संरचना बनती है।"[4] इस परिभाषा से स्पष्ट है कि जो सामाजिक सम्बन्ध बार-बार दोहराए जाते हैं और तुलनात्मक रूप से स्थायी होते हैं, वे समाज की संरचना का निर्माण करते हैं।

कोजर एवं **रोजनबर्ग** लिखते हैं, 'संरचना का तात्पर्य' सामाजिक इकाइयों के तुलनात्मक स्थिर एवं प्रतिमानित सम्बन्धों से है।[5] इस परिभाषा में भी इस बात पर जोर दिया गया है कि सामाजिक संरचना का निर्माण सामाजिक इकाइयों से होता है। ये इकाइयां व्यवस्थित रूप से जमी होती हैं और इनमें स्थिरता पायी जाती है। समूह, संस्थाएं, पद, भूमिकाएं, आदि सामाजिक इकाइयां ही हैं।

1 "Social Structure is the term applied to the particular arrangement of the interrelated institutions, agencies and social patterns, as well as the statuses and roles which each person assumes in the group."
—Talcott Parsons, *Essays in Sociological Theory*, pp. 89-103.

2 M. Ginsberg, *Reason and Unreason in Society*, pp. 1-8.

3 MacIver and Page, *Society*, p. 212.

4 Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, p. 32.

5 Coser and Rosenberg, *Sociological Theory*.

हैरी एम. जॉनसन के अनुसार, "किसी वस्तु की संरचना उसके अंगों के अपेक्षाकृत स्थायी अन्तर्सम्बन्धों से निर्मित होती है, स्वयं 'अंग' शब्द से ही कुछ स्थायित्व के अंश का ज्ञान होता है। सामाजिक प्रणाली क्योंकि लोगों के अन्तर्सम्बन्धित कृत्यों से निर्मित होती है, इनकी संरचना भी इन कृत्यों (acts) में पायी जाने वाली नियमितता या पुनरावृत्ति के अंशों में ढूंढी जानी चाहिए।"[1]

जॉनसन की इस परिभाषा से स्पष्ट है कि प्रत्येक संरचना कई इकाइयों या अंगों से मिलकर बनती है और इन अंगों में परस्पर स्थायी सम्बन्ध पाए जाते हैं। स्थायित्व के अभाव में न तो संरचना लम्बे समय तक बनी रह सकेगी और न ही अंग परस्पर सहयोग दे पाएंगे। सामाजिक संरचना का निर्माण भी लोगों द्वारा परस्पर सम्बन्धित क्रियाओं या कृत्यों द्वारा होता है, ये क्रियाएं बार-बार दोहरायी जाती हैं और इनमें एक नियमबद्धता पायी जाती है।

नैडेल सामाजिक संरचना की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं, "यह तुलनात्मक रूप से यद्यपि स्थिर होती है, लेकिन इसका निर्माण करने वाले अंग स्वयं परिवर्तनशील होते हैं।"[2]

रैडक्लिफ ब्राउन के अनुसार, "सामाजिक संरचना के अंग या भाग मनुष्य ही हैं और स्वयं संरचना द्वारा परिभाषित और नियमित सम्बन्धों में लगे हुए व्यक्तियों की एक क्रमबद्धता है।"[3] वे कहते हैं कि, "वास्तविक जीवन में हम देखते हैं कि मनुष्य परस्पर सामाजिक सम्बन्धों द्वारा बंधे हुए हैं। वास्तविक रूप से पाए जाने वाले इन सम्बन्धों द्वारा ही सामाजिक संरचना का निर्माण होता है। मनुष्यों के पारस्परिक सम्बन्ध स्वतन्त्र नहीं होते वरन् संस्थाओं एवं नियमों द्वारा परिभाषित, नियमित एवं नियन्त्रित होते हैं।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि **सामाजिक संरचना समाज की विभिन्न इकाइयों, समूहों, संस्थाओं, समितियों तथा सामाजिक सम्बन्धों से निर्मित एक प्रतिमानित एवं क्रमबद्ध ढांचा है।** सामाजिक संरचना अपेक्षतया एक स्थिर अवधारणा है जिसमें अपवाद रूप में ही परिवर्तन होते हैं।

सामाजिक संरचना की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF SOCIAL STRUCTURE)

सामाजिक संरचना को और अधिक स्पष्टतः समझने के लिए हम यहां उसकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे :

(1) **सामाजिक संरचना समाज के बाह्य स्वरूप का बोध कराती है**—सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों से होता है। ये इकाइयां जब एक क्रमबद्ध व्यवस्था में जुड़ जाती हैं तो एक ढांचे का निर्माण होता है। इसमें हम इकाइयों के कार्यों को सम्मिलित नहीं करते हैं। जिस प्रकार से शरीर के विभिन्न अंग जैसे हाथ, पांव, नाक, कांन, आंख, सिर, पेट, आदि एक व्यवस्थित क्रम में परस्पर जुड़ते हैं तो शरीर रूपी ढांचे का निर्माण होता है जिसके बाह्य रूप को स्पष्टतः देखा जा सकता है। इसी प्रकार से समाज का निर्माण करने वाली इकाइयां भी क्रमबद्ध रूप से जुड़ने पर एक बाह्य ढांचे का निर्माण करती हैं, जिसे सामाजिक संरचना कहते हैं। सामाजिक संरचना का सम्बन्ध सामाजिक इकाइयों की कार्य-विधि से नहीं है।

1 हैरी एम. जॉनसन, **समाजशास्त्र**, पृ. 60.
2 S. F. Nadel, *Theory of Social Structure*, p. 9.
3 R. Brown, *African System of Kinship and Marriage*, p. 82.

(2) सामाजिक संरचना अखण्ड व्यवस्था नहीं है—प्रत्येक सामाजिक व्यवस्था का निर्माण विभिन्न इकाइयों से होता है। ये इकाइयां, व्यक्ति, समूह, संस्थाएं, समितियां, आदि हैं। इस प्रकार प्रत्येक संरचना कई खण्डों से मिलकर बनी होती है, अतः वह अखण्ड नहीं है। फिर भी ये इकाइयां जब परस्पर एक क्रम में जुड़ जाती हैं तो एक बनावट या प्रतिमान को प्रकट करती हैं। उदाहरण के लिए, एक कमरे का निर्माण ईंट, चूना, पत्थर, खिड़की व दरवाजे, आदि से मिलकर होता है, इन्हें एक विशिष्ट क्रम में जोड़ने पर कमरे का प्रतिमान या स्वरूप प्रकट होता है।

(3) सामाजिक संरचना अन्तःसम्बन्धित इकाइयों का एक व्यवस्थित स्वरूप है—सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न इकाइयों से होता है, ये इकाइयां अस्त-व्यस्त और बिखरी हुई नहीं होतीं वरन् उनमें परस्पर सम्बन्ध पाया जाता है। उदाहरण के लिए, घड़ी का निर्माण करने वाली सभी इकाइयों को परस्पर जोड़ने पर ही घड़ी की संरचना बनती है।

(4) सामाजिक संरचना की इकाइयों में एक क्रमबद्धता पायी जाती है—किसी भी सामाजिक संरचना का निर्माण मात्र इकाइयों के झुण्ड या योग से ही नहीं होता वरन् उन्हें एक विशिष्ट क्रम में जोड़ने से होता है। क्रम के अभाव में संरचना नहीं बन सकती। उदाहरण के रूप, में ईंट, चूने व पत्थर के ढेर से मकान नहीं बन सकता जब तक कि उन्हें एक क्रम में न जोड़ा जाए।

(5) सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थायी अवधारणा है—सामाजिक संरचना अपेक्षाकृत एक स्थायी अवधारणा है। इसके दो अर्थ हैं : (i) सामाजिक संरचना का निर्माण करने वाली इकाइयां अपेक्षतया स्थायी होती हैं। उदाहरण के लिए, समाज का निर्माण करने वाले विभिन्न समूह, समितियां एवं संस्थाएं जैसे परिवार, धर्म, आर्थिक व शैक्षणिक संगठन एवं विवाह, आदि समाज में अपेक्षतया स्थायी रूप से पाए जाते हैं। इनमें छोटा-मोटा परिवर्तन होने से सम्पूर्ण संरचना प्रभावित नहीं होती। (ii) सामाजिक संरचना इस अर्थ में भी स्थायी होती है कि इसका निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी स्थायित्व पाया जाता है। इस प्रकार सामाजिक संरचना में स्थायित्व दो अर्थों में पाया जाता है : प्रथम, इकाइयां स्वयं स्थायी होती हैं तथा द्वितीय, इकाइयों के पारस्परिक सम्बन्धों में भी स्थिरता पायी जाती है।

(6) सामाजिक संरचना अमूर्त होती है—मैकाइवर और पारसन्स सामाजिक संरचना को एक अमूर्त धारणा मानते हैं। उनका मत है कि सामाजिक संरचना का निर्माण विभिन्न संस्थाओं, एजेंसियों, प्रतिमानों, प्रस्थितियों एवं भूमिकाओं से मिलकर होता है। ये सभी इकाइयां अमूर्त हैं, इनका भौतिक वस्तु की भांति कोई ठोस आकार या रूप नहीं है, इन्हें देखा या छुआ नहीं जा सकता है। अतः इनसे निर्मित सामाजिक संरचना भी अमूर्त होती है। समाज का निर्माण सामाजिक सम्बन्धों से होता है, ये सम्बन्ध अमूर्त हैं, अतः सामाजिक संरचना भी अमूर्त होती है। यद्यपि **रैडक्लिफ ब्राउन** सामाजिक संरचना की इकाई व्यक्ति को मानते हैं जबकि अधिकांश समाजशास्त्री सामाजिक संरचना की व्याख्या एक अमूर्त धारणा के रूप में ही करते हैं।

(7) सामाजिक संरचना का निर्माण अनेक उप-संरचनाओं से होता है—प्रत्येक सामाजिक संरचना का निर्माण कई उप-संरचनाओं से मिलकर होता है। जिस प्रकार से शरीर रूपी संरचना का निर्माण मस्तिष्क, पाचन व श्वसन संस्थानों, आदि से होता है जिसमें अनेक अंग

होते हैं, उसी प्रकार सामाजिक संरचना का निर्माण भी विभिन्न उप-संरचनाओं जैसे परिवार, जाति, वर्ग, शिक्षण संस्था, धार्मिक संस्था, आर्थिक संस्था, आदि के द्वारा होता है जिनकी स्वयं की अपनी एक संरचना होती है। इस प्रकार अनेक उप-संरचनाएं मिलकर सामाजिक संरचना का निर्माण करती हैं जिनकी अपनी भी एक संरचना होती है।

(8) **सामाजिक संरचना स्थानीय विशेषताओं से प्रभावित होती है**—प्रत्येक समाज की एक संरचना होती है और वह दूसरे समाज से भिन्न होती है। चूंकि प्रत्येक सामाजिक संरचना किसी-न-किसी सांस्कृतिक व्यवस्था से प्रभावित होती है, अतः वहां की भौगोलिक परिस्थितियों का भी उस पर प्रभाव पड़ता है। विभिन्न स्थानों की संस्कृति, राजनीतिक दशा एवं भौगोलिक परिस्थितियों में अन्तर पाया जाता है, अतः सामाजिक संरचनाएं भी इनसे प्रभावित होने के कारण भिन्न-भिन्न प्रकार की होती हैं। रैडक्लिफ ब्राउन ने सामाजिक संरचना की धारणा में स्थानीय विशेषताओं को भी उपयोगी एवं महत्वपूर्ण माना है।

(9) **सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का एक पूर्व-निश्चित स्थान व पद होता है**—सामाजिक संरचना में प्रत्येक इकाई का पद एवं स्थान निर्धारित होता है, उस स्थान पर रहकर ही वह सामाजिक संरचना का निर्माण करती है। अन्य स्थान पर होने पर संरचना बिगड़ जाती है। उदाहरण के रूप में, शरीर संरचना में हाथ, पांव, नाक, कान, आंख का एक स्थान निश्चित है। यदि हाथ का स्थान पांव, नाक का स्थान कान व आंख का स्थान जीभ ले ले तो शरीर संरचना विकृत हो जाएगी। इसी प्रकार सामाजिक संरचना में राज्य, चर्च, परिवार, विवाह, धर्म, न्याय-व्यवस्था, शिक्षण संस्था, आदि सभी का स्थान पूर्व-निर्धारित है। यदि ये एक-दूसरे का स्थान ग्रहण कर लेते हैं तो सामाजिक संरचना में विकृति आ जाएगी।

(10) **सामाजिक संरचना में सामाजिक प्रक्रियाएं भी महत्वपूर्ण होती हैं**—सामाजिक संरचना के निर्माण में सहयोगी एवं असहयोगी प्रक्रियाओं जैसे सहयोग, अनुकूलन, व्यवस्थापन, एकीकरण, सात्मीकरण, प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष, आदि की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। ये सामाजिक प्रक्रियाएं ही सामाजिक संरचना के स्वरूप को तय करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। सामाजिक प्रक्रियाओं का बाह्य रूप सामाजिक संरचना को तय करता है।

(11) **सामाजिक संरचना में विघटन के तत्व भी पाए जाते हैं**—सामाजिक संरचना मानव की अनेक आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, किन्तु कोई भी सामाजिक संरचना अपने आप में श्रेष्ठ नहीं होती और न ही उसमें पूर्ण संगठन पाया जाता है। कई बार यह समाज में विघटन भी पैदा करती है। मर्टन तथा दुर्खीम का मत है कि कई बार सामाजिक संरचना स्वयं समाज में नियमहीनता पैदा करती है। सामाजिक संरचना में संगठन एवं विघटन पैदा करने वाले दोनों ही प्रकार के तत्व पाए जाते हैं।

सामाजिक संरचना के तत्व
(ELEMENTS OF SOCIAL STRUCTURE)

जॉनसन ने सामाजिक संरचना के निम्नांकित चार प्रधान तत्वों का उल्लेख किया है :

(1) **विभिन्न प्रकार के उप-समूह** (Sub-groups of various types)—सामाजिक संरचना का निर्माण कई प्रकार के उप-समूहों द्वारा होता है जो परस्पर सम्बन्धात्मक मानदण्डों द्वारा अन्तर्सम्बन्धित होते हैं। समाज में विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं धारण करने वाले इन उप-समूहों में संगठन देखने को मिलता है। ये भूमिकाधारी ही सामाजिक प्रणाली में भाग लेते हैं।

(2) **विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं** (Roles of various types)—इन विभिन्न प्रकार के उप-समूहों में विभिन्न प्रकार की भूमिकाएं होती हैं जो सापेक्ष दृष्टि से स्थायी होती हैं। कई भूमिकाएं तो उसे धारण करने वाले व्यक्ति की अवधि के बाद भी बनी रहती हैं। अन्य शब्दों में भूमिकाएं, भूमिकाधारियों से अधिक स्थायी होती हैं।

(3) **नियामक मानदण्ड** (Regulative norms)—उप-समूहों तथा भूमिकाओं को परिभाषित, नियन्त्रित एवं निर्देशित करने के लिए नियामक मानदण्ड होते हैं। ये मानदण्ड ही भूमिकाओं के पारस्परिक सम्बन्धों एवं अन्य प्रणालियों से सम्बन्धों को भी निर्धारित करते हैं। इन्हीं के कारण सामाजिक अन्तःक्रिया में स्थायित्व, नियमितता एवं पुनरावृत्ति पायी जाती है।

(4) **सांस्कृतिक मूल्य** (Cultural values)—सामाजिक संरचना में सम्बन्धात्मक एवं नियामक मानदण्डों के अतिरिक्त सांस्कृतिक मूल्य भी होते हैं जिनके आधार पर वस्तुओं की तुलना की जाती है, उन्हें एक-दूसरे की तुलना में स्वीकृत या अस्वीकृत, वांछनीय या अवांछनीय, प्रशंसनीय या निन्दनीय, उचित या अनुचित ठहराया जाता है। मूल्यों के आधार पर ही भावनाओं, विचारों, लक्ष्यों, साधनों, सम्बन्धों, समूहों, पदार्थों एवं गुणों का मूल्यांकन किया जाता है। जीवन के विभिन्न पक्षों एवं क्षेत्रों के अनुसार मूल्य भी अलग-अलग होते हैं।

जॉनसन कहते हैं कि इन चार तत्वों में से प्रत्येक को हम आंशिक संरचना कह सकते हैं।

सामाजिक संरचना की अवधारणा एवं विशेषताओं की विवचेना के पश्चात् अब हम, भारतीय सामाजिक संरचना के महत्वपूर्ण निर्मायक भागों—जैसे वर्ण, आश्रम, पुरुषार्थ, संस्कार, विंवाह एवं परिवार, आदि पर विचार करेंगे।

वर्ण
(VARNA)

विश्व के सभी समाजों में सामाजिक वर्ग अवश्य पाए जाते हैं। इतना अवश्य है कि कहीं सामाजिक वर्गों का निर्माण जन्म के आधार पर हुआ है तो कहीं धन के आधार पर। मनुष्य की प्रवृत्तियों तथा व्यवसायों के आधार पर समाज का विभिन्न वर्गों के रूप में विभाजन प्रायः सभी देशों में देखने को मिलता है। भारत के विचारकों ने भी मनुष्य की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्तियों को ध्यान में रखते हुए सामाजिक स्तरीकरण की ऐसी योजना को अपनाया जिसके अन्तर्गत समाज को कार्यात्मक दृष्टि से चार वर्गों में बांटा गया। ये चार वर्ग ही चार वर्ण—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—के नाम से जाने जाते हैं।

भारतीय सामाजिक संगठन के मौलिक तत्व के रूप में वर्ण-व्यवस्था का विशेष महत्व पाया जाता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति की प्रवृत्तियों अर्थात् गुणों को ध्यान में रखकर ही समाज में उसका स्थान और कार्य निश्चित किए गए थे। यहां सामाजिक व्यवस्था में व्यक्ति और समाज दोनों को समान रूप से महत्व दिया गया है। यदि यह कहा जाए कि वर्णाश्रम व्यवस्था सामाजिक संगठन के हिन्दू सिद्धान्त की आधारशिला के रूप में कार्य करती है तो इसमें किसी प्रकार की कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी।

वर्ण का अर्थ
(MEANING OF *VARNA*)

कई लोग वर्ण और जाति को एक ही मान लेते हैं, परन्तु वास्तव में ये दोनों पृथक् अवधारणाएं हैं। **शाब्दिक दृष्टि** से वर्ण शब्द के तीन सम्भावित अर्थ लगाए गए हैं जो इस प्रकार हैं : (i) वरण या **चुनाव करना** (ii) रंग और (iii) वृत्ति के अनुरूप।

पहले अर्थ को लोग विशेष महत्व देते हैं। 'वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति 'वृ' (वृत्त—वरणै) धातु से मानी गयी है जिसका अर्थ होता है—वरण या चुनाव करना। इस दृष्टि से व्यक्ति अपने लिए जिस व्यवसाय का चुनाव करता है, उसी के अनुसार उसके वर्ण का निर्धारण होता है। इसका तात्पर्य यह है कि **वर्ण उन लोगों का एक समूह है जिनका व्यवसाय समान है।**

'वर्ण' शब्द का दूसरा अर्थ रंग से लगाया गया है। सबसे पहले ऋग्वेद में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग रंग अर्थात् काले रंग की जनता के लिए किया गया है तथा प्रारम्भ में आर्य और दास, इन दो वर्णों का ही उल्लेख मिलता है। **डॉ. घुरिये** के अनुसार आर्यों ने यहां के आदिवासियों को पराजित करके उन्हें दास या दस्यु नाम दिया और अपने तथा उनके बीच अन्तर प्रकट करने के लिए 'वर्ण' शब्द का प्रयोग किया जिसका अर्थ रंग-भेद से है। 'वर्ण' शब्द का यह अर्थ इस बात को प्रकट करता है कि इस शब्द का प्रयोग आर्यों एवं दस्युओं के बीच पाए जाने वाले प्रजातीय अन्तर को स्पष्ट करने हेतु किया गया। **पी. वी. काणे** के अनुसार, प्रारम्भ में गौर वर्ण का प्रयोग आर्यों के लिए और कृष्ण वर्ण का दासों या दस्युओं के लिए किया जाता था। बाद में 'वर्ण' शब्द का प्रयोग गुण एवं कर्मों के आधार पर बने हुए चार बड़े वर्गों के लिए किया गया। **सेनार्ट** ने इसी मत को मानते हुए लिखा है कि आर्यों और दस्युओं के रंग को व्यक्त करने वाला 'वर्ण' शब्द बाद में समाज के चार वर्गों को व्यक्त करने लगा।

'वर्ण' शब्द का तीसरा अर्थ 'वृत्ति' से सम्बन्धित है। इस दृष्टि से जिन व्यक्तियों की मानसिक एवं व्यवहार सम्बन्धी विशेषताएं एक समान हों अर्थात् जिन व्यक्तियों का स्वभाव एक जैसा या समान हो, उन्हीं से मिलकर एक वर्ण बनता है।

शाब्दिक अर्थ के आधार पर 'वर्ण' के वास्तविक अर्थ को नहीं समझा जा सकता। वर्ण का सम्बन्ध व्यक्ति के गुण तथा कर्म से है। जिन व्यक्तियों के गुण तथा कर्म समान थे अर्थात् जो समान स्वभाव के थे, वे सब एक ही वर्ण के सदस्य माने जाते थे। **भगवद्गीता** में इसी बात को व्यक्त करते हुए श्रीकृष्ण ने कहा है, **"चातुर्वर्ण मया सृष्टं गुण कर्म विभागशः"**अर्थात् **मैंने ही गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्णों की रचना की है।** उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि **वर्ण व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण की ऐसी व्यवस्था है जो व्यक्ति के गुण तथा कर्म पर आधारित है तथा जिसके अन्तर्गत समाज का चार वर्गों के रूप में कार्यात्मक विभाजन हुआ है। यहां गुण तथा कर्म का तात्पर्य व्यक्ति के 'स्वभाव' एवं सामाजिक दायित्वों से है।** समाज में विभिन्न कार्यों को ठीक प्रकार से चलाने के उद्देश्य से व्यक्ति की स्वाभाविक प्रवृत्तियों या उनके स्वभाव को ध्यान में रखते हुए उन्हें विभिन्न समूहों अर्थात् चार वर्णों में बांटा गया था। प्रत्येक वर्ण के सदस्य अपने वर्ण-धर्म का पालन करते हुए अर्थात् अपने दायित्वों को निभाते हुए सामाजिक उन्नति में योग देते थे।

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति
(ORIGIN OF *VARNA VYAVASTHA*)

वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विभिन्न कालों में भिन्न-भिन्न मत प्रस्तुत किए गए हैं। इनमें से कुछ मत धर्म-ग्रन्थों में व्यक्त विचारों पर आधारित हैं और कुछ मत आधुनिक सिद्धान्तों पर। यहां वर्णों की उत्पत्ति को समझने की दृष्टि से कुछ प्रमुख मतों पर विचार किया जा रहा है।

(1) **ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के अनुसार**—ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में वर्णों की उत्पत्ति के बारे में बताया गया है कि ब्राह्मण पुरुष अर्थात् विराट स्वरूप परमात्मा के मुख रूप हैं, क्षत्रिय उनकी भुजाएं हैं, वैश्य उनकी जंघाएं अथवा उदर हैं और शूद्र उनके पांव हैं। ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति होने के कारण उनका कार्य बोलना तथा लोगों को शिक्षित करना है। ब्रह्मा की भुजाओं से क्षत्रियों की उत्पत्ति मानी गयी है। भुजाएं शक्ति की सूचक हैं। अतः क्षत्रियों का कार्य शासन-संचालन तथा शस्त्र धारण कर समाज की रक्षा करना है। उदर या जंघाओं से वैश्यों की उत्पत्ति मानने के कारण वैश्यों का कार्य व्यापार एवं पशु-पालन द्वारा सम्पत्ति का उत्पादन एवं लोगों की उदर-पूर्ति करना है। शूद्रों की उत्पत्ति ब्रह्मा (विराट पुरुष) के पैरों से मानने के कारण उन्हें सभी वर्णों की सेवा करने का कार्य सौंपा गया। इसका कारण यह है कि पांव का कार्य शरीर के भार को संभालना है। अतः शूद्रों को सेवा द्वारा समाज के भार को वहन करना है। **ऋग्वेद के पुरुष सूक्त के इस श्लोक की मौलिकता में बहुत-से लोग सन्देह प्रकट करते हैं और मानते हैं कि इसे बाद में जोड़ दिया गया है।**

(2) **उपनिषदों के अनुसार**—उत्तर वैदिक काल में लिखे गये उपनिषदों में वृहदारण्यक और छान्दोग्य उपनिषदों से वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कुछ जानकारी मिलती है। **वृहदारण्यक** उपनिषद के अनुसार प्रारम्भ में ब्रह्मा ने केवल ब्राह्मणों को ही जन्म दिया। ब्राह्मण सभी कार्यों को पूरा नहीं कर सके, तो समाज के कल्याण को ध्यान में रखकर ब्रह्मा ने क्षत्रियों को उत्पन्न किया। लेकिन जब ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों वर्णों से भी समाज से सम्बन्धित सभी कार्यों की पूर्ति नहीं हो सकी, तो ब्रह्मा ने वैश्य वर्ण की रचना की। इन तीनों वर्णों की उत्पत्ति के पश्चात् भी जब समाज से सम्बन्धित सभी कार्यों को ठीक से संचालित नहीं किया जा सका, तो ब्रह्मा ने शूद्र वर्ण की उत्पत्ति की। ब्रह्मा ने ब्राह्मण के अन्तर्गत इन्द्र, वरुण, सोम तथा यम देवताओं को, वैश्य के अन्तर्गत वसु, आदित्य, मारुत, आदि देवताओं को और शूद्र के अन्तर्गत पुशान देवता को जन्म दिया। स्वर्गलोक की इसी वर्ण-व्यवस्था के आधार पर मृत्युलोक के वर्णों की उत्पत्ति हुई। इससे दो बातें स्पष्ट हैं। **प्रथम**, सामाजिक आवश्यकताओं के अनुसार अलग-अलग समय पर विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति हुई। **द्वितीय**, वर्णों की उत्पत्ति का आधार उनके द्वारा की जाने वाली विभिन्न प्रकार की सेवाएं हैं। छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार व्यक्ति के वर्ण का निर्धारण उसके द्वारा पूर्वजन्म में किए गए कर्मों के आधार पर होता है। पूर्वजन्म के कर्मों के आधार पर ही व्यक्ति की स्वभावगत विशेषताएं या उसके गुण बनते हैं और इन्हीं के आधार पर उसकी वर्ण विशेष की सदस्यता निश्चित होती है। स्पष्ट है कि उपनिषदों में विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति का आधार व्यक्तियों के गुण एवं कर्म माने गए हैं।

(3) महाभारत के अनुसार—महाभारत में ब्रह्मा को विभिन्न वर्णों का उत्पत्तिकर्ता बताया गया है। महाभारत के शान्ति पर्व में लिखा है, "ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य और इन तीनों वर्णों की सेवा करने के लिए चरण (पैर) से शूद्र उत्पन्न हुए हैं। शान्ति पर्व में ही अपने शिष्य भारद्वाज को महर्षि भृगु ने कहा है कि प्रारम्भ में केवल एक ब्राह्मण (द्विज) वर्ण ही था। यही वर्ण वाद में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नामक चार वर्णों में बंट गया। ब्राह्मणों का रंग श्वेत (सफेद) था जो सतोगुण अर्थात् पवित्रता का परिचायक था। क्षत्रियों का लोहित (लाल) रंग राजस गुण अर्थात् क्रोध को व्यक्त करता है। वैश्यों का पीत (पीला) रंग तमोगुण एवं अपवित्रता का परिचायक था। विभिन्न वर्णों के अलग-अलग रंग अवश्य थे, परन्तु ये वर्ण-विभाजन का आधार नहीं होकर स्वभावतः विशेषताओं या गुणों को व्यक्त करते थे।

(4) गीता के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण का आधार गुण—भगवद्गीता में बताया गया है कि समाज का चार वर्णों में विभाजन व्यक्ति के गुणों के आधार पर हुआ है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता के चौथे अध्याय में बताया कि, हे अर्जुन! गुण और कर्मों के विभाजन से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सभी मेरे द्वारा बनाए गए हैं। **गीता में वर्ण निर्धारण में गुण को विशेष महत्व दिया गया है। भारतीय दर्शन में गुण तीन प्रकार के बताए गए हैं : सत्, रज तथा तम।** इन गुणों से ही मन की रचना होती है तथा उसकी तीन प्रवृत्तियां सात्विक, राजसिक एवं तामसिक बनती हैं। इन प्रवृत्तियों के आधार पर ही समाज चार वर्णों—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र में विभक्त हुआ है। जिस व्यक्ति में सात्विक प्रवृत्ति की प्रधानता होती है, वह जीवन के प्रति आध्यात्मिक दृष्टिकोण रखता है और ब्राह्मण वर्ण में माना जाता है। जिसमें सात्विक और राजसिक प्रवृत्ति की प्रधानता होती है, वह व्यक्ति क्रियाशीलता की प्रमुखता के कारण क्षत्रिय वर्ण में माना जाता है। राजसिक और तामसिक प्रवृत्ति से युक्त व्यक्ति वैश्य कहलाता है। तामसिक प्रवृत्ति वाले व्यक्ति में अज्ञानता पायी जाती है और वह शूद्र कहलाता है। मनु ने भी व्यक्तिगत गुणों के आधार पर वर्णों की उत्पत्ति मानी है।

आधुनिक विद्वानों के विचार

वर्ण-व्यवस्था का आधार : जन्म अथवा कर्म

यहां वर्ण-व्यवस्था के सम्बन्ध में एक मूल प्रश्न यह उठता है कि व्यक्ति को किसी वर्ण विशेष की सदस्यता गुण तथा कर्म के आधार पर प्राप्त होती थी अथवा जन्म के आधार पर। साधारणतः गुण तथा कर्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण होता था। परन्तु फिर भी इस सम्बन्ध में विद्वानों में मत-भिन्नता पायी जाती है।

वर्ण-सदस्यता के आधार के सम्बन्ध में **डॉ. राधाकृष्णन्** की मान्यता है कि यद्यपि इस व्यवस्था में आनुवंशिक क्षमताओं (जन्म) का महत्व अवश्य था, परन्तु फिर भी यह व्यवस्था प्रमुखतया गुण तथा कर्म पर आधारित थी। आपने महाभारत तथा इसके पूर्व के काल की प्रमुख घटनाओं के आधार पर यह स्पष्ट किया है कि उस समय वर्ण परिवर्तन सम्भव था। विश्वामित्र, राजा जनक, महामुनि व्यास, बाल्मीकि, अजमीढ़ एवं पूरामीढ़ अपने गुण तथा कर्म के आधार पर अपना वर्ण परिवर्तन कर पाए। यदि वर्ण-निर्धारण का आधार जन्म होता तो इन लोगों के लिए अपने वर्ण को बदलकर किसी अन्य वर्ण की सदस्यता प्राप्त करना

सम्भव नहीं होता। व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार किसी भी वर्ण की सदस्यता प्राप्त कर सकता था। इससे स्पष्ट है कि वर्ण का आधार गुण तथा कर्म था, न कि जन्म।

डॉ. जी. एस. घुरिये ने वर्ण-निर्धारण में व्यक्तिगत विशेषताओं को महत्व दिया है। आपने बताया है कि वर्ण का सम्बन्ध 'रंग' से है। आपके अनुसार आरम्भ में भारत में केवल दो वर्ण ही थे—एक आर्य और दूसरा दास या दस्यु। आर्यों ने विजेता होने के कारण अपने को उच्च और यहां के पराजित मूल-निवासी द्रविड़ों को निम्न समझा। उन्होंने अपने को द्विज एवं द्रविड़ों को दास या दस्यु कहा। कालान्तर में जैसे-जैसे वर्णों की संख्या बढ़ती गयी, उसके साथ-ही-साथ उनके कर्मों में भी भिन्नता आती गयी। कर्मों की भिन्नता के फलस्वरूप आर्य (द्विज वर्ण) ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य वर्णों में विभाजित हो गए। इन तीनों वर्णों के एक ही आर्य प्रजाति अथवा द्विज वर्ण से सम्बन्धित होने के कारण प्रारम्भ में इनमें खान-पान और विवाह के सम्बन्ध पाए जाते थे, वे एक-दूसरे के साथ सामाजिक सम्पर्क रख सकते थे।

डॉ. के. एम. पणिक्कर ने तथ्यों के आधार पर यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया है कि वर्ण-सदस्यता का आधार कर्म था, न कि जन्म। वर्ण का सम्बन्ध व्यवसाय के साथ रहा है। यदि जन्म के आधार पर ही वर्ण-सदस्यता का निर्धारण होता तो किसी भी वर्ण के लिए अपना व्यवसाय बदलना किसी भी रूप में सम्भव नहीं होता लेकिन प्राचीन ग्रन्थों से यह प्रमाणित होता है कि ब्राह्मण धर्म-कार्यों के सम्पादन और अध्ययन के अतिरिक्त औषधि, शस्त्र-निर्माण और प्रशासन सम्बन्धी कार्यों में भी लगे हुए थे। वैदिक साहित्य में कहीं भी ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिलता जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि लोगों के लिए जन्म के आधार पर व्यवसाय को चुनना अनिवार्य था।

महात्मा गांधी ने 'वर्ण' का अर्थ रंग और व्यवसाय दोनों से ही लिया है। वे 'वर्ण' को वंशानुक्रमण का नियम मानते हैं। उनका मत है कि एक व्यक्ति को अपने पिता से रंग एवं व्यवसाय दोनों ही वंशानुक्रमण में प्राप्त होते हैं। अतः वर्ण का आधार जन्म ही है।

बसन्त कुमार चट्टोपाध्याय भी वर्ण का आधार जन्म मानते हैं न कि कर्म। यदि कर्म ही वर्ण का आधार होता तो द्रोणाचार्य ब्राह्मण न होकर क्षत्रिय होते क्योंकि वे कर्म से क्षत्रिय व जन्म से ब्राह्मण थे।

यहां हमें यह बात भली-भांति समझ लेनी चाहिए कि **वर्ण-व्यवस्था कोई ईश्वरीय व्यवस्था नहीं बल्कि पूर्णतः मानव-रचित व्यवस्था है। विभिन्न तत्वों के आधार पर यह कहना उचित होगा कि यह व्यवस्था न तो पूर्णतया गुण और कर्म पर आधारित थी और न ही पूर्णतया जन्म पर। प्रारम्भ में इस व्यवस्था का आधार गुण तथा कर्म था लेकिन धीरे-धीरे जन्म का महत्व बढ़ने लगा। समय के साथ-साथ व्यवसाय आनुवंशिक होते गये, व्यक्ति की सामाजिक स्थिति अपरिवर्तनीय होती गयी और व्यवसाय की भिन्नता के कारण व्यक्तियों की स्वभावगत विशेषताएं भी बदलती गयीं।** यद्यपि भारतीय सामाजिक संगठन वर्ण-व्यवस्था से काफी प्रभावित रहा है, परन्तु आज यह व्यवस्था मात्र सैद्धान्तिक व्यवस्था बन कर ही रह गयी है। आज से करीब 2000 वर्ष पूर्व से ही वर्ण विभिन्न जातियों और उपजातियों में विभाजित होने लग गए थे। आज तो सैकड़ों जातियां और उपजातियां हिन्दू सामाजिक संगठन का आधार बन गयी हैं।

विभिन्न वर्णों के कर्तव्य (वर्ण-धर्म)
(DUTIES OF DIFFERENT *VARNAS*)

विभिन्न धर्म-ग्रन्थों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण के अलग-अलग कर्तव्य या वर्ण-धर्म बताए गए हैं। ऐसा करने का उद्देश्य समाज को श्रम-विभाजन का लाभ पहुंचाना रहा है। प्रत्येक वर्ण के दायित्वों को निर्धारित कर एक ओर यह प्रयत्न किया गया कि सभी कार्य विशेष ज्ञान के आधार पर सम्पन्न किए जाएं और दूसरी ओर यह कि कोई भी वर्ण किसी अन्य के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करे।

(1) **ब्राह्मण धर्म**—ब्राह्मण का मुख्य धर्म इन्द्रिय-संयम बताया गया है। मनुस्मृति के अनुसार वेदों का अनुशीलन (अभ्यास), तप, अध्ययन-अध्यापन एवं यज्ञों का सम्पादन ब्राह्मण के मुख्य दायित्व हैं। ब्राह्मण के छः कर्तव्य बताए गए हैं जो इस प्रकार हैं: अध्ययन और अध्यापन, यज्ञ करना और यज्ञ कराना, दान देना और दान लेना। ब्राह्मणों को सौंपे गए इन सभी दायित्वों का सम्बन्ध सात्विक गुणों के साथ है और सात्विक गुणों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। यही कारण है कि ब्राह्मणों को समाज में सबसे उच्च स्थिति प्रदान की गयी है। ब्राह्मण के लिए यह भी कहा गया है कि उसे शान्त प्रकृति का होना चाहिए, धर्म के प्रति पूर्ण निष्ठा रखनी चाहिए और पवित्रतापूर्ण जीवन बिताना चाहिए। मनु ने यह भी बताया है कि यदि ब्राह्मण उपर्युक्त कार्यों से अपनी जीविका नहीं कमा सके, तो उसे आपद् धर्म के रूप में क्षत्रिय-धर्म के पालन से अपनी आजीविका कमाने की आज्ञा है।

(2) **क्षत्रिय धर्म**—परोपकार करना, प्रजा की रक्षा करना और युद्ध में वीरता दिखाना क्षत्रिय के महत्वपूर्ण कर्तव्य हैं। मनुस्मृति के अनुसार प्रजा की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना एवं विषयों में आसक्ति न रखना क्षत्रियों के प्रमुख कर्म हैं। क्षत्रियों को इतना समर्थ होना चाहिए कि वे दुष्टों को दण्ड दे सकें। महाभारत में उसे क्षत्रिय माना गया है जो वेदों के अध्ययन और ब्राह्मणों को दान देने में रुचि रखता है एवं क्षत्रियोचित कर्मों को पूरा करता है। गीता में क्षत्रियों के सात प्रकार के धर्म बताए गए हैं—शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्ध से न भागना, दान देना और निःस्वार्थ भाव से प्रजा का पालन करना। क्षत्रियों का यह भी दायित्व बताया गया है कि उन्हें प्रजा में अपने धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न करनी चाहिए।

(3) **वैश्य धर्म**—वैश्यों का धर्म समाज के भरण-पोषण का दायित्व अपने ऊपर लेकर समाज के अस्तित्व को बनाए रखना है। महाभारत में बताया गया है कि वैश्य वे हैं जो वेदों के अध्ययन से सम्पन्न होकर व्यापार, पशु-पालन एवं कृषि कार्य से अन्न का संग्रह करने में रुचि रखते हों। वैश्य का यह कर्तव्य है कि वह उचित साधनों से धन का संग्रह करे। मनुस्मृति में वैश्यों के कर्तव्य इस प्रकार बताए गए हैं: पशुओं की रक्षा करना, दान देना, यज्ञ करना, अध्ययन करना, व्यापार करना, ब्याज पर धन देना एवं कृषि करना। गीता के अनुसार कृषि, गौ-रक्षा और व्यापार वैश्यों के मुख्य कार्य हैं।

(4) **शूद्र धर्म**—अन्य तीनों वर्णों की सेवा करना शूद्र का प्रमुख धर्म बताया गया है। मनु के अनुसार शूद्रों का एक ही धर्म है और वह है—अन्य तीनों वर्णों की बिना किसी ईर्ष्या भाव के सेवा करना। शूद्र के लिए कहा गया है कि जहां तक सम्भव हो उसे किसी

ब्राह्मण के सेवक के रूप में ही कार्य करना चाहिए। क्षत्रिय या वैश्य का सेवक तो उसे आजीविका कमाने की दृष्टि से आवश्यकतानुसार ही बनना चाहिए। शूद्र के लिए बताया गया है कि उसे अध्ययन, धन-संग्रह एवं अन्य वर्णों के व्यवसाय अपनाने का कार्य नहीं करना चाहिए। शूद्र को अपने स्वामी की निःस्वार्थ भाव से सेवा करनी चाहिए। स्वामी की सम्पत्ति नष्ट हो जाने पर उसे अपने बच्चों, आदि के भरण-पोषण के बाद बची हुई शेष सम्पत्ति को स्वामी के भरण-पोषण में खर्च करना चाहिए। जहां शूद्र पर अन्य वर्णों की सेवा का दायित्व डाला गया है, वहां अन्य वर्णों का यह कर्तव्य बताया गया है कि उन्हें शूद्रों को आवश्यक वस्तुएं प्रदान कर उनकी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी चाहिए।

उपर्युक्त विशिष्ट धर्मों के अतिरिक्त सभी वर्णों के कुछ सामान्य धर्म या कर्तव्य बताए गए हैं; जैसे, क्षमावान होना, सरल भाव रखना, किसी से द्रोह न करना, सभी जीवों का भरण-पोषण करना, पत्नी से ही सन्तान को जन्म देना, पवित्रता बनाए रखना, क्रोध नहीं करना, सच बोलना एवं धन बांटकर उसको काम में लेना, आदि। महाभारत में एक महत्वपूर्ण बात यह बतायी गयी है कि वर्णों का विभाजन उपर्युक्त धर्मों के आधार पर किया गया है, न कि वर्ण के आधार पर उनके कर्म का निर्धारण। इससे स्पष्टतः ज्ञात होता है कि वर्ण-व्यवस्था गुण पर आधारित थी न कि जन्म पर।

वर्ण-व्यवस्था की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF *VARNA-VYAVASTHA*)

विश्व की सामाजिक व्यवस्थाओं में वर्ण-व्यवस्था का एक अद्वितीय स्थान है। इस व्यवस्था की कुछ संरचनात्मक एवं कार्यात्मक विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

(1) **श्रम-विभाजन पर आधारित**—वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के कर्म इस प्रकार निर्धारित किए गए थे कि सभी सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके। प्रत्येक अपने दायित्व का पालन करता हुआ सामाजिक प्रगति में योग देता था।

(2) **विशेषीकरण में सहायक**—जहां वर्ण-व्यवस्था में विभिन्न प्रकार के कार्यों का विभिन्न वर्णों में विभाजन हुआ है, वहां उसके परिणामस्वरूप पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही प्रकार के कार्यों को करते रहने से लोगों को कार्य विशेष में निपुणता भी प्राप्त हुई है। इससे सम्पूर्ण समाज को विशेषीकरण का लाभ मिला है।

(3) **गुण एवं स्वभाव पर आधारित**—यद्यपि कुछ लोग वर्ण-व्यवस्था को जन्म पर आधारित स्तरीकरण का रूप मानते हैं, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन से प्राप्त प्रमाणों से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में इस व्यवस्था का आधार व्यक्ति के गुण एवं स्वभाव रहा है। धीरे-धीरे इस व्यवस्था में कठोरता आती गयी और जन्म का महत्व बढ़ता गया।

(4) **शक्ति एवं अधिकारों का निश्चित वितरण**—इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों की भिन्न-भिन्न शक्तियां और अधिकार रहे हैं। यद्यपि शक्ति और अधिकार की दृष्टि से ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोच्च रही है, परन्तु अन्य वर्णों को भी सामाजिक दृष्टि से महत्व दिया गया है। सभी वर्णों को समाज रूपी शरीर के विभिन्न अंगों के रूप में मान्यता प्रदान कर सभी के कार्यों को सामाजिक दृष्टि से अत्यन्त उपयोगी माना गया है। कौन किस कार्य को करेगा, कौन किस वर्ण का सदस्य होगा, यह व्यक्ति विशेष के गुण एवं स्वभाव पर निर्भर करता

है। धीरे-धीरे विभिन्न वर्णों में शक्ति एवं अधिकार की दृष्टि से एक निश्चित संस्तरण पनपने लगा जिसने एक वर्ण को दूसरे से ऊंचा अथवा नीचा मानने में योग दिया।

(5) **व्यवसायों का पूर्व-निर्धारण**—वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के कुछ परम्परागत पूर्व-निर्धारित व्यवसाय रहे हैं। साधारणतः प्रत्येक व्यक्ति को अपने वर्ण से सम्बन्धित व्यवसाय को अपनाने की ही आज्ञा थी। यद्यपि भृगु ने बताया है कि व्यक्ति के व्यवसाय के आधार पर ही उसका वर्ण निर्धारित होता था, लेकिन यह वर्ण-व्यवस्था के विकास की प्रारम्भिक व्यवस्था के समय की बात है। बाद में तो व्यक्ति के व्यवसाय का निर्धारण उसके वर्ण-विशेष की सदस्यता के आधार पर ही होने लगा। फिर भी इतना कहा जा सकता है कि व्यावसायिक निश्चितता वर्ण-व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता है।

(6) **गुणात्मक प्रेरणा**—वर्ण-व्यवस्था ने व्यक्तियों को अपने वर्ण-धर्म का पालन करने की विशेष प्रेरणा प्रदान की। यह कहा गया कि जो व्यक्ति अपने वर्ण-धर्म का पालन करेगा, उसे इस जीवन में तो उच्च स्थान प्राप्त होगा ही, परन्तु आगामी जीवन में भी इसका फल मिलेगा, उसका जन्म ज्यादा अच्छे कुल और वर्ण में होगा। इस प्रेरणा ने व्यक्तियों को कर्तव्य पालन के लिए विशेष प्रोत्साहन दिया।

(7) **आध्यात्मिकता पर विशेष जोर**—भारतीय संस्कृति में आध्यात्मवाद को विशेष महत्व दिया गया है। वर्ण-व्यवस्था को धर्म के साथ इस प्रकार जोड़ दिया गया कि प्रत्येक व्यक्ति अपने दायित्व-निर्वाह को पुनीत कर्तव्य के रूप में समझने लगा। भारतीय विचारक इस बात से भली-भांति परिचित थे कि अनावश्यक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता सामाजिक संघर्षों को बढ़ाने में योग देती है। यही कारण है कि यहां वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत वर्ण-धर्म का निर्धारण इस प्रकार किया गया कि प्रत्येक व्यक्ति स्वधर्म के पालन को सर्वाधिक महत्व दे। वर्ण-व्यवस्था में सामूहिक कल्याण के साथ-साथ व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति पर भी पूरा-पूरा ध्यान दिया गया है।

(8) **कर्म के सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म की धारणा पर जोर**—वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न व्यक्ति अपनी-अपनी सामाजिक स्थिति से सन्तुष्ट रहें और उसके अनुरूप अपने कर्तव्यों का पालन करते रहें, इस हेतु इस व्यवस्था को कर्म के सिद्धान्त एवं पुनर्जन्म की धारणा के साथ जोड़ दिया गया। ऐसा करके एक ओर व्यक्ति को अपनी सामाजिक स्थिति के प्रति सन्तुष्ट रहने और दूसरी ओर अपने दायित्वों का ठीक ढंग से निर्वाह करने की प्रेरणा प्रदान की गयी।

वर्ण-व्यवस्था के कार्य एवं समाजशास्त्रीय महत्व
(FUNCTIONS AND SOCIOLOGICAL IMPORTANCE OF *VARNA-VYAVASTHA*)

उपनिषदों, महाभारत एवं कुछ स्मृतियों में वर्ण-व्यवस्था का जो रूप देखने को मिलता है, उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस व्यवस्था के माध्यम से समाज का मनोवैज्ञानिक आधार पर कार्यात्मक विभाजन किया गया था। इस व्यवस्था ने सभी वर्णों के लोगों को अपने दायित्वों को निभाने की अपूर्व प्रेरणा प्रदान की है। इस व्यवस्था के द्वारा लोगों को यह विश्वास दिलाया गया कि जो व्यक्ति अपने वर्ण-धर्म के अनुरूप कार्य करेगा, उसे अगले जन्म में उच्च सामाजिक स्थिति प्राप्त हो सकेगी। इसने समाज को अलग-अलग

खण्डों में बांटने के बजाय उसे संगठित करने और पारस्परिक अन्तर्निर्भरता बढ़ाने में योग दिया है। विभिन्न क्षेत्रों में इस व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व इस प्रकार है :

(1) **कर्तव्य-पालन की प्रेरणा**—इस व्यवस्था ने वर्ण-धर्म के पालन पर जोर देकर लोगों को अपने कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ते रहने को सदैव प्रेरित किया है। लोगों को एक-दूसरे के कार्यों में हस्तक्षेप करने से रोका गया है और यह बताया गया है कि अपने वर्ण-धर्म के अनुरूप कार्य करते रहने पर व्यक्ति को मोक्ष प्राप्त होता है। यह एक ऐसी प्रेरणा थी जिसने सदियों तक व्यक्तियों को सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति में योग देने को प्रोत्साहित किया।

(2) **श्रम-विभाजन व विशेषीकरण की एक अद्वितीय व्यवस्था**—इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को अपने पिता के परम्परागत पेशे को अपनाना होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक का एक निश्चित वर्ण-धर्म रहा है जिसके अनुरूप कार्य करने की ही उससे आशा की जाती रही है। इस व्यवस्था में न केवल सभी कार्यों के ठीक प्रकार से सम्पन्न होने की ओर बल्कि समाज को विशेषीकरण का पूरा लाभ दिलाने की ओर भी पूरा ध्यान दिया गया है। जन्म से ही बालक अपने पारिवारिक पर्यावरण में अपने पिता के व्यवसाय को सीखने की ओर प्रवृत्त होता रहा है। इसके लिए उसे कहीं विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं रही है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी एक ही प्रकार का कार्य करते रहने से समाज को विशेषीकरण का भी पूरा-पूरा लाभ मिला है। यही कारण है कि ज्ञान, विज्ञान, कला और संस्कृति के क्षेत्र में भारत काफी आगे रहा है।

(3) **लचीली व्यवस्था**—इस व्यवस्था ने नियन्त्रित गतिशीलता के आधार पर सामाजिक प्रगति में योग दिया। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति को अपने गुण तथा कर्म के आधार पर एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाने की छूट दी गयी है। व्यक्ति निम्न वर्ण में जन्म लेकर भी उच्च वर्ण का सदस्य बन सकता है, यह कई उदाहरणों से स्पष्ट है।

(4) **सामाजिक संघर्षों से छुटकारा**—इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक अपने वर्ण-धर्म के पालन में लगा रहा है तथा प्रत्येक को एक निश्चित सामाजिक स्थिति प्राप्त होती रही है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत किसी विशेष सामाजिक स्थिति को प्राप्त करने के लिए व्यक्तियों को एक-दूसरे के साथ प्रतियोगिता करने की आवश्यकता नहीं रही है। जहां प्रतियोगिता अधिक होती है, वहां इसके अनियन्त्रित हो जाने पर सामाजिक संघर्षों की सम्भावना भी बढ़ जाती है। वर्ण-व्यवस्था ने सामाजिक संरचना में प्रत्येक की सामाजिक स्थिति निर्धारित कर समाज को सामाजिक संघर्षों से बचाने में अपूर्व योग दिया है। इस व्यवस्था ने प्रत्येक व्यक्ति की आजीविका, व्यवसाय और कार्य क्षेत्र को निर्धारित कर उसके सामाजिक और मानसिक जीवन को विघटित होने से बचाया है।

(5) **समानता की नीति पर आधारित**—वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के अलग-अलग कार्य होते हुए भी सामाजिक व्यवस्था में सभी वर्णों का समान महत्व था। प्रत्येक वर्ण की सेवाओं को सामाजिक दृष्टि से समान महत्व प्रदान किया गया था। यद्यपि इस व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न वर्णों के रूप में समाज का कार्यात्मक विभाजन तो हुआ है, परन्तु सभी वर्णों को एक-दूसरे के समान माना गया है। जब सब वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष के शरीर

के विभिन्न अंगों से मानी गयी है तो किसी एक वर्ण का दूसरों की तुलना में ऊंचा अथवा नीचा होने का प्रश्न ही नहीं उठता, सभी अंगों का समान महत्व है।

(6) **रक्त की शुद्धता**—भारत में समय-समय पर अनेक प्रजातीय समूह आए और कालान्तर में यहीं के मूल निवासी बन गए। ऐसी दशा में सामाजिक व्यवस्था को इस प्रकार संगठित करना आवश्यक था जिससे रक्त की शुद्धता बनी रहे। अतः वर्ण-व्यवस्था के माध्यम से विभिन्न प्रजातीय समूहों को रक्त की शुद्धता को बनाए रखने का अवसर मिला। आर्य और द्रविड़ प्रजातीय भिन्नता के कारण ही अलग-अलग वर्णों में विभक्त हो गए। द्रविड़ों को शूद्र वर्ण में रखा गया और रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के उद्देश्य से उन्हें अन्य वर्णों के लोगों के साथ वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा नहीं दी गयी। साथ ही प्रत्येक प्रजातीय समूह को वर्ण-व्यवस्था के कारण अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करने का अवसर भी मिला।

(7) **शक्ति-सन्तुलन बनाए रखने में योग**—वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत यह प्रयत्न किया गया। विभिन्न प्रकार की शक्तियां कुछ व्यक्तियों या उनके कुछ समूहों में ही केन्द्रित न हों। समाज में शास्त्र या ज्ञान-शक्ति, शस्त्र या सेना-बल, अन्न या सम्पत्ति तथा सेवा या श्रम का बल नामक चार प्रकार की शक्तियां पायी जाती हैं। इन सभी शक्तियों के कुछ ही व्यक्तियों या उनके किसी विशेष समूह में केन्द्रित हो जाने पर समाज में अत्याचार के बढ़ जाने की सम्भावना रहती है। यही कारण है कि वर्ण-व्यवस्था के अन्तर्गत चारों शक्तियों और उनसे सम्बन्धित पुरस्कारों को अलग-अलग रखा गया है। समाज को अन्याय और अत्याचारों से बचाने के लिए इस व्यवस्था में सम्मान, शासन एवं धन को एक-दूसरे से पृथक् रखा गया।

वर्ण-व्यवस्था के दोष
(DEFECTS OF *VARNA*-SYSTEM)

वर्ण-व्यवस्था के गुणों का प्रारम्भ में समाज को लाभ मिलता रहा, परन्तु धीरे-धीरे इस व्यवस्था में खुलेपन के बजाय कठोरता आती गयी। कालान्तर में प्रत्येक वर्ण सैकड़ों जातियों एवं उपजातियों में बंट गया और समाज को अनेक हानियां उठानी पड़ीं। वर्ण-व्यवस्था के कारण जब आगे चलकर प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों में विभक्त हो गया तो लोगों की **सामुदायिक भावना काफी संकुचित हो गयी और राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधाएं उत्पन्न हुईं।** इसका परिणाम यह हुआ कि विदेशी आक्रमणकारियों ने भारत पर विजय प्राप्त की और सैकड़ों वर्षों तक शासन किया।

इस व्यवस्था का एक प्रमुख दोष यह है कि **समाज के एक बहुत बड़े वर्ग (शूद्रों) को अपने विकास के समुचित अवसर नहीं दिये गये।** उन्हें तमोगुण प्रधान मानकर अज्ञानी समझ लिया गया और तीन वर्णों की सेवा का भार उन पर डाल दिया गया।

इसी वर्ण-व्यवस्था ने आगे चलकर **अस्पृश्यता को भी जन्म दिया।** अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों का इस देश में काफी लम्बे समय से शोषण होता रहा है।

वर्तमान में वर्ण के आधार पर विभिन्न जातियों और उपजातियों में संगठित होने की प्रवृत्ति पायी जाती है और वह भी राजनीतिक दृष्टि से स्वार्थ-पूर्ति के उद्देश्य से। आज एक ही वर्ण से अपने को सम्बन्धित मानने वाली विभिन्न जातियां संगठित होकर अपना वीभत्स रूप प्रकट कर रही हैं और स्वस्थ प्रजातन्त्र के मार्ग में बाधा उत्पन्न कर रही हैं।

वर्ण-व्यवस्था के उपर्युक्त दोष मूल रूप से इस व्यवस्था से सम्बन्धित नहीं होकर कालान्तर में विकसित जाति व्यवस्था से सम्बन्धित हैं। वर्ण-व्यवस्था ने प्रारम्भ में तो अलग-अलग वर्णों के विभिन्न धर्म निर्धारित कर व्यक्तियों को अपने कर्तव्यों के पालन की अपूर्व प्रेरणा प्रदान की। इस व्यवस्था ने आध्यात्मिकता को प्रोत्साहित किया और विभिन्न वर्णों के बीच पारस्परिक सहयोग बढ़ाने पर बल दिया। इस व्यवस्था को दीर्घजीवी बनाने में धर्म ने अपूर्व योग दिया। कर्मवाद, पुनर्जन्म, भाग्य और मोक्ष की धारणा के प्रभावी होने के कारण वर्ण-व्यवस्था काफी लम्बे समय तक चलती रही। आज वर्ण-व्यवस्था का स्थान जाति-व्यवस्था ने ले लिया है। अब वर्ण-व्यवस्था एक सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र रह गयी है।

प्रश्न

1. सामाजिक संरचना की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. सामाजिक संरचना से आप क्या समझते हैं? इसकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
3. वर्ण की उत्पत्ति कैसे हुई, इस सम्बन्ध में कई सिद्धान्त प्रचलित हैं। परम्परागत सिद्धान्त अथवा घुरिये के सिद्धान्त की संक्षिप्त समीक्षा कीजिए।
4. "वर्ण हमारे अधिकारों का नहीं, वल्कि कर्तव्यों का वोध कराते हैं।" (महात्मा गांधी) इस कथन की विवेचना कीजिए।
5. वर्गगत स्तरण अर्जित योग्यता पर आश्रित एक व्यवस्था रहा है। विवेचना कीजिए।
6. विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों के विचारों की समीक्षा कीजिए।

4

आश्रम-व्यवस्था

[ASHRAMA SYSTEM]

भारतीय समाज में आध्यात्मवाद एवं सांसारिकता में समन्वय स्थापित करने का प्रारम्भ से ही प्रयत्न किया गया है। यहां त्याग और भोग दोनों को ही महत्व दिया गया है। इस देश में व्यक्ति को संसार के प्रति उदासीन रहने को नहीं कहा गया है और न ही सांसारिकता में अपने आपको इतना लीन कर देने को कहा गया है कि वह जीवन के अन्तिम लक्ष्य अर्थात् मोक्ष-प्राप्ति को ध्यान में ही नहीं रखे। भारतीय संस्कृति में इस बात को विशेष महत्व दिया गया है कि मनुष्य धर्म के अनुसार अपने कर्तव्य का पालन करे, संसार में रहता हुआ त्याग व भोग की ओर प्रेरित हो और अन्त में मोक्ष की प्राप्ति करे। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखकर हमारे यहां एक व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को चार भागों में बांटा गया और प्रत्येक भाग में एक विशेष प्रकार की आचार-संहिता प्रस्तावित की गयी। जीवन की इसी व्यवस्था को आश्रम-व्यवस्था के नाम से पुकारते हैं।

आश्रम का अर्थ
(MEANING OF *ASHRAMA*)

डॉ. प्रभु के अनुसार 'आश्रम' शब्द श्रम धातु से बना है जिसका अर्थ परिश्रम या उद्योग करने से है। इस दृष्टि से 'आश्रम' शब्द के दो अर्थ हैं : (अ) वह स्थान जहां प्रयत्न या उद्योग किया जाता है, तथा (ब) इस प्रकार के प्रयत्न या उद्योग के लिए की जाने वाली क्रिया। इस अर्थ के आधार पर आश्रम का तात्पर्य ऐसे क्रिया-स्थल से है जहां कुछ समय ठहरकर व्यक्ति उद्यम करता है। शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से कहा जा सकता है कि आश्रम ठहरने या विश्राम करने का एक स्थान है जहां व्यक्ति कुछ समय तक रहकर अपने आप में आवश्यक गुणों का विकास करके अपने को आगे की यात्रा के लिए तैयार करता है। इस प्रकार आश्रम स्वयं में कोई लक्ष्य न होकर लक्ष्य-प्राप्ति का एक साधन है। प्रभु ने बताया कि आश्रम को जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति हेतु व्यक्ति द्वारा की जाने वाली यात्रा के मार्ग में पड़ने वाला विश्राम-स्थल मानना चाहिए। आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत एक आश्रम में रहता हुआ व्यक्ति अपने आपको दूसरे आश्रम या अवस्था के योग्य बनाता है। **महाभारत में व्यासजी ने**

बताया कि जीवन के चार आश्रम व्यक्तित्व के विकास की चार सीढ़ियां हैं। इन पर क्रम से चढ़ते हुए व्यक्ति ब्रह्म की प्राप्ति करता है।

भारतीय संस्कृति में मानव के चार प्रमुख कर्तव्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—माने गए। इन कर्तव्यों को पुरुषार्थ कहा जाता है। आश्रम के द्वारा इन चारों कर्तव्यों की पूर्ति का प्रयत्न किया जाता है। कर्तव्य की पूर्ति के इस प्रयत्न को आश्रम की संज्ञा दी गयी है क्योंकि इन कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिए प्रत्येक स्तर पर 'श्रम' करना पड़ता है और एक आश्रम की सफलता दूसरे आश्रम के कर्तव्यों को भी सरल बना देती है। **इस प्रकार स्पष्ट है कि आश्रम व्यवस्था वह अपूर्व व्यवस्था है जो हिन्दू जीवन को विभिन्न स्तरों में विभाजित कर व्यक्ति को समय विशेष के लिए प्रत्येक स्तर पर रखकर उसे भावी जीवन के लिए इस प्रकार तैयार करती है कि वह अपने प्रयास द्वारा समस्त दायित्वों को प्राथमिकता के आधार पर क्रमबद्ध रूप से पूर्ण करता हुआ जीवन के अन्तिम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त कर सके।** आज आश्रम-व्यवस्था को जिस रूप में स्वीकार किया जाता है, उसका विधिवत उल्लेख हमें सर्वप्रथम 'जाबालि उपनिषद्' में मिलता है। इससे स्पष्ट है कि उपनिषद् काल में ही आश्रम-व्यवस्था की स्पष्ट एवं व्यवस्थित व्याख्या की गयी थी।

आश्रमों के प्रकार (विभाजन) एवं उनका महत्व
(TYPES AND IMPORTANCE OF *ASHRAMAS*)

आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की आयु को 100 वर्ष मानकर उसके सम्पूर्ण जीवन को चार बराबर भागों में विभाजित किया गया। इस प्रकार जीवन को 25-25 वर्ष के चार आश्रमों—ब्रह्मचर्य, ग्रहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास—में बांटा गया है। इन चारों आश्रमों में क्रम से रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चार पुरुषार्थों की प्राप्ति करता है। इन चारों उद्यमों का एक-दूसरे के साथ इतना निकट का सम्बन्ध है कि एक आश्रम के कर्तव्यों को निभाए बिना व्यक्ति दूसरे आश्रम से सम्बन्धित दायित्वों को ठीक से पूर्ण नहीं कर सकता। प्रत्येक आश्रम में धर्म की मर्यादा के अनुसार अपना जीवन व्यतीत करने के पश्चात् ही व्यक्ति मोक्ष प्राप्ति के योग्य बनता है। हम यहां आश्रमों का उल्लेख करेंगे :

1. ब्रह्मचर्य आश्रम
(*BRAHMACHARYA ASHRAMA*)

ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन का सबसे पहला आश्रम है। उपनयन संस्कार (जनेऊ धारण करना) के बाद बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था। अलग-अलग वर्ण के बालक के लिए उपनयन संस्कार की आयु भी अलग-अलग रखी गयी है। ब्राह्मण बालक के लिए यह आयु 8 वर्ष, क्षत्रिय बालक के लिए 11 वर्ष और वैश्य बालक के लिए 12 वर्ष रखी गयी। इस संस्कार के पश्चात् ही बालक ब्रह्मचर्य आश्रम में प्रवेश करता था। ब्रह्मचर्य दो शब्दों से बना है जिसमें से एक है—'ब्रह्म' और दूसरा है—'चर्य।' 'ब्रह्म' का अर्थ है—'महान्' और चर्य का अर्थ है—'अनुसरण करना' या 'चलाना'। इस तरह ब्रह्मचर्य का तात्पर्य है—महानता के मार्ग पर चलना यानि महान् आत्माओं का अनुसरण करना। ब्रह्मचर्य का सामान्यतः अर्थ यौन-संयम से ही लिया जाता है किन्तु यह तो ब्रह्मचर्य का एक पहलू ही है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य सभी प्रकार के संयमों जैसे अनुशासन, कर्तव्य-परायणता, नैतिकता, आचरण की शुद्धता एवं पवित्रता, आदि से है। ब्रह्मचर्य का तात्पर्य केवल इन्द्रिय संयम से नहीं था वरन्

इन्द्रियों पर संयम रखते हुए वेदों के अध्ययन से था। इस आश्रम में ब्रह्मचारी संयम से रहता हुआ अपने आप में अनेक गुणों का विकास करता तथा अपने चरित्र का निर्माण करता हुआ भावी जीवन के लिए अपने को तैयार करता था।

ब्रह्मचर्य आश्रम में बालक को गुरुकुल में ही रहना पड़ता था। यहां उसे एक विशेष प्रकार की दिनचर्या बितानी होती थी। यहां आते ही बालक का अध्ययन कार्य प्रारम्भ नहीं हो जाता था। उसे गुरु की अनेक प्रकार की सेवा करनी होती थी, जैसे उसे आश्रम में झाड़ू लगानी पड़ती, आश्रम की गाएं चरानी पड़तीं, हवन के लिए जंगल से लकड़ी और दान प्राप्त करना पड़ता था। जब गुरु बालक के कार्यों से प्रसन्न हो जाता और यह समझ लेता कि बालक में अध्ययन की वास्तविक इच्छा और जिज्ञासा है, तभी उसे वेदों के अध्ययन की आज्ञा दी जाती थी। वेदों के अध्ययन का महत्व सांस्कृतिक परम्पराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुंचाने, ऋषि-ऋण से छुटकारा प्राप्त करने और ऋषियों के प्रति श्रद्धा का भाव व्यक्त करने की दृष्टि से विशेष था।

जहां तक **विद्यार्थी की दिनचर्या** का प्रश्न है, धर्मशास्त्रों एवं मनुसंहिता के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उसे प्रातःकाल सूर्योदय से पूर्व उठना पड़ता, उसे दिन में केवल दो बार भोजन करने की आज्ञा थी और उसके लिए शहद, मीठी वस्तुएं, मांस, गन्ध, जूता एवं छतरी, आदि का प्रयोग वर्जित था। ब्रह्मचारी के लिए कर्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार से किया गया था कि उसका **शारीरिक, मानसिक और बौद्धिक विकास** ठीक ढंग से हो सके। उसके लिए संयम और विभिन्न कर्तव्यों का पालन करना इस दृष्टि से आवश्यक था कि उसका शारीरिक विकास ठीक प्रकार से हो सके। यही कारण है कि उसे ऐसी वस्तुओं को प्रयोग में लेने की आज्ञा नहीं थी जो काम भावना को भड़काने में सहायक हों। इस आश्रम में बालक के लिए नृत्य, गायन, जुआ, झूठ, हिंसा, आदि वर्जित थे। उसके लिए सत्य बोलना, पवित्रता का आचरण करना, सत्य की खोज करना और अध्ययन में रुचि लेना आवश्यक था। इसी से उसका **मानसिक विकास सम्भव था।** अपने **आध्यात्मिक विकास** के लिए बालक को अपने आप में अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, पवित्रता, आदि गुणों का विकास करना था। योग-दर्शन में बताया गया है कि शौच (पवित्रता), सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर पूजा, आदि वे नियम हैं जिनसे मानसिक विकास होता है। आध्यात्मिक विकास हेतु यमों का पालन आवश्यक माना गया है। ये यम हैं : अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। स्पष्ट है कि ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्यार्थी की दिनचर्या इस प्रकार से निर्धारित की गयी है कि वह वेदों के अध्ययन के साथ-साथ अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके।

ब्रह्मचर्य आश्रम का समाजशास्त्रीय महत्व

इस आश्रम में गुरु के प्रत्यक्ष सम्पर्क में रहता हुआ विद्यार्थी अपने व्यक्तित्व का विकास करता, अपने आपको सद्गुणों से विभूषित करता, अपना चरित्र-निर्माण करता और अपनी यौन-इच्छाओं पर नियन्त्रण रखते हुए अपने को गृहस्थ-जीवन के योग्य बनाता। इस आश्रम का **बालक के शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक विकास की दृष्टि से विशेष महत्व है।** यह आश्रम समाज की **सांस्कृतिक परम्पराओं को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक हस्तान्तरित करने** में विशेष रूप से सहायक रहा है। उस समय सांस्कृतिक परम्पराएं मौखिक रूप से ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित की जाती थीं। ऐसी स्थिति में ब्रह्मचर्य आश्रम के माध्यम से समाज

के एक वर्ग पर यह दायित्व डाला हुआ था कि वह अध्ययन, सम्वर्द्धन तथा प्रसारण द्वारा अपनी सांस्कृतिक परम्पराओं, सामाजिक मूल्यों और जीवन-दर्शन को बनाए रखे। इसी आश्रम की सहायता से भारतीय सामाजिक आदर्शों और व्यावहारिक प्रतिमानों को अनेक शताब्दियों तक बनाए रखा जा सका। इस आश्रम में सरल और सादगीपूर्ण जीवन व्यतीत करता हुआ बालक यह सीखता था कि जीवन में भौतिक आवश्यकताएं ही सब कुछ नहीं हैं, वे तो आध्यात्मिक उद्देश्य की पूर्ति में सहायक-मात्र हैं। यहां **बालक विभिन्न कर्तव्यों से परिचित** होता था, अपने उचित धर्म को सीखता था।

आश्रम-व्यवस्था के महत्व पर प्रकाश डालते हुए **डॉ. कापडिया** ने लिखा है, "छात्रत्व जीवन अवधि का वह समय है जिसमें वेग होता है। यह समय तूफान और तनाव, आतुरता, शारीरिक-शक्तिवर्द्धन, भावात्मक अस्थिरता, यौन-प्रवृत्ति के विकास, यौनिक उत्तेजना और आत्म-प्रदर्शन करने का काल होता है। हिन्दू मनीषियों ने विद्यार्थी जीवन को इस प्रकार नियन्त्रित करने का प्रयास किया है कि उसकी युवावस्था का विकास सन्तुलित रूप से हो सके। उन्होंने मस्तिष्क तथा शरीर के लिए उचित नियम निर्धारित किए हैं। वास्तव में, यह जीवन अत्यन्त कष्टपूर्ण था, परन्तु जीवन का यह ढंग यौवनावस्था के प्रबल वेग को नियन्त्रित करता था। इसे नियन्त्रित जीवन कहा जा सकता है। लेकिन, जब सम्पूर्ण दैनिक जीवन नियमबद्ध हो जाता है तथा इसे जीवन के महान् उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अनुशासित कर दिया जाता है, तब इसके दमन का प्रश्न ही नहीं उठता है।" यह आश्रम श्रम के महत्व से व्यक्ति को परिचित कराके उसके जीवन में असफलताओं की सम्भावना को काफी घटा देता है। यह आश्रम बालक को सादा जीवन और उच्च विचार के आदर्श की प्रेरणा देता है।

2. गृहस्थ आश्रम
(GRIHASTHA ASHRAMA)

ब्रह्मचर्य आश्रम में अध्ययन कार्य पूर्ण करने के पश्चात् विवाह-संस्कार सम्पन्न होने पर व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है जहां वह पचास वर्ष की आयु तक रहता है। यह आश्रम ही वह महान् कर्म-स्थल है जहां व्यक्ति ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त शिक्षाओं को मूर्त रूप देता है। इस आश्रम में व्यक्ति धार्मिक एवं सामाजिक दायित्वों को पूरा करने की ओर आगे बढ़ता है। यहां मर्यादा में रहता हुआ व्यक्ति धर्म, अर्थ तथा काम नामक पुरुषार्थों को प्राप्त करता है। इस आश्रम में रहकर ही वह स्वयं परिवार एवं समाज के प्रति अपने कर्तव्यों को पूर्ण करता हुआ अपने को आगे के आश्रम के योग्य बनाता है। **गोखले** ने गृहस्थ धर्म के सम्बन्ध में बताया है कि इस आश्रम के अन्तर्गत एक गृहस्थ का धर्म है कि वह जीव-हत्या, असंयम तथा असत्य से दूर रहे तथा पक्षपात, शत्रु, निर्बुद्धिता तथा डर को पास न आने दे। मादक द्रव्यों का सेवन, कुसंग, अकर्मण्यता और चाटुकारों पर धन व्यय न करे, माता-पिता, आचार्यों और वृद्धों का आदर करे, पत्नी के प्रति उसका व्यवहार धर्म, अर्थ तथा काम की मर्यादाओं के अनुसार हो। इस प्रकार परिवार के सदस्यों में पारस्परिक आदर तथा एक-दूसरे के कल्याण का ध्यान ही कुल-धर्म का सार है। गृहस्थ के इन सभी दायित्वों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि गृहस्थ आश्रम व्यक्ति के लिए भोग एवं विलास का काल न होकर त्यागमय जीवन, कर्म और साधना का महान् स्थल है।

गृहस्थाश्रम के सारे दायित्वों को यज्ञ, दान और तप के अन्तर्गत सम्मिलित किया गया है। एक गृहस्थ का यह कर्तव्य है कि वह देवताओं, ऋषियों, माता-पिता, अतिथियों तथा अन्य प्राणियों के प्रति अपने दायित्व को निभाए। देवता, ब्राह्मण, गुरु एवं विद्वान-जनों का पूजन करे। पवित्रता, सरलता, ब्रह्मचर्य तथा अहिंसा का आचरण करे।

गृहस्थ के लिए प्रतिदिन धर्म पूर्ति के लिए पंच-महायज्ञों का विधान किया गया है। इनका उद्देश्य विभिन्न प्रकार की हिंसा से अपने आपको मुक्त करना था। मनु ने बताया है कि गृहस्थ के घर में चूल्हा, चक्की, झाडू, ऊखल-मूसल तथा जलपात्र विभिन्न जीव-जन्तुओं की हिंसा के स्थान हैं। इनसे होने वाली हिंसा के प्रायश्चित के रूप में पंच-महायज्ञ आवश्यक बताए हैं। इन यज्ञों के द्वारा गृहस्थ ऋषियों, देवताओं, माता-पिता, अतिथियों और विभिन्न प्राणियों के प्रति अपने दायित्व का निर्वाह करता था। इन यज्ञों का लक्ष्य व्यक्ति में ईश्वर के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना, उसे वैदिक साहित्य के अध्ययन की ओर लगाना, समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं की रक्षा करना, ऋषि-मुनियों, गुरुजनों, माता-पिता और अतिथियों के प्रति दायित्व निर्वाह की ओर उसे प्रेरित करना और प्राणिमात्र के कल्याण को ध्यान में रखना, रहा है। पंच-महायज्ञों के माध्यम से गृहस्थ त्यागमय जीवन व्यतीत करता हुआ अपने और समाज के जीवन को उन्नत बनाने में महत्वपूर्ण योग देता रहा है। देव-ऋण, पितृ-ऋण तथा ऋषि-ऋण से छुटकारा प्राप्त करने के लिए भी गृहस्थी के लिए विभिन्न यज्ञों को सम्पन्न करना आवश्यक बताया गया है। गृहस्थ धन कमाता है लेकिन वह उस धन का उपयोग समाज के प्रति अपने दायित्व निर्वाह के लिए करता है। धन संचय लक्ष्य न होकर अन्य के हित में उसका उपयोग करना गृहस्थ के जीवन का लक्ष्य रहा है।

गृहस्थ आश्रम का महत्व : सबसे अधिक महत्वपूर्ण आश्रम क्यों ?

उपनिषदों, महाभारत तथा स्मृतियों में स्पष्टतः बताया गया है कि गृहस्थाश्रम में जीवन व्यतीत किए बिना व्यक्ति के लिए मोक्ष-प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस आश्रम की महत्ता इस दृष्टिकोण से विशेष है कि गृहस्थ जीवन के साथ अनेक सामाजिक, धार्मिक और नैतिक कर्तव्य जुड़े हुए हैं। अन्य तीनों आश्रमों के लोग अपने भरण-पोषण के लिए गृहस्थ पर ही निर्भर रहते हैं। इस आश्रम को सबसे अधिक महत्वपूर्ण इस कारण माना गया है क्योंकि जीवन की सफलता इसी की सफलता पर निर्भर करती है। **मनु के अनुसार, जिस तरह वायु का आश्रय लेकर सब जीव-जन्तु जीते हैं, उसी तरह गृहस्थ का आश्रय लेकर सब आश्रम जीवन व्यतीत करते हैं।** सभी आश्रमों में रहने वाले व्यक्तियों को गृहस्थ से ही भोजन एवं पवित्र ज्ञान प्राप्ति होने के कारण गृहस्थाश्रम ही सर्वोपरि है। **जिस प्रकार सभी छोटी-बड़ी नदियां अन्त में समुद्र में ही स्थायी रूप से विश्राम पाती हैं, उसी प्रकार सब आश्रमों के व्यक्ति गृहस्थ के हाथों में ही सुरक्षा एवं स्थायित्व प्राप्त करते हैं। गृहस्थाश्रम को अन्य आश्रमों की तुलना में सबसे अधिक महत्व दिए जाने के कुछ विशेष कारण हैं जिनका यहां हम संक्षेप में उल्लेख करेंगे :**

1. **पुरुषार्थों की पूर्ति का स्थल**—गृहस्थाश्रम ही एक ऐसा स्थान है जहां अर्थ नामक पुरुषार्थ को उपार्जित किया जाता है और काम का उपभोग किया जाता है। अन्य तीनों आश्रमों में इन दो पुरुषार्थों की कोई व्यवस्था नहीं है। यहां व्यक्ति धर्म के अनुसार विभिन्न दायित्वों को निभाता है, धर्म नामक पुरुषार्थ को उपार्जित करता है। इस आश्रम में इन तीनों

पुरुषार्थों को प्राप्त करता हुआ व्यक्ति अपने को चौथे पुरुषार्थ—मोक्ष-प्राप्ति—के लिए तैयार करता है। यह आश्रम भोग और त्याग दोनों के महत्व पर समान रूप से प्रकाश डालता है।

2. **यज्ञों का सम्पादन**—सभी प्रकार के ऋणों से मुक्त होने के लिए यज्ञों की पूर्ति आवश्यक बतायी गयी है। ये यज्ञ पांच माने गए हैं—ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ तथा अतिथियज्ञ (नृयज्ञ)। इन पांच महायज्ञों का निर्वाह गृहस्थाश्रम में ही सुगमतापूर्वक किया जा सकता है। इन यज्ञों का महत्व इसी दृष्टि से है कि इनके माध्यम से गृहस्थ समाज के विभिन्न लोगों के प्रति अपने दायित्व को पूर्ण करता है। हिन्दू जीवन-दर्शन के अनुसार व्यक्ति केवल अपने लिए ही नहीं जीता है, वह समाज का एक घटक है, समाज से बहुत कुछ ग्रहण करता है, अतः समाज के प्रति उसका कुछ दायित्व भी है। इसी दायित्व को वह विभिन्न यज्ञों के सम्पादन द्वारा निभाता है।

3. **समाज के सामान्य कल्याण में योगदान**—अन्य तीनों आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम का समाज के सामान्य कल्याण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्व है। एक गृहस्थ ही अन्य तीनों आश्रमों के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर सामूहिक कल्याण में योग दे सका है। गृहस्थ के सहयोग के बिना अन्य तीनों आश्रम के लोगों के लिए अपने कर्तव्यों को निभाना किसी भी रूप में सम्भव नहीं था अतः गृहस्थ ही सम्पूर्ण समाज के हित में विशेष योग दे पाता था।

इस आश्रम के उपर्युक्त महत्व को ध्यान में रखकर ही यह कहा गया है कि **गृहस्थ आश्रम ही वह धुरी है जिस पर सम्पूर्ण आश्रम-व्यवस्था का अस्तित्व बना हुआ है।**

3. वानप्रस्थ आश्रम
(*VANAPRASTHA ASHRAMA*)

शास्त्रकारों के अनुसार 50 वर्ष की आयु पूरी कर लेने पर व्यक्ति को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिए। मनु ने बताया है कि जब गृहस्थ यह देखे कि उसके शरीर की त्वचा शिथिल हो गयी है, उसमें झुर्रियां पड़ गयी हैं, बाल पक गए हैं, पुत्र के भी पुत्र हो गया है तब विषयों से मुक्त होकर वह वन का आश्रय ले। **डॉ. काणे** ने लिखा है कि 50 वर्ष के लगभग की अवस्था हो जाने पर व्यक्ति संसार के सुख एवं वासनाओं की भूख से ऊब उठता था तथा वन की राह ले लेता था, जहां वह आत्म-निग्रही, तपस्वी एवं निरपराध जीवन व्यतीत करता था। शाब्दिक दृष्टि से वानप्रस्थ का अर्थ है, 'वन की ओर प्रस्थान करना।' स्पष्ट है कि 50 वर्ष की आयु प्राप्त कर लेने के बाद व्यक्ति अपने परिवार, नाते-रिश्तेदारों और समाज को छोड़कर जंगल में चला जाता है और मानव-मात्र की सेवा में अपना समय लगाता है। वह 75 वर्ष की आयु तक इसी आश्रम में रहता है। वानप्रस्थी के लिए बताया गया है कि उसे जंगल में एक कुटिया बनाकर रहना चाहिए। वह जंगल में अकेला भी जा सकता है और अपनी पत्नी के साथ भी रह सकता है, घर से निकलकर जंगल में रहकर वह त्याग और तपस्यामय जीवन व्यतीत करता है तथा विषय-भोगों पर नियन्त्रण पाने का प्रयत्न करता है। वन में वह सरल, त्यागमय तथा सेवामय पवित्र जीवन बिताता है तथा अपने को प्रभु-चिन्तन में लगा देता है। वानप्रस्थी निष्काम भाव से कर्म करता है। वह विद्यार्थियों को निःशुल्क शिक्षा प्रदान करने के साथ-साथ उनके चरित्र निर्माण और व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण योग देता है।

इस आश्रम का मुख्य लक्ष्य व्यक्ति को संन्यास आश्रम के लिए तैयार करना रहा है और इसी बात को ध्यान में रखते हुए वानप्रस्थी के कर्तव्यों को निश्चित किया गया है। यहां वह सांसारिक सुखों से अलग होने की कोशिश करता है। यहां वह भोजन के रूप में कन्द-मूल और फलों का सेवन करता है तथा वस्त्र के लिए मृगचर्म या पेड़ की छाल-पत्तों को काम में लेता है। कुल्लूक-भट्ट ने इन्द्रिय-संयम, सांसारिकता से विरक्ति, समता का भाव, जीवों के प्रति दया और भिक्षा द्वारा जीवन-निर्वाह वानप्रस्थी के मुख्य धर्म बताए हैं। वानप्रस्थी के लिए वताया गया है कि उसे जमीन पर सोना तथा घास-फूस से बनी कुटिया या पेड़ के नीचे रहना चाहिए। वह भीषण गर्मी में भी अग्नि के सम्मुख बैठकर यज्ञ करता है। यहां पर भी वह गृहस्थ आश्रम में किए जाने वाले पंच-महायज्ञों को जारी रखता है। भोजन के लिए भिक्षा के रूप में वह जो कुछ प्राप्त करता, उसमें से दान देता तथा अतिथियों का भी सत्कार करता।

वानप्रस्थ आश्रम का महत्व

वानप्रस्थ आश्रम का इस दृष्टि से विशेष महत्व रहा है कि इसके माध्यम से वैयक्तिक शुद्धि तथा सामाजिक कल्याण के उद्देश्यों की पूर्ति में काफी सहायता मिली है। 50 वर्ष की आयु में गृहस्थ त्यागकर वानप्रस्थी बन जाने से युवा-पीढ़ी के लोगों को परिवार में सब प्रकार के अधिकार प्राप्त हो जाते थे। इससे पारिवारिक जीवन में संघर्ष की सम्भावना काफी कम हो जाती थी। ऐसी स्थिति में समाज को आर्थिक समस्या का सामना नहीं करना पड़ता था और बेकारी की समस्या भी उत्पन्न नहीं होती थी। वानप्रस्थी अपने जीवन के लम्बे अनुभवों और त्यागमय आदर्शों के आधार पर ब्रह्मचारियों को शिक्षा प्रदान करता, उनका मार्ग-दर्शन करता और उनके चरित्र-निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता था। वानप्रस्थ आश्रम एक ओर वानप्रस्थी के मानसिक विकास में योग देता, उसके जीवन को पवित्र बनाता और दूसरी ओर उसे सब प्रकार की सांसारिक चिन्ताओं से मुक्त करता, संसार के प्रति विरक्ति का भाव पैदा करता और मोक्ष प्राप्ति के मार्ग पर चलने के लिए तैयार करता।

4. संन्यास आश्रम
(*SANNYASA ASHRAMA*)

मनुस्मृति में बताया गया है कि आयु के तीसरे भाग को वन में व्यतीत करने के बाद आयु के चौथे भाग अर्थात् 75 वर्ष की आयु के पश्चात् वानप्रस्थी संसार को छोड़कर संन्यास आश्रम में प्रवेश करता था। अब वह सामाजिक और सांसारिक सम्बन्धों से पूर्णतया अलग हो जाता था। संन्यासी उसे ही माना गया है जो संसार का पूरी तरह त्याग कर चुका हो। संन्यास आश्रम में प्रवेश करने पर व्यक्ति अपना पुराना नाम भी त्याग देता और संन्यासी के रूप में नवीन नाम ग्रहण करता। इस आश्रम में संन्यासी के लिए एक ही पुरुषार्थ प्राप्त करना शेष रहता और वह है—मोक्ष। इसकी प्राप्ति के लिए उसे सब कुछ त्यागना पड़ता है। वह स्थायी रूप से एक स्थान पर नहीं रहता, एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहता और लोगों को उपदेश देता रहता। संन्यासी को अपने पास कुछ भी रखने की आज्ञा नहीं थी। वह जीवन-मृत्यु की चिन्ता से परे होता था। अपनी भोजन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वह दिन में केवल एक बार भिक्षा मांग सकता था। जो कुछ मिल जाता, उसी में उसे सन्तोष था, अधिक मिलने पर प्रसन्न नहीं होता और न मिलने पर दुखी नहीं होता।

वायु-पुराण के अध्याय 8 में संन्यासी के दस कर्तव्य बताए गए हैं—भिक्षावृत्ति से भोजन प्राप्त करना, चोरी न करना, बाह्य तथा आन्तरिक पवित्रता रखना, प्रमादी न होना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, दया करना, प्राणियों के प्रति क्षमावान होना, क्रोध न करना, गुरु की सेवा करना तथा सत्य बोलना। मनु ने लिखा है कि अपने पर पूर्ण संयम रखना चाहिए। उसे नीची दृष्टि करके चलना चाहिए, कपड़े से छानकर जल पीना चाहिए, सत्य से पवित्र करके वाणी का प्रयोग करना चाहिए एवं मन को पूर्ण पवित्र रखकर आचरण करना चाहिए। संन्यासी के लिए कहा गया है कि उसे सुख-दुःख का अनुभव नहीं करना चाहिए। संन्यासी संसार में रहता हुआ भी पारलौकिक जीवन में प्रवेश कर जाता था। वह निष्काम भाव से प्राणी मात्र के कल्याण में अपने को लगा देता। मिट्टी और सोना उसके लिए समान थे। वह निष्काम भाव से कर्म करता हुआ प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को उत्तम बनाने में अपना अपूर्व योग देता था। इस आश्रम में वह आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न करता था।

संन्यास आश्रम का महत्व

कुछ लोगों का कहना है कि संन्यास आश्रम आत्मिक विकास की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है लेकिन सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था की दृष्टि से उपयोगी नहीं है। इसका कारण यह बताया गया है कि अन्य सभी आश्रमों में व्यक्ति समाज की कुछ-न-कुछ सेवा करता है परन्तु संन्यास आश्रम में तो वह अपने लिए ही सब कुछ करता है, मोक्ष प्राप्ति के प्रयत्न में लगा रहता है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमता रहता, अपनी योग्यता और अनुभव के आधार पर लोगों का मार्ग-दर्शन करता रहता। लोग उस श्रेष्ठ पुरुष संन्यासी का आदर करते, उससे परामर्श लेते और उसकी शिक्षाओं को ग्रहण करते।

आश्रम-व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्त
(FUNDAMENTAL PRINCIPLES OF *ASHRAMA*-SYSTEM)

प्रश्न यह उठता है कि आश्रम-व्यवस्था किन आधारभूत सिद्धान्तों को लेकर निर्मित की गयी। यह व्यववस्था तत्कालीन समाज के सांस्कृतिक मूल्यों तथा जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व करती है। भारतीय समाज में समूह कल्याण के आदर्श को सदैव से ही विशेष महत्व दिया जाता रहा है। इसी आदर्श को ध्यान में रखकर यहां व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के निर्माण का अवसर दिया गया है। समूह को विशेष महत्व दिये जाने के कारण ही यहां व्यक्तिवादिता पर हमेशा अंकुश रखा गया। आश्रम-व्यवस्था के कुछ महत्वपूर्ण आधारभूत सिद्धान्त इस प्रकार हैं—**ऋणों की धारणा, यज्ञों की धारणा, पंच-महायज्ञ, संस्कार एवं पुरुषार्थ।**

(1) ऋणों की धारणा—आश्रम-व्यवस्था के मूल में ऋणों की धारणा पायी जाती है। यहां प्रत्येक हिन्दू को अनेक प्राणियों की ऋणी माना गया है। व्यक्ति पर साधारणतः पांच प्रकार के ऋण होते हैं जिन्हें उसे इस जीवन में चुकाना होता है। ये ऋण हैं—देव-ऋण, ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण, अतिथि-ऋण और भूत-ऋण। व्यक्ति दूसरों का इस दृष्टि से ऋणी है कि उन्होंने उसके विकास में अनेक रूपों में योग दिया है। देवताओं ने व्यक्ति को जल, भूमि, वायु और अनेक अन्य वस्तुएं प्रदान की हैं जो उसके अस्तित्व को बनाये रखने में योग देती हैं। ऋषियों ने अपने ज्ञान और अनुभव से व्यक्ति के बौद्धिक और मानसिक विकास में योग दिया है। माता-पिता ने उसे जन्म देकर, उसका पालन-पोषण करके और उसकी शिक्षा की व्यवस्था

करके उसके विकास में अपूर्व योग दिया है। ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी की आवश्यकताओं को पूर्ण करने में भी अनेक व्यक्तियों का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से योग रहा है। इसी प्रकार विभिन्न जीवधारियों ने भी उसके अस्तित्व को बनाये रखने में किसी-न-किसी रूप में सहायता पहुंचायी है। ऐसी दशा में व्यक्ति इन सबका—देवताओं, ऋषियों, माता-पिता, अतिथियों और विभिन्न जीवधारियों का ऋणी है और इन सबके प्रति कर्तव्यों का पालन करके तथा इनके प्रति आदर और त्याग की भावना व्यक्त करके ही विभिन्न प्रकार के ऋणों से मुक्त हो सकता है। इन ऋणों की अवधारणा ने व्यक्ति में अनेक सद्गुणों जैसे प्रेम, सहानुभूति, दया, उदारता, त्याग, आदर-भावना, कर्तव्य-परायणता के विकास में योग दिया है।

(2) **यज्ञों की अवधारणा व पंच महायज्ञ**—आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के ऋणों से उऋण होने के लिए यज्ञों के महत्व को विशेष मान्यता दी गयी है। ब्रह्मचर्य आश्रम में गुरु के नियन्त्रण में रहता हुआ ब्रह्मचारी अनुशासित जीवन व्यतीत करता है। यहां वह ज्ञान यज्ञ करता है। गृहस्थाश्रम में वह माता-पिता, गुरुजनों और अतिथियों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता हुआ सामाजिक दायित्व निभाता है। इस आश्रम में वह विभिन्न ऋणों से उऋण होने का प्रयत्न करता है। यहां वह अपने साधनों के अनुसार कर्म-यज्ञ करता है। वानप्रस्थ-आश्रम में वह अपने को संन्यास आश्रम के लिए तैयार करता है। संन्यास-आश्रम में वह सभी प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर अन्तिम यज्ञ मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करता है। इस आश्रम में वह सब कुछ त्याग देता है और आत्म-साक्षात्कार के प्रयत्न में पूर्णतया लग जाता है। अन्तिम दो आश्रमों में वह भक्ति यज्ञ करता है। आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत एक आधारभूत सिद्धान्त के रूप में 'पंच-महायज्ञ' का विधान भी किया गया है जिनका वर्णन इसी अध्याय में हम पहले कर चुके हैं।

(3) **संस्कार**—आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत एक आधारभूत-सिद्धान्त के रूप में विभिन्न प्रकार के संस्कारों का महत्व भी रहा है। व्यक्तिगत जीवन को परिष्कृत कर व्यक्तित्व के विकास की दृष्टि से इन संस्कारों का काफी महत्व है। व्यक्ति के जीवन को पूर्णता प्रदान करना इन संस्कारों का मुख्य लक्ष्य है। प्रत्येक आश्रम का प्रारम्भ और अन्त किसी संस्कार विशेष के सम्पादन द्वारा ही होता है। **डॉ. राजबली पाण्डेय** के अनुसार "संस्कारों की पूर्ति ही वह मार्ग है जिससे क्रियाशील सांस्कृतिक जीवन का समन्वय आध्यात्मिक तथ्यों के साथ स्थापित किया जाता है।"[1] हिन्दू जीवन से सम्बन्धित विभिन्न संस्कारों का सविस्तार वर्णन 'संस्कार' वाले अध्याय में किया गया है।

(4) **पुरुषार्थ**—आश्रम-व्यवस्था के एक मौलिक सिद्धान्त के रूप में 'पुरुषार्थ' का विशेष महत्व है। डॉ. प्रभु ने इसे आश्रम-व्यवस्था का मानसिक-नैतिक आधार (Psycho-Moral Basis) माना है। आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत पुरुषार्थों के महत्व के सम्बन्ध में **डॉ. कपाड़िया** ने लिखा है, "**मोक्ष** मानव जीवन का चरम लक्ष्य एवं मनुष्य की आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतीक है। '**अर्थ**' उसके प्राप्त करने के सहज स्वभाव, उसकी धन संग्रह और उपभोग-वृत्ति एवं इनसे सम्बन्धित अन्य प्रवृत्तियों को दर्शाता है। '**काम**' मनुष्य के सहज स्वभाव तथा भावुक जीवन की सफलता का प्रतिनिधित्व करते हैं। 'धर्म' मनुष्य की पाशविक और दैवी प्रकृति के बीच की शृंखला है। इस प्रकार, ये चार मुख्य उद्देश्य आध्यात्मिकता की

1 डॉ. राजबली पाण्डेय, **हिन्दू संस्कार**, पृ. 39।

अनुभूति के हेतु मानव क्रियाओं को समन्वित करते हैं।"[1] व्यक्ति अपने जीवन में विभिन्न आश्रमों में इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। इन पुरुषार्थों पर 'पुरुषार्थ' वाले अध्याय में सविस्तार विचार किया गया है। यहां डॉ. कपाडिया के शब्दों में इतना कहना ही पर्याप्त है कि पुरुषार्थ का सिद्धान्त भौतिक इच्छाओं एवं आध्यात्मिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करता है। यह मानव में पैतृक-सहजात यौन भावना, उसके शक्ति और सम्पत्ति के प्रति मोह, कलात्मक और सांस्कृतिक जीवन के प्रति उसकी तृष्णा, परमात्मा के साथ उसके पुनर्मिलन की कामना-सन्तुष्टि का प्रयत्न भी करता है। यह जीवन को एक समग्र रूप में देखता है, इसकी आशाओं और प्रेरणाओं, इसकी प्राप्तियों एवं आनन्दों तथा इसकी महानता और आध्यात्मिकता को स्पष्ट करता है।[2]

स्पष्ट है कि उपर्युक्त आधारभूत सिद्धान्तों ने ही आश्रम-व्यवस्था जैसी समन्वित व्यवस्था के निर्माण में योग दिया जिसके माध्यम से एक और व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास और दूसरी ओर समाज की प्रगति हो सकी।

आश्रम-व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व
(SOCIOLOGICAL IMPORTANCE OF *ASHRAMA VYAVASTHA*)

आश्रम-व्यवस्था का महत्व इसी बात से स्पष्ट है कि इस व्यवस्था ने व्यक्ति के समाजीकरण, व्यक्तित्व के विकास, समाज कल्याण और समाज की उन्नति में काफी योग दिया है। आश्रम-व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्व को निम्नांकित आधारों पर समझा जा सकता है :

(1) **जीवन के समुचित विकास की भावना**—आयु के बढ़ने के साथ-साथ व्यक्ति की शारीरिक शक्ति, कार्यक्षमता, अनुभव एवं मानसिक प्रवृत्तियों में परिवर्तन आता रहता है। इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए भारतीय विद्वानों ने जीवन को न केवल बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था में विभाजित किया बल्कि प्रत्येक अवस्था के लिए विशेष आश्रम की व्यवस्था भी की, ताकि व्यक्ति के जीवन का समुचित विकास हो सके।

(2) **मानवीय गुणों के विकास एवं मानवतावादी समाज की स्थापना में योग**—आश्रम-व्यवस्था ने व्यक्ति में मानवीय गुणों के विकास में काफी योग दिया है। चारों आश्रमों में व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार से किया गया है कि उसमें त्याग, परोपकार, सहिष्णुता, सामाजिकता, सरलता, उदारता, आध्यात्मिकता और बन्धुत्व जैसे गुणों का विकास हो सके। इन सब गुणों के विकास के परिणामस्वरूप समाज में ऐसे व्यक्ति निर्मित हो पाए हैं जिन्होंने एक मानवतावादी समाज की स्थापना में काफी योग दिया है।

(3) **व्यक्ति और समाज की पारस्परिक निर्भरता पर जोर**—व्यक्ति और समाज दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं और दोनों का विकास सन्तुलित रूप से पारस्परिक निर्भरता को बनाए रखने पर ही निर्भर करता है। व्यक्ति प्रत्येक आश्रम में अपने दायित्वों का निर्वाह करते हुए यह भली-भांति समझ लेता है कि वह केवल स्वयं और अपने परिवार के लिए ही नहीं जीता। यहां वह स्पष्टतया जान लेता है कि समाज ने भी पग-पग पर उसके विकास में महत्वपूर्ण योग दिया है। अतः समाज के प्रति उचित रीति से अपने दायित्वों को निभाने का भाव उसमें जागृत होता है।

(4) **बौद्धिक विकास, ज्ञान के संग्रह एवं प्रसार तथा समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित करने में महत्वपूर्ण योग**—आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति अपने

1 K. M. Kapadia, *op. cit.*, p. 26.
2 *Ibid.*, p. 27.

जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक किसी-न-किसी रूप में ज्ञान को अर्जित करता रहा है, अपना बौद्धिक विकास करता है। गुरु के आश्रम में रहकर ब्रह्मचारी व्यक्तिगत सम्पर्क से बहुत कुछ सीखता रहा है। वेदों तथा अन्य धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन से न केवल बालक का बौद्धिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक विकास ही होता रहा है बल्कि साथ ही ज्ञान का संग्रह और समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं का एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरण भी हुआ है।

(5) **सामाजिक नियन्त्रण की दृष्टि से महत्वपूर्ण भूमिका**—आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति के कर्तव्यों एवं दायित्वों को इस प्रकार निश्चित किया गया था कि उसके व्यवहार के मान्यता-प्राप्त तरीकों के विपरीत आचरण करने की साधारणतः सम्भावना ही नहीं रहती। आश्रम-व्यवस्था के माध्यम से व्यक्ति का चरित्र-निर्माण ही कुछ इस प्रकार का होता था, उस पर कुछ संस्कार ही ऐसे पड़ते थे कि वह समाज विरोधी या अनुचित समझा जाने वाला कार्य कर ही नहीं पाता था।

(6) **व्यक्तिवादिता के दोषों से समाज को मुक्त रखने एवं समाज-कल्याण में योग**—व्यक्तिवादिता को प्रोत्साहित और समाज-कल्याण की अवहेलना करके कोई भी समाज अधिक समय तक सुसंगठित और सुरक्षित नहीं रह सकता। अतः भारतीय विचारकों ने आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति के कर्तव्यों का निर्धारण इस प्रकार से किया कि समाज व्यक्तिवादिता के दोषों से मुक्त रहे। यहां मानव-मात्र की सेवा के अलावा पशु-पक्षियों एवं कीड़े-मकोड़ों तक के भरण-पोषण का व्यक्ति पर दायित्व डाला गया है।

(7) **व्यावहारिक एवं उपयोगितावादी**—आश्रम-व्यवस्था के अन्तर्गत व्यावहारिक एवं उपयोगितावादी पक्ष पर विशेष ध्यान दिया गया है। यहां व्यक्ति के कर्तव्यों को निर्धारित ही कुछ इस प्रकार से किया गया है कि सम्पूर्ण समाज का हित हो। यहां धर्म के अन्तर्गत भी कर्तव्य पक्ष पर विशेष जोर दिया गया है। गृहस्थ-आश्रम में सम्पन्न किए जाने वाले पंच-महायज्ञों की सामाजिक दृष्टि से काफी उपयोगिता थी। व्यक्ति को यहां उद्यमी बनाने का प्रयत्न किया गया है। अर्थ को पुरुषार्थ मानकर धन कमाना व्यक्ति के लिए आवश्यक बताया गया है, परन्तु यहां धन को केवल स्वयं की आवश्यकताओं की पूर्ति का साधन नहीं माना गया है। धन का उपयोग तो सम्पूर्ण समाज के हित में करने की बात कही गयी है। वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम के माध्यम से व्यक्ति को सामाजिक कार्य करने एवं अपने में त्याग की भावना विकसित करने का अवसर मिला है।

आश्रम-व्यवस्था का मूल्यांकन : आधुनिक भारत में आश्रमों का व्यावहारिक महत्व

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आश्रम-व्यवस्था ने एक लम्बे समय तक हिन्दू सामाजिक संगठन को प्रभावित किया और एक हिन्दू के जीवन को व्यवस्थित बनाए रखने में योग दिया। इस सन्दर्भ में एक प्रश्न उठता है कि **इन चार आश्रमों में से सबसे अधिक महत्वपूर्ण आश्रम कौन-सा है ?** वैसे तो सभी आश्रमों का अपने-अपने स्थान पर महत्व है क्योंकि एक आश्रम दूसरे के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है। फिर भी हम यह कह सकते हैं कि अन्य तीन आश्रमों की तुलना में गृहस्थाश्रम अधिक महत्वपूर्ण है। ब्रह्मचर्य आश्रम का काल छोटा है। इसका सम्बन्ध शिक्षा प्राप्त करने से ही है, वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में व्यक्ति मोक्ष-प्राप्ति के लिए ही प्रयत्न करता है। गृहस्थ आश्रम में ही व्यक्ति तीन पुरुषार्थ—धर्म, अर्थ और काम

की पूर्ति करता है तथा अन्य आश्रम इसी आधार के सहारे जीवन प्राप्त करते हैं। अतः गृहस्थ आश्रम ही सबसे अधिक महत्वपूर्ण आश्रम है।

एक प्रश्न यह भी किया जाता है कि **आश्रम-व्यवस्था ने भारतीय समाज को किस सीमा तक प्रभावित किया ? यह व्यवस्था व्यावहारिक रूप ले सकी अथवा एक सैद्धान्तिक व्यवस्था मात्र थी ?** इन प्रश्नों के उत्तर विवादास्पद हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ये सैद्धान्तिक व्यवस्थाएं थीं, व्यवहार में इनका पालन नहीं होता था। कुछ विद्वान इसके विपरीत मत प्रकट करते हैं। महाभारत में आश्रम-व्यवस्था का अनेक स्थानों पर उल्लेख मिलता है। इस व्यवस्था ने ऋषि-मुनियों, धार्मिक लोगों एवं कुछ राजाओं को बहुत प्रभावित किया। चाहे बहुत-से लोग घर छोड़कर संन्यासी नहीं बनते हों, फिर भी आश्रम-व्यवस्था में बताए गए कर्तव्यों एवं दायित्वों के प्रति वे सजग थे एवं उनका पालन करते थे। अतः यह सैद्धान्तिक व्यवस्था ही नहीं वरन् व्यावहारिक भी थी।

इस सन्दर्भ में एक प्रश्न यह भी किया जाता है कि **क्या आधुनिक भारत में इसका कोई व्यावहारिक महत्व है?** इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। आश्रम-व्यवस्था उस युग की देन है जब पुरुषार्थ, कर्म, धर्म, पुनर्जन्म एवं वर्ण-व्यवस्था का महत्व था और ये भारतीय समाज के आधार थे। वर्तमान में ये आधार कमजोर हुए हैं। अतः इनके साथ-साथ आश्रमों की उपयोगिता भी समाप्त हुई है। आश्रम-व्यवस्था में व्यक्ति की 100 वर्ष तक की आयु मानकर प्रत्येक आश्रम की अवधि 25 वर्ष तय की गयी। किन्तु अब भारतीयों की औसत आयु 65 वर्ष है। इस दृष्टि से तो एक व्यक्ति वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों के दायित्वों की पूर्ति ही नहीं कर सकता। ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति जिस प्रकार की शिक्षा प्राप्त करता था, वह आधुनिक वैज्ञानिक व औद्योगिक युग की दृष्टि से अनुपयुक्त है। आज जो वैज्ञानिक व तकनीकी शिक्षा दी जाती है और जो प्रयोग कराए जाते हैं, वे प्राचीन गुरुकुल व्यवस्था में सम्भव भी नहीं हैं। इसके अतिरिक्त, परम्परागत शिक्षा केवल ज्ञान के लिए थी जबकि आज की शिक्षा का उद्देश्य रोटी-रोजी कमाना भी है। आज की बदली हुई परिस्थितियों में भारतीयों के लिए आश्रमों का कोई व्यावहारिक महत्व नहीं रह गया है, फिर इन्हें हम युग की मांग के अनुरूप भी नहीं कह सकते।

प्रश्न

1. आश्रम-व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? संक्षेप में समझाइए। क्या आधुनिक भारत में इसका कोई व्यावहारिक महत्व है? स्पष्ट कीजिए।
2. "आश्रम-व्यवस्था केवल एक नैतिक आदर्श है, व्यावहारिक नहीं।" इस कथन की विवेचना कीजिए।
3. "सभी आश्रमों का वास्तविक आश्रम 'गृहस्थाश्रम' ही है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए और गृहस्थाश्रम का समाजशास्त्रीय महत्व बताइए।
4. आश्रम-व्यवस्था के समाजशास्त्रीय महत्व का वर्णन कीजिए। वह पुरुषार्थ से किस प्रकार सम्बन्धित है?
5. एक व्यक्ति के जीवन में गृहस्थ आश्रम की महत्ता का वर्णन कीजिए।
6. आश्रम-व्यवस्था के मौलिक सिद्धान्तों की व्याख्या कीजिए और हिन्दू जीवन-पद्धति में इसके महत्व को दर्शाइए।
7. निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
   (i) ब्रह्मचर्य आश्रम। (ii) गृहस्थ आश्रम। (iii) वानप्रस्थ आश्रम। (iv) संन्यास आश्रम। (v) आश्रम-व्यवस्था।

5

पुरुषार्थ
[PURUSHARTHA]

पुरुषार्थ का सिद्धान्त हिन्दू मनीषियों की भारतीय समाज को एक अनुपम देन है। इसने व्यक्ति और समूह के बीच सम्बन्धों को सन्तुलित करने में अपूर्व योग दिया है। हिन्दू जीवन-दर्शन व्यक्ति को केवल स्वयं के या अपने परिवार के लिए ही सब कुछ करने की प्रेरणा नहीं देता। यहां व्यक्ति को त्यागमय भोग की महत्ता को समझाने और उसे जीवन में उतारने के लिए प्रोत्साहित किया गया है। पुरुषार्थों के रूप में व्यक्ति के विभिन्न कर्तव्यों का उल्लेख किया गया है। पुरुष में चार बातें प्रधानतः पायी जाती हैं : शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा। इन सबसे मिलकर जो कुछ बनता है, वही पुरुष कहलाता है। पुरुष के द्वारा इन सभी की सन्तुष्टि के लिए जो प्रयत्न या उद्यम किया जाता है, उसी का नाम पुरुषार्थ है। शरीर के लिए भोजन, वस्त्र तथा अनेक अन्य भौतिक वस्तुओं की आवश्यकता पड़ती है जिनकी पूर्ति के लिए व्यक्ति 'अर्थ' का उपार्जन करता है। इस हेतु वह जो कुछ प्रयत्न करता है, वही 'अर्थ' के रूप में पुरुषार्थ है। मन विभिन्न प्रकार की इच्छाओं का केन्द्र है और इनकी पूर्ति का प्रयत्न व्यक्ति अपने जीवन में करता है। इन इच्छाओं की पूर्ति जीवन का एक लक्ष्य अर्थात् पुरुषार्थ माना गया है जिसे 'काम' की संज्ञा दी गयी है। बुद्धि में तार्किकता या निर्णय-शक्ति की प्रधानता पायी जाती है। व्यक्ति अर्थ और काम का सन्तुलित रूप से उपभोग करे एवं पूर्णतः इन्हीं के वशीभूत नहीं हो जाए, इस हेतु व्यक्ति पर धर्म का नियन्त्रण भी आवश्यक है। धर्म व्यक्ति को वह विवेक या तर्क बुद्धि प्रदान करता है जिसके आधार पर वह विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति एवं दायित्वों के लिए उचित तरीके से धन का उपार्जन एवं उपयोग करता है। धर्म व्यक्ति का मार्ग-दर्शन करता है और उसे बतलाता है कि काम का महत्व समाज की निरन्तरता को बनाए रखने और व्यक्ति को मानसिक तनावों से मुक्त रखने की दृष्टि से है। यही कारण है कि 'धर्म' को एक प्रमुख पुरुषार्थ माना गया है। साथ ही आत्मा की तृप्ति के लिए मनुष्य को आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित किया गया है। उसे अपने आपको ईश्वर चिन्तन में लगाने, जीवन के सार-तत्व को समझने, निष्काम कर्म और अन्त में जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो अमरत्व प्राप्त करने या अपने को परमात्मा में विलीन कर देने को कहा गया है। अतः हिन्दू जीवन व्यवस्था में 'मोक्ष' को एक पुरुषार्थ के रूप में महत्व दिया गया है।

पुरुषार्थ का अर्थ
(MEANING OF *PURUSHARTHA*)

पुरुषार्थ का तात्पर्य उद्योग करने या प्रयत्न करने से है। इस सम्बन्ध में कहा गया है कि 'पुरुषैर्थ्यते पुरुषार्थः' जिसका अर्थ है, अपने अभीष्ट को प्राप्त करने के लिए उद्यम करना ही पुरुषार्थ है। यहां अभीष्ट का अर्थ मोक्ष प्राप्ति से है। अतः मोक्ष जीवन का लक्ष्य है और इसकी प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ या माध्यम हैं। लगातार प्रयत्न करते रहना और अपने लक्ष्य की ओर आगे बढ़ते जाना ही पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ की धारा में जीवन के विभिन्न कर्तव्यों या दायित्वों का बोध मिलता है। उपनिषदों, गीता तथा स्मृतियों में जीवन के चार आधारभूत कर्तव्यों के रूप में 'पुरुषार्थ' का उल्लेख मिलता है जिन्हें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का नाम दिया गया है। इन चारों पुरुषार्थों को प्राप्त करके ही व्यक्ति जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त होता है।

डॉ. कापडिया ने विभिन्न पुरुषार्थों का अर्थ स्पष्ट करने की दृष्टि से बतलाया है कि **'मोक्ष'** जीवन का अन्तिम लक्ष्य है। इसका तात्पर्य है कि मानव की वास्तविक प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का उद्देश्य इसको अभिव्यक्त करना और इसके द्वारा ज्ञान और आनन्द प्राप्त करना है। **'अर्थ'** मानव में प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति को बतलाता है, धन अर्जित और संग्रहीत करके तथा उसके उपभोग की प्रवृत्ति को व्यक्त करता है। हिन्दू विचारकों ने धन को जीवन में एक पुरुषार्थ के रूप में स्थान देकर उसे उचित मानवीय आकांक्षा माना है। **'काम'** मानव के भावुक जीवन और उसके सहज स्वभाव से सम्बन्धित है। काम का तात्पर्य व्यक्ति के केवल मूल-प्रवृत्ति सम्बन्धी जीवन (Instinctive Life) से नहीं है, इसका अर्थ साथ ही उद्वेगपूर्ण और सौन्दर्यात्मक जीवन से भी है। मानव की सौन्दर्यात्मक भावना की अभिव्यक्ति सुन्दर एवं उत्कृष्ट वस्तु के निर्माण और उनकी प्रशंसा द्वारा होती है। जीवन का सर्वोपरि आनन्द सृजनात्मक प्रवृत्तियों में ही है। अर्थ और काम को व्यक्ति के लिए वांछनीय या अभीष्ट मानकर, हिन्दू विचारकों ने बतलाया है कि मानव की आध्यात्मिकता की अभिव्यक्ति केवल तभी होती है जब उसका जीवन आर्थिक दरिद्रता और उद्वेगात्मक अतृप्ति से ग्रसित न हो। **'धर्म'** यह जानना है कि काम और अर्थ साधन हैं, न कि साध्य। वह जीवन जो इनकी अनियन्त्रित सन्तुष्टि में अपने आपको लगा देता है, अवांछनीय तथा घातक है। अतः यह आवश्यक है कि जीवन का निर्देशन आध्यात्मिक अनुभूति के आदर्श से होना चाहिए और धर्म को यही करने की आवश्यकता है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त भौतिक इच्छाओं और आध्यात्मिक जीवन में सामंजस्य स्थापित करना है।[1]

पुरुषार्थ का सिद्धान्त बताता है कि व्यक्ति को अपने जीवन में क्या प्राप्त करना है, उसके लक्ष्य क्या हैं, उसे किन मूलभूत दायित्वों को निभाना है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि पुरुषार्थ व्यक्ति को उसके चार मौलिक कर्तव्यों का बोध कराते हैं। डॉ. राधाकमल मुकर्जी ने लिखा है कि वर्णों और आश्रमों के धर्मों और उत्तरदायित्वों की पूर्ति मनुष्य द्वारा चार पुरुषार्थों के आकलन पर निर्भर करती है। भारतीय दृष्टि से जीवन के मूल्यों को चार पुरुषार्थों में बांट दिया गया है। गृहस्थ जीवन के उद्देश्य—अर्थ और काम को धर्म और मोक्ष के अधीन रखा गया है। इसमें मोक्ष ही अन्तिम ध्येय है, उसी में जीवन के सर्वोच्च और

1 K. M. Kapadia, *Marriage and Family in India*, pp. 25-27.

शाश्वत आदर्श की प्राप्ति होती है। इस प्रकार जीवन के सभी मूल्यों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—का समन्वय होता है।[1] **स्पष्ट है कि पुरुषार्थ का तात्पर्य जीवन के चार प्रमुख लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु उद्यम या प्रयत्न करने से है।**

पुरुषार्थ के प्रकार
(TYPES OF *PURUSHARTHA*)

पुरुषार्थ के सिद्धान्त के अनुसार चार पुरुषार्थ (जीवन के लक्ष्य)—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—माने गए हैं जिनमें से प्रत्येक का यहां पृथक् से वर्णन किया जा रहा है :

(1) **धर्म** (*Dharma*)—धर्म को एक प्रमुख एवं अत्यन्त महत्वपूर्ण पुरुषार्थ माना गया है। धर्म व्यक्ति को कर्तव्य पथ पर आगे बढ़ने और अपने दायित्वों को निभाने की प्रेरणा देता है। धर्म का तात्पर्य भाग्य, अन्ध-विश्वास या रूढ़िवादिता से नहीं है। धर्म वही है जिसे धारण किया जा सके, जिसे जीवन में उतारा जा सके या जिसके अनुरूप आचरण किया जा सके। यहां पुरुषार्थ के रूप में धर्म के सामाजिक पक्ष पर जोर दिया गया है। प्रत्येक आश्रम में व्यक्ति को धर्म के अनुरूप आचरण करने को कहा गया है। धर्म आचरण संहिता के रूप में व्यक्ति को सही मार्ग पर ले जाता है। धर्म अनेक गुण जैसे आत्म-संयम, सन्तोष, दया, सहानुभूति, उदारता, क्षमा, अहिंसा, अक्रोध तथा कर्तव्य-पालन, आदि के ग्रहण करने की प्रेरणा देता है।

धर्म एक ऐसा पुरुषार्थ है जो व्यक्ति को इस जीवन और पारलौकिक जीवन में एक सुन्दर समन्वय स्थापित करने की ओर आगे बढ़ाता है। धर्म का तात्पर्य उन सभी कर्तव्यों के पालन से है जो व्यक्ति के साथ-साथ समाज की प्रगति में भी योग देते हैं। **श्रीकृष्ण** ने बतलाया है कि धर्म वह है जो सभी प्राणियों की रक्षा करता है और उन सभी को धारण करता है। धर्म का तात्पर्य सामान्य धर्म एवं स्वधर्म दोनों के पालन से है। व्यक्ति को अपने वर्ण-धर्म के पालन का आदेश दिया गया है। वह पंच-महायज्ञों के द्वारा पांच प्रकार के ऋणों से उऋण होता है, माता-पिता, देवी-देवता, ऋषि-मुनियों, अतिथियों तथा प्राणी-मात्र के प्रति अपने दायित्वों को निभाता है, त्यागमय जीवन की ओर अग्रसर होता है। श्रीकृष्ण ने गीता में इस पुरुषार्थ के सम्बन्ध में कहा है कि जो व्यक्ति प्रत्येक कार्य का फल चाहते हैं एवं जिनका यह विचार है कि स्वर्ग से बढ़कर अन्य कोई दूसरी वस्तु नहीं है, वे अविवेकी होने के साथ ही भोग और ऐश्वर्य में ही आसक्ति रखते हैं, उनके अन्तःकरण में कोई निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती।[2] इस पुरुषार्थ की प्राप्ति वही व्यक्ति कर पाता है जो कर्म करने में विश्वास करता है, उससे प्राप्त होने वाले फल में नहीं। डॉ. पी. वी. काणे ने बतलाया है कि धर्म का सम्बन्ध किसी विशेष ईश्वरीय मत से नहीं है बल्कि यह तो आचरण की संहिता है जो व्यक्तियों के क्रिया-कलापों को नियन्त्रित करती है। इसका लक्ष्य व्यक्ति को इस योग्य बनाना है कि वह मानव अस्तित्व के लक्ष्य को प्राप्त कर ले। वास्तव में जिस कार्य के करने से इह लोक में उन्नति एवं परलोक में कल्याण हो वही धर्म है। धर्म सबको धारण करता है, अधोगति जाने से लोगों को बचाता है तथा जीवन की रक्षा करता है। इस प्रकार 'धर्म' को एक पुरुषार्थ मानकर धर्मानुकूल आचरण करने की व्यक्ति से अपेक्षा की गयी है ताकि उसका इह लोक और परलोक दोनों ही उन्नत हों।

1 राधाकमल मुकर्जी, भारतीय समाज विन्यास, पृ. 45।

2 गीता, 2/42, 43, 44।

(2) **अर्थ** (*Artha*)—हिन्दू विचारकों ने मानव की प्राप्त करने की सहज प्रवृत्ति को एक आकांक्षा के रूप में स्वीकार कर 'अर्थ' को पुरुषार्थ सिद्धान्त में महत्व दिया है। 'अर्थ' का तात्पर्य केवल धन अथवा सम्पत्ति से नहीं है बल्कि उन साधनों से है जिनकी सहायता से हम अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने एवं अपने अस्तित्व को बनाए रखते हैं। यहां अर्थ को साध्य न मानकर एक साधन मात्र माना गया है। जिम्मर ने 'अर्थ' का आशय स्पष्ट करने की दृष्टि से बताया है कि अर्थ का शाब्दिक तात्पर्य है—वस्तु, चीज, पदार्थ। इस अवधारणा के अन्तर्गत वे समस्त स्पर्शीय भौतिक वस्तुएं आ जाती हैं, जिन्हें हम अपने अधिकार में रख सकते हैं और जिनसे सुख प्राप्त कर सकते हैं तथा जो हम खो भी सकते हैं और जो परिवार के भरण-पोषण, समृद्धि तथा धार्मिक कर्तव्यों को पूरा करने के लिए अर्थात् जीवन के दायित्वों को उचित तरीके से निभाने के लिए आवश्यक हैं। डॉ. प्रभु का कथन है कि अर्थ का तात्पर्य उन सभी साधनों से है जो सांसारिक समृद्धि जैसे धन या शक्ति प्राप्त करने के लिए आवश्यक हैं। **डॉ. कापडिया** के अनुसार 'अर्थ' मानव के प्राप्त करने के सहज स्वभाव की ओर संकेत करता है और उसकी धन के संग्रह, उसके उपभोग से प्राप्त होने वाले सुखों तथा अन्य तत्सम्बन्धी प्रवृत्तियों को बतलाता है। वैदिक साहित्य के आधार पर **गोखले** ने बताया है कि 'अर्थ' के अन्तर्गत वे सभी भौतिक वस्तुएं आ जाती हैं जो परिवार बसाने, गृहस्थी चलाने एवं विभिन्न धार्मिक दायित्वों को निभाने के लिए आवश्यक हैं। इसमें पशु, भोजन, मकान तथा धन-धान्य, आदि को सम्मिलित किया गया है। ऋग्वेद में आर्यों ने इन्द्र तथा सोम देवताओं से प्रार्थना की है कि हमारे धन में वृद्धि हो, विविध प्रकार के भौतिक पदार्थ हमें प्राप्त हों तथा हम स्थायी समृद्धि के स्वामी हों। यह 'अर्थ' पुरुषार्थ का प्रयोग समृद्धि और शक्ति प्राप्त करने के प्रयत्न के रूप में किया गया है। यह कहा जा सकता है कि 'अर्थ' उन सभी भौतिक पदार्थों एवं साधनों की प्राप्ति से सम्बन्धित है जिनके द्वारा मनुष्य अपना तथा परिवार का भरण-पोषण करता है तथा मानव मात्र ही नहीं बल्कि प्राणीमात्र के प्रति अपने दायित्वों को निभाता है।

भारतीय जीवन-दर्शन में भौतिक समृद्धता को एक लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है। 'अर्थ' के महत्व के सम्बन्ध में महाभारत में कहा गया है कि धर्म का पालन पूर्णतः अर्थ पर आधारित है तथा जिसके पास अर्थ नहीं है, वह अपने दायित्वों को ठीक से नहीं निभा सकता। कौटिल्य का मत है कि सभी प्रकार के दान एवं इच्छापूर्ति अर्थ पर ही आश्रित हैं। निर्धनता को एक पापपूर्ण स्थिति माना गया है। धन के अभाव में मनुष्य आर्थिक कार्यों का सम्पादन नहीं कर सकता, पंच-महायज्ञों को सम्पन्न कर पांच प्रकार के ऋणों से मुक्त नहीं हो सकता। पंचतन्त्र में बताया गया है कि दरिद्रता एक अभिशाप है, जो मृत्यु से भी बढ़कर है। धन के अभाव को प्रत्येक बुराई की जड़ माना गया है। अतः जीवन में 'अर्थ' का काफी महत्व है। इसके बिना व्यक्ति न तो भली-भांति अपने बालकों का भरण-पोषण कर सकता है, न ही पूरी तरह परिवार के लिए सुख-सुविधाएं जुटा सकता है, न यज्ञ, दान-दक्षिणा एवं अतिथियों का सत्कार कर सकता है। यही कारण है कि उद्यम द्वारा गृहस्थ आश्रम में अर्थ को अर्जित करने पर जोर दिया गया है। महाभारत एवं स्मृतियों में यहां तक कहा गया है कि जो व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में 'अर्थ' के पुरुषार्थ को प्राप्त किए बिना वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम में प्रवेश कर लेता है, उसे जीवन में मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती।

इसमें कोई सन्देह नहीं अर्थ का जीवन में काफी महत्व है। परन्तु साथ ही यहां इस बात पर विशेष जोर दिया गया है कि उचित साधनों से धन कमाया जाए। ईमानदारी से कमाया हुआ अर्थ (धन) ही व्यक्ति के सुख और सन्तोष में वृद्धि करता है। धन का उपभोग भी इस प्रकार किया जाना चाहिए कि इससे किसी को कष्ट न हो तथा निन्दनीय कार्यों को किसी भी रूप में बढ़ावा न मिले। हिन्दू शास्त्रकारों ने बताया है कि प्रत्येक को धर्म के अनुसार न्यायोचित ढंग से अर्थोपार्जन और उसका सदुपयोग करना चाहिए। डॉ. राधाकृष्णन् का कथन है कि अर्थ एवं सुख की प्राप्ति का प्रयत्न मनुष्य की उचित इच्छा है, परन्तु यदि वह मोक्ष प्राप्त करने का इच्छुक है तो उसे उचित तरीके से ही अर्थ की प्राप्ति करनी चाहिए। अतः जोर इस बात पर दिया गया है कि व्यक्ति सद्उपायों से ही धन कमाए और सद्कर्मों में ही उसे खर्च करे। साथ ही यह भी बताया गया है कि व्यक्ति को धन कमाने या भौतिक सुख-सुविधाओं को प्राप्त करने के प्रयत्न में अपने आपको पूर्णतः नहीं लगा देना है, उसे इसे ही जीवन का एकमात्र लक्ष्य नहीं समझ लेना चाहिए। यही कारण है कि यहां अर्थ को धर्म के अधीन माना गया है और केवल जीवन के एक स्तर अर्थात् गृहस्थ आश्रम में ही इसे अर्जित करने का आदेश दिया गया है। शेष आश्रमों में व्यक्ति को 'अर्थ' से पृथक् रहने को कहा गया है।

(3) **काम** (*Kama*)—हिन्दू विचारकों ने जहां 'अर्थ' को एक पुरुषार्थ के रूप में स्वीकार किया है, वहां साथ ही 'काम' को जीवन का एक लक्ष्य माना है। काम का तात्पर्य केवल भोग-वासना से ही नहीं है बल्कि सभी प्रकार की इच्छाओं या कामनाओं से है। 'काम' का प्रयोग दो अर्थों में किया गया है, एक संकुचित अर्थ में और, दूसरा व्यापक अर्थ में। संकुचित अर्थ में काम का तात्पर्य यौनिक प्रवृत्ति की सन्तुष्टि या यौन-इच्छाओं की पूर्ति से है। व्यापक अर्थ में काम के अन्तर्गत मानव की सभी प्रवृत्तियां, इच्छाएं तथा कामनाएं आ जाती हैं। श्रीमती कर्वे के अनुसार सीमित अर्थ में काम का तात्पर्य यौन-सम्बन्धी इच्छा से है, जबकि व्यापक रूप में इसका तात्पर्य व्यक्ति की इच्छा तथा आकांक्षा से है। इस दृष्टि से व्यक्ति जो कुछ भी चाहता है या चाहने की जो कुछ अभिलाषा उसके भीतर है वही काम है। काम के अन्तर्गत एक प्राणिशास्त्रीय और सांस्कृतिक प्राणी के रूप में व्यक्ति की सभी इच्छाएं, कामनाएं तथा प्रवृत्तियां आ जाती हैं। डॉ. कापडिया के अनुसार काम मानव के सहज स्वभाव एवं भावुक जीवन को व्यक्त करता है तथा उसकी काम-भावना और सौन्दर्यप्रियता की वृद्धि की सन्तुष्टि की ओर संकेत करता है।[1] काम जीवन के आनन्द को व्यक्त करता है और यह आनन्द शारीरिक और मानसिक दोनों ही स्तरों पर प्राप्त किया जाता है। यौन सम्बन्ध के द्वारा जहां व्यक्ति को शारीरिक स्तर पर आनन्द प्राप्त होता है, वहां कलात्मक जीवन के माध्यम से मानसिक स्तर पर सुख या आनन्द की अनुभूति होती है। स्पष्ट है कि 'काम' पुरुषार्थ में केवल यौन-तृप्ति ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक दृष्टि से जीवन के आनन्द का उपभोग भी आता है। एक ओर जहां यह इन्द्रिय-सुख को व्यक्त करता है वहां दूसरी ओर मानव की भावुक एवं सौन्दर्यात्मक प्रवृत्तियों को प्रस्फुटित होने का अवसर प्रदान करता है।

काम के उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि इसके दो पहलू हैं। एक पहलू मानव के यौन-सम्बन्धी जीवन को और दूसरा उसके सौन्दर्यात्मक या भावुक जीवन को व्यक्त करता

1 K. M. Kapadia, *op. cit.*, p. 25

है। प्रथम पहलू पर विचार करने पर हम पाते हैं कि मानव में यौन-सम्बन्धी इच्छा का पाया जाना स्वाभाविक है, क्योंकि यह उसकी मूलप्रवृत्ति के अन्तर्गत आती है। परन्तु वह यौन-सुख को ही सब कुछ समझ बैठे, इसकी आज्ञा भी उसे नहीं दी गयी है। यही कारण है कि हिन्दू विवाह के तीन उद्देश्यों में 'रति' (Sex pleasure) को सबसे निम्न स्थान दिया गया है। वहां धर्म और सन्तानोत्पत्ति को रति की तुलना में प्रमुखता दी गयी है। यौन-सम्बन्ध का महत्व केवल इस दृष्टि से नहीं है कि इससे शरीर सुख मिलता है, बल्कि इस दृष्टि से भी है कि यह उत्तम सन्तानों के जन्म का माध्यम है। काम का दूसरा पहलू मानव के सौन्दर्यात्मक या भावुक जीवन से सम्बन्धित है। मनुष्य अपने सौन्दर्यात्मक या उद्वेगात्मक जीवन को कला के माध्यम से व्यक्त करता है। साहित्य, संगीत, नृत्य, चित्रकला, मूर्तिकला, आदि व्यक्ति के इसी जीवन की अभिव्यक्ति हैं। वह जो कुछ सुन्दर है उसको देखता है, उसकी प्रशंसा करता है और आनन्द का अनुभव करता है। यह केवल इसी से सन्तुष्ट नहीं हो जाता बल्कि अपनी रचनात्मक कल्पना की सहायता से सौन्दर्य को मूर्त रूप देने का प्रयत्न भी करता है। वह कला सृजन करता है, चित्र बनाता है, मूर्ति का निर्माण करता है, गीत गाता है, नृत्य करता है और आनन्द-विभोर हो उठता है अपने आपको भूल जाता है। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास के लिए मानव की सौन्दर्य-वृद्धि एवं सौन्दर्य-सृष्टि की प्रवृत्ति को विकास का पूर्ण अवसर प्रदान करना आवश्यक है। **डॉ. कापडिया** के अनुसार मानव स्वभावतः सृजनात्मक है और यदि उसे उसकी सृजनात्मक प्रवृत्तियों को व्यक्त करने का अवसर न दिया जाए तो उसके व्यक्तित्व का सर्वोत्तम भाग कुण्ठित हो जाता है। जीवन का सर्वोपरि आनन्द सृजनात्मक प्रवृत्तियों में ही है। जो कुछ सुन्दर है उसकी प्रशंसा ही मानव जीवन को विकसित करती है और समृद्धशाली बनाती है। भावपूर्ण अभिव्यक्ति का दमन व्यक्ति के स्वास्थ्य तथा मानसिक सन्तुलन के लिए हानिप्रद है। व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास हेतु उद्वेगों की अभिव्यक्ति आवश्यक है। स्पष्ट है कि काम एक ऐसा पुरुषार्थ है जो व्यक्ति की सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति को प्रस्फुटित होने और व्यक्तित्व के समुचित विकास का अवसर प्रदान करता है।

काम का व्यक्ति और समूह के जीवन में विशेष महत्व है। काम व्यक्ति की विभिन्न प्रकार की इच्छाओं और कामनाओं की पूर्ति कर उसे मानसिक सन्तुष्टि प्रदान करता है। काम के आधार पर पति-पत्नी में पारस्परिक प्रेम पनपता है, सन्तानोत्पत्ति होती है और व्यक्ति पितृ-ऋण से मुक्त होता है, अपने माता-पिता को मोक्ष का अधिकारी बनाता है। सन्तानोत्पत्ति के द्वारा व्यक्ति अमरता प्राप्त करता है और समूह अथवा समाज की निरन्तरता को बनाए रखने में योग देता है। काम का धार्मिक दृष्टि से यह महत्व है कि व्यक्ति काम-इच्छाओं को पूर्ण कर विरक्ति की ओर आगे बढ़ता है तथा मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करता है। अतृप्त इच्छाओं को लेकर व्यक्ति वानप्रस्थ एवं संन्यास आश्रम में धर्म एवं मोक्ष पुरुषार्थ के मार्ग पर उचित रीति से नहीं बढ़ पाता है। काम पुरुषार्थ का इस दृष्टि से भी महत्व है कि व्यक्ति को इसके माध्यम से अपनी सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति को व्यक्त कर अपने व्यक्तित्व के स्वस्थ विकास का अवसर मिलता है। यहां यह ध्यान रखना भी आवश्यक है कि हिन्दू समाज में काम को धार्मिक नियमों के द्वारा मर्यादित किया गया है ताकि व्यक्ति समाज द्वारा मान्यता-प्राप्त तरीके से ही अपनी काम-इच्छाओं की पूर्ति कर सके। यहां केवल गृहस्थ-आश्रम को ही 'काम' पुरुषार्थ की पूर्ति का स्थान माना गया है।

(4) **मोक्ष** (*Moksha*)—मोक्ष को जीवन का अन्तिम पुरुषार्थ माना गया है। बौद्ध साहित्य में इसे 'निर्वाण' और जैन साहित्य में 'कैवल्य' के नाम से पुकारा गया है। **डॉ. कापडिया** के अनुसार इसका (मोक्ष का) अर्थ यह है कि मानव की शाश्वत प्रकृति आध्यात्मिक है और जीवन का लक्ष्य इसे प्रकट करना और इसके ज्ञान और आनन्द को प्राप्त करना है।[1] हिन्दू विचारक इस बात से भली-भांति परिचित थे कि जीवन में अर्थ और काम का महत्व है। परन्तु साथ ही वे यह भी जानते थे कि इन्हीं में अपने आपको जकड़े रखना भी उचित नहीं है। अतः सांसरिक सुख-प्राप्ति के साथ ही आध्यात्मिक उन्नति भी आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जब मनुष्य आत्म-ज्ञान कर ले, ईश्वर-चिन्तन में अपने को पूर्णतः लगा दे और अन्त में जन्म-मरण के बन्धन से छुटकारा प्राप्त कर ले। मोक्ष का तात्पर्य है हृदय की अज्ञानता का नाश। मीमांसा में स्वर्ग-प्राप्ति को ही मोक्ष माना गया है। **बौद्ध दर्शन** में मोक्ष को जीवन-मुक्ति और विदेह-मुक्ति के रूप में व्यक्त किया गया है। जीवन-मुक्ति का तात्पर्य है—संसार में रहते हुए संसार के कष्टों से छुटकारा तथा तत्व-ज्ञान की प्राप्ति। विदेह-मुक्ति का अर्थ है—जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त होना अर्थात् मरने के पश्चात् पुनः संसार में लौटकर नहीं आना।

सांख्यशास्त्र में मोक्ष के अर्थ के सम्बन्ध में बताया गया है कि यथार्थ में पुरुष किसी भी कार्य का कर्ता नहीं है। जो कुछ होता जाता है, वह सब प्रकृति का ही खेल है। यहां तक कि मन एवं बुद्धि भी प्रकृति के ही विकार हैं। बुद्धि को जो कुछ ज्ञान प्राप्त होता है, तब पुरुष अनुभव करने लगता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूं। इस स्थिति में व्यक्ति पर पड़ा हुआ माया का आवरण दूर हो जाता है और वह इससे अप्रभावित रहता है। इस अवस्था में व्यक्ति सब प्रकार के बन्धनों से मुक्त होकर कैवल्य स्थिति में पहुंच जाता है। कैवल्य का तात्पर्य है अकेलापन या प्रकृति के साथ संयोग न होना। पुरुष की इस स्वाभाविक स्थिति को ही सांख्यशास्त्र में मोक्ष माना गया है। **शिवगीता** के अनुसार मोक्ष किसी स्थान पर रखी हुई कोई वस्तु नहीं है और न ही विभिन्न गांवों में घूमकर इसे प्राप्त किया जा सकता है। हृदय की अज्ञानता-ग्रन्थि के नाश होने अर्थात् व्यक्ति द्वारा ज्ञान प्राप्त कर लेने को ही मोक्ष कहा गया है।[2] गीता में बताया गया है कि बाह्य सुख-दुःख की आशा न कर जो अन्तःकरण में ही सुखी हो जाए, जो अपने आप में ही आनन्द प्राप्त करने लग जाए और जिसे अन्तःप्रकाश मिल जाए, वह योगी ब्रह्म रूप हो जाता है और उसे ही ब्रह्म में मिल जाने का मोक्ष प्राप्त होता है। जिन ऋषियों की द्वन्द्व-बुद्धि समाप्त हो गयी अर्थात् जो यह जान चुके हैं कि सभी स्थानों में एक ही परमेश्वर है, जिनके पाप नष्ट हो चुके हैं तथा जो आत्म-संयम से सभी प्राणियों का हित करने में लगे रहते हैं, उन्हें निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त होता है।[3]

अद्वैत वेदान्तियों की मान्यता है कि आत्मा स्वयं ही परमब्रह्मस्वरूप है और जब आत्मा अपने इस स्वरूप को पहचान लेती है, तब वही स्थिति उसकी मुक्ति या मोक्ष है। इसी कारण अद्वैतवादियों का कहना है कि अपनी आत्मा के अमर, श्रेष्ठ, शुद्ध, नित्य एवं सर्वव्यापी स्वरूप को पहचान कर उसी में लीन हो जाना ज्ञानवान व्यक्ति का इस संसार में प्रथम कर्तव्य है। स्पष्ट है कि जब व्यक्ति संसार के सुख-दुःखों का उपभोग करके यह अनुभव कर लेता है कि सब अस्थायी और अपूर्ण है, तो वह अपने आपको सांसारिक बन्धनों से मुक्त करने का प्रयत्न करता है। वह यह अनुभव करता है कि व्यक्ति को पुनः-पुनः जन्म लेकर इस

1 *Ibid.*, p. 25.
2 शिवगीता, 13। 32।
3 गीता, 5/25-28।

संसार में आना पड़ता है और अनेक प्रकार के दुःख भोगने पड़ते हैं। अतः वह जन्म-मरण के बन्धनों से छुटकारा पाने के लिए प्रयत्न करता है और इस प्रयत्न में सफलता ही वास्तविक मोक्ष है। व्यक्ति जब परमब्रह्म को ठीक प्रकार से जान लेता है, संसार के भोगों को भोगने के पश्चात् अपने सही स्वरूप को पहचान लेता है और उसी में समा जाता है तो इस स्थिति को मोक्ष के नाम से पुकारते हैं। मोक्ष को ब्रह्म की अनुभूति और परम आनन्द की स्थिति के रूप में लिया गया है। मोक्ष का तात्पर्य यह है कि आत्मा का परमात्मा से मिलन हो जाए, वे दोनों एकाकार हो जाएं और व्यक्ति को विभिन्न रूपों में बार-बार संसार में नहीं आना पड़े। इस दृष्टि से आवागमन के बन्धनों से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष है।

मोक्ष-प्राप्ति के साधन के रूप में कर्म-मार्ग, ज्ञान-मार्ग एवं भक्ति-मार्ग का वर्णन किया गया है : (अ) **कर्म-मार्ग** के अन्तर्गत बताया गया है कि जो व्यक्ति अपने निर्धारित कर्मों का ठीक प्रकार से पालन और धर्मानुकूल आचरण करता है, वही मोक्ष प्राप्त करता है। अपने विभिन्न दायित्वों का निर्वाह किए बिना वैराग्य धारण करने वाला मोक्ष का अधिकारी नहीं माना जाता। गीता में कृष्ण ने अर्जुन को बताया है कि जो व्यक्ति बिना फल की इच्छा के अपने कर्मों को धर्मानुकूल रीति से करते रहते हैं, वे ही मोक्ष को प्राप्त करते हैं। (ब) **ज्ञान-मार्ग** के अन्तर्गत व्यक्ति अपने विचारों के आधार पर परमब्रह्म या ईश्वर के अव्यक्त स्वरूप में अपने मन को स्थिर कर लेता है। वह सभी प्राणियों के प्रति समभाव रखता है और दुख-दुःख, हानि-लाभ, जन्म-मरण, आदि को समान समझता है। मनुस्मृति में कहा गया है कि व्यक्ति आत्म-ज्ञान के द्वारा ही जन्म-मरण के बन्धनों से मुक्त होता है और मोक्ष का अधिकारी बनता है। अपने को निर्गुण ब्रह्म की उपासना में लगाकर आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लेना मोक्ष-प्राप्ति की दृष्टि से परम आवश्यक है। लेकिन अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म में अपने मन को स्थिर कर लेना कोई सरल कार्य नहीं है। इसीलिए मोक्ष-प्राप्ति का अन्य मार्ग जिसे (स) **भक्ति-मार्ग** के अन्तर्गत व्यक्ति ईश्वर को साकार मानकर उसकी पूजा-आराधना व भजन-कीर्तन करता है, अपने को समर्पित कर देता है। वह प्रेम और भक्ति के द्वारा ईश्वर को पाने का प्रयत्न करता है। ईश्वर के लिए कहा गया है कि वह प्रेम और भक्ति के आगे स्वयं झुक जाता है। भक्ति-मार्ग पर चलने वाले को संसार त्याग कर कहीं जंगल में तपस्या करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस मार्ग पर चलने वाले भगवान को ही माता, पिता, बन्धु, मित्र, सहायक और रक्षक के रूप में मानते हैं। स्पष्ट है कि जब व्यक्ति स्वधर्म का पालन करते हुए भगवान की शरण में चला जाता है और अपने को पूर्णतः समर्पित कर देता है तो वह मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। गीता में कृष्ण ने बताया है कि हे अर्जुन ! मैं उन भक्तों का शीघ्र ही मृत्यु रूपी संसार से उद्धार करता हूं जो मुझ में चित्त लगाते हैं।[1] इस प्रकार स्वधर्म के पालन, सबके प्रति समभाव, मन को परमब्रह्म के वास्तविक स्वरूप में लीन तथा कर्मों को करते हुए उनके प्रति आसक्ति नहीं रखने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। ऐसा व्यक्ति सांसारिक सुख-दुःख से अप्रभावित रहता है और जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त हो जाता है।

पुरुषार्थ का समाजशास्त्रीय महत्व
(SOCIOLOGICAL SIGNIFICANCE OF *PURUSHARTHA*)

डॉ. कापडिया ने बताया है कि आश्रम-व्यवस्था में पुरुषार्थ के सिद्धान्त की पूर्ण अभिव्यक्ति हुई है। व्यक्ति के सम्पूर्ण दायित्वों को इस सिद्धान्त के माध्यम से व्यक्त किया

1 गीता, 12/6।

गया है।[1] डॉ. प्रभु ने पुरुषार्थ को आश्रम-व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक-नैतिक आधार माना है।[2] पुरुषार्थ को मनोवैज्ञानिक आधार इसलिए माना गया है कि व्यक्ति धर्म, अर्थ और काम की पूर्ति द्वारा मानसिक सन्तोष प्राप्त करता है और जीवन के उच्चतम आदर्श—मोक्ष प्राप्ति की ओर आगे बढ़ता है। पुरुषार्थ को नैतिक आधार मानने का कारण यह है कि यह व्यक्ति को मानवीय गुणों के विकास और धर्मानुकूल आचरण की प्रेरणा देता है, कर्तव्यों के पालन हेतु प्रोत्साहित करता है। पुरुषार्थ का सिद्धान्त हिन्दू विचारकों की भारतीय समाज को एक अनुपम देन है जो केवल भोगवाद की ओर व्यक्ति को प्रवृत्त नहीं करके उसे आध्यात्मिकता की ओर बढ़ने को प्रोत्साहित करती है। पुरुषार्थ सिद्धान्त में जीवन के प्रति एक समन्वित और व्यापक दृष्टिकोण अपनाया गया है। यदि व्यक्ति केवल अर्थ और काम में ही डूबा रहे तो उसमें और पशु में कोई अन्तर नहीं होगा। महाभारत में बताया गया है कि आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन मनुष्यों और पशुओं के लिए समान रूप से स्वाभाविक हैं। यदि मनुष्यों और पशुओं में कुछ अन्तर है तो वह केवल धर्म का। जिस मनुष्य में धर्म नहीं है, वह पशु के समान है।[3] पुरुषार्थ का सिद्धान्त मानव की पशु-प्रवृत्तियों का समाजीकरण करता है, उसकी आसुरी वृत्तियों को नियन्त्रित करता है। यह सिद्धान्त सांसारिक और आध्यात्मिक जीवन के बीच, इहलोक और परलोक के बीच अर्थात् स्वार्थ और परमार्थ के बीच एक सुन्दर समन्वय स्थापित करता है।

पुरुषार्थ के सिद्धान्त का समाजशास्त्रीय महत्व इस दृष्टि से है कि यह व्यक्ति और व्यक्ति के बीच तथा व्यक्ति और समूह के बीच सम्बन्धों को सन्तुलित करता है। यदि व्यक्ति अपने को ही सब कुछ मान ले और अन्य व्यक्तियों या समाज की बिल्कुल चिन्ता न करे तो जन-कल्याण नहीं हो सकता, समाज प्रगति की ओर आगे नहीं बढ़ सकता। प्रभु ने बताया है कि पुरुषार्थ व्यक्ति और साथ ही समूह दोनों से सम्बन्धित है। पुरुषार्थ बतलाते हैं कि व्यक्ति और समूह के बीच किस प्रकार के सम्बन्ध होने चाहिए, वे व्यक्ति और समूह की क्रियाओं के बीच उचित सम्बन्धों को परिभाषित करते हैं, वे व्यक्ति और समूह के बीच अनुचित सम्बन्धों की ओर भी ध्यान ले जाते हैं ताकि व्यक्ति ऐसे सम्बन्धों से बच सके। इस तरह, पुरुषार्थ व्यक्ति और समूह को नियन्त्रित करते हैं और साथ ही उनके अन्तर-सम्बन्धों को भी।[4]

धर्म का एक पुरुषार्थ के रूप में इसी दृष्टि से महत्व है कि यह काम और अर्थ को नियन्त्रित करता है। काम और अर्थ ही जीवन के परम लक्ष्य नहीं हैं बल्कि धर्म और मोक्ष की प्राप्ति के साधन हैं। काम और अर्थ के उचित मात्रा में ही उपभोग पर पुरुषार्थ-सिद्धान्त के अन्तर्गत जोर दिया गया है। धर्म एक पुरुषार्थ है जो व्यक्ति को अपने कर्तव्यों के पालन की प्रेरणा देता है, उसे गलत मार्ग पर जाने से रोकता है। यह अनुचित तरीके से धन कमाने या काम-इच्छाओं की पूर्ति करने पर नियन्त्रण लगाता है। सामाजिक दृष्टि से इस पुरुषार्थ का महत्व यही है कि यह सभी के कल्याण का आदर्श प्रस्तुत करता है। धर्म व्यक्ति को मानसिक संघर्षों से मुक्त करता है, उसे दायित्व का बोध कराता है, विपदाओं के समय भी धैर्य बनाए रखने को प्रेरित करता है। धर्म अन्य पुरुषार्थों का मार्ग-दर्शन करता है।

---

1 K. M. Kapadia, *op. cit.*, p. 27.
2 P. H. Prabhu, *op. cit.*, p. 78.
3 महाभारत, शान्ति पर्व, 294/29।
4 P. H. Prabhu, *op. cit.*, p. 82.

अर्थ का एक पुरुषार्थ के रूप में यही महत्व है कि वह व्यक्ति और समाज दोनों की सुख-समृद्धि की दृष्टि से आवश्यक है। यह पुरुषार्थ व्यक्ति को प्रयत्न या उद्यम करने के लिए प्रेरित करता है। व्यक्ति अर्थ के उपार्जन द्वारा ही स्वधर्म का पालन करता है, विभिन्न ऋणों से मुक्त होता है, ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी, संन्यासी और यहां तक कि पशु-पक्षियों की आवश्यकताओं तक की पूर्ति करता है। निर्धनता को एक अभिशाप माना गया है क्योंकि एक निर्धन व्यक्ति न तो अपने परिवारी-जनों का ठीक प्रकार से भरण-पोषण कर पाता और न ही समाज के आर्थिक विकास में योग दे पाता है। व्यक्ति के द्वारा उद्यम किये बिना समाज का आर्थिक विकास सम्भव नहीं है और आर्थिक विकास के अभाव में समाज शक्तिशाली नहीं बन सकता। यही कारण है कि गृहस्थी के लिए अर्थ को एक पुरुषार्थ के रूप में जीवन का एक लक्ष्य माना गया है। लेकिन अर्थ को धर्म के अधीन रखा गया है, ताकि इसका उपार्जन और उपभोग उचित रीति से ही हो। आज अनेक आर्थिक और सामाजिक समस्याओं का एक मूल कारण अर्थ को अपने आप में एक लक्ष्य मानकर जीवन में बहुत अधिक महत्व देना है। धर्म के नियन्त्रण के शिथिल पड़ जाने से आज व्यक्ति धन कमाने या उसका उपभोग करने में उचित और अनुचित रीति का विवेक खो चुका है। पुरुषार्थ-सिद्धान्त के अन्तर्गत अर्थ का महत्व इसी दृष्टि से है कि व्यक्ति उद्यम करके उचित रीति से धन कमाए और समाज के लोगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

काम पुरुषार्थ का महत्व इस दृष्टि से है कि यह यौन-इच्छाओं की सन्तुष्टि तथा मानसिक तनावों को कम और स्नेह सम्बन्धों को दृढ़ करता है। काम इच्छाओं की पूर्ति से सन्तानोत्पत्ति होती है, वंश-परम्परा चलती रहती है, समाज की निरन्तरता बनी रहती है और सांस्कृतिक परम्पराएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती रहती हैं। काम के द्वारा ही सन्तानों को जन्म देकर व्यक्ति पितृ-ऋण से उऋण होता है और धार्मिक दायित्वों को निभा पाता है। काम के बिना व्यक्ति के जीवन में निष्क्रियता आ जाएगी और व्यक्ति आर्थिक दायित्वों को नहीं निभा पाएगा। काम व्यक्ति की कलात्मक या सृजनात्मक प्रवृत्तियों को विकास का अवसर प्रदान करता है। काम व्यक्तित्व के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। काम का इस दृष्टि से भी महत्व है कि काम-इच्छाओं की पूर्ति या इन्द्रियों की सन्तुष्टि होने पर ही व्यक्ति में विरक्ति की भावना जागृत होती है और वह मोक्ष की ओर आगे बढ़ता है। काम पुरुषार्थ का यद्यपि जीवन में काफी महत्व है परन्तु इसे धर्म के अधीन रखा गया है।

मोक्ष जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है और धर्म, अर्थ तथा काम को इसी लक्ष्य की पूर्ति के साधन। व्यक्ति जीवन में अर्थ और काम का उपभोग करता है लेकिन इसके बाद भी उसे निराशा, कष्ट, दुःख, चिन्ता एवं विपत्तियों का सामना करना पड़ता है। इनसे विचलित हुए बिना कर्तव्य-पथ पर बढ़ते रहने की प्रेरणा मोक्ष पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त होती है। यहां मोक्ष की धारणा पर जोर अवश्य दिया गया है। इस सम्बन्ध में व्यक्ति को अपने दायित्वों के प्रति उदासीन होने को नहीं कहा गया है। इस सम्बन्ध में व्यक्ति को यह आदेश दिया गया है कि सब ऋणों से उऋण होने के पश्चात् ही मोक्ष पुरुषार्थ की प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। इस पुरुषार्थ ने व्यक्तियों को मानवीय गुणों के विकास, आत्म-ज्ञान की प्राप्ति और परमब्रह्म में अपने को लीन करने की प्रेरणा दी है।

मनु ने लिखा है कि मानवता का कल्याण तीनों (त्रिवर्ग), अर्थात् धर्म, अर्थ और काम के सन्तुलित समन्वय में है। आपने बताया है कि कुछ कहते हैं कि मनुष्य का हित धर्म और

अर्थ में है, कुछ कहते हैं कि यह केवल धर्म में है, जबकि दूसरे इस बात पर जोर देते हैं कि इस पृथ्वी पर केवल अर्थ ही मनुष्य का प्रमुख हित है। लेकिन सही स्थिति यह है कि मनुष्य का हित या कल्याण इन तीनों के सन्तुलित समन्वय में है।[1] अतः सभी पुरुषार्थों का अपना-अपना महत्व है और ये परस्पर सम्बन्धित हैं। किसी एक पुरुषार्थ पर आवश्यकता से अधिक जोर देकर जीवन का सन्तुलित विकास नहीं किया जा सकता। संसार में शायद ही अन्यत्र कहीं ऐसी व्यवस्था रही हो जो जहां सांसारिक और पारलौकिक जीवन में इतना व्यावहारिक समन्वय स्थापित किया गया हो जितना भारत में। पुरुषार्थ सिद्धान्तों के अन्तर्गत व्यक्ति और समाज के दायित्वों का इस प्रकार से निर्धारण किया गया है कि दोनों एक-दूसरे के विकास में सहायक हो सकें। डॉ. कापडिया ने बताया है कि पुरुषार्थ का सिद्धान्त भौतिक इच्छाओं और आध्यात्मिक जीवन में समन्वय स्थापित करता है। यह मनुष्य में पैतृक-सहजात, यौन-प्रवृत्ति, उसका शक्ति तथा धन के प्रति मोह, उसकी कलात्मक एवं सांस्कृतिक जीवन के प्रति अभिलाषा, उसकी परमात्मा से पुनर्मिलन की लालसा को सन्तुष्ट करने का भी प्रयत्न करता है। यह जीवन की समग्रता को देखता है, इसकी आशाओं और आकांक्षाओं, इसकी उपलब्धियों एवं आनन्दों, इसके परिष्कार एवं आध्यात्मीकरण को एकीकृत रूप में स्पष्ट करता है।[2] उपर्युक्त कथन से पुरुषार्थ-सिद्धान्त के महत्व का पता चलता है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत जीवन के प्रति एक समन्वित एवं सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया गया है ताकि व्यक्ति नियन्त्रित स्वतन्त्रता का अनुभव करता हुआ अपने तथा समाज के जीवन को उन्नत बना सके। वर्तमान समय में पुरुषार्थ का सिद्धान्त एक सिद्धान्त मात्र ही रह गया है। आज अर्थ और काम की ही प्रधानता है, धर्म तथा मोक्ष जीवन के लक्ष्यों के रूप में अधिकांशतः गौण हो गए हैं।

प्रश्न

1. पुरुषार्थ की अवधारणा की विवेचना कीजिए।
2. पुरुषार्थ क्या है? इसके समाजशास्त्रीय महत्व की व्याख्या कीजिए।
3. पुरुषार्थ कितने प्रकार के हैं? प्रत्येक का संक्षेप में विवेचन कीजिए।
4. चारों पुरुषार्थों में सामाजिक दृष्टि से धर्म सबसे महत्वपूर्ण है। सिद्ध कीजिए।
5. चारों पुरुषार्थों का सामाजिक महत्व बताइए।
6. पुरुषार्थ की व्याख्या कीजिए। काम और अर्थ, धर्म से किस प्रकार सम्बन्धित हैं?
7. पुरुषार्थ का सिद्धान्त भौतिक एवं आध्यात्मिक जीवन का समन्वय करता है। स्पष्ट कीजिए।

---

1 मनुस्मृति, ii, 224।
2 K. M. Kapdia, *op. cit.*, p. 27.

6

संस्कार

[SANSKAR]

हिन्दुओं के धार्मिक एवं सामाजिक जीवन में संस्कारों का विशेष महत्व पाया जाता रहा है। यहां धार्मिक जीवन के लिए परिशुद्धता एवं पवित्रता को आवश्यक माना गया है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न संस्कारों की व्यवस्था की गयी है। ये संस्कार ही वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्ति परिष्कृत तथा समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन पाता है। संस्कार वे विधियां या धार्मिक अनुष्ठान हैं जिनके द्वारा व्यक्ति के 'अहम्' का समाजीकरण एवं व्यक्तित्व का पूर्ण विकास करने का प्रयत्न किया जाता है। संस्कारों के अन्तर्गत विभिन्न अनुष्ठान या प्रतीकात्मक क्रियाकलाप आते हैं जिनके माध्यम से व्यक्ति के जीवन को परिशुद्ध एवं पवित्र बनाने का प्रयास किया जाता है। संस्कार में यद्यपि कुछ अनुष्ठान तथा कर्मकाण्ड सम्मिलित होते हैं परन्तु इसका अर्थ इन्हें सम्पन्न करने मात्र से नहीं है। संस्कार वास्तव में व्यक्ति की आत्म-शुद्धि एवं उसे सामाजिक दायित्वों से भली-भांति परिचित कराने से सम्बन्धित हैं। इस दृष्टि से संस्कार एक धार्मिक-सामाजिक प्रत्यय है जो व्यक्ति को अपने समाज के सांस्कृतिक जीवन का बोध कराते हैं। संस्कारों के माध्यम से ही समाज की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अनुरूप व्यक्ति का समाजीकरण किया जाता है। जीवन में सफलता प्राप्त करने एवं व्यक्तित्व के समुचित विकास की दृष्टि से संस्कारों का हिन्दू जीवन-क्रम में विशेष महत्व पाया जाता है।

संस्कार का अर्थ

(MEANING OF *SANSKAR*)

संस्कृत-साहित्य में संस्कार शब्द का प्रयोग शिक्षा, संस्कृति, प्रशिक्षण, सौजन्य, पूर्णतः व्याकरण-सम्बन्धी शुद्धि, संस्करण, परिष्करण, शोभा, आभूषण, प्रभाव स्वरूप, स्वभाव, क्रिया, छाप, स्मरण शक्ति, स्मरण शक्ति पर पड़ने वाला प्रभाव, शुद्धिक्रिया, धार्मिक विधि-विधान, अभिषेक, विचार, भावना, धारणा, कार्य का परिणाम, क्रिया की विशेषता, आदि अर्थों में हुआ है। डॉ. पाण्डेय ने लिखा है कि संस्कार का अभिप्राय निरी बाह्य धार्मिक क्रियाओं, अनुशासित अनुष्ठान, व्यर्थ आडम्बर, कोरा कर्मकाण्ड, राज्य द्वारा निर्दिष्ट चलनों, औपचारिकताओं तथा अनुशासित व्यवहार से नहीं है। संस्कार शब्द के उपरोक्त सभी अर्थ

प्रमुखतः व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत एवं शुद्ध करने तथा उसके प्रशिक्षण तथा समाजीकरण से सम्वन्धित हैं। **डॉ. पाण्डेय** का कथन है कि हिन्दू संस्कारों में अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक विधि-विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी सम्मिलित हैं जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक, दैहिक संस्कार ही न होकर, व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि एवं पूर्णता भी है। हिन्दू समाज में यह विश्वास किया जाता रहा है कि संस्कारों को सम्पन्न किए बिना व्यक्ति अपने जीवन में पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता।

जैमिनी के सूत्रों में संस्कार शब्द का प्रयोग उस क्रिया के लिए किया गया है जिसके करने से कोई पदार्थ उपयोगितापूर्ण वन जाता है। **शवर** के अनुसार संस्कार वह है जिसके सम्पादन से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता है।

तन्भवार्तिक ने लिखा है कि संस्कार वे क्रियाएं तथा रीतियां हैं जो योग्यता प्रदान करती हैं। इस योग्यता के दो प्रकार बताए गए हैं—प्रथम, पापपूर्ण क्रियाओं को नष्ट करने की योग्यता, तथा द्वितीय, नवीन गुणों से उत्पन्न योग्यता में वृद्धि करना।

वीर मित्रोदय ने संस्कार के अर्थ के सम्बन्ध में लिखा है कि यह एक विलक्षण योग्यता है जो शास्त्र-सम्मत क्रियाओं के सम्पादन से उत्पन्न होती है। इस योग्यता के दो प्रकार बताए गए हैं, प्रथम—जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न क्रियाओं के योग्य होता जाता है, एवं द्वितीय, जिसके द्वारा व्यक्ति विभिन्न दोषों से मुक्त हो जाता है। उपर्युक्त सभी कथनों से स्पष्ट है कि संस्कार वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्तियों को अनुशासित एवं दीक्षित किया जाता है। ये वे माध्यम हैं जिनके द्वारा व्यक्तियों को समाज के मूल्यों, प्रतिमानों एवं आदर्शों से परिचित कराया जाता है और उनके अनुरूप व्यवहार करने की दृष्टि से ही उन्हें संस्कारित या दीक्षित किया जाता है। संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति के सम्मुख ऐसा वातावरण प्रस्तुत किया जाता है कि वह अपनी संस्कृति से सम्बन्धित मूलभूत बातों को समझ सके और उन्हीं के अनुरूप अपने जीवन को ढाल सके।

डॉ. राजबली पाण्डेय ने बताया है कि संस्कार शब्द के साथ विलक्षण अर्थों का योग हो गया है, जो इसके दीर्घ इतिहास-क्रम में इसके साथ संयुक्त हो गए हैं। इसका अभिप्राय शुद्धि की धार्मिक क्रियाओं तथा व्यक्ति के दैहिक, मानसिक और बौद्धिक परिष्कार के लिए किए जाने वाले अनुष्ठानों से है, जिससे वह समाज का पूर्ण विकसित सदस्य बन सके। किन्तु हिन्दू संस्कारों में अनेक आरम्भिक विचार, धार्मिक विधि-विधान, उनके सहवर्ती नियम तथा अनुष्ठान भी समाविष्ट हैं, जिनका उद्देश्य केवल औपचारिक दैहिक संस्कार ही न होकर संस्कार्य व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का परिष्कार, शुद्धि और पूर्णता भी है। साधारणतः यह समझा जाता था कि सविधि संस्कारों के अनुष्ठान से संस्कृत व्यक्ति में विलक्षण तथा अवर्णनीय गुणों का प्रादुर्भाव हो जाता है। संस्कार शब्द का प्रयोग इस सामूहिक अर्थ में होता था। स्पष्ट है कि संस्कार के अन्तर्गत वे धार्मिक विधि-विधान, अनुष्ठान या कृत्य आते हैं जिनके करने से कोई व्यक्ति या पदार्थ उपयोगितापूर्ण बन जाता है। अन्य शब्दों में, संस्कार व्यक्ति के परिष्कार, शुद्धि एवं प्रशिक्षण से सम्बन्धित हैं। ये व्यक्ति के क्रमिक विकास की प्रक्रिया से जुड़े हुए हैं और उसे सामाजिक-सांस्कृतिक प्राणी बनाने में योग देते हैं।

संस्कारों के उद्देश्य
(OBJECTIVES OF *SANSKARS*)

संस्कारों के उद्देश्य के सम्बन्ध में डॉ. पी. वी. काणे ने लिखा है कि यदि हम संस्कारों की संख्या पर ध्यान दें तो पता चलेगा कि उनके लिए अनेक उद्देश्य थे। संस्कारों के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं :

(1) **अशुभ शक्तियों के प्रभाव से व्यक्ति को बचाना** संस्कारों का एक मुख्य उद्देश्य रहा है।

(2) संस्कारों का एक उद्देश्य **संस्कार्य व्यक्ति के हित के लिए अभीष्ट प्रभावों को आमन्त्रित एवं आकर्षित करना रहा है।** यही कारण है कि विभिन्न संस्कारों के अन्तर्गत देवताओं की पूजा एवं आराधना की जाती है।

(3) संस्कारों का भौतिक उद्देश्य **सांसारिक समृद्धि प्राप्त करना** रहा है। विभिन्न संस्कारों के माध्यम से सुख-समृद्धि, धन-धान्य, सम्पत्ति, पशु, दीर्घ जीवन, शक्ति एवं बुद्धि की प्राप्ति की इच्छा की जाती है।

(4) संस्कारों का एक उद्देश्य **व्यक्ति को आत्माभिव्यक्ति के अवसर प्रदान करना है।** व्यक्ति को समय-समय पर हर्ष, आनन्द एवं दु:ख होता रहता है और इन्हें व्यक्त करने हेतु विभिन्न संस्कारों की व्यवस्था की गयी है।

(5) संस्कारों का **सांस्कृतिक प्रयोजन** भी अत्यन्त महत्वपूर्ण रहा है। हमारे विधि-निर्माताओं ने संस्कारों एवं धर्म में पवित्रता का समावेश करने का प्रयत्न किया।

(6) संस्कारों का एक उद्देश्य **स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति** भी रहा है।

(7) संस्कारों का एक लक्ष्य व्यक्ति में **नैतिक गुणों का विकास करना** रहा है।

(8) संस्कारों का एक प्रमुख लक्ष्य **व्यक्तित्व का निर्माण और विकास** रहा है।

(9) संस्कारों का एक उद्देश्य **आध्यात्मिकता के महत्व को स्पष्ट करना** भी रहा है।

हिन्दू जीवन के मुख्य संस्कार
(MAJOR *SANSKARS* IN HINDU LIFE SCHEME)

हिन्दू जीवन से सम्बन्धित संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में विभिन्न धर्मशास्त्रों में काफी भिन्नता पायी जाती है।

यहां हम संस्कारों की संख्या के सम्बन्ध में पाए जाने वाले मतभेद में न पड़कर चौदह प्रमुख संस्कारों पर विचार करेंगे।

हिन्दू जीवन से सम्बन्धित प्रमुख संस्कार इस प्रकार हैं :

(1) गर्भाधान

"जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है उसे गर्भाधान कहते हैं।"[1] शौनक के अनुसार ज़िस कर्म के सम्पादन से स्त्री प्रदत्त शुक्र धारण करती है, वही गर्भाधान संस्कार है। प्रजनन कार्य को उद्देश्यपूर्ण एवं संस्कृत बनाने हेतु गर्भाधान संस्कार किया जाता था। धर्मशास्त्रों में इस संस्कार के सम्पादन का समय भी निर्धारित किया गया है। **शाखायन गृह्यसूत्र** में लिखा है कि विवाह की चौथी रात्रि को पति पत्नी से सहवास करता है और कहता है कि 'जिस प्रकार पृथ्वी में अग्नि है, उसी प्रकार एक नर भ्रूण गर्भाशय में प्रवेश करे.....वह दस मास के बाद एक पुरुष के रूप में उत्पन्न हो।' प्राचीन काल में

1 गर्भः संधार्यते येन कर्मणा तद्गर्भाधानमित्यनुगतार्थ कर्मनामधेयम्—पूर्व मीमांसा, अध्याय 1,4,2।

साधारणतः प्रत्येक कार्य को धार्मिक कृत्य समझा जाता था और इसी कारण गर्भाधान की दृष्टि से किए जाने वाले सहवास के समय भी वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। धार्मिक दृष्टि से पुत्र सन्तान का विशेष महत्व पाए जाने के कारण गर्भाधान संस्कार के समय पर विशेष रूप से जोर दिया गया है। मनु, याज्ञवल्क्य एवं बैखानस की मान्यता है कि पत्नी के ऋतुस्नान की चौथी रात्रि से लेकर सोलहवीं रात्रि तक का समय गर्भाधान की दृष्टि से उपयुक्त है। इन रात्रियों में पुत्र जन्म के लिए समरात्रि (अर्थात् जिसे 2 से विभाजित किया जा सकता हो) तथा कन्या जन्म के लिए विषम रात्रि को चुना जाना चाहिए। इन रात्रियों में भी बौधायन ने सहवास के लिए अर्ध-रात्रि के बाद के समय को अधिक उपयुक्त माना है। मनुस्मृति में बताया गया है कि इस संस्कार का सम्पादन 8वीं, 14वीं एवं 30वीं रात्रि को नहीं किया जाना चाहिए। पाराशर ने प्रत्येक व्यक्ति के लिए इस संस्कार को आवश्यक माना है। आपका कथन है कि जो व्यक्ति स्वस्थ होते हुए भी ऋतुकाल में पत्नी के समीप नहीं जाता; वह भ्रूण हत्या का दोषी होता है।[1] हिन्दू समाज में पितृ-ऋण से मुक्त होने के उद्देश्य से सन्तानोत्पत्ति को अनिवार्य माना गया है और यही कारण है कि यहां गर्भाधान संस्कार का विशेष महत्व रहा है। आधुनिक समय में इस संस्कार का महत्व प्रायः समाप्त हो गया है।

(2) पुंसवन

'पुंसवन' शब्द का अर्थ पुत्र सन्तान को जन्म देने से है। पुंसवन संस्कार का उद्देश्य पुत्र सन्तान की प्राप्ति रहा है। युद्ध एवं धार्मिक कार्यों के सम्पादन के लिए पुरुषों का महत्व पाए जाने के कारण ही पुत्र सन्तानों के जन्म की विशेष रूप से कामना की जाती थी। पुंसवन का अर्थ स्पष्ट करते हुए संस्कार प्रकाश में बताया गया है कि इसका तात्पर्य उस कर्म से था जिसके अनुष्ठान से 'पु'—पुनाम् (पुरुष) का जन्म हो।[2] पुत्र सन्तान को जन्म देने वाली माता को भी समाज में सम्मानित स्थान प्राप्त था। अतः पुत्र सन्तान की प्राप्ति पर विशेष जोर दिया जाता था। आश्वलायन गृह्यसूत्र में बताया गया है कि इस संस्कार को गर्भ धारण के तीसरे महीने में सम्पन्न करना चाहिए। इस संस्कार के अवसर पर पुनर्वसु नक्षत्र में उपवास के पश्चात् स्त्री अपने ही समान रंग की बछड़े वाली गाय के दही के साथ दो बीज सेम के तथा एक दाना जौ का खाती है। इस क्रिया को वह तीन बार दोहराती है। इस अवसर पर पति उससे तीन बार पूछता है कि तुम क्या पी रही हो और उत्तर के रूप में स्त्री बताती है कि पुंसवन (पुत्र की उत्पत्ति)। गृह्यसूत्रों के अनुसार यह संस्कार उस समय सम्पन्न किया जाता जब चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र में, विशेष रूप से तिष्य में संक्रमण करता। स्त्री इस दिन उपवास रखती और रात्रि में उसकी नाक के दाहिने नथुने में बट वृक्ष की छाल को कूटकर निकाला गया रस मन्त्रोच्चारण के साथ डाला जाता था। इस समय यह कामना की जाती थी कि स्त्री पुत्र को जन्म दे। याज्ञवल्क्य तथा विज्ञानेश्वर की मान्यता है कि यह संस्कार प्रत्येक गर्भ धारण के समय किया जाना चाहिए। इस अवसर पर स्त्री के अंक में जल से भरा हुआ कलश रखा जाता और पति गर्भ का स्पर्श करके पुत्र सन्तान की कामना करता। डॉ. पी. वी. काणे

1 पाराशर स्मृति, 4, 15।

2 पुमना प्रसूयते येन कर्मण तत् पुंसवनमीरितम्। शौनक, बीर मित्रोदय संस्कार प्रकाश, भाग 1, पृ. 166।

का कथन है कि पुंसवन संस्कार में धार्मिक, प्रतीकात्मक तथा औषधि सम्बन्धी तत्व पाए जाते हैं।[1]

(3) सीमन्तोन्नयन

इस संस्कार में गर्भिणी स्त्री के केशों (सीमान्त) को ऊपर उठाया (उन्नयन) जाता था। ऐसा विश्वास किया जाता था कि गर्भिणी पर अमंगलकारी या दुष्ट शक्तियों का कुप्रभाव पड़ सकता है। इस कुप्रभाव को समाप्त करने के उद्देश्य से यह संस्कार सम्पन्न किया जाता रहा है। इस संस्कार का एक प्रयोजन माता के ऐश्वर्य एवं अनुत्पन्न शिशु के लिए दीर्घायु की कामना था। गर्भिणी के केशों को संवारने का एक अन्य उद्देश्य उसे यथासम्भव—हर्षित एवं उल्लसित रखना था। गृह्यसूत्र में गर्भ के चौथे या पांचवें मास में इस संस्कार के सम्पन्न करने का विधान किया गया है।

(4) जातकर्म

यह संस्कार बालक के जन्म के ठीक पश्चात् सम्पन्न किया जाता है। इस संस्कार का उद्देश्य बालक को हानिकारक शक्तियों के प्रभाव से बचाना एवं उसके दीर्घजीवी और स्वस्थ होने की कामना करना है। इस संस्कार का एक लक्ष्य स्वच्छता एवं शुद्धता बनाए रखना है। बालक के तुरन्त जन्म के पश्चात् पिता अपनी चौथी अंगुली एवं एक सोने की शलाका से शिशु को शहद और घी अथवा केवल घी चटाता है। यह कृत्य बालक के बौद्धिक विकास के प्रति पिता की रुचि को व्यक्त करता है।

(5) नामकरण

नामकरण संस्कार के महत्व के सम्बन्ध में **डॉ. पाण्डेय** ने लिखा है कि हिन्दुओं ने अति प्राचीन काल में ही व्यक्तिगत नामों के महत्व का अनुमान किया तथा नामकरण की प्रथा को धार्मिक संस्कार में परिणत कर दिया। **बृहस्पति** ने नामों को सभी प्रकार के व्यवहारों, शुभ कर्मों एवं भाग्य का आधार माना है। गृह्यसूत्रों के अनुसार नामकरण संस्कार बालक के जन्म के दसवें या बारहवें दिन सम्पन्न किया जाता था। गोमिल गृह्यसूत्रों में बताया गया है कि नामकरण दसवें, बारहवें, सौवें दिन अथवा प्रथम वर्ष के समाप्त होने पर करना चाहिए। बालक का नाम रखते समय उसके वर्ण, जाति एवं फलित ज्योतिष के अनुसार उसकी राशि का ध्यान रखा जाना चाहिए। इस संस्कार के सम्बन्ध में **डॉ. पी.वी. काणे** ने लिखा है कि आधुनिक काल में नामकरण जन्म के बारहवें दिन बिना किसी वैदिक मन्त्रोच्चारण के मना लिया जाता है। स्त्रियां एकत्र होती हैं और पुरुषों से परामर्श कर नाम घोषित कर देती हैं। कहीं-कहीं अब भी यह संस्कार विधिवत् किया जाता है, परन्तु अब इसका प्रचलन एक प्रकार से उठ गया है।[2]

(6) निष्क्रमण

शिशु के विधि-विधानपूर्वक प्रथम बार घर से बाहर जाने को निष्क्रमण संस्कार के नाम से पुकारते हैं। इस अवसर पर पिता बालक को बाहर ले जाता और मन्त्रोच्चारण के साथ सूर्य का दर्शन कराता था। इस संस्कार के सम्पादन के समय के सम्बन्ध में मनुस्मृति में बताया

1 पी. वी. काणे, पूर्वोक्त, पृ. 188।
2 डॉ. पी.वी. काणे, पूर्वोक्त, पृ. 196।

गया है कि यह समय जन्म के पश्चात् बारहवें दिन से चतुर्थ मास तक भिन्न-भिन्न था।[1] गृह्यसूत्रों एवं स्मृतियों के अनुसार यह संस्कार जन्म के तीसरे या चौथे मास में सम्पन्न किया जाता था। संस्कार की विधि के सम्बन्ध में डॉ. पाण्डेय ने लिखा है कि संस्कार के लिए नियत दिन माता बरामदे या आंगन के ऐसे वर्गाकार भाग को, जहां से सूर्य दिखायी देता, गोबर और मिट्टी से लीपती, उस पर स्वास्तिक का चिह्न बनाती तथा धान्य कणों को विकीर्ण करती थी। सूत्रकाल में पिता के द्वारा शिशु को सूर्यदर्शन कराने के साथ संस्कार समाप्त हो जाता था।[2] इस अवसर पर शंख-ध्वनि एवं वैदिक मन्त्रों का उच्चारण भी किया जाता था। इस संस्कार का महत्व इसी दृष्टि से था कि एक निश्चित समय के पश्चात् बालक को घर से बाहर खुली वायु में लाया जाना चाहिए तथा यह अभ्यास चलते रहना चाहिए।

(7) अन्नप्राशन

इस संस्कार के पूर्व तक शिशु अपने भोजन के लिए माता के दूध या गाय के दूध पर ही निर्भर रहता था। जब उसकी पाचन-शक्ति बढ़ जाती और उसके शरीर के विकास के लिए पौष्टिक तत्वों की आवश्यकता पड़ती, तब बालक को प्रथम बार अन्न दिया जाता। गृह्यसूत्रों, मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार यह संस्कार शिशु के जन्म के बाद छठे मास में सम्पन्न किया जाता था। कुछ पण्डितों के अनुसार जन्म के पश्चात् एक वर्ष सम्पूर्ण होने पर यह संस्कार किया जाता था। इस अवसर पर शिशु को दही, घी, एवं शहद के साथ अन्न दिया जाता। मार्कण्डेय-पुराण में बताया गया है कि इस संस्कार के समय शिशु को शहद और घी के साथ खीर खिलाई जाती। बाद में बालक को दूध और भात खिलाने का रिवाज अधिक प्रचलित हो गया। भोजन का प्रकार चाहे कैसा भी क्यों न हो, विशेष ध्यान इस बात का रखा जाता कि भोजन लघु एवं बालक के लिए स्वास्थ्यवर्धक हो। इस संस्कार के अवसर पर भोजन तैयार करते समय वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था। भोजन तैयार हो जाने पर देवताओं की अर्चना एवं शिशु की सभी इन्द्रियों की सन्तुष्टि के लिए प्रार्थना की जाती। तत्पश्चात् पिता शिशु को भोजन कराता। ब्राह्मण भोजन के साथ यह संस्कार पूर्ण होता था। इस संस्कार का महत्व इस कारण था कि शिशु को उचित समय पर अपनी माता का दूध पीने से अलग कर दिया जाए ताकि उसका शारीरिक विकास ठीक ढंग से हो सके और माता की शक्ति का निरर्थक क्षय न हो।

(8) चूडाकरण (मुण्डन) संस्कार

धर्मशास्त्रों के अनुसार संस्कार्य व्यक्ति के लिए दीर्घ आयु, सौन्दर्य तथा कल्याण की प्राप्ति इस संस्कार का प्रयोजन था। **चरक** का विचार है कि केश, श्मश्रु एवं नखों के काटने एवं प्रसाधन में पौष्टिकता, बल, आयुष्य, शुचिता और सौन्दर्य की प्राप्ति होती है। इस संस्कार के पीछे स्वास्थ्य एवं सौन्दर्य की भावना ही प्रमुख थी। गृह्यसूत्रों के मतानुसार चूडाकरण संस्कार जन्म के पश्चात् प्रथम वर्ष के अन्त में अथवा तृतीय वर्ष की समाप्ति के पूर्व सम्पन्न होता था। **मनु** ने लिखा है कि वेदों के नियमानुसार धर्मपूर्वक समस्त द्विज जातियों का चूडाकर्म प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में सम्पन्न करना चाहिए। तीसरे वर्ष में सम्पन्न चूडाकरण को सर्वोत्तम माना गया है।

---

1 मनुस्मृति, 2, 134।

2 राजबली पाण्डेय, हिन्दू संस्कार, पृ. 112।

यह संस्कार किसी मन्दिर या धार्मिक स्थान पर या पवित्र नदी के किनारे सम्पन्न किया जाता है।

शिखा रखना इस संस्कार का महत्वपूर्ण अंग था। कालान्तर में शिखा हिन्दुओं का एक अनिवार्य चिन्ह बन गयी। आधुनिक काल में शिखा रखना रूढ़िवादिता मात्र समझा जाता है।

(9) कर्ण-वेध

आभूषण पहनने के लिए विभिन्न अंगों के छेदन की प्रथा सम्पूर्ण संसार की असभ्य तथा अर्ध-सभ्य जातियों में प्रचलित है। किन्तु सभ्यता के उन्नत होने पर भी अलंकरण प्रचलित रहा यद्यपि वह परिष्कृत हो गया था। जहां तक कानों के छेदने का प्रश्न है, निस्सन्देह आरम्भ में अलंकरण के लिए इसका प्रचलन हुआ, किन्तु आगे चलकर यह उपयोगी सिद्ध हुआ है और इसकी आवश्यकता पर बल देने के लिए इसे धार्मिक स्वरूप दिया गया। सुश्रुत की मान्यता है कि रोग आदि से रक्षा एवं भूषण या अलंकरण के लिए बालक के कानों का छेदन करना चाहिए। बृहस्पति, गर्ग एवं श्रीपति के अनुसार बालक के जन्म के एक वर्ष के भीतर-भीतर यह संस्कार सम्पन्न कर देना चाहिए। किन्तु कात्यायन-सूत्र में कर्ण-वेध संस्कार के उपयुक्त समय के रूप में शिशु के तीसरे या पांचवें वर्ष का विधान किया गया है।[1] कर्ण-छेदन के लिए संस्कार-कर्ता के रूप में वंश परम्परागत अनुभव के कारण अधिकतर सुनार को बुलाया जाता है। कान छेदने के लिए सोने, चांदी अथवा तांबे की सुई का विधान किया गया है। संस्कार के विधि-विधान के सम्बन्ध में कात्यायन-सूत्र में लिखा है कि एक शुभ दिन में मध्याह्न के पूर्व दिन में यह संस्कार किया जाता था। शिशु को पूर्वाभिमुख बैठाकर कुछ मिठाइयां दी जाती थीं। इसके पश्चात् इस मन्त्र के साथ शिशु का दायां कान छेदा जाता : 'हम अपने कानों से भद्र-वाणी सुनें'। तब बायां कान, 'वक्ष्यन्ति' आदि मन्त्र के साथ छेदा जाता था। तत्पश्चात् ब्राह्मण-भोजन के साथ संस्कार समाप्त होता था।

(10) विद्यारम्भ

इस संस्कार के साथ बालक की शिक्षा आरम्भ होती थी। बालक का मस्तिष्क जब शिक्षा ग्रहण करने के योग्य हो जाता, तब उसका विद्यारम्भ अक्षर ज्ञान के साथ शुरू होता था। यह एक सांस्कृतिक संस्कार है जिसका उद्‌भव सभ्यता की उस उन्नत अवस्था में हुआ जब वर्णमाला का विकास हो चुका था। इस संस्कार के द्वारा बालक के मानसिक एवं बौद्धिक विकास का कार्य प्रारम्भ होता था। विश्वामित्र के अनुसार बालक की आयु के पांचवें वर्ष में यह संस्कार सम्पन्न किया जाता था। पण्डित भीमसेन शर्मा के अनुसार यह संस्कार पांचवें अथवा सातवें वर्ष में किया जा सकता था। इस संस्कार के लिए कोई ऐसा शुभ दिन चुना जाता था जब सूर्य उत्तरायण में हो। इस दिन बालक को स्नान और सुन्दर वेश-भूषा से अलंकृत कर गणेशजी, सरस्वती, बृहस्पति एवं गृहदेवता की पूजा की जाती थी। इसके पश्चात् होम किया जाता। गुरु पूर्व दिशा की ओर बैठकर पश्चिम की ओर मुंह करके बैठे हुए बालक को अक्षर लिखना सिखाता था। फिर बालक गुरु को वस्त्र एवं आभूषण भेंट के रूप में देता और देवताओं की तीन परिक्रमा करता था। इस अवसर पर ब्राह्मणों को दक्षिणा दी जाती और वे बालक को आशीर्वाद देते थे। वर्तमान में इस संस्कार की विधि के सम्बन्ध में डॉ. काणे ने लिखा है कि आधुनिक काल में लिखना-सीखना किसी शुभ मुहूर्त में प्रारम्भ

1 पा. गृ. सू., परिशिष्ट 1।

किया जाता है। यह शुभ मुहूर्त बहुधा आश्विन मास के शुक्ल पक्ष की विजयदशमी को पड़ता है। सरस्वती एवं गणपति के पूजन के उपरान्त गुरु का सम्मान किया जाता है, बच्चा 'ऊं नमः सिद्धम्' दुहराता है और पट्टी पर लिखता है। इसके उपरान्त उसे अ, आ,......इत्यादि सिखाए जाते हैं।

(11) उपनयन

उपनयन संस्कार हिन्दुओं के विशाल साहित्य भण्डार के ज्ञान का प्रवेश-पत्र माना जाता था। अथर्ववेद में उपनयन शब्द का प्रयोग ब्रह्मचारी को ग्रहण करने के अर्थ में हुआ है। यहां इसका तात्पर्य आचार्य के द्वारा ब्रह्मचारी को वेदविद्या में दीक्षित करने से है। धीरे-धीरे उपनयन शब्द का प्रयोग अभिभावकों द्वारा विद्यार्थी का आचार्य के निकट ले जाने के अर्थ में होने लगा। वीरमित्रोदय में उद्धृत एक आचार्य के अनुसार उपनयन का अभिप्राय केवल शिक्षा के ही अर्थ में सीमित नहीं है। यह वह कृत्य है जिसके द्वारा व्यक्ति गुरु, वेद, यम, नियम का व्रत और देवता से सामीप्य के लिए दीक्षित किया जाता है। आजकल उपनयन संस्कार का शिक्षा सम्बन्धी अर्थ प्रायः लुप्त हो चुका है, अब इसे बालक के 'जनेऊ' धारण संस्कार के रूप में लिया जाता है।

इस संस्कार का प्रमुख उद्देश्य शिक्षा ही था तथा विद्यार्थी को आचार्य के निकट ले जाने का कर्मकाण्ड गौण था। जहां तक उपनयन संस्कार की आयु का प्रश्न है, गृहसूत्रों के अनुसार ब्राह्मण बालक का उपनयन संस्कार आठवें वर्ष, क्षत्रिय का ग्यारहवें तथा वैश्य का बारहवें वर्ष में किया जाना चाहिए। बौधायन के अनुसार आठ और सोलह के बीच किसी भी वर्ष में ब्राह्मण का उपनयन किया जा सकता है।

उपनयन संस्कार सम्पन्न करने हेतु शुभ दिन चुन लिया जाता, विशेषतः शुक्ल पक्ष का कोई ऐसा दिन जब सूर्य उत्तरायण में हो, संस्कार के एक दिन पहले गणेशजी की आराधना तथा लक्ष्मी, धात्री, मेधा, पुष्टि, श्रद्धा व सरस्वती, आदि का पूजन किया जाता। विद्यार्थी सम्पूर्ण रात्रि मौन रहकर व्यतीत करता। प्रातःकाल माता और पुत्र अन्तिम बार साथ-साथ भोजन करते। डॉ. अल्तेकर के अनुसार यह बालक के अनियमित जीवन के अन्त का सूचक था तथा बालक को यह स्मरण कराना था कि अब वह दायित्वहीन शिशु नहीं रहा और अब उसे व्यवस्थित जीवन व्यतीत करना है। इसे माता और पुत्र की विदाई का भोज भी माना गया है। तत्पश्चात् बालक को मण्डप में ले जाया जाता जहां उसका मुण्डन होता। फिर बालक को स्नान कराया जाता और गुह्य अंगों को ढकने के लिए कौपीन (वस्त्र) दिया जाता। जब वह आचार्य के निकट जाकर ब्रह्मचारी बनने की इच्छा व्यक्त करता तो आचार्य उसे शरीर के ऊपरी भाग को ढकने हेतु वस्त्र (उत्तरीय) देता। इसके बाद आचार्य मन्त्रोच्चारण के साथ बालक की कमर में मेखला बांधता जो पापों से बचाती, उसके जीवन को शुद्ध रखती और कुप्रभावों से रक्षा करती। तत्पश्चात् ब्रह्मचारी को उपवीत सूत्र (जनेऊ) दिया जाता। उपवीत के तीन धागे सत्व, रजस् एवं तमस् का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनके तीन धागे ब्रह्मचारी को यह स्मरण भी कराते हैं कि उसे ऋषि-ऋण, पितृ-ऋण एवं देव-ऋण से उऋण होना है। यज्ञोपवीत धारण कराते समय आचार्य मन्त्रोच्चारण द्वारा बालक के आयुष्य, बल तथा तेज के लिए कामना करता है। इस अवसर पर आचार्य के द्वारा बालक को अजिन अर्थात् मृगचर्म या पशुचर्म तथा एक 'दण्ड' दिया जाता। दण्ड धारण करते समय ब्रह्मचारी यह प्रार्थना करता

था कि उसकी दुर्गम यात्रा और दीर्घ जीवन सुरक्षित रूप से पूर्ण हों। उपनयन संस्कार का महत्व इस दृष्टि से विशेष रूप से है कि यह विद्यार्थी को अनुशासित और त्यागमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा प्रदान करता है। यह संस्कार केवल द्विजों के लिए ही है।

(12) समावर्तन

यह संस्कार विद्यार्थी-जीवन के अन्त का सूचक था। समावर्तन शब्द का तात्पर्य है 'वेदों' का अध्ययन करने के पश्चात् गुरुकुल से घर की ओर लौटना। इस संस्कार का एक महत्वपूर्ण अंग स्नान था। ब्रह्मचारी अपने अध्ययन को समाप्त करने पर एक ऐसा व्यक्ति माना जाता था जिसने विद्या के सागर को पार कर लिया है। वह विद्या-स्नातक (जिसने विद्या में स्नान कर लिया है) तथा व्रत-स्नातक (जिसने अपने व्रतों में स्नान कर लिया है) कहा जाता था। इस संस्कार के लिए सर्व-सामान्य आयु 24 वर्ष मानी गयी है क्योंकि इस समय तक विद्यार्थी वेदों का अध्ययन कर अपनी शिक्षा पूर्ण कर लेता था । सबसे पहले विद्यार्थी इस संस्कार हेतु गुरु से आज्ञा की प्रार्थना एवं दक्षिणा द्वारा उसे सन्तुष्ट करता था। मनु ने लिखा है कि गुरु की अनुमति प्राप्त कर समावर्तन संस्कार करना चाहिए तथा उसके पश्चात् सवर्ण तथा गुणवती कन्या से विवाह करना चाहिए। संस्कार के लिए कोई शुभ दिन चुना जाता था। इस दिन वह गुरु के चरणों में प्रणाम कर कुछ समिधाओं द्वारा वैदिक अग्नि को अन्तिम आहुति देता। यहां जल भरे हुए आठ कलश रखे जाते जो आठ दिशाओं के सूचक थे और यह माना जाता था कि सभी दिशाओं से ब्रह्मचारी पर सम्मान एवं कीर्ति की वर्षा हो रही है। इस अवसर पर वह इन कलशों के जल से स्नान करता था जो गृहस्थ के सुखी जीवन के लिए उसे शीतलता प्रदान करता। इसके बाद ब्रह्मचारी मेखला, मृगचर्म एवं दण्ड को फेंक देता और नवीन कौपीन (वस्त्र) धारण करता। वह इस अवसर पर अपनी दाढ़ी, केश एवं नखों को कटवाता। विद्यार्थी अब सुन्दर वस्त्र, पुष्प माला, आभूषण, अंजन, आदि धारण करता। ये वस्तुएं इस बात का प्रतीक थीं कि अब उस पर ब्रह्मचर्य जीवन के निषेध लागू नहीं रहे। तत्पश्चात् गुरु का आशीर्वाद प्राप्त कर वह एक पूर्ण विकसित और उत्तरदायी व्यक्ति के रूप में घर को लौटता था।

(13) विवाह

विवाह का हिन्दू संस्कारों में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। विवाह के माध्यम से ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है और अपने समाज और संस्कृति की समृद्धि में योग देता है। पत्नी के अभाव में यहां व्यक्ति को अपूर्ण माना गया है। पत्नी प्राप्त करके ही व्यक्ति चार पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—की प्राप्ति कर सकता है। विवाह के पश्चात् ही वह विभिन्न ऋणों से उऋण होने तथा अपने दायित्वों के निर्वाह के लिए पंच-महायज्ञ कर पाता है। हिन्दू विवाह को एक धार्मिक संस्कार माना गया है, न कि एक सामाजिक समझौता। पारस्कर गृहसूत्र में तीस और बौधायन गृहसूत्र में पच्चीस अनुष्ठानों का उल्लेख किया गया है जो हिन्दू विवाह के लिए आवश्यक हैं। इन अनुष्ठानों में होम, पाणिग्रहण एवं सप्तपदी विशेषतः महत्वपूर्ण हैं। विवाह व्यक्ति को समाज में एक विशेष स्थिति प्रदान करता और सामाजिक उत्तरदायित्व के प्रति जागरूक बनाता है। विवाह न केवल जैविकीय आवश्यकताओं की पूर्ति का ही माध्यम है, बल्कि धार्मिक कार्यों के सम्पादन एवं समाज की निरन्तरता को

बनाए रखने की दृष्टि से भी आवश्यक है। इस संस्कार का सविस्तार वर्णन 'विवाह' नामक अध्याय में किया गया है।

(14) अन्त्येष्टि

अन्त्येष्टि हिन्दू जीवन से सम्बन्धित अन्तिम संस्कार है जिसके साथ व्यक्ति के सांसारिक जीवन का अन्त होता है। व्यक्ति की मृत्यु होने पर उसके जीवित सम्बन्धी परलोक में उसके सुख एवं कल्याण के लिए उसका मृत्यु-संस्कार करते हैं। हिन्दू के लिए न केवल इस लोक का महत्व है बल्कि परलोक का भी। बौधायन पितृमेध-सूत्र में कहा गया है कि यह सुप्रसिद्ध है कि जन्मोत्तर संस्कारों के द्वारा व्यक्ति इस लोक को जीतता है और मरणोत्तर संस्कार द्वारा उस लोक (परलोक) को। इस कारण इस संस्कार को सावधानीपूर्वक सम्पन्न करने पर जोर दिया जाता है।

मृत्यु के बाद शव-यात्रा प्रारम्भ करने के पूर्व मृतक को स्नान कराकर नवीन वस्त्र पहनाकर बांस से बनी अर्थी पर लिटाया जाता है। तब उसके नाते-रिश्तेदारों द्वारा इस अर्थी को श्मशान-घाट ले जाया जाता है। रास्ते भर मन्त्रोच्चारण या 'राम नाम सत्य है, सत्य से ही मुक्ति है' का उच्चारण किया जाता है। श्मशान-भूमि में शव को लकड़ियों की चिता पर लिटाकर मन्त्रोच्चारण के साथ मृतक के पुत्र एवं अन्य रक्त-सम्बन्धी चिता को अग्नि देते हैं। चिता में घी, नारियल, चन्दन, कपूर, कुश एवं यज्ञ में काम आने वाले अन्य पदार्थों को डाला जाता है। ऋग्वेद में बताया गया है कि जब अग्नि प्रज्वलित होने लगती है तब इस आशय का एक मन्त्र बोला जाता है कि हे अग्नि ! इस देह को तू भस्म न कर, न ही इसे कष्ट पहुंचा तथा न ही इसकी त्वचा एवं अन्य अंगों को इधर-उधर बिखेर। जातवेदः जब यह शरीर पूर्णतः ध्वस्त हो जाए तो इसकी आत्मा को पितृ-लोक में ले जा।[1] शव के जलकर भस्म हो जाने पर शव-यात्रा में सम्मिलित व्यक्ति अपने-अपने घरों को लौट आते और स्नान करते हैं। मृत्यु के तीसरे अथवा अन्य किसी दिन मृतक की अस्थियों का संचय किया जाता है। मृतक के घर में 10 या 12 अथवा 13 दिन तक अशौच रहता है और इस अवधि में मृतक की आत्मा की शान्ति एवं परलोक में उसके कल्याण से सम्बन्धित कई अनुष्ठान किए जाते हैं। आत्मा की शान्ति के लिए प्रतिवर्ष श्राद्ध और पिण्डदान भी किया जाता है।

हिन्दू संस्कारों का समाजशास्त्रीय महत्व
(SOCIOLOGICAL IMPORTANCE OF *HINDU SANSKARS*)

यहां हम इन संस्कारों के समाजशास्त्रीय महत्व पर विचार करेंगे :

(1) **व्यक्तित्व के विकास में सहायक**—डॉ. राजबली पाण्डेय ने बताया है कि संस्कारों का उद्देश्य **व्यक्ति के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास** करना था जिससे वह अपने को मानवीय तथा अतिमानव शक्तियों से पूर्ण संसार के अनुरूप बना सके।[2] संस्कार जीवन के प्रत्येक स्तर पर व्यक्ति को उसके कर्तव्यों का बोध कराते रहे हैं। डॉ. पाण्डेय ने अन्यत्र लिखा है कि संस्कार मानव जीवन के परिष्कार और शुद्धि में सहायता पहुंचाते, व्यक्तित्व के विकास को सुविधाजनक करते, मनुष्य-देह को पवित्रता तथा महत्व प्रदान करते, मनुष्य की समस्त भौतिक, आध्यात्मिक महत्वाकांक्षाओं को गति देते तथा अन्त में उसे जटिलताओं और समस्याओं के संसार से

1 डॉ. पाण्डेय द्वारा उद्धृत, 19, 16, 1।

2 पूर्वोक्त, पृ. 349।

सरल तथा सानन्द मुक्ति के लिए प्रस्तुत करते थे। संस्कारों ने व्यक्ति को चरित्रगत दृढ़ता प्रदान करने में विशेष योग दिया।

(2) **आवश्यकता-पूर्ति एवं समस्याओं के समाधान में सहायक**—संस्कारों ने **सामाजिक महत्व की समस्याओं के समाधान में सहायता पहुंचायी।** जब व्यक्ति को स्वास्थ्य विज्ञान तथा प्रजनन-शास्त्र का ज्ञान नहीं था, तब गर्भाधान एवं अन्य प्राग् जन्म-संस्कार ही इन विषयों में शिक्षा के माध्यम थे। गर्भाधान एवं पुंसवन संस्कार के द्वारा गर्भिणी की आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती और उसकी जैविकीय सुविधाओं का ध्यान रखा जाता था। उपनयन संस्कार द्वारा बालक को स्वास्थ्य के नियमों का ध्यान रखते हुए संयमी और अनुशासित जीवन व्यतीत करने की ओर अग्रसर किया जाता था।

(3) **शिक्षा का महत्वपूर्ण साधन**—संस्कार **शिक्षा के महत्वपूर्ण साधन रहे हैं।** जीवन के प्रत्येक स्तर पर संस्कार व्यक्ति को लौकिक ज्ञान प्रदान करते रहे हैं, उसे प्रशिक्षित कर समाज के योग्य एवं उपयोगी सदस्य प्रदान करते रहे हैं। डॉ. पाण्डेय ने लिखा है कि विद्यारम्भ तथा उपनयन से समावर्तन-पर्यन्त सभी संस्कार शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्व के हैं। आदिम समाजों में जनसाधारण में अनिवार्य शिक्षा को लागू करने के लिए कोई धर्मनिरपेक्ष या लौकिक माध्यम न था। अनिवार्य होने के कारण संस्कार इस प्रयोजन की भी पूर्ति करते थे।[1] इस प्रकार संस्कारों ने प्राचीन हिन्दुओं के उच्च बौद्धिक एवं सांस्कृतिक स्तर की रक्षा में योग दिया।

(4) **समाजीकरण में सहायक**—संस्कारों ने **व्यक्ति और समाज की अपेक्षाओं के बीच सन्तुलन बनाए रखने में भी योग दिया।** संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति सामाजिक परिस्थितियों के साथ अनुकूलन करता हुआ सामाजिक जीवन को संगठित बनाए रखने में सहायता पहुंचाता है। इन संस्कारों के द्वारा व्यक्ति का समाजीकरण इस प्रकार से होता है कि वह पग-पग पर अपने सामाजिक दायित्वों से परिचित होता जाता है। वह यह जान लेता है कि उससे समाज क्या अपेक्षाएं रखता है और उन अपेक्षाओं के अनुरूप बनने की दृष्टि से संस्कार उसके सम्मुख उपयुक्त वातावरण प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के रूप में, विवाह संस्कार के द्वारा व्यक्ति न केवल परिवारजनों बल्कि सम्पूर्ण समाज के प्रति अपने दायित्वों से परिचित होता है।

(5) **नैतिक गुणों के विकास एवं संस्कृति के रक्षण में सहायक**—संस्कारों ने **नैतिक गुणों के विकास एवं संस्कृति के रक्षण में योग** दिया है। संस्कारों के द्वारा व्यक्ति में अनेक नैतिक गुणों जैसे, दया, क्षमा, अनसूया, पवित्रता, उचित व्यवहार, निर्लोभता एवं समर्पण का विकास किया जाता है। ये गुण व्यक्ति का निर्माण कर समाज की नैतिक प्रगति में सहायता पहुंचाते हैं। इन संस्कारों के माध्यम से व्यक्ति समाज की सांस्कृतिक परम्पराओं या व्यवहार के आदर्श प्रतिमानों से परिचित होता है। वह इन्हीं के अनुरूप व्यवहार करने का प्रयत्न करता है। इस प्रकार सांस्कृतिक परम्पराएं पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तान्तरित होती और सुरक्षित बनी रहती हैं। संस्कारों के माध्यम से ही व्यक्ति समय-समय पर अपने मानसिक उद्वेगों जैसे, दया, हर्ष, आनन्द, शोक एवं सहानुभूति को समाजीकृत रूप से व्यक्त करता रहता है।

(6) **आध्यात्मिक महत्व**—इन संस्कारों का **आध्यात्मिक महत्व** भी रहा है। ये संस्कार व्यक्ति को यह सोचने के लिए प्रेरित करते रहे हैं कि जीवन को प्रभावित करने वाली कोई

1 पूर्वोक्त, पृ. 351।

अदृश्य शक्ति अवश्य है और उसी को सन्तुष्ट करने की दृष्टि से विभिन्न संस्कारों से सम्बन्धित अनेक अनुष्ठान किए जाते रहे हैं। संस्कारों के आध्यात्मिक महत्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. पाण्डेय ने बताया है कि संस्कार एक प्रकार से आध्यात्मिक शिक्षा की क्रमिक सीढ़ियों का कार्य करते हैं। उनके द्वारा सुसंस्कृत व्यक्ति यह अनुभव करता था कि सम्पूर्ण जीवन वस्तुतः संस्कारमय है और सम्पूर्ण दैहिक क्रियाएं आध्यात्मिक ध्येय से ही अनुप्राणित हैं। यही वह मार्ग था जिससे क्रियाशील सांसारिक जीवन का सम्बन्ध आध्यात्मिक तथ्यों के साथ स्थापित किया जाता था।[1]

(7) आत्माभिव्यक्ति के साधन—संस्कारों के दौरान व्यक्ति मन में उठने वाले विचारों, दया, दान, हर्ष, शोक, सहानुभूति, सहिष्णुता, आनन्द, आदि को प्रकट करता है। इससे मानसिक तनाव एवं कुण्ठाएं समाप्त हो जाती हैं और व्यक्तित्व का समुचित विकास होता है, जैसे बाल्यकाल के संस्कारों के समय वह हर्ष तथा आनन्द का अनुभव करता है। विवाह संस्कार से काम भावना की पूर्ति होती है तो अन्त्येष्टि संस्कार से शोक व दुःख को प्रकट किया जाता है। मानसिक सन्तुलन के लिए इन सभी रूपों में आत्माभिव्यक्ति आवश्यक है।

यद्यपि हिन्दू संस्कारों ने भारतीय जीवन को व्यवस्थित बनाए रखने में विशेष योग दिया, परन्तु परिस्थितियों के बदलने के साथ-साथ आज अनेक संस्कार लुप्त-प्राय हो चुके हैं। हिन्दुओं के जीवन में अब कुछ ही संस्कार जैसे विवाह एवं अन्त्येष्टि, आदि ही महत्वपूर्ण रह गए हैं।

प्रश्न

1. हिन्दू संस्कारों पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।
2. संस्कार किसे कहते हैं? प्रमुख हिन्दू संस्कारों की विवेचना कीजिए।
3. संस्कारों के समाजशास्त्रीय महत्व की विवेचना कीजिए।
4. संस्कार किसे कहते हैं? संस्कारों का क्या उद्देश्य है? हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के प्रमुख संस्कारों का उल्लेख कीजिए।
5. संस्कार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

---

1 पूर्वोक्त, पृ. 39।

7

विवाह
[MARRIAGE]

मानव की विभिन्न प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं में यौन-सन्तुष्टि एक आधारभूत आवश्यकता है। मानव के अतिरिक्त अन्य प्राणी भी यौन इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, लेकिन उनमें इसका केवल दैहिक आधार है। मानव में यौन इच्छाओं की पूर्ति का आधार अंशतः दैहिक, अशंतः सामाजिक एवं सांस्कृतिक है। यौन इच्छाओं की सन्तुष्टि ने ही विवाह, परिवार तथा नातेदारी संस्थाओं को जन्म दिया। परिवार के बाहर भी यौन-सन्तुष्टि सम्भव है, किन्तु समाज ऐसे सम्बन्धों को अनुचित मानता है। यौन इच्छाओं की पूर्ति स्वस्थ जीवन एवं सामान्य रूप से जीवित रहने के लिए भी आवश्यक मानी गयी। इसके अभाव में कई मनोविकृतियां पैदा हो जाती हैं। यौन इच्छाओं की पूर्ति किस प्रकार की जाय, यह समाज और संस्कृति द्वारा निश्चित होता है। विवाह का उद्देश्य सदैव ही यौन-सन्तुष्टि नहीं होता है, वरन् कभी-कभी तो यह केवल सामाजिक-सांस्कृतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ही किया जाता है। बिवाह रूपी संस्था प्रत्येक काल और प्रत्येक समाज में विद्यमान रही है, यद्यपि इसके स्वरूपों में भिन्नता पायी जाती है। हम यहां विवाह के अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य एवं प्रकार पर विचार करेंगे।

विवाह का अर्थ एवं परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF MARRIAGE)

विवाह का शाब्दिक अर्थ है, 'उद्वह' अर्थात् वधू को वर के घर ले जाना।

मजूमदार एवं मदान लिखते हैं, "विवाह में कानूनी या धार्मिक आयोजन के रूप में उन सामाजिक स्वीकृतियों का समावेश होता है जो दो विषम-लिंगियों की यौन-क्रिया और उससे सम्बन्धित सामाजिक-आर्थिक सम्बन्धों में सम्मिलित होने का अधिकार प्रदान करती है।"[1]

विवाह को परिभाषित करते हुए **लूसी मेयर** लिखते हैं, "विवाह की परिभाषा यह है कि वह स्त्री-पुरुष का ऐसा योग है, जिससे स्त्री से जन्मा बच्चा माता-पिता की वैध सन्तान माना जाय।"[2] इस परिभाषा में विवाह को स्त्री व पुरुष के ऐसे सम्बन्धों के रूप में स्वीकार

1 **Majumdar and Madan**, *An Introduction to Social Anthropology*, p. 79.
2 **लूसी मेयर, सामाजिक नृ-विज्ञान की भूमिका**, हिन्दी अनुवाद, पृ. 90।

किया गया है जो सन्तानों को जन्म देते हैं, उन्हें वैध घोषित करते हैं तथा इसके फलस्वरूप माता-पिता एवं बच्चों को समाज में कुछ अधिकार एवं प्रस्थितियां प्राप्त होती हैं।

डब्ल्यू. एच. आर. रिवर्स के अनुसार, "जिन साधनों द्वारा मानव समाज यौन सम्बन्धों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जा सकती है।"[1]

वेस्टरमार्क के अनुसार, "विवाह एक या अधिक पुरुषों का एक या अधिक स्त्रियों के साथ होने वाला वह सम्बन्ध है, जिसे प्रथा या कानून स्वीकार करता है और जिसमें इस संगठन में आने वाले दोनों पक्षों एवं उनसे उत्पन्न बच्चों के अधिकार एवं कर्तव्यों का समावेश होता है।"[2] वेस्टरमार्क ने विवाह बन्धन में एक समय में एकाधिक स्त्री-पुरुषों के सम्बन्धों को स्वीकार किया है, जिन्हें प्रथा एवं कानून की मान्यता प्राप्त होती है। स्त्री-पुरुषों से उत्पन्न सन्तानें वैध होती हैं और वे अपने माता-पिता से कुछ अधिकारों एवं दायित्वों को ग्रहण करती हैं।

बोगार्डस के अनुसार, "विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की एक संस्था है।"[3]

स्पष्ट है कि **विवाह दो विषम-लिंगियों को पारिवारिक जीवन में प्रवेश करने की सामाजिक, धार्मिक अथवा कानूनी स्वीकृति है।** स्त्री-पुरुषों एवं बच्चों को विभिन्न सामाजिक एवं आर्थिक क्रियाओं में सहगामी बनाना, सन्तानोत्पत्ति करना तथा उनका लालन-पालन एवं समाजीकरण करना विवाह के प्रमुख कार्य हैं। विवाह के परिणामस्वरूप माता-पिता एवं बच्चों के बीच कई अधिकारों एवं दायित्वों का जन्म होता है।

हिन्दू विवाह की अवधारणा : अर्थ एवं परिभाषा
(CONCEPT OF HINDU MARRIAGE : MEANING AND DEFINITION)

उपर्युक्त परिभाषाएं विवाह को दो विषम-लिंगियों के बीच पाये जाने वाले यौन सम्बन्धों को सामाजिक एवं वैधानिक स्वीकृति के रूप में प्रकट करती हैं। इन सम्बन्धों के परिणामस्वरूप स्त्री-पुरुषों में पारस्परिक अधिकार एवं कर्तव्यों का उदय होता है।

किन्तु हिन्दुओं में विवाह को एक संस्कार के रूप में स्वीकार किया गया है। आध्यात्मिक प्रयोजनों से ही स्त्री-पुरुष परस्पर स्थायी सम्बन्धों में बंधते हैं। अन्य समाजों की भांति हिन्दू विवाह एक सामाजिक या दीवानी समझौता नहीं है। हिन्दुओं की मान्यता है कि विवाह संस्कार के पश्चात् ही मानव में नियमों के परिपालन की भावनाएं जागृत होती हैं। गृहस्थ आश्रम को स्वर्ग के समान माना गया है। हिन्दुओं में विवाह धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति, पुत्र-प्राप्ति, पारिवारिक सुख, सामाजिक एकता, पितृ-ऋण से मुक्ति, पुरुषार्थों की पूर्ति, आदि उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है।

डॉ. कापड़िया ने हिन्दू विवाह को एक संस्कार के रूप में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं, "हिन्दू विवाह एक संस्कार है।"[4] एक हिन्दू अपने जीवन में विभिन्न संस्कारों को सम्पन्न करता हुआ ही आगे बढ़ता है और अपने व्यक्तित्व को पूर्णतया प्रदान करता है। प्रत्येक हिन्दू से प्रतिदिन पंच-महायज्ञ करते रहने की अपेक्षा की गयी है और इन यज्ञों को पति-पत्नी

1 डब्ल्यू. एच. आर. रिवर्स, **सामाजिक संगठन**, हिन्दी अनुवाद, पृ. 29।
2 Westermark, *The History of Human Marriage*, Vol. I, p. 26.
3 "Marriage is an institution admitting men and women to Family life."
—E. S. Bogardus, *Sociology*, 1957, p. 75.
4 "Hindu Marriage is a Sacrament."
K. M. Kapadia, *Marriage and Family in India*, 1958, p. 168.

के सहयोग से पूरा करने की बात कही गयी है। हिन्दुओं के लिए विवाह एक आवश्यक संस्कार एवं कर्तव्य माना गया है। मेधातिथि के अनुसार, "विवाह कन्या को पत्नी बनाने के लिए एक निश्चित क्रम से की जाने वाली अनेक विधियों से सम्पन्न होने वाला पाणिग्रहण-संस्कार है, जिसकी अन्तिम विधि सप्तर्षि-दर्शन है।" हिन्दुओं में कामवासना को कभी भी विवाह में अधिक महत्व नहीं दिया गया। कापड़िया ने लिखा है, "विवाह प्राथमिक रूप से कर्तव्यों की पूर्ति के लिए होता है, इसलिए विवाह का मौलिक उद्देश्य धर्म था।" इस प्रकार हिन्दू विवाह स्त्री-पुरुष का पति-पत्नी के रूप में एक अलौकिक, अविच्छेद्य एवं शाश्वत मिलन है तथा इस पवित्र बन्धन को तोड़ना अधार्मिक है। हिन्दुओं में एक-विवाह को ही आदर्श माना गया है, अन्य प्रकार के विवाहों को नहीं।

हिन्दू विवाह के उद्देश्य
(AIMS OF HINDU MARRIAGE)

हिन्दुओं में विवाह धार्मिक एवं सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए एक आवश्यक कर्तव्य के रूप में स्वीकार किया गया है। हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में अनेक कारणों से विवाह का विशेष महत्व है; जैसे—विवाह के द्वारा ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है, ऋणों से मुक्ति प्राप्त करता है, पुरुषार्थों का निर्वाह करता है, समाज के प्रति अपने दायित्वों को निभाता है, विभिन्न प्रकार के संस्कारों को सम्पन्न करता है, यौन-सन्तुष्टि प्राप्त करता है, सन्तति को जन्म देता है और मोक्ष प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त करता है। हिन्दू विवाह के उद्देश्यों को बताते हुए डॉ. कापड़िया लिखते हैं, "हिन्दू विवाह के उद्देश्य धर्म, प्रजा (सन्तान) तथा रति (आनन्द) बतलाये गये हैं।" हम यहां हिन्दू विवाह के उद्देश्यों का उल्लेख करेंगे :

(1) धर्म या धार्मिक कार्यों की पूर्ति—हिन्दू विवाह में धर्म एवं धार्मिक कर्तव्यों की पूर्ति को सर्वोपरि स्थान दिया गया है। धार्मिक कार्यों की पूर्ति के लिए पत्नी का होना अनिवार्य है अन्यथा वे अपूर्ण ही माने जायेंगे। प्रत्येक गृहस्थ से यह अपेक्षा की जाती है कि वह प्रतिदिन ब्रह्मयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ एवं नृयज्ञ आदि पांच महायज्ञ करे। यज्ञ में पति एवं पत्नी दोनों का होना आवश्यक है। मर्यादा पुरुषोत्तम राम जब अश्वमेध यज्ञ करने लगे तो सीताजी की अनुपस्थिति के कारण यह सम्भव न हुआ, यज्ञ करने के लिए उन्हें सीताजी की सोने की प्रतिमा बनवानी पड़ी थी। याज्ञवल्क्य के अनुसार एक पत्नी के मरने पर तुरन्त दूसरा विवाह करना चाहिए अन्यथा धार्मिक कार्य सम्पन्न नहीं किये जा सकते। यही कारण है कि पत्नी को पुरुष की धर्म-पत्नी कहा जाता है।

(2) प्रजा अथवा पुत्र-प्राप्ति—विवाह का दूसरा उद्देश्य सन्तानोत्पत्ति माना गया है। हिन्दुओं में पुत्र का विशेष स्थान है, वही पिता के लिए तर्पण और पिण्डदान करता है, उसे मोक्ष दिलाता है। ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर पुत्र की आकांक्षा प्रकट की गयी है। पाणिग्रहण करते समय वर वधू को कहता है, "मैं उत्तम सन्तान प्राप्त करने के लिए तेरा पाणिग्रहण करता हूं।" विवाह के समय पुरोहित वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए दस पुत्र उत्पन्न करने का आदेश देते हैं। पितृ-ऋण से मुक्ति पाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति विवाह करके सन्तानों को जन्म दे। इस प्रकार हिन्दू विवाह में यशस्वी एवं दीर्घायु पुत्रों की प्राप्ति पर जोर दिया गया है। क्योंकि ऐसी सन्तान ही इस लोक और परलोक में सुख प्रदान करने वाली होती है। सन्तान पैदा करने पर ही वंश एवं समाज की निरन्तरता बनी रहती है।

(3) रति आनन्द—हिन्दू विवाह का तीसरा उद्देश्य यौन-सन्तुष्टि है। उपनिषदों में यौन सुख को सवसे बड़ा सुख कहा गया है। वात्स्यायन ने रति आनन्द की तुलना ब्रह्मानन्द से की है। इस प्रकार धर्मशास्त्रों में यौन इच्छाओं की पूर्ति को आवश्यक माना गया है किन्तु वह मनमाने ढंग से नहीं वरन् समाज द्वारा स्वीकृत तरीकों से होनी चाहिए। विवाह में रति आनन्द को तीसरा स्थान दिया गया है और इसका उद्देश्य उत्तम धार्मिक सन्तानों की प्राप्ति है।

हिन्दू विवाह के उपर्युक्त शास्त्र-सम्मत उद्देश्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य उद्देश्य इस प्रकार हैं :

(4) व्यक्तित्व का विकास—स्त्री और पुरुष के व्यक्तित्व के विकास के लिए विवाह आवश्यक है। विवाह के द्वारा व्यक्ति समाज में अनेक नवीन पद एवं भूमिकाएं ग्रहण करता है जिनके पालन से व्यक्तित्व विकसित होता है, नयी परिस्थितियों के अनुसार अपने को ढालने में समर्थ होता है। मनु कहते हैं कि मनुष्य अपूर्ण है जिसे विवाह ही पूर्णता प्रदान करता है। विवाह करके सन्तान उत्पन्न करने वाले व्यक्ति को ही शास्त्रों में पूर्ण पुरुष (Perfect man) की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार विवाह व्यक्तित्व के विकास एवं संगठन की दृष्टि से आवश्यक है।

(5) परिवार के प्रति दायित्वों का निर्वाह—विवाह के द्वारा व्यक्ति अपने पारिवारिक ऋण एवं दायित्वों का निर्वाह करता है। जिन माता-पिता ने उसे जन्म दिया, लालन-पालन कर बड़ा किया, शिक्षा प्रदान की व समाज में रहने योग्य प्राणी बनाया, उनकी वृद्धावस्था, बीमारी एवं संकट के समय सेवा-सुश्रूषा करना व्यक्ति का कर्तव्य है जिसकी पूर्ति विवाह द्वारा ही सम्भव है।

(6) समाज के प्रति कर्तव्यों का निर्वाह—व्यक्ति पर समाज का भी ऋण होता है। मृत व्यक्तियों के रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिए तथा ज्ञान, संस्कृति व सभ्यता की निरन्तरता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक है कि वह विवाह करे, नयी पीढ़ी को जन्म दे और समाज की निरन्तरता बनाये रखने में योग दे।

इस प्रकार हिन्दू विवाह धार्मिक कार्यों की पूर्ति, पुत्र-प्राप्ति, रति आनन्द, ऋणों से मुक्ति, पुरुषार्थों की पूर्ति, स्त्री-पुरुष के व्यक्तित्व का विकास, परिवार, समाज एवं समुदाय की निरन्तरता एवं उनके प्रति अपने दायित्वों का निर्वाह, आदि उद्देश्यों को अपने में समाये हुए है।

हिन्दू विवाह की प्रकृति (विशेषताएं) : हिंन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार के रूप में
(NATURE OF HINDU MARRIAGE : HINDU MARRIAGE AS A SACRAMENT)

हिन्दू विवाह की प्रकृति धार्मिक है। हिन्दू विवाह के उद्देश्यों एवं स्वरूपों का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि यह एक धार्मिक संस्कार है। कापड़िया ने लिखा है, "हिन्दू विवाह एक संस्कार है। यह पवित्र समझा जाता है क्योंकि यह तभी पूर्ण होता है जबकि यह पवित्र कृत्य पवित्र मन्त्रों के साथ किये जायं।" **संस्कार का तात्पर्य है व्यक्ति का शुद्धिकरण करना।** विवाह भी अनेक संस्कारों में से एक संस्कार माना गया है, यह गृहस्थाश्रम का द्वार है। अग्रांकित विशेषताएं हिन्दू विवाह को एक धार्मिक संस्कार के रूप में प्रकट करती हैं :

(1) विवाह का धार्मिक आधार—यदि हिन्दू विवाह के उद्देश्यों का विश्लेषण करें तो हम पायेंगे कि उसमें धर्म को प्रधानता दी गयी है। प्रत्येक हिन्दू के लिए प्रतिदिन पंच महायज्ञ करना आवश्यक है और ये यज्ञ बिना पत्नी के पूर्ण नहीं माने जाते। इस प्रकार विवाह एक हिन्दू के लिए आवश्यक धार्मिक कर्तव्य है। हिन्दू विवाह का दूसरा उद्देश्य पुत्र-प्राप्ति है क्योंकि वही पिण्डदान एवं तर्पण, आदि के द्वारा पितरों को नरक से बचाता है। रति को विवाह में सबसे निम्न स्थान दिया गया है। स्पष्ट है कि विवाह के उद्देश्य इसे एक धार्मिक संस्कार का रूप प्रदान करते हैं।

(2) विवाह की अविच्छेद्य प्रकृति—हिन्दू विवाह पति-पत्नी का जन्म-जन्मान्तर का पवित्र एवं अटूट बन्धन माना जाता है। ऐसी मान्यता है कि जो इस जन्म में पति-पत्नी हैं, वे अगले जन्म में भी फिर पति-पत्नी बनेंगे। भारतीय धर्मशास्त्रों में तलाक एवं परित्याग का कोई स्थान नहीं है।

(3) ऋणों से उऋण होने के लिए विवाह आवश्यक है—धर्मशास्त्रों में विवाह को स्वर्ग का द्वार माना गया है। विवाह के द्वारा ही व्यक्ति गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। गृहस्थ बनकर ही व्यक्ति अपने दैव-ऋण, पितृ-ऋण एवं ऋषि-ऋण से उऋण हो सकता है। वह धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, आदि पुरुषार्थों की पूर्ति भी विवाह द्वारा ही कर सकता है। विवाह को मनु स्वर्ग की सीढ़ी वताते हैं।

(4) पतिव्रत का आदर्श—एक हिन्दू स्त्री से यह अपेक्षा की जाती है कि वह पतिव्रत धर्म का पालन करे, स्वप्न में भी पर-पुरुष का चिन्तन नहीं करे। वह अपना जीवन पति के चरणों में पति की सेवा के लिए अर्पित कर दे। वह पति की हर सुख-सुविधा का ध्यान रखे। पति ही उसके लिए तीर्थ एवं ईश्वर है।

(5) स्त्री के लिए एकमात्र संस्कार—एक हिन्दू पुरुष अपने जीवन काल में अनेक प्रकार के संस्कार सम्पन्न करता है। इन संस्कारों से उसका शुद्धिकरण एवं व्यक्तित्व का विकास होता है। किन्तु स्त्री के जीवनकाल में विवाह ही एकमात्र संस्कार है, अन्य संस्कार उसके द्वारा सम्पन्न नहीं किये जा सकते।

(6) पत्नी के सम्बोधक शब्द—हिन्दुओं में पत्नी को सम्बोधित करने के लिए 'धर्म-पत्नी', 'सहधर्मचारिणी', आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है जिसका अर्थ है धार्मिक कार्यों में सहयोग प्रदान करने वाली। पत्नी ही पति के धार्मिक कार्यों को पूर्णता प्रदान करती है।

(7) धार्मिक अनुष्ठान एवं विधि-विधान—हिन्दू विवाह को एक संस्कार बनाने के लिए वे सारे अनुष्ठान और विधि-विधान भी हैं जो विवाह के दौरान किये जाते हैं। इन धार्मिक कृत्यों के अभाव में विवाह को पूर्ण नहीं माना जाता है। विवाह के दौरान सम्पन्न किये जाने वाले संस्कारों में होम, पाणिग्रहण, सप्तपदी, कन्यादान, अग्निपरिणयन, आदि प्रमुख हैं। पाणिग्रहण में वर-वधू दोनों एक-दूसरे का हाथ स्वीकार करते हैं। सप्तपदी में वर-वधू सात कदम साथ-साथ चलते हैं, कन्यादान में कन्या का पिता वर को कन्यादान करता है और दोनों ही अग्नि की साक्षी में अग्नि की परिक्रमा करते हैं।

(8) ब्राह्मणों की उपस्थिति—हिन्दू समाज व्यवस्था में ब्राह्मणों को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। विवाह कार्य उन्हीं के द्वारा सम्पन्न कराया जाता है। किसी कार्य में ब्राह्मण की उपस्थिति उस कार्य की पवित्रता एवं गरिमा को बढ़ाने वाली होती है।

(9) वेद-मन्त्रों का उच्चारण—विवाह के समय वैदिक रीति-रिवाजों का पालन और वैदिक मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। वेदों को हिन्दुओं में बहुत ही पवित्र माना जाता है और उनमें जो लिखा है, वह ईश्वर के मुख से निकले वाक्य माने जाते हैं। अतः वैदिक मन्त्रों का उच्चारण भी विवाह को धार्मिक संस्कार बनाते हैं।

(10) अग्नि की साक्षी—ब्राह्मणों एवं वेदों की भांति अग्नि को भी पवित्र माना गया है। उसकी साक्षी में ही वर-वधू विवाह बन्धन में बंधते हैं। साथ ही वर-वधू के सुखी एवं सम्पन्न जीवन के लिए अग्नि से कई प्रकार की प्रार्थनाएं भी की जाती हैं।

(11) कन्यादान—कन्यादान को धर्मशास्त्रों में श्रेष्ठ दान बताया गया है और इसे बहुत बड़ा पुण्य माना गया है। कन्या दान देना और लेना दोनों ही श्रेष्ठ कार्य हैं। यह कार्य ईश्वर, अग्नि और ब्राह्मण की साक्षी में किया जाता है अतः यह एक पवित्र एवं धार्मिक कार्य है। इस दृष्टि से भी हिन्दू विवाह एक संस्कार है।

(12) धार्मिक आदेशों एवं निषेधों का महत्व—हिन्दू विवाह में एक विवाहित जोड़े के लिए अनेक धार्मिक कार्य करने के आदेश दिये गये हैं; जैसे, विवाहित व्यक्ति को प्रतिदिन पंच महायज्ञ करना, दान देना, अतिथि सत्कार करना, ईश्वर का पूजा-पाठ करना, आदि। दूसरी ओर विवाह से सम्बन्धित कुछ निषेध भी हैं, जैसे एक व्यक्ति को अपने गोत्र, प्रवर एवं सपिण्डियों से तथा विजातीय लोगों से विवाह नहीं करना चाहिए। ऐसा करना अधार्मिक कार्य माना गया है।

उपर्युक्त सभी तथ्यों से हिन्दू विवाह की धार्मिक प्रकृति स्पष्ट हो जाती है। किन्तु वर्तमान में हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के पारित हो जाने के बाद हिन्दू विवाह की संस्कारात्मक प्रकृति समाप्त हो गई है और यह मात्र एक सामाजिक समझौता रह गया है। यद्यपि न्यायालय ने हिन्दू रीति से सम्पन्न विवाह को एक संस्कार के रूप में स्वीकार किया है फिर भी विवाह विच्छेद की स्वीकृति के कारण अब विवाह अटूट बन्धन नहीं रहा है।

हिन्दू विवाह के प्रकार (स्वरूप)
(FORMS OF HINDU MARRIAGE)

विवाह के स्वरूप से हमारा तात्पर्य विवाह बन्धन में बंधने की विभिन्न विधियों से है। मनुस्मृति में बताये गये हिन्दू विवाह के प्रमुख आठ स्वरूप इस प्रकार हैं :

(1) ब्राह्म विवाह—यह विवाह सभी प्रकार के विवाहों में श्रेष्ठ माना गया है। मनु ने ब्राह्म विवाह को परिभाषित करते हुए लिखा है, "वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर, वस्त्र एवं आभूषण, आदि से सुसज्जित कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्यादान करना ही ब्राह्म विवाह है।" **याज्ञवल्क्य** लिखते हैं, "ब्राह्म विवाह उसको कहते हैं जिसमें वर को बुलाकर अपनी शक्ति के अनुसार अलंकारों से अलंकृत कर कन्यादान दिया जाता है। ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र इक्कीस पीढ़ियों को पवित्र करने वाला होता है।"

(2) दैव विवाह—गौतम एवं याज्ञवल्क्य ने दैव विवाह के लक्षण का उल्लेख इस प्रकार किया है—वेदों में दक्षिणा देने के समय यह यज्ञ कराने वाले पुरोहित को अलंकारों से सुसज्जित कन्यादान ही 'दैव' विवाह है। मनु लिखते हैं, "सद्कर्म में लगे पुरोहित को जब वस्त्र और आभूषणों से सुसज्जित कन्या दी जाती है तो इसे दैव विवाह कहते हैं।" प्राचीन समय में यज्ञ और धार्मिक अनुष्ठानों का अधिक महत्व था। जो ऋषि अथवा पुरोहित इन पवित्र

धार्मिक कार्यों को सम्पन्न कराता यजमान उससे अपनी कन्या का विवाह कर देता था। वर्तमान समय में इस प्रकार के विवाह नहीं पाये जाते। दैव विवाह वैदिक यज्ञों के साथ-साथ लुप्त हो गये।

(3) आर्ष विवाह—इस प्रकार के विवाह में विवाह का इच्छुक वर कन्या के पिता को एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोड़े प्रदान करके विवाह करता है। याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि दो गाय लेकर जब कन्यादान किया जाये तब उसे आर्ष विवाह कहते हैं। मनु लिखते हैं, "गाय और बैल का एक युग्म वर के द्वारा धर्म कार्य हेतु कन्या के लिए देकर विधिवत कन्यादान करना आर्ष विवाह कहा जाता है।" आर्ष का सम्बन्ध ऋषि शब्द से है। जब कोई ऋषि किसी कन्या के पिता को गाय और बैल भेंट के रूप में देता था तो यह समझ लिया जाता था कि अब उसने विवाह करने का निश्चय कर लिया है। गाय व बैल भेंट करना भारत जैसे देश में पशुधन के महत्व को प्रकट करता है। बैल को धर्म का एवं गाय को पृथ्वी का प्रतीक माना गया है जो कि विवाह की साक्षी के रूप में दिये जाते थे।

(4) प्राजापत्य विवाह—प्राजापत्य विवाह भी ब्राह्म विवाह के समान होता है। इसमें लड़की का पिता आदेश देते हुए कहता है, "तुम दोनों एक साथ रहकर आजीवन धर्म का आचरण करो।" याज्ञवल्क्य कहते हैं कि इस प्रकार के विवाह से उत्पन्न सन्तान अपने वंश की बारह पीढ़ियों को पवित्र करने वाली होती है।

(5) असुर विवाह—मनु लिखते हैं, "कन्या के परिवार वालों एवं कन्या को अपनी शक्ति के अनुसार धन देकर अपनी इच्छा से कन्या को ग्रहण करना 'असुर विवाह' कहा जाता है।" याज्ञवल्क्य एवं गौतम का मत है कि अधिक धन देकर कन्या को ग्रहण करना असुर विवाह कहलाता है। कन्या मूल्य देकर सम्पन्न किये जाने वाले सभी विवाह असुर विवाह की श्रेणी में आते हैं। कन्या मूल्य देना कन्या का सम्मान करना है, साथ ही कन्या के परिवार को उसके चले जाने की क्षतिपूर्ति भी है।

(6) गान्धर्व विवाह—मनु कहते हैं, "कन्या और वर की इच्छा से पारस्परिक स्नेह द्वारा काम और मैथुन युक्त भावों से जो विवाह किया जाता है, उसे गान्धर्व विवाह कहते हैं।" याज्ञवल्क्य पारस्परिक स्नेह द्वारा होने वाले विवाह को गान्धर्व विवाह कहते हैं। प्राचीन समय में गान्धर्व नामक जाति द्वारा इस प्रकार के विवाह किये जाने के कारण ही ऐसे विवाहों का नाम गान्धर्व विवाह रखा गया है। वर्तमान में हम इसे प्रेम-विवाह के नाम से जानते हैं। वात्स्यायन ने अपने 'कामसूत्र' में इसे एक आदर्श विवाह माना है। दुष्यन्त का शकुन्तला के साथ गान्धर्व विवाह ही हुआ था।

(7) राक्षस विवाह—मनु कहते हैं, "मारकर, अंग-छेदन करके, घर को तोड़कर, हल्ला करती हुई, रोती हुई कन्या को बलात् हरण करके लाना 'राक्षस' विवाह कहा जाता है।" याज्ञवल्क्य लिखते हैं, युद्ध में कन्या का अपहरण करके उसके साथ विवाह करना ही राक्षस विवाह है। इस प्रकार के विवाह उस समय अधिक होते थे जब युद्धों का महत्व था और स्त्री को युद्ध का पुरस्कार माना जाता था। महाभारत काल में इस प्रकार के विवाह के अनेक उदाहरण मिलते हैं। भीष्म ने काशी के राजा को पराजित किया और उसकी लड़की अम्बा को अपने भाई विचित्रवीर्य के लिए उठा लाया। श्रीकृष्ण का रुक्मणी एवं अर्जुन का सुभद्रा के साथ भी इसी प्रकार का विवाह हुआ था। राक्षस विवाह में वर एवं वधू के पक्ष के बीच

परस्पर मारपीट एवं लड़ाई-झगड़ा होता है, इस प्रकार के विवाह क्षत्रियों में अधिक होने के कारण इसे 'क्षात्र-विवाह' भी कहा जाता है। आजकल इस प्रकार के विवाह अपवाद रूप में ही देखने को मिलते हैं।

(8) **पैशाच विवाह**—मनु कहते हैं, "सोयी हुई, उन्मत्त, घबराई हुई, मदिरा पान की हुई अथवा राह में जाती हुई लड़की के साथ बलपूर्वक कुकृत्य करने के बाद उससे विवाह करना पैशाच विवाह है।" इस प्रकार के विवाह को सबसे निकृष्ट कोटि का माना गया है। किन्तु इस प्रकार के विवाह को लड़की का दोष न होने के कारण तथा कौमार्य भंग हो जाने के बाद उसे सामाजिक बहिष्कार से बचाने एवं उसका सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिए ही स्वीकृति प्रदान की गयी है।

'सत्यार्थ प्रकाश' में 'ब्राह्म' विवाह को सर्वश्रेष्ठ, प्राजापत्य को मध्यम एवं आर्ष, असुर तथा गान्धर्व को निम्न कोटि का बताया गया है। राक्षस विवाह को तो अधम तथा पैशाच विवाह को महाभ्रष्ट माना गया है। **वर्तमान समय में हिन्दुओं में ब्राह्म, असुर, गान्धर्व एवं कहीं-कहीं पैशाच विवाह प्रचलित हैं।** दैव, आर्ष, प्राजापत्य एवं राक्षस विवाह पूर्णतः समाप्त हो चुके हैं। **डॉ. मजूमदार** कहते हैं, "हिन्दू समाज अब केवल दो स्वरूपों को मान्यता देता है—ब्राह्म तथा असुर। उच्च जातियों में पहले प्रकार का और निम्न जातियों में दूसरे प्रकार का विवाह प्रचलित है "यद्यपि उच्च जातियों में असुर प्रथा पूर्णतः नष्ट नहीं हुई है।" वर्तमान समय में पढ़े-लिखे लोगों में गान्धर्व विवाह जिसे हम प्रेम-विवाह कहते हैं, का भी प्रचलन है।

हिन्दू विवाह के निषेध (नियम)
(PROHIBITIONS OF HINDU MARRIAGE)

प्रत्येक समाज में विवाह से संम्बन्धित कुछ निषेध या नियम पाये जाते हैं। हिन्दू विवाह से सम्बन्धित सभी निषेधों या नियमों को हम **अन्तर्विवाह, बहिर्विवाह, अनुलोम** एवं **प्रतिलोम** आदि चार भागों में बांट सकते हैं। संक्षेप में, इनका हम यहां विवेचन करेंगे :

(I) अन्तर्विवाह (Endogamy)

अन्तर्विवाह का तात्पर्य है कि एक व्यक्ति अपने जीवन-साथी का चुनाव अपने ही समूह में से करे। वैदिक एवं उत्तर-वैदिक काल में द्विजों (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) का एक ही वर्ण था और द्विज वर्ण के लोग अपने वर्ण में ही विवाह करते थे। शूद्र वर्ण पृथक् था। स्मृतिकाल में अन्तर्वर्ण विवाहों को स्वीकृति प्रदान की गयी थी। लेकिन जब एक वर्ण कई जातियों एवं उपजातियों में विभक्त हुआ तो विवाह का दायरा सीमित होता गया और लोग अपनी ही जाति एवं उप-जाति में विवाह करने लगे और इसे ही अन्तर्विवाह माना जाने लगा। वर्तमान समय में एक व्यक्ति अपनी ही जाति, उपजाति, प्रजाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा एवं वर्ग के सदस्यों से ही विवाह करता है। **केतकर** ने तो कहा है कि "कुछ हिन्दू जातियां ऐसी हैं जो पन्द्रह परिवारों के बाहर विवाह नहीं करतीं।" एक तरफ हमें अन्तर्जातीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विवाह देखने को मिलते हैं वहीं दूसरी ओर अन्तर्विवाह के कारण विवाह का दायरा अत्यन्त संकुचित हो गया है।

अन्तर्विवाह के कारण—विवाह के क्षेत्र को इस प्रकार सीमित करने के कई कारक हैं। इनमें से प्रमुख अग्र प्रकार हैं :

(1) **प्रजाति मिश्रण पर रोक**—भारत में समय-समय पर कई प्रजातियों के लोग आये और उन्होंने अपने को किसी-न-किसी वर्ण में सम्मिलित कर लिया। अन्तर्जातीय मिश्रण को रोकने के लिए अन्तर्वर्ण विवाहों पर प्रतिबन्ध लगाये गये।

(2) **सांस्कृतिक भिन्नता**—आर्यों एवं द्रविड़ों तथा बाह्य आक्रमणकारियों की संस्कृति में पर्याप्त भिन्नता थी। प्रत्येक जाति और उप-जाति अपनी सांस्कृतिक विशेषता को बनाये रखना चाहती थी, अतः उन्होंने अन्तर्विवाह पर जोर दिया।

(3) **जन्म का महत्व**—प्रारम्भ में व्यक्ति को उसके कर्म के आधार पर आंका जाता था किन्तु धीरे-धीरे जन्म का महत्व बढ़ा और रक्त-शुद्धता की भावना ने जोर पकड़ा। फलस्वरूप अन्तर्विवाह पनपा।

(4) **जैन एवं बौद्ध धर्म का विकास**—ब्राह्मणवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के कारण जैन एवं बौद्ध धर्मों का उदय हुआ। इस कारण ब्राह्मणों की शक्ति में गिरावट आयी। किन्तु ज्यों ही इन दोनों धर्मों में शिथिलता आयी, ब्राह्मणों ने अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त करने के लिए कठोर जातीय नियम बनाये और अन्तर्विवाह के नियमों का कड़ाई से पालन किया जाने लगा।

(5) **मुसलमानों का आक्रमण**—मुसलमान आक्रमणकारियों ने हिन्दू लड़कियों से विवाह करने प्रारम्भ किये। इस स्थिति से बचने एवं अपने धर्म तथा संस्कृति की रक्षा के लिए हिन्दुओं ने अन्तर्विवाह को कठोर बना दिया।

(6) **बाल-विवाह**—मध्ययुग से ही जब बाल-विवाहों की वृद्धि हुई तो अन्तर्विवाह का पालन किया जाने लगा क्योंकि माता-पिता ही बच्चों का विवाह तय करते हैं तो वे जातीय नियमों के विरुद्ध विवाह की बात नहीं सोच पाते।

(7) **उपजातियों का क्षेत्रीय केन्द्रीकरण**—भौगोलिक दृष्टि से पृथक्-पृथक् क्षेत्रों में निवास तथा यातायात और संचार वाहन के साधनों के अभाव के कारण उपजातियों का पारस्परिक सम्पर्क सम्भव नहीं था। अतः एक क्षेत्र में निवास करने वाली उपजाति ने अपने ही सदस्यों से विवाह करने पर जोर दिया।

(8) **व्यावसायिक ज्ञान की सुरक्षा**—प्रत्येक जाति का एक परम्परात्मक व्यवसाय पाया जाता है। अपने व्यावसायिक ज्ञान को गुप्त रखने की इच्छा ने भी अन्तर्विवाह को प्रोत्साहन दिया।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त व्यक्ति का अपनी ही जाति के प्रति लगाव, जाति से बहिष्कृत किये जाने का डर तथा जाति पंचायत एवं ग्राम पंचायत द्वारा जातीय नियमों को कठोरता से लागू करने, आदि के कारण भी अन्तर्विवाह के नियमों का पालन उत्तरोत्तर बढ़ता गया। अन्तर्विवाह के इन नियमों से एक ओर हिन्दू समाज को कुछ लाभ प्राप्त हुए तो दूसरी ओर इससे कई हानियां भी हुई हैं। इससे लोगों के सम्पर्क का दायरा सीमित हो गया, संकीर्णता की भावना पनपी, पारस्परिक घृणा, दोष एवं कटुता की वृद्धि हुई, क्षेत्रीयता की भावना पनपी, जातिवाद बढ़ा, व्यावसायिक ज्ञान एक समूह तक ही सीमित हो गया। इन सभी के कारण भारतीय समाज की प्रगति अवरुद्ध हुई। किन्तु वर्तमान समय में नगरीयकरण, औद्योगीकरण, यातायात एवं संचारवाहन के साधनों के विकास एवं एकाकी परिवारों की स्थापना के कारण अन्तर्विवाह के नियम शिथिल होते जा रहे हैं। विवाह से

सम्बन्धित विधानों ने भी अन्तर्वर्ण एवं अन्तर्जातीय विवाहों को स्वीकृति प्रदान की है। फिर भी नैतिक शक्ति और सामाजिक बाध्यता इतनी प्रबल है कि हिन्दू अन्तर्विवाह के नियमों को पूर्णतः त्याग नहीं सकते।

(II) बहिर्विवाह (Exogamy)

बहिर्विवाह से तात्पर्य है कि एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है उससे बाहर विवाह करे। हिन्दुओं में बहिर्विवाह के नियमों के अनुसार एक व्यक्ति को अपने परिवार, गोत्र, प्रवर, पिण्ड एवं जाति के कुछ समूहों से बाहर विवाह करना चाहिए। हिन्दुओं में प्रचलित बहिर्विवाह के स्वरूपों का हम यहां संक्षेप में उल्लेख करेंगे :

(क) **गोत्र बहिर्विवाह**—हिन्दुओं में सगोत्र विवाह निषेध है। गोत्र का सामान्य अर्थ उन व्यक्तियों के समूह से है जिनकी उत्पत्ति एक ही ऋषि पूर्वज से हुई हो। 'सत्याषाढ़ हिरण्यकेशी श्रोतसूत्र' के अनुसार विश्वामित्र, जमदग्नि, भारद्वाज, गौतम, अत्रि, वशिष्ठ, कश्यप और अगस्त्य नामक आठ ऋषियों की सन्तानों को गोत्र के नाम से पुकारा गया। छान्दोग्य उपनिषद् में गोत्र शब्द का प्रयोग परिवार के अर्थ में हुआ है। गोत्र शब्द के तीन या चार अर्थ हैं; जैसे गौशाला, गायों का समूह, किला तथा पर्वत, आदि। इस प्रकार एक घेरे या स्थान पर रहने वाले लोगों में परस्पर विवाह वर्जित था। गोत्र का शाब्दिक अर्थ गो + त्र अर्थात् गायों के बांधने का स्थान (गौशाला या बाड़ा) अथवा गौपालन करने वाला समूह है। जिन लोगों की गायें एक स्थान पर बंधती थीं, उनमें नैतिक सम्बन्ध बन जाते थे और सम्भवतः वे रक्त सम्बन्धी भी होते थे, अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते थे। इस प्रकार एक गोत्र के सदस्यों द्वारा अपने गोत्र से बाहर विवाह करना ही गोत्र बहिर्विवाह कहलाता है।

स्मृतिकारों ने सगोत्र विवाह करने वालों के लिए अनेक दण्ड, प्रायश्चित एवं जाति से बहिष्कृत करने की व्यवस्था की है। ऐसे व्यक्ति को चाण्डाल की संज्ञा दी गयी है। वर्तमान में सभी जातियों में गोत्र पाये जाते हैं और वे गोत्र बहिर्विवाह के नियमों का पालन करते हैं। हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा वर्तमान में सगोत्र विवाह से प्रतिबन्ध हटा दिये गये हैं, किन्तु व्यवहार में आज भी इसका प्रचलन है।

(ख) **सप्रवर बहिर्विवाह**—गोत्र से सम्बन्धित ही एक शब्द है 'प्रवर' जिसका वैदिक इण्डेक्स के अनुसार शाब्दिक अर्थ है, "आह्वान करना"। पी. एच. प्रभु का मत है कि प्राचीन समय में अग्नि पूजा और हवन का प्रचलन था। हवन के लिए अग्नि प्रज्वलित करते समय पुरोहित अपने प्रसिद्ध ऋषि पूर्वजों का नामोच्चारण करता था। इस प्रकार समान पूर्वज और समान ऋषियों के नाम उच्चारण करने वाले व्यक्ति अपने को एक ही प्रवर से सम्बद्ध मानने लगे। एक प्रवर के व्यक्ति अपने को सामान्य ऋषि पूर्वजों से संस्कारात्मक एवं आध्यात्मिक रूप से सम्बन्धित मानते हैं अतः वे परस्पर विवाह नहीं करते।

प्रवर पहले केवल ब्राह्मणों के ही होते थे किन्तु बाद में क्षत्रियों एवं वैश्यों ने भी अपना लिये। शूद्रों के कोई प्रवर नहीं थे। वर्तमान समय में यज्ञों के प्रचलन एवं महत्व में कमी आ जाने के कारण प्रवर जैसी कोई संस्था नहीं है। हिन्दू विवाह अधिनियमों द्वारा 'सप्रवर' विवाह सम्बन्धी निषेधों को समाप्त कर दिया गया है।

(ग) **सपिण्ड बहिर्विवाह**—सप्रवर और सगोत्र बहिर्विवाह के नियम पितृ-पक्ष के सम्बन्धियों में विवाह की स्वीकृति नहीं देते। सपिण्ड विवाह निषेध के नियम मातृ एवं पितृ-पक्ष की कुछ

पीढ़ियों में विवाह पर रोक लगाते हैं। **कर्वे** सपिण्डता का अर्थ इस प्रकार बताती हैं—मृत व्यक्ति को पिण्ड दान देने वाले या उसके रक्त कण से सम्बन्धित। स्मृति में सपिण्ड का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—(i) वे सभी व्यक्ति सपिण्डी हैं जो एक व्यक्ति को पिण्ड दान करते हैं, (ii) मिताक्षरा के अनुसार वे सभी जो एक ही शरीर से पैदा हुए हैं, सपिण्डी हैं। विज्ञानेश्वर के अनुसार एक ही पिण्ड या देह रखने वालों में एक ही शरीर के अवयव होने के कारण सपिण्डता का सम्बन्ध होता है। पिता और पुत्र सपिण्डी हैं क्योंकि पिता के शरीर के अवयव पुत्र में आते हैं। इसी प्रकार से मां व सन्तानें, दादा-दादी एवं पोते भी सपिण्डी हैं। सपिण्ड विवाह भी निषिद्ध रहे हैं। वशिष्ठ ने पिता की ओर से सात व माता की ओर से पांच, गौतम ने पिता की ओर से आठ व माता की ओर से छः पीढ़ियों तक के लोगों से विवाह करने पर प्रतिबन्ध लगाया है। गौतम ने तो सपिण्ड विवाह करने वाले को प्रायश्चित करने एवं जाति से बहिष्कृत करने की बांत कही है।

(III) अनुलोम (कुलीन विवाह) (Hypergamy)

जब एक उच्च वर्ण, जाति, उपजाति, कुल एवं गोत्र के लड़के का विवाह ऐसी लड़की से किया जाय जिसका वर्ण, जाति, उपजाति, कुल एवं वंश लड़के से नीचा हो तो ऐसे विवाह को अनुलोम या कुलीन विवाह कहते हैं। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार के विवाह में लड़का उच्च सामाजिक समूह का होता है और लड़की निम्न सामाजिक समूह की। उदाहरण के लिए, एक ब्राह्मण लड़के का विवाह एक क्षत्रिय या वैश्य लड़की से होता है तो इसे हम अनुलोम विवाह कहेंगे। वैदिक काल से लेकर स्मृति काल तक अनुलोम विवाहों का प्रचलन रहा है। मनुस्मृति में लिखा है कि एक ब्राह्मण को अपने से निम्न तीन वर्णों—क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की कन्या से, क्षत्रिय को अपने से निम्न दो वर्णों—वैश्य एवं शूद्र कन्या से और वैश्य अपने वर्ण के अतिरिक्त शूद्र कन्या से भी विवाह कर सकता है। किन्तु मनु पाणिग्रहण संस्कार करने की स्वीकृति केवल सवर्ण विवाह के लिए ही देते हैं। **याज्ञवल्क्य** ने भी ब्राह्मण को चार, क्षत्रिय को तीन, वैश्य को दो एवं शूद्र को एक विवाह करने की बात कही है। मनु ने एक अन्य स्थान पर शूद्र कन्या से द्विज लड़के का विवाह अनुचित भी बताया है। ऐसे विवाह से द्विज का वर्ण दूषित हो जाता है, उसके परिवार का स्तर गिर जाता है और उसकी सन्तान को शूद्र की स्थिति प्राप्त होती है। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान को मनु 'पार्षव' (एक जीवित शव) की संज्ञा देते हैं तथा उसे सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता है। प्राचीन समय में अनुलोम विवाह का विस्तार वर्णों तक था। किन्तु जब वर्ण अनेक जातियों एवं उपजातियों में बंट गये और उनमें रक्त शुद्धता एवं ऊंच-नीच की भावना पनपी तथा जैन एवं बौद्ध धर्म का उदय हुआ तो कुलीन विवाह (Hypergamy) का प्रचलन हुआ। **कुलीन विवाह का तात्पर्य—एक जाति अथवा उप-जाति में विवाह करने पर वधू के लिए वर उच्च कुल या गोत्र से प्राप्त करने से है।** कुलीन विवाह का सर्वाधिक प्रचलन बंगाल में रहा है जहां उच्च कुल के लड़के का विवाह निम्न कुल की कई लड़कियों से होता था।

कुलीन या अनुलोम विवाह के प्रभाव (Impact of Hypergamy)

(1) उच्च कुलों में लड़कों की कमी—जब निम्न कुल की लड़कियों का विवाह उच्च कुल के लड़कों से किया जाता है तो इसके परिणामस्वरूप ऊंचे कुल की लड़कियों के लिए

लड़कों का अभाव हो जाता है और उन्हें अविवाहित ही रहना पड़ता है। (2) **नीचे कुलों में लड़कियों की कमी**—नीचे कुल के सभी लोग जब अपनी कन्या का विवाह उच्च कुल में कर देते हैं तो नीचे कुल के लड़कों के लिए कन्या का अभाव हो जाता है और कई लड़कों को अविवाहित ही रहना पड़ता है। (3) **बहुपति एवं बहुपत्नी विवाह का प्रचलन**—ऊंचे कुल के लड़के से नीचे कुल के सभी लोग अपनी कन्या का विवाह करना चाहते हैं। ऐसी स्थिति में उच्च कुल में बहुपत्नी विवाह का प्रचलन होगा, दूसरी ओर नीचे कुल में लड़कियों का अभाव होने पर बहुपति विवाह का प्रचलन होगा। (4) **वर-मूल्य प्रथा**—जब नीचे कुल वाले उच्च कुल के लड़कों को वर के रूप में प्राप्त करना चाहते हैं तो लड़कों का अभाव हो जाता है। ऐसी स्थिति में वर-मूल्य प्रथा का प्रचलन बढ़ जाता है। (5) **बेमेल विवाह**—अनुलोम विवाह के कारण ऊंचे कुल में लड़की का विवाह कभी-कभी प्रौढ़ या वृद्ध व्यक्ति के साथ भी कर दिया जाता है। बंगाल एवं बिहार में उच्च कुल के कई लड़कों के तो सौ तक पत्नियां होती थीं जिन्हें याद रखने के लिए रजिस्टर रखना होता था। कई बार तो वधू की आयु वर की पुत्री के बराबर होती थी। (6) **बाल-विधवाओं में वृद्धि**—अनुलोम विवाह के कारण उच्च कुल के पुरुषों के कई पत्नियां होती हैं। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु हो जाने पर समाज में बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ जाती है। (7) **बाल विवाह का प्रचलन**—अनुलोम विवाह में प्रत्येक पिता यह चाहता है कि उसकी कन्या का विवाह उच्च कुल के लड़के से हो अतः ज्योंही कोई योग्य वर मिला कि कन्या का विवाह करवा दिया जाता है। कई बार तो चार-पांच वर्ष से कम आयु की कन्याओं का भी विवाह कर दिया जाता है। (8) **कन्या-मूल का प्रचलन**—अनुलोम विवाह के कारण नीचे कुलों में कन्याओं का अभाव हो जाता है जिसके फलस्वरूप कन्या-मूल्य का प्रचलन होता है। (9) **सामाजिक बुराइयां**—अनुलोम विवाह प्रथा ने समाज में रूढ़िवादिता तथा सामाजिक, पारिवारिक एवं वैयक्तिक जीवन में अनेक समस्याओं को जन्म दिया है। निम्न कुल की लड़कियों का देर तक विवाह न होने पर समाज में भ्रष्टाचार व नैतिक पतन की समस्या पैदा होती है। कई कन्याएं तो जब उनके माता-पिता द्वारा वर-मूल्य नहीं जुटाया जाता तो वे सामाजिक निन्दा से तंग आकर आत्म-हत्या तक कर लेती हैं।

(IV) प्रतिलोम विवाह (Hypogamy)

अनुलोम विवाह का विपरीत रूप प्रतिलोम विवाह है। इस प्रकार के विवाह में लड़की उच्च वर्ण, जाति, उप-जाति, कुल या वंश की होती है और लड़का निम्न वर्ण, जाति, उप-जाति, कुल या वंश का। इसे परिभाषित करते हुए **कापड़िया** लिखते हैं, "एक निम्न वर्ण के व्यक्ति का उच्च वर्ण की स्त्री के साथ विवाह प्रतिलोम विवाह कहलाता था।" उदाहरण के लिए, यदि एक ब्राह्मण लड़की का विवाह किसी क्षत्रिय, वैश्य अथवा शूद्र लड़के से होता है तो ऐसे विवाह को हम प्रतिलोम विवाह कहेंगे। इस प्रकार के विवाह में स्त्री की स्थिति निम्न हो जाती है। स्मृतिकारों ने इस प्रकार के विवाह की कटु आलोचना की है। ऐसे विवाह से उत्पन्न सन्तान को 'चाण्डाल' अथवा 'निषाद' कहा जाता था। हिन्दू विवाह वैधता अधिनियम, 1949 एवं 1955 के हिन्दू विवाह अधिनियम में अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह दोनों को ही वैध माना गया है।

प्रश्न

1. हिन्दू विवाह के मुख्य उद्देश्य क्या हैं? इसे संस्कार क्यों माना गया है?
2. हिन्दू विवाह से सम्बन्धित निषेधों का वर्णन कीजिए।
3. हिन्दू विवाह के प्रकारों का वर्णन कीजिए तथा यह बताइए कि आधुनिक भारत में विवाह के कौन-कौन से प्रकार प्रचलित हैं?

   अथवा

   हिन्दू विवाह के विभिन्न प्रकारों का वर्णन करें।
4. 'अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।
5. अन्तर्विवाह तथा बहिर्विवाह का अन्तर स्पष्ट कीजिए। हिन्दू विवाह में यह दोनों निषेध किस सीमा तक पाये जाते हैं तथा इनका क्या महत्व है?
6. क्या हिन्दू विवाह एक संस्कार है या एक सामाजिक समझौता? स्पष्ट कीजिए।
7. निम्नांकित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
   (अ) अनुलोम विवाह, (ब) प्रतिलोम विवाह, (स) बहिर्विवाह, (द) अन्तर्विवाह।

8

परिवार
[FAMILY]

प्राणीशास्त्रीय सम्बन्धों के आधार पर बने हुए समूहों में परिवार सबसे छोटी इकाई है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी परिवार का सदस्य रहा है या है। "समाज में परिवार ही अत्यधिक महत्वपूर्ण समूह है।"[1] मानव की समस्त सामाजिक संस्थाओं में परिवार एक आधारभूत और सर्वव्यापी सामाजिक संस्था है। संस्कृति के सभी स्तरों में चाहे उन्हें उन्नत कहा जाय या निम्न, किसी न किसी प्रकार का पारिवारिक संगठन अनिवार्यतः पाया जाता है।[2] शारीरिक आवश्यकताओं एवं कामवासना की पूर्ति ने ही परिवार को जन्म दिया। परिवार ही नवजात शिशुओं एवं गर्भवती माताओं की देखभाल करता है, यौन सम्बन्धों एवं सन्तानोत्पत्ति का नियमन कर उन्हें सामाजिक मान्यता प्रदान करता है। यह भावात्मक घनिष्ठता का वातावरण प्रदान कर बच्चे के समुचित लालन-पालन, समाजीकरण और शिक्षण में योग देता है। यही नहीं बल्कि परिवार अपने सदस्यों की सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और राजनैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति में भी योग देता है। परिवार मानव जाति के आत्म-संरक्षण, वंशवर्धन और जातीय जीवन की निरन्तरता बनाये रखने का प्रमुख साधन है। मनुष्य मरणशील है, किन्तु मानव जाति अमर है। मृत्यु और अमरत्व इन दो विरोधी अवस्थाओं का समन्वय परिवार में ही हुआ है। मानव में सदैव जीवित रहने की इच्छा होती है। इसके लिए उसने अनन्त काल से अनेक उपाय किये, जड़ी-बूटियां ढूंढीं, रसायन और अमृत की खोज की, अनेक परीक्षण भी किये, किन्तु वह परिवार के अतिरिक्त इसका कोई अन्य हल नहीं खोज पाया। विवाह द्वारा परिवार का निर्माण कर सन्तानों के माध्यम से व्यक्ति का विस्तार होता है और वह मर कर भी अमर बना रहता है। मनुष्य को एक तरफ अपनी मृत्यु का दुःख है तो दूसरी तरफ उसे यह भी सन्तोष है कि वह परिवार द्वारा अपने वंशजों के रूप में अनन्त काल तक जीवित रहेगा। हमारे जीवन में जो कुछ भी सुन्दरता है, परिवार ने उसकी सुरक्षा की है, उसी ने मानव को सांस्कृतिक समृद्धि प्रदान की है। स्त्री और पुरुष दोनों ही परिवार के मूल हैं, नदी के दो तटों के समान हैं, जिनके बीच जीवन रूपी धारा का लगातार प्रवाह हो

1 MacIver and Page, *Society* (Hindi), p. 143.
2 श्यामाचरण दुबे, *मानव और संस्कृति*, पृ. 99।

रहा है। परिवार नये प्राणियों को जन्म देकर मृत्यु से रिक्त होने वाले स्थानों को भरता है तथा समाज की निरन्तरता बनाये रखता है। यही कारण है कि परिवार मानव के साथ प्रारम्भ से ही है। **मैलिनोवस्की** कहते हैं कि "परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है।"[1] **मरडॉक** ने 250 आदिम समाजों का अध्ययन करने पर पाया कि कोई भी समाज ऐसा नहीं था जिसमें परिवार रूपी संस्था की अनुपस्थिति हो। **परिवार की अवधारणा** को स्पष्ट समझने के लिए हम उसके अर्थ एवं परिभाषा पर यहां विचार करेंगे।

परिवार का अर्थ एवं परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF FAMILY)

'Family' शब्द का उद्‌गम लैटिन शब्द 'Famulus' से हुआ है, जो एक ऐसे समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें माता-पिता, बच्चे, नौकर और दास हों। साधारण अर्थों में विवाहित जोड़े को परिवार की संज्ञा दी जाती है, किन्तु समाजशास्त्रीय दृष्टि से यह परिवार शब्द का सही उपयोग नहीं है। परिवार में पति-पत्नी एवं बच्चों का होना आवश्यक है। इनमें से किसी भी एक के अभाव में हम उसे परिवार न कहकर गृहस्थ (Household) कहेंगे। यह सम्भव है कि परिवार एवं गृहस्थ के सदस्य एक ही हों। प्रत्येक परिवार एक गृहस्थ भी है, किन्तु सभी गृहस्थी परिवार नहीं हैं। परिवार की परिभाषाओं से यह बात और भी स्पष्ट हो जायेगी। विभिन्न विद्वानों ने परिवार को इस प्रकार से परिभाषित किया है :

मैकाइवर एवं पेज के अनुसार, "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।"[2]

डॉ. दुबे के अनुसार, "परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है, उनमें से कम से कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।"[3]

मरडॉक के अनुसार, "परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके लक्षण सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और जनन हैं। इसमें दो लिंगों के बालिग शामिल हैं जिनमें कम से कम दो व्यक्तियों में स्वीकृत यौन सम्बन्ध होता है और जिन बालिग व्यक्तियों में यौन सम्बन्ध है, उनके अपने या गोद लिये हुए एक या अधिक बच्चे होते हैं।"[4]

लूसी मेयर के अनुसार, "परिवार एक गृहस्थ समूह है जिसमें माता-पिता और सन्तान साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दम्पति और उसकी सन्तान रहती हैं।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि विभिन्न विद्वानों ने परिवार को विभिन्न दृष्टिकोणों से परिभाषित किया है। परिवार एक समूह, एक संघ और संस्था के रूप में समाज में विद्यमान है। प्रत्येक समाज में परिवार के दो पक्ष स्पष्ट होते हैं : एक, संरचनात्मक (Structural) एवं दूसरा, प्रकार्यात्मक (Functional)। अपने मूल रूप में **परिवार की संरचना** पति-पत्नी और

1 Malinowski, *Sex and Repression in Savage Society.*
2 MacIver and Page, *Society*, p. 238.
3 दुबे, पूर्व उद्धृत, पृ. 101।
4 Murdock, G. P., *Social Structure*, p. 1.
5 लूसी मेयर, सामाजिक नृ-विज्ञान की भूमिका, हिन्दी अनुवाद, पृ. 89।

बच्चों से मिलकर बनी होती है। इस दृष्टि से प्रत्येक परिवार में कम से कम तीन प्रकार के सम्बन्ध विद्यमान होते हैं :

(i) पति-पत्नी के सम्बन्ध (Husband-wife relation)।

(ii) माता-पिता एवं बच्चों के सम्बन्ध (Parents-children relation)।

(iii) भाई-बहिनों के सम्बन्ध (Siblings relation)।

प्रथम प्रकार का सम्बन्ध वैवाहिक सम्बन्ध (affinal relation) होता है जबकि दूसरे एवं तीसरे प्रकार के सम्बन्ध रक्त सम्बन्ध (blood relation) होते हैं। इसी आधार पर परिवार के सदस्य परस्पर नातेदार भी हैं। स्पष्ट है कि एक परिवार में वैवाहिक एवं रक्त सम्बन्धों का पाया जाना आवश्यक है। इन सम्बन्धों के अभाव में परिवार का निर्माण सम्भव नहीं है।

प्रकार्यात्मक दृष्टि से परिवार का निर्माण कुछ मूल उद्देश्यों की पूर्ति के लिए किया जाता है। परिवार का उद्देश्य यौन सम्बन्धों का नियमन करना, सन्तानोत्पत्ति करना, उनका लालन-पालन, शिक्षण व समाजीकरण करना एवं उन्हें आर्थिक सामाजिक और मानसिक संरक्षण प्रदान करना है। इन प्रकार्यों की पूर्ति के लिए परिवार के सदस्य परस्पर अधिकारों एवं कर्तव्यों से बंधे होते हैं। परिवार की सांस्कृतिक विशेषता यह है कि परिवार समाज की संस्कृति की रचना, सुरक्षा, हस्तान्तरण एवं संवर्धन में योग देता है।

संक्षेप में, हम परिवार को जैविकीय सम्बन्धों पर आधारित एक सामाजिक समूह के रूप में परिभाषित कर सकते हैं जिसमें माता-पिता और बच्चे होते हैं तथा जिसका उद्देश्य अपने सदस्यों के लिए सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग, यौन-सन्तुष्टि और प्रजनन, समाजीकरण और शिक्षण, आदि की सुविधाएं जुटाना है।

परिवार की विशेषताएं
(CHARACTERISTICS OF THE FAMILY)

मैकाइवर एवं पेज ने परिवार की कुछ ऐसी सामान्य विशेषताओं का उल्लेख किया है जो सभी समाजों में सभी समयों में पायी जाती हैं।

(i) **विवाह सम्बन्ध**—प्रत्येक परिवार विवाह के बाद ही अस्तित्व में आता है।

(ii) **विवाह का एक स्वरूप**—प्रत्येक समाज में विवाह का एक स्वरूप प्रचलित होता है जो एक विवाह, बहुपत्नी विवाह या बहुपति विवाह, आदि हो सकता है।

(iii) **वंशनाम**—परिवार में बच्चों के नामकरण की भी एक व्यवस्था होती है। बच्चे या तो पिता के नाम से जाने जाते हैं या माता के नाम से।

(iv) **अर्थव्यवस्था**—प्रत्येक परिवार में अपने सदस्यों के भरण-पोषण के लिए कोई-न-कोई आर्थिक क्रिया अवश्य पायी जाती है।

(v) **सामान्य निवास**—प्रत्येक परिवार के सदस्य एक स्थान पर निवास करते हैं, जिसे वे 'घर' कहते हैं।

मैकाइवर एवं पेज ने परिवार की कुछ विशिष्ट विशेषताओं का भी उल्लेख किया है :

(i) **सार्वभौमिक**—परिवार रूपी संस्था सभी कालों एवं सभी स्थानों पर पायी जाती है।

(ii) **भावात्मक आधार**—परिवार के सदस्यों में परस्पर भावात्मक सम्बन्ध होते हैं, उनमें प्रेम, सहयोग, बलिदान एवं सहिष्णुता के भाव पाये जाते हैं।

(iii) **रचनात्मक प्रभाव**—बच्चा परिवार में ही अच्छी और बुरी बातें सीखता है। उसके व्यक्तित्व का निर्माण करने में परिवार का प्रभाव सर्वोपरि है।

(iv) **केन्द्रीय स्थिति**—सामाजिक संरचना में परिवार की केन्द्रीय स्थिति है। कई परिवारों से मिल कर ही वंश, गोत्र, उप-जाति, जाति, समुदाय एवं समाज बनता है।

(v) **सदस्यों का उत्तरदायित्व**—अन्य संघों एवं संस्थाओं की अपेक्षा परिवार का अपने सदस्यों के प्रति अधिक एवं महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व है।

(vi) **सीमित आकार**—परिवार की सदस्यता जैविक होने के कारण परिवार के सदस्यों की संख्या सीमित होती है, अन्य संगठनों की तरह हजारों में नहीं होती।

(vii) **सामाजिक नियमन**—प्रथाओं एवं परम्पराओं द्वारा प्रत्येक परिवार अपने सदस्यों पर नियन्त्रण रखता है और समाज व्यवस्था को बनाये रखने में सहयोग देता है।

(viii) **परिवार की स्थायी और अस्थायी प्रकृति**—संस्था के रूप में परिवार स्थायी है, आदि काल से चला आ रहा है, किन्तु संघ के रूप में व्यक्तिगत परिवार सदस्यों की मृत्यु होने पर समाप्त भी होते रहते हैं।

भारत में परिवार के प्रकार
(TYPES OF FAMILY IN INDIA)

मानव समाज के विकास के साथ-साथ परिवार के भी अनेक रूप अस्तित्व में आये हैं। प्रत्येक स्थान की भौगोलिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिस्थितियों ने भिन्न-भिन्न प्रकार की परिवार-व्यवस्था को जन्म दिया है। सदस्यों की संख्या, विवाह का स्वरूप, स्त्री-पुरुष की सत्ता, निवास, वंशनाम, आदि के आधार पर परिवार का वर्गीकरण किया जाता है। भारत में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के परिवारों का वर्गीकरण इस प्रकार से है :

1. संख्या के आधार पर— (क) केन्द्रीय परिवार या नाभिक परिवार
(ख) संयुक्त परिवार
(ग) विस्तृत परिवार

2. निवास के आधार पर— (क) पितृ-स्थानीय परिवार
(ख) मातृ-स्थानीय परिवार
(ग) नव-स्थानीय परिवार
(घ) मातृ-पितृ स्थानीय परिवार
(च) मामा-स्थानीय परिवार
(छ) द्वि-स्थानीय परिवार

3. अधिकार के आधार पर— (क) पितृ-सत्तात्मक परिवार
(ख) मातृ-सत्तात्मक परिवार

4. उत्तराधिकार के आधार पर— (क) पितृ-मार्गी परिवार
(ख) मातृ-मार्गी परिवार

5. वंशनाम के आधार पर— (क) पितृ-वंशीय परिवार
(ख) मातृ-वंशीय परिवार
(ग) उभयवाही परिवार
(घ) द्वि-नामी परिवार
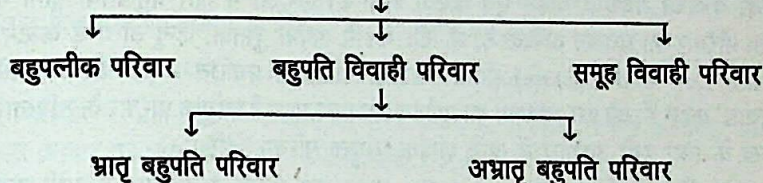
(I) संख्या के आधार पर परिवार (On the basis of Numbers)

(क) केन्द्रीय परिवार या नाभिक परिवार (Nuclear Family)—इस प्रकार के परिवार आधुनिक औद्योगिक समाजों की प्रमुख विशेषता है। औद्योगीकरण और नगरीकरण के बढ़ने के साथ-साथ इस प्रकार के परिवारों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। जहां कृषि प्रधान समाजों में संयुक्त परिवार व्यवस्था की प्रधानता पायी जाती रही है, वहीं औद्योगिक समाजों में केन्द्रीय या नाभिक परिवारों की। आज की बदलती हुई परिस्थितियों में परिवार की संयुक्तता को बनाये रखना कठिन हो गया है। आधुनिक सभ्यता एवं संस्कृति के प्रसार तथा भौतिकवादी एवं व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के विकास ने एकाकी परिवारों को बढ़ाने में विशेष योग दिया है। आज व्यक्ति नाते-रिश्तेदारों की दृष्टि से विशेष न सोचकर अपनी पत्नी तथा बच्चों के दृष्टिकोण से ही सोचता है। यही कारण है कि संयुक्त परिवार में रहने वाले बहुत-से लोग आज एकाकी या नाभिक परिवार स्थापित करने की दृष्टि से सोचते हैं।

केन्द्रीय या नाभिक परिवार, परिवार का सबसे छोटा रूप है जो एक पुरुष, स्त्री तथा उसके आश्रित बच्चों से मिलकर बना होता है। इस प्रकार के परिवार में अन्य रिश्तेदारों को सम्मिलित नहीं किया जाता। इसमें बच्चे भी अविवाहित रहने तक ही रहते हैं। विवाह के बाद वे अपना स्वयं का नाभिक परिवार बना लेते हैं। इस प्रकार की परिवार व्यवस्था अनेक जनजातियों में भी देखने को मिलती है। ऐसे परिवार में सदस्य भावात्मक आधार पर एक-दूसरे से घनिष्ठ रूप से जुड़े होते हैं। ऐसे परिवारों का आकार बहुत ही सीमित होता है और इनका बच्चों के जीवन पर काफी रचनात्मक प्रभाव पड़ता है। आज अधिकांश देशों में परिवार में परिवर्तन की प्रवृत्ति संयुक्तता से नाभिकता की ओर है। भारत में हुए विभिन्न अध्ययन भी इसी बात की पुष्टि करते हैं।

(ख) संयुक्त परिवार (Joint Family)—एक संयुक्त परिवार में तीन या तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ-साथ एक ही घर में निवास करते हैं, उनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है, वे एक ही रसोई का बना भोजन करते हैं, सामूहिक पूजा में भाग लेते हैं और परस्पर किसी न किसी नातेदारी व्यवस्था से सम्बन्धित होते हैं। संयुक्त परिवार के सदस्य परस्पर अधिकारों व दायित्वों को निभाते हैं। दुबे कहते हैं, "यदि कई मूल परिवार एक साथ रहते हों और उनमें निकट का नाता हो, एक स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई

के रूप में कार्य करते हों तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।"[1] एक संयुक्त परिवार में दादा-दादी, माता-पिता, चाचा-चाची, चचेरे भाई एवं उनकी पत्नियां व बच्चे, विधवा बहिनें एवं बेटियां होती हैं। हिन्दुओं में और प्रमुखतया ग्रामों में संयुक्त परिवार का प्रचलन अधिक है। जे. डी. मेन ने अपनी पुस्तक 'हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम' (*Hindu Law and Custom*) में मालाबार के नायरों में प्रचलित संयुक्त परिवार जिसे 'थारवाड' कहते हैं, को इस व्यवस्था का पूर्णतम उदाहरण माना है। संयुक्त परिवार के सविस्तार उल्लेख के लिए इसी अध्याय में आगे शीर्षक 'संयुक्त परिवार' देखिए।

(ग) **विस्तृत परिवार** (Extended Family)—इस प्रकार के परिवार में सभी रक्त सम्बन्धी एवं कुछ अन्य सम्बन्धी भी सम्मिलित होते हैं। ये एकपक्षीय (मातृ पक्ष या पितृ पक्ष) या द्वि-पक्षीय भी हो सकते हैं। ऐसे परिवारों में सम्बन्ध व रिश्तेदारी का भीं ठीक-ठीक ज्ञान नहीं हो पाता। ऐसे परिवारों के सदस्यों की संख्या बहुत अधिक होती है, इन सभी सदस्यों का निवास स्थान और कार्य एक ही होता है और वे परिवार के मुखिया को सम्मान की दृष्टि से देखते हैं। दुबे के अनुसार विस्तारित परिवार की संज्ञा उस परिवार संकुल को दी जाती है जो वंशानुक्रम से सम्बद्ध होते हुए भी अपनी भिन्न-भिन्न इकाइयों के रूप में परिवारों में बंटा हुआ हो।[2]

(II) निवास के आधार पर (On the basis of Residence)

विवाह के बाद दम्पति का निवास स्थान कहां हो, इस आधार पर भी परिवारों का वर्गीकरण किया गया है जो इस प्रकार से है :

(क) **पितृ-स्थानीय** (Patrilocal) **परिवार**—यदि विवाह के बाद पत्नी अपने पति एवं पति के माता-पिता के साथ रहने लगती हो तो उसे हम पितृ-स्थानीय परिवार कहते हैं। हिन्दुओं में, मुसलमानों में एवं भील, खरिया तथा कई पितृ-वंशीय परिवारों में यह प्रथा पायी जाती है।

(ख) **मातृ-स्थानीय** (Matrilocal) **परिवार**—इसके विपरीत जब विवाहोपरान्त पति पत्नी के साथ पत्नी के माता-पिता के निवास-स्थान पर रहने लगता है तो उसे मातृ-स्थानीय परिवार कहते हैं। इस प्रकार के परिवार भारत में मालाबार के नायरों, खासी व गारो जनजातियों में देखने को मिलते हैं।

(ग) **नव-स्थानीय** (Neo-local) **परिवार**—परिवार में पति-पत्नी विवाह के बाद न तो पति पक्ष के लोगों के साथ और न पत्नी पक्ष के लोगों के साथ ही रहते हैं वरन् अपना अलग नया घर बना कर रहते हैं, उसे नव-स्थानीय परिवार कहते हैं।

(घ) **मातृ-पितृ स्थानीय** (Biolocal) **परिवार**—कई समाजों में नवविवाहित दम्पति पति या पत्नी में से किसी एक के ही साथ रहने को बाध्य नहीं होते वरन् दोनों में से किसी के भी साथ रहते हैं। ऐसे परिवार को मातृ-पितृ स्थानीय परिवार कहते हैं।

(च) **मामा-स्थानीय** (Avanculocal) **परिवार**—जिसमें नवविवाहित दम्पति पति की मां के भाई अर्थात् माता के परिवार में जाकर रहने लगते हैं। ट्रोब्रियाण्डा द्वीपवासियों में यह प्रथा प्रचलित है कि विवाह के बाद भानजा अपनी पत्नी सहित माता के यहां रहने चला जाता है। भारत में मांतृवंशीय परिवारों में कभी इस प्रकार के परिवार का प्रचलन था।

1 डॉ. श्यामाचरण दुबे, **मानव और संस्कृति**, 1969, पृ. 113।
2 डॉ. दुबे, पूर्व उद्धृत।

(छ) **द्वि-स्थानीय (Duolocal) परिवार**—कुछ स्थानों पर ऐसे भी परिवार हैं जहां विवाह के बाद पति-पत्नी अपने-अपने जन्म के परिवारों में ही रहते हैं। लक्षद्वीप, केरल और अशांटी जनजाति में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। पति रात्रि को अपनी पत्नी के घर जाता है परन्तु दिन वह अपने जन्म के परिवार में ही व्यतीत करता है।

(III) अधिकार के आधार पर (On the basis of Authority)

परिवार में माता-पिता में से किस की सत्ता चलती है या किसे अधिक अधिकार प्राप्त हैं, इस आधार पर परिवारों को दो भागों में बांटा गया है :

(क) **पितृ सत्तात्मक (Patriarchal) परिवार**—ऐसे परिवारों में सत्ता एवं अधिकार पिता व पुरुषों के हाथ में होते हैं, ये ही परिवार का नियन्त्रण करते हैं।

(ख) **मातृ सत्तात्मक (Matriarchal) परिवार**—ऐसे परिवारों में पितृ सत्तात्मक के विपरीत माता में या स्त्री में ही अधिकार तथा सत्ता निहित होती है, वही पारिवारिक नियन्त्रण बनाये रखने का कार्य करती है। कभी-कभी कोई पुरुष भी उसकी तरफ से यह कार्य कर सकता है। कहीं पर स्त्रियों को ये अधिकार वास्तविक हैं तो कहीं नाममात्र के। भारत में नायर, खासी, गारो, आदि लोगों में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

(IV) उत्तराधिकार के आधार पर (On the basis of Succession)

अधिकार की तरह एक ही परिवारों में सन्तानों को पद, आदि दिये जाने का क्रम भी पितृ पक्ष से पुत्रों को या मातृ पक्ष से लड़कियों को दिया जा सकता है। इस आधार पर भी परिवार दो प्रकार के पाये जाते हैं :

(क) **पितृमार्गी (Patrilateral) परिवार**—ऐसे परिवार में उत्तराधिकार के नियम पितृ पक्ष के आधार पर तय किये जाते हैं।

(ख) **मातृमार्गी (Matrilateral) परिवार**—इसमें उत्तराधिकार के नियम मातृ पक्ष के आधार पर तय किये जाते हैं।

(V) वंशनाम के आधार पर (On the basis of Lineage)

परिवारों का वर्गीकरण वंशनाम के आधार पर भी किया जाता है। वंशनाम के नियम एक व्यक्ति को जन्म से ही किसी विशिष्ट सम्बन्धी समूह से सम्बद्ध कर देते हैं।

(क) **पितृवंशीय परिवार (Patrilineal Family)**—ऐसे परिवारों में वंश परम्परा पिता के नाम से चलती है। पुत्रों को पिता का ही वंशनाम प्राप्त होता है। हिन्दुओं में परिवार पितृवंशीय हैं।

(ख) **मातृवंशीय परिवार (Matrilineal Family)**—ऐसे परिवार में वंश परम्परा मां के नाम से चलती है और मां से पुत्रियों को वंशनाम मिलते हैं। मालाबार के नायरों में यही प्रथा है।

(ग) **उभयवाही परिवार**—कुछ परिवारों में वंश परिचय वंशानुगत सम्बन्ध पर निर्भर न होकर सभी निकट के सम्बन्धियों पर समान रूप से आधारित होता है। ऐसे समाजों में पैतृक व मातृक दोनों वंशनाम परम्पराएं साथ-साथ चलती हैं। उभयवाही परिवारों में एक व्यक्ति अपने दादा-दादी एवं नाना-नानी चारों सम्बन्धियों से समान रूप से सम्बद्ध रहता है।

(घ) **द्विनामी परिवार**—ऐसे परिवारों में एक व्यक्ति एक ही समय में अपने दादा और नानी से सम्बद्ध रहता है। अन्य दो सम्बन्धी (दादा और नाना) छोड़ दिये जाते हैं। यह भी उभयवाही वंश का ही एक रूप है।

(VI) विवाह के आधार पर (On the basis of Marriage)

किसी समाज में प्रचलित विवाह की रीति के आधार पर निर्मित परिवारों को हम प्रमुखतः दो भागों में बांट सकते हैं—**प्रथम**, एक-विवाही परिवार एवं **द्वितीय**, बहु-विवाही परिवार। इनके भी उपभाग हैं, जिनका उल्लेख यहां किया जा रहा है :

(क) **एक-विवाही परिवार (Monogamous Family)**—एक विवाही परिवार एक पुरुष व एक स्त्री के सम्मिलन से बनता है। इसमें पति-पत्नी एवं उनके अविवाहित बच्चे होते हैं। एक विवाही परिवार में पुरुष को एक समय में विवाह तो एक ही स्त्री से करने दिया जाता है, किन्तु पत्नी की मृत्यु के बाद पुरुष व पुरुष की मृत्यु के बाद स्त्री पुनः विवाह कर सकते हैं। इसी प्रकार से तलाक हो जाने के बाद भी स्त्री व पुरुष को पुनः विवाह की स्वीकृति मिल जाती है।

(ख) **बहु-विवाही परिवार (Polygamous Family)**—ऐसे परिवारों में एक समय में एक से अधिक जीवन-साथी स्वीकृत होते हैं। इसके अनेक रूप हैं :

(i) **बहु-पत्नीक परिवार (Polygynous Family)**—जब एक पुरुष को एक समय में एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करने की स्वीकृति होती है तो उसे बहुपत्नीक परिवार कहते हैं। मुसलमानों में एक पुरुष को चार तक पत्नियां रखने की स्वीकृति है। भारत में नागा, बैगा तथा गौंड जनजातियों में बहुपत्नीक परिवार पाये जाते हैं।

(ii) **बहुपति-विवाही परिवार (Polyandrous Family)**—जहां एक स्त्री एक समय में एक से अधिक पुरुषों से विवाह करती हो तो उसे बहुपति-विवाही परिवार कहते हैं। इसके भी दो रूप हैं—एक वह जिसमें सभी भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं, इसे भ्रातृ बहुपति परिवार (Adelphic Polyandrous Family) कहते हैं द्वितीय, अभ्रातृ बहुपति परिवार (Non-adelphic Polyandrous Family) जिसमें पति एक-दूसरे के भाई न होकर अन्य रिश्तेदार भी हो सकते हैं। इस प्रकार के परिवार जौनसार बाबर के खस, नीलगिरि के टोडा एवं मालाबार के नायर लोगों में तथा तिब्बत में पाये जाते हैं।

(ग) **समूह-विवाही परिवार (Punaluan Family)**—जब कई भाई या कई पुरुष मिलकर स्त्रियों के एक समूह से विवाह करें और सब पुरुष सब स्त्रियों के समान रूप से पति हों तो वह समूह-विवाही परिवार कहलाता है।

(VII) परिवार के कुछ अन्य स्वरूप (Some other Forms of Family)

(क) **जन्म मूलक परिवार (Family of Origin or Orientation)**—वह परिवार जिसमें एक व्यक्ति जन्म लेता है तथा उसका पालन-पोषण होता है, जन्म-मूलक परिवार कहा जाता है। ऐसे परिवार में व्यक्ति के माता-पिता एवं अविवाहित भाई-बहिन, आदि होते हैं।

(ख) **प्रजनन मूलक परिवार (Family of Procreation)**—ऐसे परिवार का निर्माण व्यक्ति विवाह के बाद स्वयं करता है। इसमें एक पुरुष, उसकी पत्नी एवं उसके अविवाहित बच्चे होते हैं।

(ग) **समरक्त परिवार** (Consanguine Family)—लिण्टन ने परिवार के दो प्रकार बताये हैं—समरक्त परिवार एवं विवाह सम्बन्धी परिवार। समरक्त परिवार में सभी सदस्य रक्त से सम्बन्धी होते हैं और कोई भी विवाह सम्बन्धी उसमें नहीं रहता। उदाहरण के लिए, नायर परिवार जो कि मातृ सत्तात्मक है, में पति यदा-कदा ही अपनी पत्नी के यहां आकर रहता है। अधिकांशतः एक स्त्री के सभी वंशज ही उसमें रहते हैं।

(घ) **विवाह सम्बन्धी परिवार** (Affinal Family)—ऐसे परिवारों में रक्त सम्बन्धी एवं विवाह सम्बन्धी दोनों ही साथ-साथ रहते हैं, किन्तु मुख्य जोर रक्त सम्बन्ध पर ही दिया है।

संयुक्त परिवार
(JOINT FAMILY)

भारतीय सामाजिक संरचना की एक विशेषता के रूप में यहां संयुक्त परिवार का प्राचीन काल से ही महत्व रहा है। हिन्दुओं के अलावा अहिन्दू लोगों में भी संयुक्त प्रकार की पारिवारिक व्यवस्था पायी जाती रही है। सामान्यतः संयुक्त परिवार हिन्दुओं का विशिष्ट लक्षण माना जाता है। वास्तव में, यह भारतवर्ष में सर्वत्र ही प्रचलित है क्योंकि यह हिन्दुओं की भांति अनेक अहिन्दू समुदायों में भी पाया जाता है। वह पारिवारिक संगठन जिसका हम यहां वर्णन करना चाहते हैं, कुछ समुदायों में पितृसत्तात्मक है और कुछ में मातृसत्तात्मक अथवा मातृवंशीय है। भारत में परिवार का शास्त्रीय स्वरूप संयुक्त परिवार रहा है। ऐसा हिन्दुओं की कुछ पवित्र पुस्तकों में उल्लेखित है तथा सदियों पुरानी इस भूमि पर यह स्वरूप प्रचलित रहा है। भारतीयों के लिए परिवार का वही अर्थ है जो अंग्रेजी के 'ज्वाइण्ट फैमिली' (Joint Family) से लिया जाता है, नाभिक परिवार भारतीय अवधारणा नहीं हैं। कर्वे का भी मत है कि "यहां (भारत में) परिवार का अर्थ संयुक्त परिवार से ही है।" भारतीय धर्म, दर्शन, अर्थ-व्यवस्था, जाति-प्रथा, वर्ण एवं आश्रम व्यवस्था यहां के सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग हैं। इन सभी में परिवार एक महत्वपूर्ण संस्था है। यह हिन्दू संस्कृति का संचालक सूत्र रहा है। हिन्दुओं में विवाह एवं परिवार को धर्म का अंग माना गया है। गृहस्थ आश्रम सभी आश्रमों का मूल कहा गया है। हमारे धर्मशास्त्रों में जहां एक ओर संन्यासी जीवन एवं संसार त्याग की बात कही गयी है, वहीं गृहस्थ जीवन की उपयोगिता के भी गुणगान किये गये हैं। वैदिक काल से लेकर अब तक भारत में संयुक्त परिवार प्रणाली रही है, चाहे इसके स्वरूप और संरचना में परिवर्तन आते रहे हों।

संयुक्त परिवार का अर्थ एवं परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF JOINT FAMILY)

संयुक्त परिवार में सामान्यतः उन सभी व्यक्तियों को सम्मिलित किया जाता है जो एक सामान्य पूर्वज की सन्तान होते हैं। भोजन, पूजा और सम्पत्ति की दृष्टि से भी वे संयुक्त होते हैं। विभिन्न विद्वानों ने संयुक्त परिवार की परिभाषा इस प्रकार दी है :

इरावती कर्वे के अनुसार, "एक संयुक्त परिवार ऐसे व्यक्तियों का एक समूह है जो सामान्यतः एक ही घर में रहते हैं, जो एक ही रसोई में बना भोजन करते हैं, जो सम्पत्ति

के सम्मिलित स्वामी होते हैं व जो सामान्य पूजा में भाग लेते हैं और जो किसी-न-किसी प्रकार से एक-दूसरे के रक्त सम्बन्धी हों।"[1]

आई. पी. देसाई के अनुसार, "हम उस गृह को संयुक्त परिवार कहते हैं जिसमें एकाकी परिवार से अधिक पीढ़ियों (अर्थात् तीन या अधिक) के सदस्य रहते हैं और जिसके सदस्य एक-दूसरे से सम्पत्ति, आय और पारस्परिक अधिकारों तथा कर्तव्यों द्वारा सम्बद्ध हों।"[2]

डॉ. दुबे के अनुसार, "यदि कई मूल-परिवार एक साथ रहते हों और उनमें निकट का नाता हो, एक ही स्थान पर भोजन करते हों और एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करते हों, तो उन्हें उनके सम्मिलित रूप में संयुक्त परिवार कहा जा सकता है।"[3] जौली के अनुसार, "न केवल माता-पिता तथा सन्तान, भाई तथा सौतेले भाई सामान्य सम्पत्ति पर रहते हैं, बल्कि कभी-कभी इनमें कई पीढ़ियों तक की सन्तानें, पूर्वज तथा समानान्तर सम्बन्धी भी सम्मिलित रहते हैं।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर हम कह सकते हैं कि **"संयुक्त परिवार ऐसे परिवार हैं जिनमें कई पीढ़ी के लोग एक साथ निवास करते हैं अथवा एक ही पीढ़ी के सभी भाई अपनी पत्नियों, विवाहित बच्चों तथा अन्य सम्बन्धियों के साथ सामूहिक रूप से निवास करते हैं जिनकी सम्पत्ति सामूहिक होती है। परिवार के सभी सदस्य भोजन, उत्सव, त्यौहार और पूजन में सामूहिक रूप से भाग लेते हैं और परस्पर अधिकारों और कर्तव्यों से बंधे होते हैं।"**

संयुक्त परिवार की विशेषताएं (लक्षण)
(CHARACTERISTICS OF JOINT FAMILY)

संयुक्त परिवार के अर्थ को और अधिक स्पष्ट करने के लिए हम यहां उसकी विशेषताओं का उल्लेख करेंगे :

(1) **सामान्य निवास**—संयुक्त परिवार में कई छोटे-छोटे परिवार होते हैं और इसके सदस्य एक ही निवास-स्थान पर रहते हैं जिसे वे 'बड़ा घर' कहते हैं। प्रत्येक छोटे परिवार के लिए एक या दो कमरे अलग हो सकते हैं, परन्तु रसोई और पूजा, आदि के लिए सामान्य कमरा ही होता है। जब कभी सदस्यों की संख्या अधिक हो जाती है तो कोई भी अपने बच्चों सहित पैतृक निवास के पास ही अलग घर बना कर रहने लगता है, किन्तु वे अपने को 'बड़े घर' के सदस्यों से अलग नहीं समझते। पूजा, त्यौहार एवं उत्सव, आदि के अवसर पर सभी सदस्य पैतृक घर में ही एकत्रित होते हैं।

(2) **सामान्य रसोईघर**—संयुक्त परिवार के सभी सदस्य एक ही रसोईघर में बना भोजन करते हैं। कर्त्ता या अन्य बड़े पुरुष की पत्नी अन्य स्त्रियों की रसोई के कार्यों की देखभाल करती हैं। ऐसे परिवार में भोजन करने की भी कुछ प्रथाएं होती हैं जो बच्चों के समाजीकरण में योग देती हैं। किस अवसर पर क्या भोजन बनेगा, इसका निर्धारण भी परिवार की वयोवृद्ध स्त्री करती है।

---

1 Dr. I. Karve, *Kinship Organization in India*, p. 10.
2 I. P. Desai, 'The Joint Family in India' in *Sociological Bulletin*, Vol. V, No. 2, Sept. 1956, p.148.
3 डॉ. दुबे, मानव और संस्कृति, पृ. 113।
4 Jolly, *Hindu Law and Custom*, p. 178.

(3) सामान्य सम्पत्ति—संयुक्त परिवार के सभी सदस्यों की एक सामान्य सम्पत्ति होती है जिसमें सभी पुरुष जो एक पूर्वज के वंशज होते हैं, हिस्सेदार होते हैं। सभी सदस्य कमाकर परिवार के सामान्य कोष में देते हैं तथा जन्म, विवाह और मृत्यु, आदि के अवसर पर सामूहिक कोष में से ही खर्च किया जाता है। परिवार का सबसे बड़ा पुरुष ही इस अर्थव्यवस्था को संभालता है।

(4) सामान्य पूजा या धार्मिक कर्तव्य—हिन्दुओं में परमेश्वर के अनेक रूप माने गये हैं। प्रत्येक परिवार का कोई न कोई देवी-देवता होता है, पितर होते हैं जो उस परिवार के सदस्यों की रक्षा करते हैं। हिन्दुओं में धर्म एक महत्वपूर्ण तथ्य है। जीवन की सभी महत्वपूर्ण घटनाएं धार्मिक कार्यों से ही प्रारम्भ होती हैं। धार्मिक कार्य पैतृक सम्पत्ति में उत्तराधिकार की दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है। मृत व्यक्ति का पिण्ड दान करने वाला, श्राद्ध और तर्पण करने वाला ही उसका उत्तराधिकारी होता है। हिन्दुओं में अग्नि पूजा का भी विशेष महत्व होता है। वह घर की रक्षा करती है, पुत्र और सम्पत्तिदायिनी है। वेदों में अग्नि से प्रार्थना की गयी है कि 'हे अग्नि! हमें पुत्रों से फलता-फूलता घर दे।' इस प्रकार अग्नि पूजा और पितर पूजा परिवार को संयुक्त बनाये रखने में महत्वपूर्ण योग देते हैं। गृह सूत्र में कहा गया है कि हिन्दू परिवार केवल जीवित सदस्यों का ही निवास-स्थान नहीं है बल्कि यह गृह देवता अग्नि के संरक्षण में रहने वाले पूर्वजों का भी निवास है।

(5) रक्त सम्बन्ध से सम्बन्धित—परिवार के सभी सदस्य परस्पर रक्त सम्बन्धी होते हैं किन्तु पत्नियां विवाह सम्बन्धी होती हैं। पितृसत्तात्मक परिवारों के सम्बन्धों की गणना पितृ-पक्ष से की जाती है तथा मातृसत्तात्मक परिवार में मातृ-पक्ष से। एक संयुक्त परिवार में तीन या अधिक पीढ़ी के लोग सामूहिक रूप से निवास करते हैं।

(6) बड़ा आकार—एक संयुक्त परिवार में कई छोटे-छोटे परिवार होते हैं तथा तीन या अधिक पीढ़ियों के लोग साथ-साथ रहते हैं। अतः इसका आकार नाभिक अर्थात् एकाकी परिवारों से बड़ा होता है। कभी-कभी तो इसके सदस्यों की संख्या 50-60 तक हो जाती है।

(7) अधिकार और दायित्व—देसाई का मत है कि संयुक्त परिवार के सदस्य परस्पर अधिकार और कर्तव्यों से जुड़े होते हैं। परिवार में छोटा व्यक्ति बड़ों के प्रति अपने कर्तव्यों का पालन करता है तो बड़ा अपने अधिकारों का प्रयोग करता है। बीमारी, वृद्धावस्था और दुर्घटना के अवसर पर सेवा-सुश्रूषा की जाती है। जन्म, विवाह एवं मृत्यु के अवसर पर एक-दूसरे को आर्थिक सहयोग प्रदान किया जाता है।

(8) सामान्य सामाजिक प्रकार्य—कापड़िया ने संयुक्त परिवार में सामान्य सामाजिक कार्यों को महत्वपूर्ण माना है, अर्थात् सभी सामाजिक कार्यों के लिए परिवार को एक व्यक्ति माना है और उसका प्रतिनिधि ही सारे परिवार की तरफ से भाग लेता है जो अधिकांशतः मुखिया होता है, चाहे वह जाति-पंचायत की सभा हो या किसी के यहां विवाह, मृत्यु-भोज या उत्सव, आदि में सम्मिलित होना हो।

(9) परिवार का मुखिया—संयुक्त परिवार में कर्त्ता का मुख्य स्थान है। हिन्दुओं में वह परिवार का वयोवृद्ध पुरुष होता है। वही विवाह, उत्सव, सम्पत्ति तथा घर के महत्वपूर्ण एवं बाहरी कार्यों का निर्धारण करता है। उसकी आज्ञा का सभी पालन करते हैं एवं वही अनुशासन

और एकता बनाये रखता है। उसकी सत्ता निरंकुश है, परन्तु वह सभी के साथ प्रेम, समानता एवं स्नेह का व्यवहार करता है क्योंकि इसी आधार पर संयुक्तता बनी रहती है।

(10) **सहयोगी व्यवस्था**—संयुक्त परिवार पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। इसके अभाव में सदस्यों का विभाजन हो जाता है। संयुक्त परिवार में **'एक सब के लिए और सब एक के लिए'** वाला सिद्धान्त लागू होता है। इस तरह से यह एक समाजवादी व्यवस्था है।

(11) **सदस्यों में एक निश्चित संस्तरण**—संयुक्त परिवार में सदस्यों को विभिन्न पद और अधिकार प्राप्त होते हैं। इन पदों में संस्तरण पाया जाता है। इस संस्तरण में सर्वोच्च स्थान कर्ता अर्थात् मुखिया का होता है और उसके बाद कर्त्ता की पत्नी, फिर क्रमशः कर्ता के भाई, कर्ता के सबसे बड़े पुत्र, छोटे पुत्र-पुत्रियों, पत्नियों, आदि का होता है।

(12) **तुलनात्मक स्थायित्व**—संयुक्त परिवार अन्य परिवारों की तुलना में अधिक स्थायी होता है क्योंकि इसकी सदस्य संख्या अधिक होती है। अतः कुछ सदस्यों के अलग हो जाने तथा मर जाने पर भी परिवार में स्थायित्व बना रहता है। सदस्य परस्पर अपने दायित्वों का निर्वाह कर परिवार की स्थिरता को बनाये रखते हैं। ऐसे परिवार में आर्थिक सहयोग के कारण भी स्थिरता बनी रहती है। साथ ही पीढ़ी-दर-पीढ़ी पारिवारिक संस्कृति का हस्तान्तरण भी होता रहता है। अतः संयुक्त परिवार अन्य प्रकार के परिवारों की तुलना में अधिक स्थिर और स्थायी है।

संयुक्त परिवार के प्रकार
(FORMS OF JOINT FAMILY)

भारत में संयुक्त परिवार के अनेक रूप विद्यमान हैं। सत्ता, वंश, स्थान, पीढ़ियों की गहराई व सम्पत्ति में अधिकार, आदि की दृष्टि से परिवार के निम्नांकित रूप पाये जाते हैं :

(I) सत्ता, वंश एवं स्थान के आधार पर

(1) **पितृसत्तात्मक, पितृवंशीय एवं पितृस्थानीय परिवार** (Patriarchal, Patrilineal and Patrilocal Family)—उपर्युक्त प्रकार के संयुक्त परिवार में पिता ही परिवार का केन्द्र-बिन्दु होता है अर्थात् इस प्रकार के परिवारों में पिता का स्थान प्रमुख होता है तथा वंश परम्परा का चलन उसी के नाम के आधार पर होता है। ऐसे परिवारों में पत्नियां अपने पति के घर पर ही आकर निवास करती हैं एवं पुरुष पक्ष के तीन-चार पीढ़ियों के सदस्य एक साथ निवास करते हैं। ऐसे परिवारों में सम्पत्ति का हस्तान्तरण पिता द्वारा पुत्र को होता है। भारतवर्ष में हमें अधिकतर हिन्दुओं में इसी प्रकार के संयुक्त परिवार देखने को मिलेंगे।

(2) **मातृसत्तात्मक, मातृवंशीय एवं मातृस्थानीय परिवार** (Matriarchal, Matrilineal and Matrilocal Family)—इस प्रकार के परिवार में हमें माता का प्रमुख स्थान देखने को मिलेगा। परिवार की सम्पत्ति पर मां का स्वामित्व होता है एवं उत्तराधिकार माता से पुत्रियों को ही मिलता है। वंश परम्परा के चलन का आधार भी माता ही होती है अर्थात् 'वंश नाम' माता से पुत्रियों को हस्तगत होता है। इस प्रकार के संयुक्त परिवार में हमें एक स्त्री, उसके भाई, उसकी बहिनें तथा परिवार की सभी स्त्रियों के बच्चे निवास करते हुए मिलेंगे। नायर, गारो एवं खासी लोगों में इस प्रकार के परिवार पाये जाते हैं। नायर लोगों में मातृसत्तात्मक परिवार ही पाये जाते हैं।

(II) पीढ़ियों की गहराई के आधार पर

(अ) **संयुक्त परिवार का उदग्र (Vertical) प्रारूप**—इस प्रकार के संयुक्त परिवारों में एक ही वंश के कम से कम तीन पीढ़ियों के लोग एक साथ निवास करते हैं, जैसे दादा, पिता, अविवाहित पुत्री और पुत्र। डॉ. आई. पी. देसाई ने ऐसे ही परिवार को संयुक्त परिवार माना है।

(ब) **संयुक्त परिवार का क्षैतिज (Horizontal) प्रारूप**—इस प्रकार के परिवारों में भाई का सम्बन्ध अधिक महत्वपूर्ण है अर्थात् ऐसे परिवारों में दो से अधिक भाइयों के एकाकी परिवार एक साथ निवास करते हैं।

(स) **संयुक्त परिवार का मिश्रित (Mixed) प्रारूप**—संयुक्त परिवार का एक रूप उपर्युक्त दोनों प्रकार के परिवारों का मिश्रित रूप है जिसमें दो या तीन पीढ़ियों के सभी भाई सम्मिलित रूप से निवास करते हैं।

(III) सम्पत्ति में अधिकार की दृष्टि से

सम्पत्ति में अधिकार की दृष्टि से हिन्दू संयुक्त परिवार को मिताक्षरा एवं दायभाग दो भागों में बांटा गया है :

(i) **मिताक्षरा संयुक्त परिवार**—यह विज्ञानेश्वर द्वारा लिखित 'मिताक्षरा टीका' नामक पुस्तक में उल्लेखित नियमों पर आधारित है। बंगाल और असम को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में मिताक्षरा संयुक्त परिवार पाये जाते हैं। इस प्रकार के परिवारों की मुख्य विशेषताएं हैं—(क) पुत्र को जन्म से ही पिता की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त हो जाता है। (ख) स्त्रियों को सम्पत्ति में कोई अधिकार नहीं होता है। (ग) एक व्यक्ति की मृत्यु होने पर यदि उसके कोई पुत्र, पौत्र या प्रपौत्र नहीं है तो उसकी सम्पत्ति उसके भाई आपस में बांट लेंगे। स्त्री को स्त्री धन के अतिरिक्त कोई सम्पत्ति नहीं दी जायगी। (घ) पुत्र पिता के जीवित रहते भी कभी भी अपने हिस्से की मांग कर सकते हैं। (च) सम्पत्ति पर पिता का सीमित अधिकार है, वह विशेष ऋणों एवं धार्मिक कार्यों के लिए संयुक्त सम्पत्ति को बेच सकता है, किन्तु दूसरे साझेदार अपने साझेदारों को पूछे बिना सम्पत्ति को स्वेच्छा से विनियोग नहीं कर सकते हैं।

(ii) **दायभाग संयुक्त परिवार**—इस प्रकार के परिवार से सम्बन्धित नियम जीमूतवाहन द्वारा लिखित दायभाग ग्रन्थ पर आधारित हैं। इस प्रकार के परिवार बंगाल एवं असम में पाये जाते हैं। इनकी मुख्य विशेषताएं हैं—(क) पिता के मरने के बाद ही पुत्र का सम्पत्ति पर अधिकार होता है। (ख) पिता के जीवित रहते हुए पुत्र सम्पत्ति के बंटवारे की मांग नहीं कर सकता है। (ग) पिता सम्पत्ति का निरंकुश अधिकारी होता है। वह अपनी सम्पत्ति को मनमाने ढंग से खर्च कर सकता है। पुत्रों का उसमें भरण-पोषण के अतिरिक्त कोई अधिकार नहीं होता है। (घ) पिता के मरने पर पुत्र न होने पर उसकी सम्पत्ति उसकी पत्नी को मिलती है। (च) इसमें पुरुष के साथ-साथ स्त्रियां भी सम्पत्ति में उत्तराधिकारिणी होती हैं।

एक लम्बे समय से सम्पत्ति की दृष्टि से हिन्दू संयुक्त परिवार उपर्युक्त दो भागों में बंटा हुआ था, किन्तु सन् 1956 के **'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम'** ने यह भेद समाप्त कर सारे देश में एक-सी व्यवस्था लागू कर दी है और स्त्री-पुरुषों को सम्पत्ति में समान अधिकार प्रदान किये हैं।

संयुक्त परिवार के प्रकार्य (लाभ)
[FUNCTIONS (MERITS) OF JOINT FAMILY]

संयुक्त परिवार भारतीय समाज की अत्यन्त प्राचीन एवं महत्वपूर्ण संस्था है। यह संस्था भारतवर्ष में एक लम्बे समय से चली आ रही है। किसी भी संस्था का एक लम्बे समय से प्रचलन इस बात का द्योतक है कि वह संस्था समाज के लिए उपयोगी है। यह संस्था प्रमुखतया कृषि-प्रधान एवं ग्रामीण समाजों में तो बहुत ही उपयोगी रही है। **कर्वे** इसे एक छोटी-मोटी दुनियां मानती हैं, जिसके सदस्यों में पारस्परिक सहयोग रहा है। भारतीय समाज में संयुक्त परिवार महत्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा है। संयुक्त परिवार के महत्वपूर्ण कार्य इस प्रकार हैं:

(1) **शासन सम्बन्धी**—भारतीय गांवों का सामाजिक संगठन जटिल नहीं है। यहां पर व्यक्ति की अपेक्षा परिवार को अधिक महत्व दिया जाता है और परिवार का प्रतिनिधित्व परिवार का 'कर्ता' करता है। इस प्रकार से कर्ता परिवार का शासक है, कर्ता का परिवार पर एकाधिकार होता है। परिवार के समस्त कार्य उसी के द्वारा निर्देशित होते हैं।

(2) **धार्मिक कार्य**—प्रत्येक परिवार की अपनी कुल देवी या देवता होते हैं और उसके गुरु अथवा पुरोहित होते हैं। सभी सदस्यों का उनमें अगाध विश्वास होता है। ये यथायोग्य उनकी पूजा-उपासना करते हैं। इस प्रकार आध्यात्मवाद को प्रोत्साहन मिलता है। धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति तथा त्यौहारों व धार्मिक उत्सवों को मनाने हेतु सभी सदस्यों का सम्मिलन होता है।

(3) **मार्ग दर्शन**—संयुक्त परिवार में सभी प्रकार के स्त्री-पुरुष निवास करते हैं। परिवार में वयोवृद्ध व्यक्तियों का विशेष स्थान होता है क्योंकि उनके जीवन में अनेक उतार-चढ़ाव आये होते हैं और वे युवा सदस्यों की अपेक्षा अधिक अनुभवी होते हैं। वे अपने अनुभवों के आधार पर भावी पीढ़ी को निर्देशित करते हैं। विकट परिस्थिति में जब युवा सदस्य अपना धैर्य खो बैठते हैं और निराशा के घोर अन्धकार में गोते लगाते हैं तब वे अनुभवी सदस्य ही उनके पथ-प्रदर्शक के रूप में कार्य करते हैं।

(4) **मनोरंजन**—संयुक्त परिवार में सदस्यों की अधिकता के कारण यह मनोरंजन की सस्ती व पर्याप्त स्थली है। सारे समय परिवार में मनोरंजन का वातावरण व चहल-पहल बनी रहती है। कर्वे कहती हैं कि संयुक्त परिवार में हर समय कुछ-न-कुछ होता ही रहता है। कभी किसी लड़के या लड़की की शादी है तो कभी नामकरण संस्कार का उत्सव हो रहा है। कभी नयी दुल्हन से पहली बार भोजन बनवाने की रस्म करवायी जा रही है तो कभी परिवार में व्रत और श्राद्ध है तो कभी किसी का जन्म-दिन मनाया जा रहा है। ऐसे परिवार में अतिथियों का आवागमन भी बना रहता है। कभी बहू को लेने उसका भाई आया हुआ है तो कभी लड़की को मैके बुलाने के लिए भी जाना पड़ता है। देवर-भाभी की हंसी-मजाक, ननद-भौजाई की नोंक-झोंक, बच्चों की किलकारियां, देवरानी-जिठानी के प्रतिस्पर्द्धात्मक झगड़े, आदि मनोरंजन का वातावरण प्रस्तुत करते हैं।

(5) **बच्चों के लालन-पालन में योगदान**—संयुक्त परिवार बच्चों के लालन-पालन हेतु एक उचित स्थान है। संयुक्त परिवार में वयोवृद्ध स्त्री-पुरुष बच्चों की देखरेख में सहयोग प्रदान करते हैं तथा उनके समाजीकरण एवं प्रशिक्षण में योग देते हैं। सद्गुण, सेवा, त्याग, सहानुभूति, प्रेम, सहयोग और परोपकार, आदि भावनाओं को बच्चा परिवार में ही सीखता है।

(6) धन का उचित उपयोग—संयुक्त परिवार में एक सामान्य कोष होता है। सामान्य कोष में से ही सदस्यों की आवश्यकता के अनुसार चाहे कोई सदस्य कमाता हो अथवा नहीं, धन खर्च किया जाता है। कर्ता के नियन्त्रण के द्वारा अनावश्यक खर्चों से बचा जाता है।

(7) सम्पत्ति के विभाजन से बचाव—संयुक्त परिवार में चूंकि सभी सदस्य सम्मिलित रहते हैं, इसलिए वहां सम्पत्ति के विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस प्रकार संयुक्त सम्पत्ति का उपयोग व्यापार अथवा किसी धन्धे में करके सम्पत्ति में और अधिक बढ़ोत्तरी की जा सकती है।

(8) श्रम विभाजन—संयुक्त परिवार में श्रम-विभाजन दो आधारों पर किया जाता है प्रथम, यौन के आधार पर एवं द्वितीय, आयु के आधार पर। परिवार के पुरुषों पर बाह्य कार्य एवं परिवार की स्त्रियों पर आन्तरिक कार्यों की जिम्मेदारी होती है। परिवार के सभी सदस्य अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार कोई न कोई कार्य अवश्य ही करते हैं।

(9) संकट का बीमा—प्रत्येक मनुष्य के जीवन में सुख के साथ-साथ दुःख भी पाये जाते हैं। ये दुःख किसी भी प्रकार के हो सकते हैं, जैसे कोई दुर्घटना, बीमारी, शारीरिक अथवा मानसिक अस्वस्थता, नौकरी छूट जाना तथा वैधव्य, आदि। इन सभी अवस्थाओं में संयुक्त परिवार एक सहारे के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होता है। संयुक्त परिवार अनाथ बच्चों, विधवाओं तथा वृद्ध व्यक्तियों की शरण-स्थली है जो अपने सदस्यों को यथासम्भव आर्थिक सुरक्षा प्रदान कर चिन्ता से मुक्ति दिलाता है।

(10) संस्कृति की रक्षा—संयुक्त परिवार में ही वह प्रेरक शक्तियां विद्यमान रही हैं जो व्यक्ति को प्राचीन प्रथाओं एवं परम्पराओं, रूढ़ियों तथा सामाजिक मान्यताओं के अनुसार आचरण करने को प्रेरित करती हैं। भारतीय संयुक्त परिवार परिवर्तन और नवीनीकरण के प्रारम्भ से ही विरोधी रहे हैं, इसलिए इन्होंने इन सांस्कृतिक विशेषताओं को ज्यों-का-ज्यों भावी पीढ़ी को हस्तान्तरित कर संस्कृति की स्थिरता बनाये रखने में अपना विशेष योग दिया है।

(11) अनुशासन एवं नियन्त्रण—संयुक्त परिवार में कर्ता का प्रमुख स्थान है। परिवार के समस्त कार्य उसी के द्वारा निर्देशित होते हैं। अतः परिवार के सभी सदस्य उसके नियन्त्रण में रहते हैं और इस प्रकार परिवार में अनुशासन भी बना रहता है। कर्ता अपनी शक्तियों के माध्यम से परिवार के सदस्यों के स्वच्छन्द आचरण पर रोक लगाता है।

(12) राष्ट्रीय एकता एवं देश-सेवा—संयुक्त परिवार की संरचना ही कुछ इस प्रकार की है कि व्यक्ति उसमें स्वतः ही त्याग, प्रेम, सहानुभूति, सहयोग, आदि सीखता है। इन भावनाओं के कारण राष्ट्रीय एकता को बल मिलता है। संयुक्त परिवार में रहकर कुछ सदस्य अपना जीवन देश-सेवा में भी लगा सकते हैं क्योंकि परिवार में सदस्यों की संख्या अधिक होने से वे पारिवारिक दायित्वों से मुक्त हो सकते हैं। वे सार्वजनिक कल्याणकारी कार्य, समाज-सेवा और देश-सेवा के कार्य में अपने को लगा देते हैं।

(13) सामाजिक सुरक्षा—संयुक्त परिवार व्यक्ति को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है, भारत में हिन्दुओं में बाल-विवाह के प्रचलन के कारण जब तक वर-वधू आत्मनिर्भर नहीं होते तब तक उनका भरण-पोषण संयुक्त परिवार द्वारा ही किया जाता है। संयुक्त परिवार अनाथों, वृद्धों, विधवाओं और परित्यक्ताओं की एक उत्तम शरण-स्थली है जो उन्हें उचित सामाजिक

सुरक्षा प्रदान करता है। संकटकालीन परिस्थितियों में परिवार के सदस्यों की देख-रेख व भरण-पोषण का कार्य करना संयुक्त परिवार का नैतिक दायित्व है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि संयुक्त परिवार अपने आप में एक ऐसा समुदाय है जो एक व्यक्ति की सभी भौतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। हमारे समाज में संयुक्त परिवार का इतना अधिक महत्व है कि इसके सम्मुख अन्य नागरिक इकाइयां (यहां तक कि राज्य भी) महत्वहीन हो जाती हैं। कर्वे के अनुसार एक व्यक्ति की पाप की सारी कमाई, चाहे दूसरे व्यक्तियों से या राज्य से गबन की गयी हो, विशाल संयुक्त परिवार अथवा वृहत्तर बान्धव समूह पर ही खर्च होती है।

संयुक्त परिवार की समस्याएं (दोष)
[PROBLEMS (DEMERITS) OF JOINT FAMILY]

संयुक्त परिवार के अनेक लाभ होते हुए भी कुछ दोषों के कारण यह व्यवस्था दिनों-दिन कमजोर होती जा रही है। इसके प्रमुख दोष इस प्रकार हैं :

(1) **अकर्मण्य व्यक्तियों की वृद्धि**—संयुक्त परिवार में सभी व्यक्तियों के साथ समान व्यवहार होता है, चाहे व्यक्ति काम कर रहा है अथवा नहीं, उसका भरण-पोषण होता है और सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। ऐसी दशा में बेकार व्यक्ति कोई कार्य करने को आतुर अथवा उत्सुक नहीं होता है। यहां परिश्रम करने वाले व्यक्ति को कोई विशेष प्रोत्साहन नहीं मिलता है। इसलिए वह भी अपने कार्य के प्रति उदासीन होने लगता है। इस प्रकार उसकी कार्यकुशलता का ह्रास होता है।

(2) **व्यक्तित्व के विकास में बाधक**—संयुक्त परिवार व्यक्तित्व के विकास में बाधक सिद्ध हुआ है क्योंकि यहां प्रतिभाशाली व मूर्ख, कर्मण्य व अकर्मण्य, आदि सभी के साथ समान व्यवहार होता है। परिवार के वयोवृद्ध व्यक्तियों के कठोर नियन्त्रण व अनुशासन के कारण प्रतिभाशाली व्यक्ति न तो अपने विचारों को प्रकट ही कर सकता है और न ही अपनी योग्यता का समुचित उपयोग कर सकता है।

(3) **स्त्रियों की दुर्दशा**—संयुक्त परिवार में स्त्री एक दासी के समान होती है, उसका जीवन खाना बनाने, बच्चों को जन्म देने, उनकी देखभाल करने एवं अन्य सदस्यों की सेवा में ही व्यतीत होता है। उसे मनोरंजन का साधन समझा जाता है। उसे सास एवं ननद के उलाहने, गालियां एवं प्रताड़ना का शिकार बनना पड़ता है, शिक्षा एवं बाह्य जगत से उसका कोई नाता नहीं रह पाता है।

(4) **कलह का केन्द्र**—संयुक्त परिवार में बच्चों, सम्पत्ति एवं स्त्रियों के व्यवहार को लेकर आये-दिन कलह होती रहती है। इससे परिवार की शान्ति खतरे में पड़ जाती है। व्यक्तिगत व्यय एवं बच्चों को लेकर स्त्रियों में आपसी द्वेष एवं मनमुटाव पैदा हो जाता है और पारिवारिक सहयोग एवं स्नेह, कटुता एवं संघर्ष में बदल जाता है। संघर्ष एवं कलह का अन्तिम परिणाम होता है—परिवार का विभाजन।

(5) **अधिक सन्तानोत्पत्ति**—संयुक्त परिवार में न तो प्रत्येक सदस्य का स्वावलम्बी होना आवश्यक है और न ही किसी को अपने भरण-पोषण हेतु चिन्ता करने की आवश्यकता है। संयुक्त परिवार अपने प्रत्येक सदस्य का समान रूप से भरण-पोषण करता है। इसलिए व्यक्ति अपने धार्मिक विधि-विधानों की पूर्ति हेतु व स्वर्ग-प्राप्ति की लालसा में पुत्र प्राप्ति की कामना

में कई पुत्रियों को जन्म देता है। इस प्रकार सन्तानों की संख्या में वृद्धि होती है जिसका भार परिवार को उठाना पड़ता है।

(6) **कुशलता में बाधक**—संयुक्त परिवार ने कर्मण्य व्यक्ति का शोषण तथा अकर्मण्य व्यक्ति को प्रोत्साहन दिया है। संयुक्त परिवार में सभी व्यक्तियों के हितों का ध्यान रखा जाता है एवं समान रूप से उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जाती है, चाहे कोई व्यक्ति कमाता हो अथवा नहीं। परिणामस्वरूप कमाने वाले व्यक्ति पर अधिक भार होने तथा उसको प्रोत्साहन न मिलने के कारण उसकी कार्य-कुशलता में कमी आती है, उसके स्वास्थ्य का ह्रास होता है तथा उसका जीवन-स्तर निम्न होता चला जाता है।

(7) **गतिशीलता में बाधक**—व्यक्ति की परिवार के प्रति एक गहन आसक्ति होती है। व्यक्ति के मन में यह धारणा होती है कि "आंख से दूर हुए तो दिल से भी दूर हुए।" इसलिए कोई भी व्यक्ति परिवार से बाहर अन्यत्र किसी स्थान पर जाकर नौकरी अथवा व्यवसाय करना पसन्द नहीं करता है, चाहे वह घर में बेकार ही क्यों न बैठा हो।

(8) **गोपनीय स्थान का अभाव**—संयुक्त परिवार में सदस्यों का जमघट देखकर एक छोटे-मोटे मेले का आभास होने लगता है। वहां शान्ति और एकान्त का नितान्त अभाव होता है। ऐसी परिस्थितियां विवाहित जोड़ों के लिए बड़ी विकट स्थिति उत्पन्न कर देती हैं। वैसे भी अपने बुजुर्गों के सामने पति-पत्नी का वार्तालाप और अपने बच्चों से अधिक बातचीत करना, उन्हें स्नेह करना व उनकी सुख-सुविधाओं का अधिकाधिक ध्यान रखना सदस्य के आचरण, बड़ों की मान-मर्यादा व परिवार के आदर्शों के विरुद्ध समझा जाता है। ऐसी परिस्थिति में पति-पत्नी एक-दूसरे के सहयोगी होने की अपेक्षा अजनबी अधिक होते हैं। गोपनीय स्थान का अभाव बच्चों के लिए भी दुःखदायी सिद्ध होता है क्योंकि कभी-कभी वे ऐसी अवांछित घटनाओं को देखते हैं जिनका प्रभाव उन पर हानिकारक सिद्ध होता है।

(9) **कर्ता की स्वेच्छाचारिता**—परिवार में कर्ता का मुख्य स्थान होता है। परिवार के समस्त कार्य उसी के द्वारा निर्देशित होते हैं एवं कर्ता की इच्छा ही सर्वोपरि होती है। कर्ता की इच्छा के समक्ष परिवार के अन्य सदस्यों की इच्छाओं का दमन हो जाता है। इस प्रकार कर्ता परिवार का निरंकुश शासक होता है।

(10) **सामाजिक समस्याओं के पोषक**—संयुक्त परिवार अनेक रूढ़िवादी परम्पराओं तथा अनुपयोगी धार्मिक कर्मकाण्डों की स्थली रहा है। संयुक्त परिवार के माध्यम से कई समाजव्यापी समस्याएं जैसे बाल-विवाह, दहेज-प्रथा, विधवा विवाह पर रोक, पर्दा-प्रथा, जाति अन्तर्विवाह, जनसंख्या की समस्या, अशिक्षा, जातिगत भेदभाव में वृद्धि, स्त्रियों का शोषण, आदि उत्पन्न हुई हैं, यद्यपि इन समस्याओं के और भी अनेक कारण रहे हैं। संयुक्त परिवार ने नयी विचारधारा व प्रगति को हतोत्साहित कर इन समस्याओं को यथावत बनाये रखने में योग दिया है।

(11) **शुष्क एवं नीरस वातावरण**—संयुक्त परिवार के सदस्यों की अधिकता के कारण उनके पारस्परिक सम्बन्धों में दृढ़ता व आत्मीयता का अभाव दृष्टिगोचर होता है। परिवार के सदस्यों के मधुर सम्बन्ध औपचारिकता में परिवर्तित हो रहे हैं। अब संयुक्त परिवार में मनमुटाव व पारिवारिक द्वेष की भावना अधिक प्रबल होती जा रही है। ऐसी स्थिति में घर के वातावरण का शुष्क और नीरस होना स्वाभाविक ही है।

संयुक्त परिवार में परिवर्तन के कारण
(FACTORS RESPONSIBLE FOR CHANGE IN JOINT FAMILY)

परम्परागत भारतीय संयुक्त परिवार में अनेक परिवर्तन हुए हैं और यह संक्रमण के काल से गुजर रहा है। नवीन परिस्थितियों के कारण संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तनों को कुछ विद्वानों ने विघटन माना है तो कुछ ने इसे स्वरूप परिवर्तन ही कहा है। संयुक्त परिवार को विघटित या परिवर्तित करने वाले कारक निम्न प्रकार हैं :

(1) **औद्योगीकरण**—18वीं सदी में औद्योगिक क्रान्ति हुई। इस क्रान्ति से भारतीय समाज को परिचित कराने का श्रेय अंग्रेजों को है। औद्योगिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए देश में रेलों, सड़कों तथा यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनों का तीव्र विकास हुआ, नये-नये व्यवसाय खुले तथा साथ ही ग्रामीण उद्योग नष्ट हुए। परिवार अब उत्पादन की इकाई नहीं रहा, लोग गांव छोड़कर काम की खोज में शहरों में आने लगे, इससे परिवार की एकता टूटी तथा कृषि अर्थ-व्यवस्था का स्थान औद्योगिक एवं पूंजीवादी व्यवस्था ने लिया। संयुक्त परिवार के सदस्य नौकरी एवं व्यवसाय के कारण दूर-दूर बिखर गये। नगरों में लोग अकेले या अपनी पत्नी एवं बच्चों के साथ छोटे-छोटे परिवारों में रहने लगे। नगरों में मकानों के अभाव ने भी संयुक्त परिवार के स्थान पर लोगों को छोटे-छोटे परिवारों में रहने को बाध्य किया। संयुक्त परिवार कृषि अर्थ-व्यवस्था का आधार था, जब कृषि में भी मशीनों का प्रयोग हुआ और **कृषि के स्थान पर उद्योगों का महत्व बढ़ा तो इसने भी संयुक्त परिवार को तोड़ा।** ग्रामीण उद्योगों में परिवार के लोग मिलकर कार्य करते थे, किन्तु जब **ग्रामीण उद्योगों का ह्रास** हुआ और उनका स्थान कारखाना प्रणाली ने लिया तो ग्रामीण उद्योगों में लगे लोग काम की खोज में औद्योगिक केन्द्रों की ओर बढ़ने लगे। अतः ग्रामीण संयुक्त परिवार का बना रहना सम्भव नहीं था। औद्योगीकरण ने **रोजगार के अवसरों में भी वृद्धि की**, लोग नवीन व्यवसायों में काम करने के लिए घर छोड़कर दूर-दराज क्षेत्रों में जाने लगे। औद्योगीकरण ने नयी अर्थ-व्यवस्था प्रदान की जिसमें स्त्रियों के लिए भी नौकरी की सुविधा थी। **स्त्रियों द्वारा नौकरी** करने पर उनमें आत्म-निर्भरता एवं जागरूकता आयी, वे संयुक्त परिवार के शोषणकारी एवं दमघोंटू वातावरण से मुक्ति पाने के लिए विद्रोह करने लगीं एवं एकाकी परिवार की स्थापना के लिए जोर देने लगीं। **औद्योगीकरण ने नकद मजदूरी प्रणाली को लागू किया** जिससे सदस्यों के श्रम को पैसों में आंकना सरल हो गया। परिवार में कम एवं अधिक कमाने वालों के बीच उच्चता एवं निम्नता की भावना पैदा हुई, उसमें व्यक्तिवादी भावना पनपी और वे अपने द्वारा कमाये धन को अपने बीबी-बच्चों पर खर्च करना उचित मानने लगे। औद्योगिक व्यवस्था में **धन एवं व्यक्तिगत** गुणों का अधिक महत्व पाया जाता है तथा व्यक्तिगत योग्यता के अनुसार ही व्यक्ति को सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। इन सारी परिस्थितियों ने व्यक्ति को संयुक्त परिवार से पृथक् रहकर एकाकी परिवार बनाने के अवसर एवं प्रेरणा प्रदान की तथा संयुक्त परिवार के विघटन में योग दिया।

(2) **नगरीकरण**—औद्योगीकरण एवं यातायात के नवीन साधनों ने शहरों को जन्म दिया। धीरे-धीरे महानगर बने एवं नगरीय सभ्यता का उदय हुआ। नगर में विभिन्न विचारधाराएं, आदर्श तथा सामाजिक मूल्य पाये जाते हैं। नगरों के लोग नवीनता-प्रिय, व्यक्तिवादी, भौतिकवादी एवं प्रगतिवादी दृष्टिकोण में विश्वास रखने वाले होते हैं। शहरी स्त्रियां स्वतन्त्रता

में अधिक विश्वास करती हैं और वे सास की दासता से मुक्ति चाहती हैं। इसलिए वे पति को एकाकी परिवार बनाकर रहने का आग्रह करती हैं। शहरों में मकानों के अधिक किराये एवं अभाव के कारण भी बड़े-बड़े परिवारों का एक साथ रहना सम्भव नहीं हो पाता है। शहरों में व्यवसाय की बाहुल्यता के कारण भी ग्रामीण लोग अपनी पत्नी तथा बच्चों को छोड़कर व्यवसाय की खोज में यहां आते हैं। यहां वे सामान्यतया अकेले या पत्नी व बच्चों सहित छोटे-छोटे परिवारों में रहते हैं। शहर का सामाजिक-आर्थिक पर्यावरण ग्रामीण पर्यावरण की अपेक्षा अधिक गतिशील है, यहां व्यक्ति का अधिकतर समय पारिवारिक प्रभाव-क्षेत्र से बाहर बीतता है, जिससे व्यक्ति स्वातन्त्र्य की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

(3) **पाश्चात्य शिक्षा, संस्कृति एवं विचारधारा का प्रभाव**—भारत में अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण भारतीयों का पश्चिम की शिक्षा, संस्कृति एवं विचारधारा से परिचय हुआ, उनके दर्शन एवं सामाजिक मूल्यों को भारतीयों ने भी अपनाया। व्यक्तिवाद, उदारवाद, प्रकृतिवाद, उपयोगितावाद एवं अस्तित्ववाद तथा पश्चिमी साहित्य एवं शिक्षा, आदि का भी भारतीय सामाजिक संस्थाओं पर प्रभाव पड़ा। भारतीयों ने पश्चिम से ही स्त्री-पुरुष की समानता के विचार ग्रहण किये। **वाल्टेयर एवं रूसो** ने कहा कि मनुष्य कुछ अधिकारों को लेकर पैदा होता है, उनकी रक्षा की जानी चाहिए। संयुक्त राज्य अमरीका ने मानव अधिकारों की घोषणा की। इन सभी के परिणामस्वरूप भारत में प्रेम-विवाह एवं अन्तरजातीय विवाह होने लगे तथा विवाह एक समझौता मात्र रह गया और कानूनों द्वारा परिवार के कर्ता की सत्ता पर अंकुश लगा दिये गये। फलस्वरूप संयुक्त परिवार टूटने लगे।

(4) **कानूनों का प्रभाव**—अंग्रेजों के समय से ही देश में ऐसे अनेक कानून बने जिन्होंने संयुक्त परिवार की एकता पर प्रहार किये। संयुक्त परिवार की एकता का मूल कारण यह था कि पारिवारिक सम्पत्ति में किसी सदस्य के वैयक्तिक अधिकार नहीं थे, लेकिन **हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम**, 1929 ने उन व्यक्तियों को भी सम्पत्ति में अधिकार प्रदान किये जो संयुक्त परिवार से अलग रहना चाहते थे। 1930 के **'बुद्धिलब्धि अधिनियम'** (Gains of Learning Act) ने व्यक्ति की स्वयं अर्जित सम्पत्ति की सीमा को विस्तृत कर दिया। सन् 1939 के **'हिन्दू स्त्रियों का सम्पत्ति अधिकार अधिनियम'** ने संयुक्त परिवार की सम्पति में स्त्रियों के अधिकारों को स्वीकार किया। इससे भी परिवार की सम्पत्ति विभाजित होने लगी। आय-कर अधिनियम ने संयुक्त परिवार के विघटन को अधिक तीव्र कर दिया है। आय-कर से बचने के लिए भाई अपनी सम्पत्ति का बंटवारा कर लेते हैं। संयुक्त परिवार में सदस्यों की अधिकता का कारण था—बाल-विवाह किन्तु **बाल-विवाह निरोधक अधिनियम**, 1929 ने बाल-विवाहों पर कानूनी रोक लगा दी। 1955 के **'हिन्दू विवाह अधिनियम'** में स्त्री-पुरुषों को विवाह-विच्छेद का अधिकार प्रदान किया गया, इससे भी संयुक्त परिवार टूटे। **डॉ. राल्फ** का मत है कि इस कानून का प्रभाव शहरों में विशेष रूप से पड़ा। **हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम**, 1956 ने पुत्रियों एवं स्त्रियों को भी पारिवारिक सम्पत्ति में उत्तराधिकारी बना दिया। 1961 के **'दहेज निरोधक अधिनियम'** ने परिवार के कर्ता की निरंकुशता को कम कर दिया। इस प्रकार इन सभी अधिनियमों के प्रभाव के कारण संयुक्त परिवार का विघटन होने लगा।

(5) पारिवारिक झगड़े (Family Quarrels)—संयुक्त परिवार में आये दिन सम्पत्ति, बच्चों एवं स्त्रियों को लेकर होने वाले झगड़ों से मुक्ति पाने के लिए भी सदस्य संयुक्त परिवार छोड़कर सुख व शान्ति के लिए एकाकी परिवार में रहने लगते हैं।

(6) परिवार के कार्यों का घटना (Reduction of Family Functions)—वर्तमान समय में संयुक्त परिवार के कार्यों को अन्य संघों एवं संस्थाओं ने ग्रहण कर लिया है, अतः उसकी उपयोगिता घट गई है। शिक्षा का कार्य अब शिक्षण संस्थाओं द्वारा किया जाता है। परिवार का मनोरंजन का कार्य व्यापारीकृत मनोरंजक संस्थाओं, क्लबों एवं सिनेमा घरों ने ले लिया है। कपड़े धोने का कार्य लाण्ड्रियों द्वारा, अनाज कूटने-पीसने का कार्य फ्लोर मिलों द्वारा तथा सिलाई का कार्य टेलरिंग हाउसों द्वारा होने लगे हैं। इससे संयुक्त परिवार पर व्यक्ति की निर्भरता समाप्त हुई है।

(7) महिला आन्दोलन (Feminist Movement)—स्त्रियों में शिक्षा के प्रसार एवं आर्थिक आत्मनिर्भरता के कारण उनमें जागृति आयी है। वे अब संयुक्त परिवार के शोषण से मुक्ति का प्रयास करने लगी हैं, घर की चहारदीवारी लांघकर अपने व्यक्तित्व का विकास करने के लिए वे संयुक्त परिवार के बजाय एकाकी परिवारों की पक्षधर बनी हैं। स्त्रियों की इस नवीन प्रवृत्ति के कारण भी संयुक्त परिवार विघटित हुए हैं।

(8) जनसंख्या वृद्धि (Growth of Population)—भारत में तीव्र गति से जनसंख्या की वृद्धि हुई है। इसके परिणामस्वरूप भूमि पर दबाव बढ़ा है। जब गांवों में छोटे-छोटे भूमि के टुकड़ों पर खेती करके बड़े परिवार का पालन-पोषण करना कठिन हो गया तो लोग काम की तलाश में परिवार एवं गांव छोड़कर बाहर जाने लगे, इससे भी संयुक्त परिवार का विघटन हुआ।

(9) यातायात एवं संचार के साधन (Means of Transportation and Communication)—संचार एवं यातायात के नवीन साधनों ने लोगों में गतिशीलता पैदा की। प्राचीन समय में इन साधनों के अभाव में एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान पर जाना एक कठिन कार्य था। अतः स्वतः ही लोग एक स्थान पर संयुक्त परिवारों में रहते थे।

(10) सामाजिक सुरक्षा (Social Security)—कुछ समय पहले तक बीमारी, बुढ़ापा एवं संकट के समय में संयुक्त परिवार ही अपने सदस्यों को सुरक्षा एवं संरक्षण प्रदान करता था, किन्तु वर्तमान में स्वास्थ्य बीमा, कर्मचारी क्षतिपूर्ति कानून, खान-प्रसूति लाभ कानून, प्रोविडेण्ट फण्ड, ग्रेच्युटी, आदि के द्वारा व्यक्ति को सामाजिक एवं आर्थिक सुरक्षा प्रदान की गयी है, अतः गांवों में न सही, परन्तु शहरों में तो संयुक्त परिवार की उपयोगिता घटी है।

संयुक्त परिवार से सम्बन्धित अध्ययन (Studies Regarding Joint Family)

विभिन्न शक्तियों के प्रभाव कें कारण संयुक्त परिवार में परिवर्तन एवं विघटन की प्रक्रियाएं प्रारम्भ हुईं। परिवर्तित परिस्थितियों में संयुक्त परिवार क्या रूप ग्रहण कर रहे हैं? उनमें कौन-कौन सी नवीन प्रवृत्तियां उत्पन्न हुई हैं और वे प्राचीन संयुक्त परिवारों से किस प्रकार भिन्न हैं, आदि प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए जनगणना अधिकारियों एवं समाजशास्त्रियों ने देश के विभिन्न भागों में अनेक अध्ययन किये। उनका हम यहां संक्षेप में उल्लेख करेंगे :

(1) जनगणना के आंकड़े—सन् 1911 की विभिन्न प्रान्तों की जनगणना रिपोर्ट पर टिप्पणी करते हुए गेत (Gait) ने कहा कि संयुक्त परिवारों में विघटन की प्रवृत्ति दिखायी

देती है। 1951 के जनगणना अधिकारी ने भी जनगणना के आंकड़ों पर टिप्पणी करते हुए लिखा है, "छोटे-छोटे परिवारों का इतना अधिक अनुपात (गांवों में 33 प्रतिशत और कस्बों में 38 प्रतिशत) ऊपरी तौर पर यही संकेत करता है कि देश के परम्परागत रीति-रिवाजों के अनुसार अब परिवार संयुक्त रूप से नहीं चल रहे हैं और संयुक्त परिवार से अलग होने तथा अलग घर बसाने की प्रवृत्ति प्रबल है।" सन् 1901 की जनगणना पर टिप्पणी करते हुए गेत कहते हैं कि केवल उच्च जातियों में ही संयुक्त परिवारों की बहुलता है, निम्न जातियों एवं जनजातियों में यह प्रथा बहुत कम है और विवाह के बाद पुरुष पृथक् घर बनाकर रहते हैं।

(2) **के. टी. मर्चेण्ट**[1] ने सन् 1930-32 में विवाह तथा परिवार से सम्बन्धित विचारों में परिवर्तन का पता लगाने के लिए 446 स्नातकों का अध्ययन करने पर पाया कि शिक्षित लोग संयुक्त परिवार में रहना पसन्द करते हैं तथा पुरुषों की तुलना में स्त्रियां संयुक्त परिवार के अधिक विरोध में हैं।

(3) **रिचर्ड डी. लेम्बर्ट** ने पूना में औद्योगिक मजदूरों का अध्ययन किया। उनका निष्कर्ष है कि उद्योग से परिवार खंडित नहीं होते हैं। अपने परिवारजनों से दूर अन्य स्थान पर रहने मात्र से मजदूर परिवार एकाकी परिवारों में परिवर्तित नहीं होते। औद्योगिक मजदूरों के परिवारों का औसत आकार 5.2 सदस्यों का था जबकि पूना शहर में परिवार का औसत आकार 4.5 सदस्यों का। यह भी देखा गया कि इन मजदूरों पर मुख्य अर्जनकर्ता होने के कारण आश्रितों का भी भारी दबाव था। लेम्बर्ट का मत है कि जहां पति और पत्नी दोनों रोजगार में हैं, वहां भी परिवार प्रतिमान में पश्चिमी प्रभाव दिखायी नहीं देता है। इस प्रकार संयुक्त परिवार न केवल कृषक समाज के लिए ही उपयुक्त हैं वरन् औद्योगिक समाज के लिए भी उतने ही उपयुक्त हैं।

(4) **मिल्टन सिंगर** ने उद्योगपतियों के परिवारों के अपने अध्ययन के आधार पर कहा है कि नगरों में प्रवास के कारण वृहद् संयुक्त परिवार नष्ट नहीं हुए हैं। उद्योग-धन्धों में प्रवेश के साथ-साथ औद्योगिक संगठन के क्षेत्र में लोगों ने परम्परात्मक संयुक्त परिवार के सिद्धान्तों से भी अनुकूलन कर लिया है। सिंगर ने जिन कम्पनियों का अध्ययन किया, वे परिवार फर्म हैं। सिंगर का मत है कि संयुक्त परिवारों ने औद्योगिक संगठन में घर प्रबन्ध के सिद्धान्तों और पद्धतियों को अपना लिया है।

(5) **के. एम. कापड़िया** ने 513 स्नातकों का एक सर्वेक्षण किया तो ज्ञात हुआ कि शिक्षित हिन्दुओं का 60 प्रतिशत भाग अब भी संयुक्त परिवार में रहता है और केवल 1/8वां भाग ही इससे असन्तुष्ट है। संयुक्त परिवार का विरोध करने वाले एक व्यक्ति की तुलना में 3 या 4 उसके पक्ष में मत देने वाले हैं। कापड़िया ने दक्षिणी गुजरात के नवसारी कस्बे के 246 परिवारों एवं आस-पास के 15 गांवों के 1099 परिवारों का अध्ययन करने पर पाया कि वहां एकाकी एवं संयुक्त परिवारों की संख्या लगभग बराबर थी।[2]

(6) **बी. वी. शाह (B. V. Shah)** ने बड़ौदा के 200 छात्रों का उनके संयुक्त परिवार के बारे में विचार ज्ञात करने के लिए अध्ययन करने पर पाया कि 16 प्रतिशत छात्रों ने ही संयुक्त परिवार के विरोधी विचार व्यक्त किये और शेष ने इसका समर्थन किया।

1 K. T. Merchant, *Changing Views on Marriage and Family*, pp. 122-27.
2 K. M. Kapadia, *op. cit.*, p. 260.

(7) **सुधा कालडेटे** ने पुराने बम्बई राज्य का अध्ययन करने पर पाया कि नगरीकरण के प्रभाव के कारण संयुक्त परिवार टूट रहे हैं।

(8) **एडविन डी. ड्राइवर** ने 1958 में बम्बई के नागपुर जिले के 2,314 जोड़ों का अध्ययन किया। उनका निष्कर्ष यह था कि 36 वर्ष से अधिक उम्र के लोग तथा अशिक्षितों की तुलना में शिक्षित लोग संयुक्त परिवार में रहने के पक्ष में थे।

(9) **आई. पी. देसाई** ने सौराष्ट्र के महुआ कस्बे में 410 परिवारों का अध्ययन किया। उनकी परिभाषा के अनुसार महुआ में 28 प्रतिशत एकाकी परिवार और 72 प्रतिशत संयुक्त परिवार हैं। सम्पत्ति एवं आर्थिक हितों ने संयुक्तता को बल प्रदान किया है। वहां संयुक्त परिवार में रहने वाले प्रत्येक तीन व्यक्तियों के सामने एकाकी परिवार में रहने वाले व्यक्ति की संख्या एक थी।[1]

(10) **पी. एम. कोलिण्डा** ने महाराष्ट्र के पूना जिले के लोनीखण्ड गांव का अध्ययन करने पर वहां संयुक्त परिवार की अधिकता पायी। साथ ही वहां निम्न जातियों की तुलना में उच्च जातियों में संयुक्त परिवार अधिक थे। उन्होंने क्षेत्रीय आधार पर भारत में संयुक्त परिवार के अनुपात में अन्तर पाया, गंगा के मैदान व मैसूर की उत्तरी-पश्चिमी जातियों में, पश्चिमी बंगाल एवं मध्य भारत की तुलना में संयुक्त परिवार अधिक थे।[2]

(11) **एलिन डी. रॉस** ने बंगलौर के मध्यम तथा उच्च वर्ग के 157 स्त्री-पुरुषों का साक्षात्कार लिया। उन्होंने संयुक्त परिवार को परिवर्तित करने वाली शक्तियों का भी उल्लेख किया और बताया कि प्रौद्योगिक शक्तियां संयुक्त परिवार को परिवर्तित कर रही हैं।[3]

(12) **एम. एस. गोरे** ने दिल्ली एवं हरियाणा के आस-पास के 499 अग्रवाल परिवारों का अध्ययन किया जो ग्रामों एवं शहरों में रहते थे। उनके अध्ययन के दो निष्कर्ष निकले—(i) अब भी लोगों का झुकाव संयुक्त परिवार के पक्ष में है, (ii) नगरीय प्रभाव एवं शिक्षा ने संयुक्त परिवार के स्वरूप को बदला है।[4]

(13) **बी. के. रामानुजम** का मत है कि वर्तमान में व्यक्तिगत और आर्थिक कारणों से एकाकी परिवारों की प्रवृत्ति बढ़ रही है। वे यह मानते हैं कि संरचना की दृष्टि से तो संयुक्त परिवार टूट रहे हैं, किन्तु प्रकार्यात्मक दृष्टि से बने हुए हैं।[5]

इन अध्ययनों के अतिरिक्त रॉल्फ, देवानन्द एवं थामस, बी. आर. अग्रवाल, योगेश अटल, ए. एम. शाह, गुडे, बी. जी. देसाई, ज्योतिर्मयी शर्मा, आर. के. मुकर्जी, आदि अनेक समाजशास्त्रियों ने अपने अध्ययनों द्वारा संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तनों की पुष्टि की है।

संयुक्त परिवार से सम्बन्धित विभिन्न अध्ययनों से प्राप्त निम्नांकित निष्कर्ष ध्यान देने योग्य हैं :

(1) वृहद संयुक्त परिवार प्रणाली ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगरीय क्षेत्रों में अधिक पायी जाती है और क्षेत्र एवं जाति के आधार पर भी अन्तर पाया जाता है।

1 I. P. Desai, *Some Aspects of Family in Mahuva.*
2 P. M. Kolenda, "Family Structure in Village, Lonikhand"; India, Contributions to *Indian Sociology*, No, IV, Dec. 1970, p. 70.
3 Aileen D. Ross, *The Hindu Family in Its Urban Setting.*
4 M. S. Gore, *Urbanization and Family Change.*
5 B. K. Ramanujam, *The Indian Family in Transition*, p. 23.

(2) एकाकी परिवार गांवों एवं नगरों दोनों में पाये जाते हैं।

(3) इस प्रकार के ग्रामीण एवं नगरीय भेद भूतकाल में भी विद्यमान थे।

(4) गांवों और नगरों दोनों में एकाकी परिवार संयुक्त परिवारों में बदल सकते हैं और अलग-अलग होने और मृत्यु के कारण पुनः एकाकी परिवारों में परिवर्तित हो सकते हैं।

इस प्रकार संयुक्तता जटिलता और बहु-आयामी बन चुकी है।

संयुक्त परिवार के बदलते प्रतिमान : निरन्तरता एवं परिवर्तन (CHANGING PATTERNS OF JOINT FAMILY : CONTINUITY AND CHANGE)

परिवर्तन की विभिन्न शक्तियों के संघात के कारण भारतीय संयुक्त परिवार की संरचना एवं प्रकार्यों में अनेक परिवर्तन हुए हैं और परिणामस्वरूप कई नयी प्रवृत्तियां प्रकट हुई हैं। उनका हम यहां संक्षेप में उल्लेख करेंगे :

(I) संयुक्त परिवार की संरचना में परिवर्तन (Changes in the Structure of Joint Family)

(1) **आकार में परिवर्तन**—संयुक्त परिवार में तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्यों के साथ-साथ रहने से इनका आकार बड़ा होता था, किन्तु अब शिक्षा के प्रसार, परिवार नियोजन एवं जीवन स्तर को ऊंचा उठाने की इच्छा, आदि के कारण छोटे-छोटे परिवार बनने लगे हैं, जिनमें पति-पत्नी और उनके अविवाहित बच्चे होते हैं।

(2) **कर्ता की सत्ता का ह्रास**—पहले परिवार के मुखिया का निर्णय ही मुख्य था। नवीन शिक्षित पीढ़ी जो समानता एवं प्रजातन्त्र के विचारों से ओत-प्रोत है, पिता की निरंकुश सत्ता नहीं मानती, विवाह एवं व्यक्तिगत मामलों में वे अब अपना निर्णय स्वयं करने लगे हैं।

(3) **स्त्रियों की शक्ति में वृद्धि**—स्त्री शिक्षा के कारण स्त्रियां घर की चहारदीवारी से बाहर आयीं, वे नौकरी करने लगीं। आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर हुईं, नवीन कानूनों ने उन्हें पुरुषों के समान ही सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक अधिकार प्रदान किये, उनके पद एवं सम्मान में वृद्धि हुई तथा पुरुषों की सत्ता कम हुई। अब वे क्लबों में जाने लगीं, इससे परिवार के कार्यों में अन्तर आया।

(4) **विवाह के रूप में परिवर्तन**—जीवन साथी चुनने में पहले माता-पिता एवं रिश्तेदारों का महत्वपूर्ण हाथ था, किन्तु अब लड़के एवं लड़की जीवन-साथी का चुनाव स्वयं करने लगे। अब विवाह दो परिवारों के स्थान पर दो व्यक्तियों का मामला बन गया है। बाल-विवाह की समाप्ति, विधवा-पुनर्विवाह, प्रेम-विवाह एवं विलम्ब विवाह के कारण परिवारों का स्वरूप परिवर्तित हुआ।

(5) **अस्थायित्व**—वर्तमान समय में परिवारों में गतिशीलता एवं अस्थायित्व में वृद्धि हुई है। नौकरी एवं व्यवसाय के कारण लोग स्थान परिवर्तन करने लगे। इससे परिवार, पड़ोस एवं नातेदारी का नियन्त्रण शिथिल हुआ तथा विवाह-विच्छेद को बढ़ावा मिला। यौन सम्बन्धी नवीन धारणाओं ने भी संयुक्त परिवार के महत्व को कम किया है।

(6) **पारिवारिक सम्बन्धों में परिवर्तन**—संयुक्त परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों में शिथिलता आयी है। घनिष्ठता एवं आत्मीयता के स्थान पर वर्तमान में औपचारिकता पायी जाती है, पारिवारिक नियन्त्रण कमजोर हुआ है, अब परिवार एक औपचारिक संगठन मात्र होता जा रहा है।

(7) सामूहिकता के तत्वों में कमी—परम्परात्मक संयुक्त परिवार की एकता बनाये रखने में सामूहिक निवास, सामूहिक सम्पत्ति, पूजा एवं सामूहिक भोजन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है, किन्तु वर्तमान में परिवार के सदस्यों के अलग-अलग स्थानों पर रहने के कारण सामूहिक पूजा एवं रसोई सम्भव नहीं है और सम्पत्ति का भी विभाजन होने लगा है। फलस्वरूप परिवार की सामूहिकता समाप्त हुई एवं एकाकी प्रवृत्ति प्रबल हुई है।

(II) संयुक्त परिवार के कार्यों में परिवर्तन

(1) शिक्षा एवं सांस्कृतिक कार्यों में परिवर्तन—पहले संयुक्त परिवार ही अपने सदस्यों को शिक्षा प्रदान करने, उनका समाजीकरण करने एवं उन्हें प्रथाओं, परम्पराओं, रीति-रिवाजों, धर्म एवं संस्कृति से परिचित कराने का कार्य करता था, किन्तु अब यह कार्य शिक्षण एवं सांस्कृतिक संस्थाओं द्वारा किया जाने लगा है।

(2) धार्मिक कार्यों में परिवर्तन—पहले संयुक्त परिवार सदस्यों के लिए अनेक धार्मिक कार्य करता था। वह यज्ञ, हवन, पूजा, उपासना, व्रत एवं त्यौहार तथा धार्मिक उत्सवों के द्वारा धार्मिक आवश्यकताओं को पूर्ण करता था, किन्तु धर्म का महत्व घटने से अब परिवार के धार्मिक कार्यों में कमी आयी है।

(3) आर्थिक कार्यों में परिवर्तन—संयुक्त परिवार उत्पादन एवं उपभोग की इकाई था। उसमें श्रम-विभाजन पाया जाता था। वह सदस्यों की सभी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता था, किन्तु अब परिवार उपभोग की इकाई मात्र रह गया है। अब सरकार तथा अन्य संस्थाओं द्वारा आर्थिक सुरक्षा प्रदान की जाने लगी है।

(4) मनोरंजन के कार्यों में परिवर्तन—पहले संयुक्त परिवार ही अपने सदस्यों को मनोरंजन प्रदान करता था, किन्तु अब सिनेमा, रेडियो, टेलीविजन, क्लब एवं व्यापारिक मनोरंजन की संस्थाओं ने यह कार्य अपने हाथ में ले लिया है।

परम्परागत संयुक्त परिवार, संरचना एवं प्रकार्य दोनों ही दृष्टि से संयुक्त थे, किन्तु वर्तमान में संयुक्त परिवार में दोनों ही दृष्टि से परिवर्तन आये हैं। **एम. एस. गोरे तथा आई. पी. देसाई का मत है कि वर्तमान में संरचनात्मक दृष्टि से संयुक्त परिवार तो घटे हैं, किन्तु प्रकार्यात्मक दृष्टि से अब भी संयुक्त परिवारों की संख्या कम नहीं हुई है।**

संयुक्त परिवार का भविष्य
(FUTURE OF JOINT FAMILY)

संयुक्त परिवार में होने वाले अनेक परिवर्तनों के कारण यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या संयुक्त परिवार भविष्य में समाप्त हो जायेंगे या उनका पूर्णत: विघटन हो जायेगा? इस बारे में दो मत पाये जाते हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि संयुक्त परिवारों का विघटन हो रहा है और वे भविष्य में समाप्त हो जायेंगे। दूसरी ओर कुछ अन्य का मत है कि संयुक्त परिवारों का यह विघटन नहीं वरन् रूपान्तरण है, नवीन परिस्थितियों से अनुकूलन है। विघटन का समर्थन करने वालों का मत है कि संयुक्त परिवार का आकार छोटा होना, कर्ता की सत्ता में कमी, स्त्रियों के अधिकारों में वृद्धि, सम्पत्ति सम्बन्धी सदस्यों को दिये गये अधिकार, पारिवारिक नियन्त्रण की शिथिलता एवं उसके कार्यों में कमी आना आदि, विघटन के ही सूचक हैं। इन लोगों की मान्यता है कि भारत में ज्यों-ज्यों औद्योगीकरण एवं नगरीकरण बढ़ेगा तथा यातायात के नवीन साधनों का विकास होगा, त्यों-त्यों संयुक्त परिवार का विघटन

होगा और एकाकी परिवारों में उसी प्रकार से वृद्धि होगी जैसे यूरोप में हुई। फिर परिवर्तन तो एक स्वाभाविक नियम है, अतः परिवर्तन लाने वाले कारकों द्वारा इसका विघटन होगा ही और उसे नहीं रोका जा सकता। दूसरी ओर आशावादियों का कहना है कि यह आवश्यक नहीं है कि औद्योगीकरण एवं परिवर्तनकारी शक्तियां भारत में भी यूरोप के समान ही प्रभाव पैदा करें। यहां परिवार का विघटन नहीं वरन् रूपान्तरण हो रहा है। संयुक्त परिवार की विशेषताओं जैसे संयुक्त निवास, संयुक्त सम्पत्ति, सामान्य रसोईघर, सामान्य पूजा एवं विशिष्ट बंधुजन की उपस्थिति, आदि में से किसी एक विशेषता की उपस्थिति का अर्थ संयुक्त परिवार के विद्यमान होने और या इनमें से किसी की अनुपस्थिति से संयुक्त परिवार के गायब हो जाने से नहीं है। सामान्य आवास, सम्पत्ति और पूजा, आदि के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण स्तर पर संयुक्त परिवार नहीं पाये जाते क्योंकि गांवों से कस्बों और शहरों में बड़े पैमाने पर लोगों के प्रवास के कारण आधुनिक नगरीय जीवन में ऐसी विसंगतियां तो पायी जाती हैं।

विभिन्न अध्ययनों से यह भी ज्ञात होता है कि एकाकी परिवार और औद्योगीकरण के बीच सकारात्मक सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। परिवार एक संस्था के रूप में अधिक अनुकूलन प्रदर्शित करता रहा है। आधुनिक उद्योग और नगरीय जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने में भी परिवार काफी प्रभावकारी प्रमाणित हुआ है। भारत में संयुक्त परिवार का भविष्य वृहद-संरचनात्मक परिवर्तनों और स्थानीय स्तर पर परिवार और उसके साथ जुड़े हुए व्यवहारों पर उनके प्रभावों पर भी निर्भर है। संयुक्त परिवार का भविष्य इस बात पर भी निर्भर करता है कि परिवार में झगड़े, तनाव, दबाव और मनमुटावों का हल किस प्रकार ढूंढा जाता है। युवा लोगों के अपने विचार और आशाएं होती हैं, परिवार में इनकी अभिव्यक्ति किस प्रकार से होती है, इस पर भी संयुक्त परिवार का भविष्य निर्भर है। प्रो. **कापड़िया** का मत है कि आज भी संयुक्त परिवार अपने सदस्यों को पूर्ण रूप से सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। बाल-विवाह प्रथा के प्रचलन के कारण नव-विवाहित जोड़े का भरण-पोषण संयुक्त परिवार ही करता है। गांवों में चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाओं के अभाव के कारण बीमारी व प्रसव के समय संयुक्त परिवार के सदस्य ही सेवा-सुश्रूषा करते हैं। इसके अतिरिक्त विधवा एवं परित्यक्ता बहिनों एवं पुत्रियों का भरण-पोषण भी संयुक्त परिवार में होता है। पिछले कुछ वर्षों में बीमा, प्रोवीडेण्ट फण्ट, ग्रेच्युटी, चिकित्सा-भरण एवं बोनस, आदि के रूप में सामाजिक सुरक्षा के कुछ प्रयत्न हुए हैं, किन्तु यह लाभ उद्योगों एवं राजकीय सेवाओं में लगे लोगों तक ही सीमित है। गांव में रहने वाली करीब 74 प्रतिशत जनसंख्या के लिए तो संयुक्त परिवार ही सामाजिक सुरक्षा प्रदान करता है। अतः संयुक्त परिवार का भविष्य गांवों से बंधा है। प्रो. **कापड़िया** ने संयुक्त परिवार का भविष्य दो बातों पर निर्भर बताया है। आप लिखते हैं कि आज परिवार के सामने आर्थिक एवं सैद्धान्तिक संकट हैं। आर्थिक संकट यह है कि शहर में कमाने वाला व्यक्ति गांव में रहने वाले परिवार-जनों के लिए बचा कर नहीं भेज सकता, इससे गांव के परिवार-जनों से सम्बन्ध तनावपूर्ण हो जाते हैं। सैद्धान्तिक संकट यह है कि नयी पीढ़ी परिवार की सत्ता के नियन्त्रण में नहीं रहना चाहती। अब सास एवं बहू के मध्य संघर्ष गहरा हुआ है, सास बहू को प्राप्त नयी स्थिति एवं पति द्वारा उसके प्रति दिखायी जाने वाली सहानुभूति को सहन नहीं कर सकती। यदि परिवार इन संकटों को पार कर जाता है तो उसके टूटने के कोई कारण नहीं हैं। **कापड़िया** मानते हैं कि 'हिन्दू मनोवृत्तियां आज भी

संयुक्त परिवार के पक्ष में हैं।' स्पष्ट है कि भारत में संयुक्त परिवार का भविष्य धुंधला नहीं है, यद्यपि समय के साथ इसमें अनेक परिवर्तन हुए हैं जो इसके विघटन के नहीं वरन् रूपान्तरण के सूचक हैं। सारांश में हम कह सकते हैं कि संयुक्त परिवार निरन्तर परिवर्तित होता रहा है, परन्तु जीवित रहा है और प्रायः अनुकूलन की परिवर्तित क्षमताओं के साथ उभर कर आया है।

प्रश्न

1. संयुक्त परिवार को परिभाषित कीजिए। इसकी विशेषताओं एवं प्रकारों की विवेचना कीजिए।
2. हिन्दू संयुक्त परिवार के गुण-दोष क्या हैं? इसका तीव्र विघटन क्यों हो रहा है?
3. हिन्दू संयुक्त परिवार की विशेषताओं एवं कार्यों का उल्लेख लिखिए।
4. भारतीय संयुक्त परिवार के विघटन के कारणों का विश्लेषण कीजिए।
5. संयुक्त परिवार को प्रभावित कर रही समकालीन सामाजिक शक्तियों की विवेचना कीजिए।
6. संयुक्त परिवार की संरचना में होने वाले परिवर्तनों के लिए उत्तरदायी विभिन्न कारकों की विवेचना कीजिए।
7. क्या संयुक्त परिवार टूट रहा है? अपने उत्तर की पुष्टि में तर्क प्रस्तुत कीजिए।
8. हिन्दू संयुक्त परिवार में हो रहे आधुनिक परिवर्तनों की व्याख्या कीजिए।
9. संयुक्त परिवार व्यवस्था में परिवर्तन विषय पर एक निबन्ध लिखिए।

9

आधुनिक विचारक : श्री अरबिन्द घोष
(सामाजिक उद्विकास तथा अतिमानव की अवधारणा)

[MODERN THINKERS : SRI AUROBINDO GHOSH]
(Social Evolution and Concept of Superman)

श्री अरबिन्द घोष सर्वतोमुखी प्रतिभा के धनी थे। वे एक महान् अध्यात्मशास्त्री, दार्शनिक एवं राष्ट्र भक्त थे। उन्होंने सम्पूर्ण मानव जाति को एक सन्देश दिया जिसकी आज के युग में सर्वाधिक आवश्यकता है। दिलीप कुमार राय उनको "भारत का महानतम् जीवित योगी" मानते थे। डॉ. हरिदास चौधरी के अनुसार श्री अरबिन्द वास्तव में एक आश्चर्यजनक रूप से सृजनशील व्यक्ति हैं, जिनकी अतीत में एक गहरी अन्तर्दृष्टि है, जिनका वर्तमान के ऊपर दृढ़ अधिकार है और जिनके सामने भविष्य का एक ऐसा स्पष्ट चित्र है जैसा कि पैगम्बरों के सामने हुआ करता है। डॉ. फ्रेडरिक स्पजलबर्ग ने श्री अरबिन्द को 'हमारे युग का पैगम्बर' माना है। रोमां रोलां ने उन्हें 'भारतीय दार्शनिकी का सम्राट' तथा 'एशिया एवं यूरोप की प्रतिभा का समन्वय' कहा है। वे वास्तव में भारतीय पुनर्जागरण तथा भारतीय राष्ट्रवाद की एक महान् विभूति थे। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में भारत की नवीन एवं उदीयमान आत्मा का सार स्पष्टतः झलकता है। श्री अरबिन्द प्रथम भारतीय राष्ट्रवादी थे जिन्होंने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति को भारत के राजनीतिक संघर्ष का लक्ष्य माना। राजनीति का आध्यात्मीकरण भारतीय चिन्तन को उनकी अनूठी देन है। श्री अरबिन्द ने भौतिक विश्व को आध्यात्मिक चेतना,राष्ट्र को राजनीतिक वैभव एवं समाज को समन्वयात्मक संस्कृति का ज्ञान प्रदान करके भारतीय इतिहास को अलंकृत किया है। एक योगी के रूप में आप व्यक्तिवाद एवं समष्टिवाद का आध्यात्मिक समन्वय चाहते थे।

श्री अरबिन्द का जीवन चित्रण एवं प्रमुख कृतियां
(LIFE SKETCH AND MAIN WORKS OF SRI AUROBINDO)

15 अगस्त, 1872 को श्री अरबिन्द का जन्म पश्चिमी बंगाल के एक धनी एवं सम्भ्रान्त परिवार में हुआ। आपके पिता कृष्णाधन घोष पर, जो एक सफल चिकित्सक थे, पाश्चात्य

सभ्यता एवं संस्कृति का काफी प्रभाव था। अतः आप अरबिन्द को भी रहन-सहन की दृष्टि से अंग्रेज बनाना चाहते थे। आप 7 वर्ष से 21 वर्ष तक की आयु अर्थात् 14 वर्ष तक अध्ययन हेतु इंगलैण्ड में रहे जहां मेनचेस्टर, लन्दन एवं कैम्ब्रिज में आपकी शिक्षा हुई। यहां आपने अंग्रेजी, ग्रीक एवं लैटिन भाषाएं सीखीं। यद्यपि आप आई. सी. एस. की लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण हुए, परन्तु घुड़सवारी की परीक्षा में इस कारण असफल रहे। क्योंकि आप सरकारी नौकरी नहीं करना चाहते थे। आपका झुकाव तो देशभक्ति की ओर था। 1893 में श्री अरबिन्द भारत लौटे। 1906 तक आपने विभिन्न पदों पर रहते हुए बड़ौदा राज्य की सेवा की। इस बीच आप कांग्रेस के अधिवेशनों में भी सम्मिलित होते रहे। इस अवधि में आपने भारतीय संस्कृति का गहन अध्ययन किया। इसी समय योग अभ्यास के क्षेत्र में भी आपको कुछ अनुभूतियां हुईं। आपने बंगला, गुजराती एवं संस्कृत भाषाओं को सीखा तथा उपनिषद, गीता, आदि का अध्ययन किया। आप पर स्वामी रामकृष्ण परमहंस तथा स्वामी विवेकानन्द के वेदान्तिक विचारों का भी गहरा प्रभाव था। इन सबका परिणाम यह हुआ कि श्री अरबिन्द पूर्णतः भारतीय बन गये, उन पर से पाश्चात्य सभ्यता एवं संस्कृति का प्रभाव पूरी तरह समाप्त हो गया। आपने अपने लिए जीवन के तीन लक्ष्य निर्धारित किये : (i) आत्मसमर्पण, (ii) परमात्मानुभूति, (iii) भारतमाता के रूप में राष्ट्र की सेवा। सन् 1906 में बंगाल विभाजन की घटना ने सोये हुए देश को जगा दिया, और श्री अरबिन्द भी राष्ट्रीय आन्दोलन में कूद पड़े। 1906 में 'वन्देमातरम्' पत्र के सह-सम्पादक के रूप में स्वदेशी तथा स्वराज की भावना का आपने बंगाल में खूब प्रचार किया। धीरे-धीरे इसका प्रसार सारे देश में हुआ। आप एक राष्ट्रवादी नेता के रूप में उभरकर सामने आये। आपने राष्ट्रीय आन्दोलन में रूस के आतंकवादी तौर-तरीके का कड़ा विरोध किया। आपको 1908 में गिरफ्तार भी किया गया। सन् 1910 में श्री अरबिन्द ने अपने को राष्ट्रीय आन्दोलन से पृथक् कर लिया तथा अलौकिक शक्ति की खोज तथा आध्यात्मिक चिन्तन हेतु पाण्डिचेरी चले गये। वहां आपने अरबिन्द आश्रम की स्थापना की। जीवन के शेष 40 वर्ष तक आप एकान्त में आध्यात्मिक साधना तथा दार्शनिक चिन्तन में लगे रहे। आपने लेखन कार्य भी किया इस महान् योगी ने 5 दिसम्बर, 1950 को अपना शरीर त्याग दिया।

श्री अरबिन्द की प्रमुख कृतियां निम्नलिखित हैं :

1. *The Secret of Vedas,*
2. *The Life Divine,*
3. *Essay on Geeta,*
4. *The Human Cycle,*
5. *The Foundations of Indian Culture,*
6. *The Synthesis of Yoga,*
7. *The Mystery of Geeta,*
8. *Sri Aurobindo on Himself and on the Mother,*
9. *National Education,*
10. *Savitri.*

श्री अरबिन्द का दर्शनशास्त्र (अध्यात्मवाद व भौतिकवाद का समन्वय)
(PHILOSOPHY OF SRI AUROBINDO)

श्री अरबिन्द का दर्शनशास्त्र भारतीय एवं पाश्चात्य विचारधारा का समन्वय है। आपने भारत के संन्यासवादी अध्यात्मवाद तथा पश्चिमी जगत् के लौकिकवादी भौतिकवाद के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया है। अध्यात्मवाद के क्षेत्र में भारतीय ऋषि-मुनियों की उपलब्धियां काफी उच्च कोटी की रही हैं, लेकिन बुद्ध के बाद के समय में मोक्ष-प्राप्ति हेतु संसार को त्यागने पर विशेष जोर दिया गया। संसार को मिथ्या व क्षण-भंगुर मानकर भोगमय जीवन से अलग हो जाने की बात को उचित ठहराया गया। इसी से व्यक्ति मुक्ति की दिशा में आगे बढ़ सकता है। इस दर्शन का परिणाम यह हुआ कि भारत लौकिक क्षेत्र में अन्य देशों से काफी पिछड़ गया, उनके समान व्यावहारिक जीवन में आगे नहीं बढ़ सका। इस सम्बन्ध में डॉ. वी. पी. वर्मा ने लिखा है, "जीवन के शुद्ध लौकिक क्षेत्र में भारत संसार के अन्य देशों साथ प्रतिस्पर्द्धा में सफल नहीं हो सका। इससे व्यक्ति एवं समाज दोनों का ही अहित हुआ तथा दोनों की ही रचनात्मक प्रगति रुक-सी गयी।" यूरोप में भौतिकवादी विचारकों जैने डैमोक्रीटस, दिदरो, मार्क्स, ऐंजिल्स, हैकिल, लेविन, आदि ने भौतिकवाद के विकास में काफी योग दिया। परिणाम यह हुआ कि पश्चिमी देश लौकिकवाद और भौतिकवाद के क्षेत्र में काफी आगे बढ़ गये। वहां प्रकृति पर विजय प्राप्त करने तथा समाज को बौद्धिक आधार पर संगठित करने की दिशा में बहुत कुछ किया गया। इससे प्रकृति, समाज व मानवीय जीवन से सम्बन्धित ज्ञान-राशि में काफी बढ़ोत्तरी हुई। लोग लोकतन्त्र, समाजवाद, समानता एवं मानवता के आदर्शों को महत्व देने लगे। यद्यपि संसार का ज्ञान-भण्डार काफी कुछ बढ़ गया था, परन्तु इससे आत्मा, परमात्मा व ईश्वरीय शक्ति को नहीं समझा जा सका। भारत में संसार को संचालित करने वाली ईश्वरीय शक्ति के रहस्यों को समझने का अनेक सन्तों एवं ऋषि-मुनियों द्वारा प्रयास किया गया।

श्री अरबिन्द का मानना था कि भारत और यूरोप परस्पर विरोधी दिशाओं में आगे बढ़ रहे हैं। भारत में संसार त्याग या विरक्ति पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया जा रहा है जबकि यूरोपीय देशों में भौतिकवाद पर। आपने अध्यात्मवाद एवं भौतिकवाद के बीच समन्वय को आवश्यक माना है और यह बतलाया है कि अपने चरम रूप में न तो अध्यात्मवाद व्यावहारिक है और न ही भौतिकवाद अन्तिम आदर्श। श्री अरविन्द की मान्यता है कि भारत के अध्यात्मवाद व यूरोप के भौतिकवाद के बीच समन्वय स्थापित करके सम्पूर्ण विश्व को अधिक सुन्दर और उपयोगी बनाया जा सकता है। यह समन्वय विश्व के लिए कल्याणकारी सिद्ध होगा। इस समन्वय से पदार्थ व परमात्मा दोनों के महत्व को मान्यता दी जायेगी। श्री अरबिन्द ने अपनी रचनाओं में इसी समन्वय पर जोर दिया है। आपने भौतिकवाद और अध्यात्मवाद में से किसी एक पर बल देने को उचित नहीं ठहराया है।

श्री अरबिन्द परम सत् को एक आध्यात्मिक तत्व मानते हैं। उसे आपने अविचल, अनुभवातीत तथा अपरिवर्तनशील सत्ता नहीं माना है। उसमें आप गतिशीलता, उद्‌विकास एवं एक से अनेक में परिवर्तित होने के गुण देखते हैं। इस दृष्टि से आपने बतलाया है कि विविधता भी उतनी ही सत्य है जितनी एकता। यदि एक परमात्मा वास्तविक और सत्य है तो विभिन्न व्यक्तियों में व्याप्त उसी का अंश (आत्मा) भी सत्य है। यह बाह्य जगत भी इसी

प्रकार एकता में अनेकता की ही अभिव्यक्ति है, परमात्मा की ही सृष्टि है जो वास्तविक है, न कि काल्पनिक। आपने पदार्थ को आवरणयुक्त आत्मा ही माना है। ब्रह्माण्ड के विकास हेतु आत्मा अपनी चेतना को सीमित कर अचेतन रूप ग्रहण कर लेती है। यही अचेतनता विकास-क्रम का प्रारम्भ बिन्दु है। यहां से तथा इसी से पदार्थ, जीवन एवं मन का विकास होता है। स्पष्ट है कि श्री अरबिन्द ने आत्मा एवं भौतिक विश्व के अन्तर को समाप्त कर उन्हें समन्वित रूप में प्रस्तुत किया है। इन दोनों को एक मानकर आपने एक से अनेक और अनेक से एक की बात कही है।

श्री अरबिन्द ने स्वयं लिखा है, "हम पाते हैं कि भारत में संन्यासवाद के आदर्श का प्रतिपादन करने वालों ने वेदान्त के सूत्र 'एक ही है, दूसरा नहीं' (एक सत्-नेह नानास्ति किंचन) के अर्थ को ठीक से नहीं समझा है। उन्होंने दूसरे सूत्र 'यह सब कुछ ब्रह्म है' (सर्व खल्विदं ब्रह्म) की ओर समुचित ध्यान नहीं दिया है। जहां एक तरफ मनुष्य में ऊपर उठकर परमात्मा को पाने की प्रबल आकांक्षा पायी जाती है, वहीं दूसरी ओर परमात्मा में भी अपनी अभिव्यक्ति को शाश्वत् रूप से प्रकट करने के लक्ष्य से नीचे की ओर उतरने की प्रवृत्ति स्पष्ट रूप में देखने को मिलती है। इन दोनों बातों को उचित तरीके से परस्पर सम्बद्ध करने का प्रयत्न अभी तक हमने नहीं किया है। अन्य शब्दों में, "पदार्थ से मौजूद ब्रह्म-शक्ति की वास्तविकता को उतनी अच्छी तरह नहीं समझा गया जितनी अच्छी तरह आत्मा में मौजूद सत्य (परमात्मा) का साक्षात्कार कर लिया गया। तात्पर्य यह है कि जिस परम सत् का साक्षात्कार संन्यासी करना चाहता है, उसे तो यहां पूर्णतः समझ लिया गया, परन्तु प्राचीन वेदान्तियों की भांति इस परम सत् की सम्पूर्ण व्यापकता एवं विस्तार को नहीं समझा गया, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि पूर्ण व्यापकता की खोज में उस परम् सत् की वास्तविकता को कम कर दिया जाये। तात्पर्य यह है कि भौतिकवादी आधार को स्वीकार करते हुए भी अध्यात्मवादी आधार के महत्व को कम नहीं किया जा सकता। यह सही है कि भौतिकवाद ने ईश्वरीय प्रयोजन (उद्देश्य) की प्राप्ति में महान् योग दिया है, उसी तरह हमें यह भी मानना होगा कि संन्यासवाद के आदर्श ने भी महान् सेवा की है। अन्तिम सामंजस्य में हम भौतिक विज्ञान के सत्यों एवं उसके वास्तविक उपयोगी तत्वों का निश्चत रूप से संरक्षण करेंगे, चाहे हमें उसके सभी मौजूदा रूपों को तोड़-मरोड़ या परित्याग ही क्यों न करना पड़े। इससे भी अधिक सावधानी हमें प्राचीन आर्यों की विरासत (Heritage) को सुरक्षित रखने के लिए बरतनी पड़ेगी चाहे वह विरासत कितनी ही न्यून या अव मूल्यित क्यों न हो गयी हो।"[1]

श्री अरबिन्द ने अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के इस समन्वय को एक बौद्धिक विचार मात्र नहीं माना है बल्कि सम्पूर्ण मानवजाति के लिए व्यावहारिक योजना माना है। इस योजना के अन्तर्गत अपने भौतिक लक्ष्यों को त्यागे बिना ही परम सत्य की खोज में आगे बढ़ जा सकता है।

श्री अरबिन्द के इतिहास एवं संस्कृति सम्बन्धी विचार (Shri Aurobindo's views about History and Culture)

श्री अरबिन्द ने एक आध्यात्मिक दार्शनिक के रूप में इतिहास तथा संस्कृति की व्याख्या की है। आप ऐतिहासिक घटनाक्रम के पीछे आध्यात्मिक नियतिवाद के सिद्धान्त को मानते

1 Sri Aurobindo, *The Life Divine*, Vol. I, p. 30.

हैं। इसका तात्पर्य यही है कि इतिहास का विकास-क्रम आध्यात्मिक शक्तियों पर ही आधारित है। देश में समय-समय पर जो ऐतिहासिक घटनाएं घटित होती हैं, उनके मूल में ईश्वरीय शक्ति ही काम करती है। श्री अरबिन्द काली को ईश्वर की निर्णायक शक्ति का प्रतीक मानते हैं। मां काली शक्ति और ज्ञान दोनों का ही स्रोत है। उसी की इच्छा व निर्देशन में इतिहास करवट बदलता है, उसकी गति निर्धारित होती है। आप इतिहास को काली का गतिशील क्रियाकलाप ही मानते हैं। समाज के स्वरूप को बदलने, एक के बाद दूसरी घटना के घटित होने या इतिहास के घटनाक्रम में परिवर्तन लाने का काम इसी दैवी शक्ति मां काली के माध्यम से ही होता है। अपनी बात के समर्थन में श्री अरबिन्द ने दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं : प्रथम बंगाल का विभाजन एवं द्वितीय, फ्रांस की क्रान्ति। इन दोनों घटनाओं के मूल में, आपके अनुसार, ईश्वरीय शक्ति ही काम कर रही थी। काली मां ने ही शोषित, निर्बल एवं सताई हुई जनता को इतनी शक्ति और साहस प्रदान किया कि वह अंग्रेजों के विरुद्ध उठ खड़ी हुई, उसमें प्रबल राष्ट्रीयता का उदय हुआ, उसने सामाजिक-आर्थिक न्याय की मांग की और वह अपने इस प्रयत्न में सफल भी हुई।

इस महान् शक्ति की सहायता के बिना भारतवासियों का अंग्रेजों जैसे शक्तिशाली शासकों के विरुद्ध लड़ना और राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त करना सम्भव नहीं था।

श्री अरबिन्द की मान्यता है कि अंग्रेजों द्वारा भारतीयों के दमन एवं उत्पीड़न के पीछे भी ईश्वरीय शक्ति ही थी। इससे भारतीयों को आत्मविश्लेषण एवं आत्मत्याग की प्रेरणा व अवसर मिला, उनमें नव-जागरण हुआ तथा सम्पूर्ण भारत एक राष्ट्र के रूप में उठ खड़ा हुआ। क्या यह सब कुछ ईश्वरीय इच्छा (काली मां की इच्छा) के बिना सम्भव था, कदापि नहीं। श्री अरबिन्द का विश्वास है कि फ्रांस की क्रान्ति का कारण भी ईश्वर-इच्छा ही है। इस क्रान्ति के नेताओं जैसे मिराबी, दांते, रोबिसपीयर, नैपोलियन, आदि ने अपनी गतिविधियों के पीछे युग की आत्मा यानि काली की इच्छा को ही कारण माना है। उसी की शक्ति एवं इच्छा के बलबूते पर ये नेता इतिहास में परिवर्तन ला सके, परन्तु जब ये नेता लोग अहंकार से प्रेरित होकर अपने को ही सब कुछ समझने लग गये तथा युग-आत्मा की पुकार की तरफ ध्यान नहीं दिया तब उसी शक्ति ने इन्हें विश्व रंगमंच से उठाकर फेंक दिया। ऐतिहासिक घटनाओं के पीछे ईश्वरीय इच्छा, युग-आत्मा या काली मां का हाथ होने के सम्बन्ध में डॉ. वी. पी. वर्मा ने लिखा है कि इस प्रकार का दैवी न्याय का सिद्धान्त या दैवी न्यायवाद भगवद्गीता के विचारों एवं जर्मन प्रत्यक्षवाद के समन्वय का मूर्त रूप है। हीगल ने इसी को इतिहास का औचित्य कहा है। इसी रूप में आप इतिहास को तर्कसंगत एवं बुद्धिगम्य मानते हैं। गीता में महापुरुष को ईश्वर का उपकरण माना गया है। वह महापुरुष वास्तविक कर्ता नहीं होता, वह तो ईश्वरीय कर्म का निमित मात्र ही हुआ करता है। ईश्वर का साक्षात्कार हो जाने पर व्यक्ति ईश्वर की इच्छानुसार आध्यात्मिक कार्य करने लग जाता।[1]

श्री अरबिन्द का दृढ़ विश्वास था कि मानव संस्कृतियों एवं सभ्यताओं का विकास चक्रीय-क्रम से होता है। उनके इस विश्वास के पीछे कार्ल लाम्पेरण्ट के प्रकार सिद्धान्त का स्पष्ट प्रभाव था। लाम्पेरण्ट ने इस सिद्धान्त में जीवन के विकास को बतलाया है एवं जर्मन इतिहास में पांच मनोवैज्ञानिक युगों का विवरण प्रस्तुत किया है। ये युग अग्र प्रकार हैं :

1 V. P. Verma, *Modern Indian Political Thought*, p. 242.

(i) आदिम जर्मनी का प्रतीकात्मक युग, (ii) प्रकारात्मक प्रारम्भिक मध्य युग, (iii) परम्पराबद्ध परवर्ती मध्य युग, (iv) पुनर्जागरण से लेकर प्रबुद्धिकरण तक का व्यक्तिवादी युग, (v) रोमांसवाद से प्रारम्भ होने वाला आत्मनिष्ठावादी युग। श्री अरबिन्द ने उपर्युक्त सिद्धान्त को भारत पर लागू किया। आपने अपनी पुस्तक '*The Human Cycle*' में जीवन के विकास के विभिन्न युगों का विवेचन किया है। आपने वैदिक काल को भारतीय इतिहास का प्रतीकात्मक युग माना है। आपने वर्ण को प्रकारात्मक सामाजिक संस्था के रूप में और जाति को परम्पराबद्ध सामाजिक संस्था बतलाया है। श्री अरबिन्द की मान्यता है कि पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के परिणामस्वरूप भारतीय समाज में भी जर्मनी के समान व्यक्तिवाद का युग आया। यह युग स्वतन्त्रता और बुद्धि का सन्देश अपने साथ लाया। इसी युग में भारत के लोगों ने सामाजिक, आर्थिक, न्यायिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु प्रयत्न किया तथा ईश्वरीय शक्ति की मदद से इस प्रयत्न में सफल भी हुए आपकी मान्यता है कि भारत में बौद्धिक युग अधिक लम्बा नहीं चल सकता क्योंकि यहां तो परम्परागत आत्मनिष्ठावाद का युग ही आयेगा। आपका कहना है कि यहां आत्मनिष्ठावादी युग के स्थान पर आध्यात्मिक युग आना चाहिए। इस युग के आने पर मानव आत्मा, जो ईश्वर का ही अंश है, की समस्त शक्तियां मानव विकास में सहायता करेंगी, मानव-विकास का मार्ग-दर्शन करेंगी। स्पष्ट है कि श्री अरबिन्द ने आध्यात्मिक आधार पर इतिहास की व्याख्या की तथा समाज और संस्कृति को समझाने का प्रयत्न किया।

संस्कृति को व्यक्ति को सुसंस्कृत करने का साधन माना गया है। संस्कृति के सम्बन्ध में श्री अरबिन्द ने कहा है कि यह व्यक्ति के जीवन को परिशुद्ध करने का एक माध्यम है, परन्तु यह शुद्धि केवल शरीर को ही नहीं, बल्कि मन बुद्धि एवं विवेक सभी की होनी चाहिए। ऐसा होने पर ही मानव अपने जीवन को राष्ट्र की सेवा में लगा सकेगा और राष्ट्र की आत्मा के साथ निकट का सम्बन्ध स्थापित कर सकेगा। ऐसा होने पर उस आत्मा की सहायता से वह परमात्मा के साथ भी जुड़ सकेगा। स्पष्ट है कि श्री अरबिन्द के चिन्तन में वेदान्तिक चिन्तन का ही स्पष्ट प्रभाव झलकता है। आपने परम सत्य, परम ज्ञान, परम शुभ व परम आनन्द को सबसे अधिक महत्व दिया है और यह वेदान्तिक चिन्तन की ही देन है।

सामाजिक उद्विकास : मानव चक्र की अवधारणा
(SOCIAL EVOLUTION : CONCEPT OF HUMAN CYCLE)

श्री अरबिन्द ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'मानव चक्र' (*The Human Cycle*) में सामाजिक उद्विकास सम्बन्धी अपने विचार व्यक्त किये हैं। अनेक विद्वानों ने सामाजिक विकास की व्याख्या आर्थिक और राजनीतिक विकास के आधार पर की है। आधुनिक विज्ञान अपने भौतिक आविष्कारों के महत्व एवं जड़ तत्व की सत्ता के आधार पर समाज के उद्विकास को समझाने का प्रयास करता है। वह आत्मा और मन तथा मनुष्य और पशु में प्रकृति की क्रियाओं का अध्ययन भौतिक विज्ञानों के ज्ञान के आधार पर ही करने की चेष्टा करता है। भौतिक वैज्ञानिक इतिहास तथा सामाजिक विकास की प्रत्येक वस्तु की व्याख्या आर्थिक आवश्यकता या आर्थिक शब्द के आधार पर ही करता है। श्री अरबिन्द सामाजिक उद्विकास में मनोवैज्ञानिक तत्वों को अधिक महत्व देते हैं। वे भौतिक वैज्ञानिकों द्वारा आर्थिक तत्वों को दिये जाने वाले महत्व को अस्वीकार करते हैं, उसके स्थान पर वे विचार के प्रभाव को

स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार विचार एवं मनोवैज्ञानिक कारक ही सामाजिक उद्‌विकास की दिशा तय करते हैं। वे विचारों के महत्व को अस्वीकार करने वाले विद्वानों के बारे में लिखते हैं, ऐसे इतिहास वेत्ता भी हैं जो मानव संस्थाओं के विकास में विचार के कार्य तथा विचार के प्रभाव को गौण समझकर उसकी अवहेलना करते हैं अथवा उसके अस्तित्व से ही इन्कार करते हैं। ऐसा समझा जाता है कि यदि रुसो और वाल्टेयर ने भी कुछ भी न लिखा होता तथा विचार के जगत में अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक आन्दोलन ने अपनी साहसिक तथा मौलिक कल्पनाओं की सृष्टि न भी की होती तो भी फ्रांस की क्रांति आर्थिक कारणों से प्रेरित होकर उसी प्रकार और उसी समय पर हुई होती जिस प्रकार और जिस समय पर वह अब हुई।''

किन्तु कुछ विद्वान पश्चिम में भी ऐसे हुए हैं जिन्होंने सामाजिक उद्‌विकास की व्याख्या मनोवैज्ञानिक आधार पर की है। उनमें से एक हैं 'लैम्प्रेख्ट' जिसने यूरोप और विशेषकर जर्मनी के इतिहास को आधार मानकर कल्पना की थी कि मानव समाज कुछ विशिष्ट मनोवैज्ञानिक अवस्थाओं में से होता हुआ प्रगति करता है। वह मानव समाज के उद्‌विकास की छः अवस्थाएं बताता है—प्रतीकात्मकअवस्था,आदर्श-प्रधानअवस्था,परम्पराप्रधानअवस्था, व्यक्ति-प्रधान अवस्था, अनुभव-प्रधान अवस्था तथा आध्यात्मिक युग(अवस्था)। श्री अरबिन्द ने भी इन छः अवस्थाओं को स्वीकार किया है, किन्तु इनकी व्याख्या अपने ही ढंग से की है। वे छठी अवस्था आध्यात्मिक युग की भी कल्पना करते हैं। हम यहां लैम्प्रेख्ट एवं अरविन्द द्वारा प्रदत्त सामाजिक उद्‌विकास के विभिन्न चरणों (अवस्थाओं) या युगों का उल्लेख करेंगे :

(1) प्रतीकात्मक युग (अवस्था) (Symbolic Stage)—श्री अरबिन्द के अनुसार सामाजिक उद्‌विकास का यह प्रथम एवं प्रारम्भिक युग है। इस युग का सम्बन्ध भारतीय इतिहास के वैदिक कालीन समाज से है जिसमें सब कुछ प्रतीकात्मक ही दिखायी देगा। इस युग में धर्म को प्रमुखता दी गयी। वैदिक कालीन प्रतीकवाद में प्राकृतिक पदार्थों के अदृश्य शक्ति की मौजूदगी का अनुभव किया गया। वायु, जल, सूर्य आदि को स्वर्गीय वस्तुएं नहीं मानकर आध्यात्मिक शक्तियों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति माना गया। वैदिक कालीन मनीषियों ने मनुष्य को ईश्वर की लघु प्रतिमा के रूप में मान्यता प्रदान की थी। इस युग में चारों ओर का भौतिक विश्व धार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्वों से आच्छादित था। यह युग सरल मूल प्रवृत्ति का युग था जो धीरे-धीरे जटिलता की दिशा में आगे बढ़ने लगा। यह जटिलता ही उत्थान का प्रारम्भिक चरण था। इस युग की प्रमुख मान्यता यह थी कि प्रतीकात्मक मनोवृत्ति को अपने तथा प्राकृतिक जीवन के पीछे ईश्वरीय यथार्थता को जानने के लिए प्रेरणा प्रदान करती है। श्री अरबिन्द का कहना है कि इस युग दृष्टिकोण को जानने के लिए हमें प्रथाओं एवं कर्मकाण्डों की उत्पत्ति को समझना होगा।

यज्ञ का आर्थिक विधान समस्त समाज पर, उसके जीवन के हर पल, हर क्षण पर शासन करता है और जैसा कि ब्राह्मण ग्रन्थों तथा उपनिषदों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यज्ञ का प्रत्येक कर्मकाण्ड प्रतीकात्मक है। यज्ञ में लौकिक समृद्धि तथा स्वर्ग प्राप्ति के लिए देवताओं की सन्तुष्टि करने का ही प्रयत्न था, यह कहना भ्रममूलक है। ऋग्वेद के एक सूक्त की रचना मानव दम्पत्ति का गठबन्धन करने के लिए विवाह सूक्त के रूप में की गयी है। उस सूक्त का सम्पूर्ण भाग सूर्य की कन्या सूर्या के भिन्न-भिन्न देवताओं के साथ क्रमिक

विवाहों के विषय से सम्बन्धित हैं, किन्तु यह भी प्रतीकात्मक ही हैं। इसी प्रकार से स्त्री तथा पुरुष के आपसी सम्बन्ध के रूप में भारतीय आदर्श सदा ही पुरुष तथा प्रकृति के सम्बन्धों के प्रतीक द्वारा दर्शाया गया है। पुरुष विश्व में पुल्लिंग तथा प्रकृति स्त्रीलिंग की प्रतीक है। प्रारम्भिक वैदिक युग की प्रतीकात्मक संस्कृति में स्त्री व पुरुष की स्थिति एक प्रकार से समानता की थी, यद्यपि पुरुष को कुछ आधिपत्य भी प्राप्त था, किन्तु उस समय स्त्री जितना पुरुष का अंग थी उतनी ही सहचरी भी थी। उसके बाद की विचारधारा में जब प्रकृति को पुरुष के अधीन समझा जाने लगा तब स्त्री भी पूर्णतः पुरुष पर निर्भर हो गयी, उसका जीवन केवल पुरुष के लिए ही रह गया और उसका पृथक् आध्यात्मिक अस्तित्व भी नहीं के बराबर हो गया। तान्त्रिक शाक्त धर्म में स्त्री को उच्चतम स्थान प्रदान किया गया, किन्तु यह तान्त्रिक संस्कृति भी वेदान्तिक विचारधारा से मुक्त नहीं हो सकी।

एक उदाहरण वैदिक युग की चार वर्णों की व्यवस्था, का भी है। वर्णों को गलती से चार जातियों का नाम दिया जाता है। जाति परम्परागत वस्तु है जबकि वर्ण एक प्रतीकात्मक तथा आदर्श प्रधान संस्था है। जैसा कि कहा जाता है कि समाज की चातुर्वर्ण व्यवस्था आर्थिक विकास का परिणाम थी और राजनीतिक कारणों ने उसमें जटिलता उत्पन्न कर दी। ऐसा सम्भव भी है, किन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि उस समय के लोग इस व्यवस्था को ऐसा नहीं समझते थे। वैदिक काल के लोग इसके भौतिक कारणों पर ध्यान नहीं देते थे अथवा केवल गौण रूप से ही ध्यान देते थे। वे सबसे पहले और मुख्य रूप में सदा ही इसके प्रतीकात्मक, धार्मिक अथवा मनोवैज्ञानिक महत्व की ही खोज करते थे। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त में चारों वर्णों की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है और यह बताया गया है कि सृष्टिकर्ता ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अंगों से विभिन्न वर्गों की उत्पत्ति हुई : मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, जंघाओं से वैश्य तथा पांवों से शूद्र वर्ण उत्पन्न हुए। आज तो हमारे लिए यह कोरी कल्पना है और उसका भाव यह लिया जाता है कि ब्राह्मण ज्ञानी होते थे, क्षत्रिय, शक्ति सम्पन्न, वैश्य उत्पादन करने वाले एवं समाज को आर्थिक अवलम्ब देने वाले तथा शूद्र समाज की सेवा करने वाले; मानो यही सब कुछ हो, मानो उस समय के लोग ब्रह्मा के शरीर के विषय में अथवा सूर्या के विवाहों के सम्बन्ध में कोरी काव्यमय कल्पनाओं के प्रति इतनी गम्भीर श्रद्धा रखते थे कि केवल उन्हीं के आधार पर उन्होंने कर्मकाण्ड, रीति-रिवाज, संस्थाएं, सामाजिक श्रेणियां और नैतिक अनुशासन के महान विभाग निर्मित कर डाले।

उन प्राचीन पूर्वजों की मनोवृत्ति में सदा अपनी ही मनोवृत्ति का प्रतिबिम्ब देखने की हमारी प्रवृत्ति रहती है। और यही कारण है कि हम उन्हें कोई कल्पनाशील अभ्यासों से अधिक कुछ नहीं समझ पाते। उन पूर्वजों के लिए ब्रह्मा के शरीर का प्रतीक किसी भी उपमा की अपेक्षा अधिक अर्थपूर्ण था, वह एक दिव्य सत्य को प्रकट करता था। उनके विचार में मानव समाज उस विराट पुरुष को जीवन में अभिव्यक्त करने का एक प्रयत्न भर था जो अपने आपको अन्य प्रकार से भौतिक तथा अभौतिक विश्व के रूप में अभिव्यक्त किये हुए हैं। मनुष्य तथा विश्व दोनों एक ही अदृश्य सत्य के प्रतीक एवं अभिव्यक्ति हैं। इस प्रतीकात्मक मनोवृत्ति से समाज में प्रत्येक वस्तु को पवित्र संस्कार का, धार्मिक तथा अपरिहार्य नियम का रूप देने की प्रवृत्ति उत्पन्न, हो गयी थी। इस प्रकार हमारे पास चार वर्णों का प्रतीकात्मक विचार है जो इस बात को प्रकट करता है कि मनुष्य में भगवान कई रूपों में विद्यमान है,

ज्ञान रूप में, शक्ति रूप में, उत्पादन, उपभोग व आपस के सहयोग के रूप में तथा सेवा, आज्ञापालन एवं कर्म के रूप में। इस प्रकार से समाज के विकासक्रम की इस पहली प्रतीकात्मक अवस्था में धर्म तथा आध्यात्मिकता का बोलबाला है दूसरे तत्व जैसे मनोवैज्ञानिक, नैतिक, आर्थिक तथा भौतिक तत्व भी विद्यमान तो होते हैं, किन्तु धार्मिक तथा आध्यात्मिक विचारों की अपेक्षा उन्हें गौण स्थान प्राप्त होता है।

(2) आदर्श-प्रधान युग (अवस्था) (Typal Stage)—प्रतीकात्मक युग के बाद आदर्श-प्रधान युग या अवस्था का प्रारम्भ होता है। यह मनोवैज्ञानिक एवं नैतिक युग है। यहां मूल प्रवृत्ति का स्थान विवेक ले लेता है, यहां आध्यात्मिक तथा धार्मिक तत्व भी मनोवैज्ञानिक विचार तथा नैतिक आदर्श की अपेक्षा गौण स्थान में रखे गये हैं। इस अवस्था में धर्म, नैतिक लक्ष्य और अनुशासन के लिए गुह्य स्वीकृति मात्र रह जाता है और समाज के लिए उसका मुख्य उपयोग भी इसी रूप में। धर्म इस अवस्था में अधिकाधिक पारलौकिक स्वरूप ग्रहण करने लगता है। मनुष्य में भगवान की सत्ता अथवा वैश्व तत्व की सीधी अभिव्यक्ति के भाव की प्रधानता अब नहीं रह जाती और न इसका मुख्य स्थान ही बना रहता है। धीरे-धीरे धर्म पृष्ठभूमि में चला जाता है और जीवन सिद्धान्त में से भी निकल जाता है। इस युग में प्रतीकों का रूपान्तरण कई प्रकारों में हुआ और इन बौद्धिक प्रकारों का परिवर्तन धीरे-धीरे परम्पराओं के रूप में हुआ। समाज में श्रम-विभाजन बढ़ गया और वर्ण-व्यवस्था प्रकारात्मक संस्था के रूप में अस्तित्व में आई। इस युग में सामाजिक सम्मान एवं सामाजिक आदर्शों का महत्व बढ़ गया।

यह आदर्श-प्रधान अवस्था बड़े-बड़े सामाजिक आदर्शों की सृष्टि करती है जिनका प्रभाव इस अवस्था को पार करने पर भी मानव मन पर बना रहता है। अपनी समाप्ति के बाद इस अवस्था की मुख्य देन जो यह पीछे छोड़ जाती है वह है सामाजिक मान-मर्यादा का भाव। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण की मान-मर्यादा शुद्धि एवं पवित्रता में मन तथा आत्मा सम्बन्धी बातों के लिए विद्या, और ज्ञान की निष्काम प्राप्ति में निहित है। और क्षत्रिय की मान-मर्यादा साहस, वीरता, शक्ति, स्वाभिमान, आत्म संयम, आत्म प्रभुत्व तथा उच्चता को बनाये रखने के कर्त्तव्य-कर्म के रूप में मानी गयी है। वैश्य की मान-मर्यादा शुद्ध और खरे व्यवहार, व्यापार एवं विषयक सहायता, उपयोगी उत्पादन व्यवस्था, उदारता तथा परोपकार मानी गयी है। शूद्र की मान-मर्यादा आज्ञा पालन, अधीनता, सेवा, आसक्तिरहित अनुराग, अनुराग के साथ अपने आप को समर्पण करना मानी गयी है। धीरे-धीरे यह भाव परम्पराओं का भाव धारण कर लेते हैं और अन्त में यह भाव जीवन के वास्तविक अंग से कहीं अधिक विचार तथा शब्दों की परम्परा में बंधे रह जाते हैं।

(3) परम्परा-प्रधान युग (अवस्था) (Conventional Stage)—आदर्श-प्रधानअवस्था स्वभावतः ही परम्परा की अवस्था में विलीन हो जाती है। बाह्य उपकरण जो आत्मा एवं आदर्श की बाह्य अभिव्यक्ति के साधन होते हैं, जब स्वयं आदर्श से भी अधिक महत्व प्राप्त कर लेते हैं। जब शरीर अथवा वस्त्रों को व्यक्ति की अपेक्षा अधिक महत्व प्राप्त हो जाता है, तब मानव समाज में परम्परा.प्रधान भूमिका का सूत्रपात होता है। इस प्रकार जाति-पांति के विकास में इस नैतिक चतुर्वर्ण के बाह्य भौतिक अवलम्बों; जैसे जन्म, आर्थिक कर्म, धार्मिक कर्मकाण्ड तथा पवित्र संस्कार एवं पारिवारिक रीति-नीति में से प्रत्येक को उसके परिणाम

एवं महत्व से कहीं अधिक अतिरंजित स्वरूप मिलने लगता है, ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ में सामाजिक व्यवस्था में जन्म को प्रधान पद प्राप्त नहीं था वरन् गुण एवं योग्यता ही प्रधान थी, किन्तु धीरे-धीरे जब वर्ण को स्थायित्व प्राप्त हो गया तो, शिक्षा और परम्परा के द्वारा उसकी रक्षा की जाने लगी और यह वर्ण व्यवस्था आनुवंशिक हो गयी और एक परम्परा बन गयी। इस प्रकार परम्परा के अनुसार ब्राह्मण का पुत्र सदैव ही ब्राह्मण कहा जाने लगा। परम्परा के इस कठोर स्वरूप के एक बार स्थापित होने के पश्चात् उसकी नैतिक भूमिका गौण हो गयी।

जाति-व्यवस्था के आर्थिक वैभव के काल में पुरोहितों और पण्डितों ने ब्राह्मणों के नाम की आड ली, शासक वर्ग तथा जमींदारों ने क्षत्रिय के नाम की, व्यापारी तथा धन संग्रह करने वालों ने वैश्य की, श्रमिक तथा आर्थिक दास वर्ग ने शूद्र के नाम की आड़ ली। समाज के इस परम्परा युग की प्रवृत्ति मर्यादाओं को बनाने रूढ़ियों और वंश परम्पराओं को निर्मित करने, धर्म को रूढ़िगत रूप देने, विद्या और शिक्षण को परम्पराओं और अपरिवर्तनीय रूप के साथ बांध देने की ओर होती है। श्री अरबिन्द कहते हैं कि इस परम्परा युग का स्वर्णकाल भी होता है जब इस युग के रूपों को प्रेरणा देने वाले भाव तथा विचार जीवन्त होते हैं, वे दीवारों में बन्द नहीं होते, रूढ़िवादी नहीं होते, उनमें लचीलापन होता है। यही कारण है कि यूरोप के मध्ययुग को जो परम्परा का युग था, स्वर्णकाल की संज्ञा दी गयी। उस समय के साहित्य, कला, संस्कृति, सभ्यता, काव्य एवं रचनाओं की सराहना की गयी। दूसरी ओर इस परम्परा युग का एक घृणित रूप भी है जो उस युग के अज्ञान, अन्याय, क्रूरता, अत्याचार, दुःख, विरोध, दीनता एवं क्रन्दन की कहानी कहता है। समाज के इन परम्परायुगों में सुन्दर, सुछु तथा मानव प्रगति के लिए सहायक तत्व भी मौजूद रहते हैं तो दूसरी ओर उसका कठोर रूप भी दिखाई देता है। उसी युग में महापुरुषों द्वारा धर्म सुधार के प्रयत्न प्रारम्भ होते हैं। इस युग में महापुरुषों द्वारा जाति-व्यवस्था में सुधार के प्रयत्न किये गये, किन्तु आगे चलकर लोकाचारों और यथार्थ जीवन के बीच अन्तर बढ़ता ही गया परिणामस्वरूप एक नवीन युग का प्रारम्भ हुआ जिसे एक व्यक्तिवादी युग, व्यक्ति-प्रधान युग तथा तर्क-प्रधान युग के रूप में जाना जाता है।

(4) व्यक्ति-प्रधान युग (अवस्था) (Individualistic Stage)—मानव समाज का व्यक्ति प्रधान युग परम्परा युग के दूषित तथा असफल हो जाने के फलस्वरूप एवं जड़-परिपाटियों के शासन के विरुद्ध विद्रोह के रूप में आता है। यह युग सुधारवादी युग, तर्क-प्रधान युग, विद्रोह का युग, प्रगति तथा स्वतन्त्रता के युग के नाम से जाना जाता है। प्रारम्भ में इस युग में भी अपने से पूर्व के परम्परा युग का कुछ प्रभाव बना रहता है और यह भ्रमपूर्ण विचार भी बना रहता है कि बाह्य रूपों और अवस्थाओं के द्वारा सत्य की प्राप्ति हो सकती है। श्री अरबिन्द ने आधुनिक व्यक्तिवादी युग को विकास के आवश्यक अंग के रूप में माना है। प्राचीन परम्पराओं के खोखलेपन के कारण व्यक्ति नवीन समाज की खोज की दिशा में आगे बढ़ता है। परम्परागत सामाजिक आदर्श, नियम, मान्यताएं एवं संस्थाएं रूढ़ियों के रूप में बदलकर व्यक्तित्व के समुचित विकास में बाधाएं उत्पन्न करती हैं, परिणामस्वरूप व्यक्ति विद्रोह कर उठता है, इससे व्यक्तिवाद का जन्म होता है। जब व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि परम्पराओं का सत्य अब मर चुका है और वे असत्य का सहारा ले रही हैं। तब नवीन युग का व्यक्तिवाद विश्वास और व्यवहार की परम्पराओं के पीछे वास्तविक और ठोस सत्य की

किसी दृढ़ आधारशिला को खोज निकालने का एक प्रयत्न होता है। यह युग अनिवार्य रूप में व्यक्तिवादी है क्योंकि पुराने सब लोक संमत मानदण्ड खोखले हो चुके हैं और अब आगे उनसे किसी प्रकार की आंतरिक सहायता नहीं मिल सकती। अतः व्यक्ति को ही आविष्कारक तथा नेता बनकर, अपनी व्यक्तिगत बुद्धि, अन्तर्ज्ञान, आदर्शवाद, आकांक्षा तथा जीवन पर अपने अधिकार अथवा अपने अन्दर के किसी भी अन्य प्रकाश की सहायता से जगत तथा स्वयं की सत्ता का सच्चा विधान खोज निकालना होता है। जब वह इस विधान को पा लेता है अथवा वह समझता है कि उसने इसे पा लिया है तभी इसकी सहायता से धर्म, समाज, नीति, राजनीतिक संस्थाओं, अपने साथियों के साथ अपने सम्बन्धों, अपनी पूर्णता के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों और मानव जाति के लिए अपना परिश्रम, इन सबको दृढ़ आधारशिला पर पुनः स्थापित करने तथा अधिक जीवन्त रूप में ढालने के लिए यत्नशील होता है।

व्यक्तिवाद का सिद्धान्त यह है कि मानव अपने आपको एक पृथक् अस्तित्व मानकर अपनी ही बुद्धि द्वारा शासित अपनी इच्छा के अनुसार अपना विकास और जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा भौतिक सत्ता की प्राप्ति के लिए स्वतन्त्र है। वह अपनी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकार के साथ-साथ दूसरों की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और अधिकार को भी स्वीकार करता है। इस स्वतन्त्रता और अधिकार ने व्यक्तिवादी युग के समाज को एक नया रूप देने का प्रयत्न किया। व्यक्तिवादी युग ने राष्ट्रों के जीवन में स्वतन्त्रता को अपना आदर्श बनाया और एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र की स्वतन्त्रता को भी स्वीकार करने लगा। व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुसार व्यक्ति और राष्ट्र दोनों को ही समान रूप से यह पूर्ण अधिकार है कि वह अपने कार्यों का स्वतन्त्रतापूर्वक संचालन करे और जब तक वे दूसरे व्यक्तियों अथवा राष्ट्रों के अधिकारों और स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप नहीं करते तब तक उनके अपने अधिकारों और स्वतन्त्रता में कोई हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। इन विचारों का प्रभाव अब भी शक्ति रखता है। पिछले यूरोपीय संघर्ष में राष्ट्रों की स्वतन्त्रता को ही आदर्श के रूप में सामने रखकर युद्ध छेड़ा गया था।

इस व्यक्ति-प्रधान युग का प्रारम्भ सर्वप्रथम यूरोप में हुआ और वहीं इसका पूर्ण साम्राज्य भी स्थापित हुआ। पूर्वी देशों एवं भारत में यूरोप एवं पश्चिम के संसर्ग के प्रभाव के कारण ही व्यक्तिवादी युग आया। यूरोप ने अपने व्यक्तिवादी युग में जिन सत्यों की उपलब्धि की है वे केवल आरम्भिक, भौतिक तथा बाह्य तथ्यों के विषय में हैं। यूरोप का व्यक्ति-प्रधान युग प्रारम्भ में बुद्धि का विद्रोह मात्र था और इसकी परिणति भौतिक विज्ञान की प्रगति के रूप में हुई। व्यक्तिवाद का ऊषाकाल सदा ही संशय और अस्वीकृति का काल होता है। व्यक्ति को अनुभव होने लगता है कि उस पर जो धर्म लादा गया है उसके सिद्धान्तों तथा व्यवहार का आधार किसी ऐसे आध्यात्मिक सत्य पर नहीं है जिसकी सदा परख हो सकती है वरन् वह देखता है कि उसका आधार तो किसी प्राचीन पुस्तक का लेख है, किसी धर्म-गुरु का उपदेश है, किसी धार्मिक सम्प्रदाय की परम्परा है, या आचार्यों या पण्डितों की टिप्पणियां हैं, इनमें से किसी की भी खोज, परीक्षण या अनुसन्धान करने की बात नहीं कहता। जब व्यक्ति को किसी नियम या परम्परा को मानने के लिए यह कहकर बाध्य किया जाता है कि ऐसा करना पवित्रता है, यह सत्य है यह भगवान का आदेश है, यह मानव जीवन का आदिकाल से चला आ रहा नियम है तब व्यक्ति प्रत्युत्तर में यह शंका करता है कि मैं कैसे

जानूं कि यह सत्य है, कोई कल्पना नहीं है, भगवान ने कब इसका आदेश दिया था और मुझे यह कैसे पता लगे कि उनके आदेश का यही आशय था? क्या कभी भगवान ने मनुष्य जाति को अपनी इच्छा स्वयं कहकर सुनायी है? और जिस विधान को अनादि कहा गया है क्या वह अनादि है? इन सब शंकाओं के कारण व्यक्ति विद्रोही हो उठता है, प्राचीन बन्धनों को उतार फेंकता है और सत्य जिस रूप में दिखाई देता है उसी रूप में वह उसकी घोषणा करता है और समाज की धार्मिक राजनीतिक, नैतिक व्यवस्थाओं पर प्रहार करता है तथा नवीन सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक व्यवस्थाओं के निर्माण के लिए प्रयत्न करता है, आन्दोलन करता है, फलस्वरूप समाज में धार्मिक और सामाजिक सुधार की एक लहर पैदा होती है। समाज की पुर्नरचना और पुनरुज्जीवन के प्रयास होते हैं। यूरोप में प्रोटेस्टैण्ट धर्म का उदय तथा भारत में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, रामकृष्ण मिशन और अनेक अन्य धार्मिक सामाजिक सुधारों के आन्दोलन व्यक्ति-प्रधान तथा तर्क-प्रधान युग की ही देन है। इस युग में धार्मिक, नैतिक विधान का स्थान वैज्ञानिक तथा बौद्धिक अथवा प्रकृतिवादी नियम ले लेते हैं तथा ब्राह्मण शास्त्रकारों का स्थान विज्ञानवेत्ता, व्यवस्थापक तथा आर्थिक विशेषज्ञ ले लेते हैं। विवाह, सन्तानोत्पत्ति तथा बच्चे की शिक्षा जो पहले शास्त्रों द्वारा नियत होते थे वे अब राज्यों के द्वारा निर्धारित होते हैं।

किन्तु इस युग में कुछ ऐसी शक्तियां भी क्रियाशील होती हैं जो मानव समाज के इस विकास-क्रम में बाधा पैदा करती हैं; जैसे तर्क-प्रधान भौतिक विज्ञान अपनी सीमाएं उल्लंघन कर चुके हैं और समाप्ति की ओर अग्रसर हो रहे हैं, नये विचार संसार में दवा रहे हैं और शीघ्रता से स्वीकार किये जा रहे हैं। ये विचार हैं—नित्से का जीवन इच्छा का सिद्धान्त (Will to Live) बर्गसां का बुद्धि की अपेक्षा अन्तर्बोध (Intution) को अधिक महत्व देना अथवा जर्मनी में अति बौद्धिक शक्ति को एवं सत्यों की अतिबौद्धिक क्रमशृंखला को मान्यता प्रदान करने की आधुनिकतम दार्शनिक प्रवृत्ति आदि। ये नवीन विचार तर्क प्रधान युग को समाप्त कर अनुभव-प्रधान युग को आमन्त्रित कर रहे हैं जो मानव विकासक्रम में एक अभिनव युग होगा, फिर भी इस युग के दो शक्तिशाली विचार तो आने वाले युगों में भी बने रहेंगे, वे हैं—समाज के अंगों के रूप में सब व्यक्तियों के अधिकार की जनतन्त्रात्मक धारणा और दूसरा है कि व्यक्ति एक सामाजिक इकाई ही नहीं है, वह केवल मानव समूह, संघ और समुदाय का एक सदस्य मात्र ही नहीं है वरन् अपने आप में भी कुछ है, वह एक आत्मा है, एक सत्ता है, जिसे अपना एक व्यक्तिगत विधान सिद्ध करना है।

(5) अनुभव-प्रधान युग (अवस्था) (Empirical Stage)—निरन्तर विकास और परिवर्तन प्रकृति का नियम है, अतः कोई भी युग चिर स्थायी नहीं होता, उसे परिवर्तन के दौर से गुजरना ही होता है। इसलिए ही व्यक्ति प्रधान एवं तर्क प्रधान युगस्थिर न रह सका और आत्मा तथा जीवन के सत्य को पुनः आविष्कृत करने के लिए प्रयत्न के फलस्वरूप अनुभव-प्रधान युग का प्रारम्भ हुआ। मानव-विकास में अनुभव प्रधान अवस्था एक ऐसी मार्मिक अवस्था है जिसमें प्रतीकों, आदर्शों एवं परम्पराओं से आगे बढ़ कर व्यक्ति की सत्ता पर विचार किया जाता है। इसमें व्यक्ति को जानने के लिए बाहर से नहीं वरन् भीतर से जानने एवं अनुभव करने का प्रयत्न किया जाता है। इस युग में जीवनयापन से परे हटकर आत्मज्ञान की ओर आत्मा में एवं आत्मा के द्वारा जीवनयापन करने की ओर बढ़ा जाता है। अनुभववाद अन्दर

से प्रारम्भ होता है.तथा हर वस्तु को एक विकासशील आत्मचेतना की दृष्टि से देखता है। इसकी प्रगति का सिद्धान्त है आत्मानुबोध, आत्मानुभूति और इसके परिणामस्वरूप आत्मनिर्माण। बुद्धि एवं संकल्प आत्मा की प्रभावशाली गतियां हैं। बुद्धि एवं बौद्धिक संकल्प के द्वारा हम अपने आपको पहचानते तथा अपनी अनुभूति प्राप्त करते हैं। अनुभववाद हमारी प्रकृति और सत्ता को एक विशाल और बहुमुखी दृष्टि से देखने की तथा हमारे अन्दर ज्ञान और कार्यसिद्धि की बहुत-सी शक्तियों को स्वीकार करने की प्रवृत्ति रखती है। अनुभववाद 'अंतर्बोध'(Intution) की शक्ति है। यह शक्ति पदार्थों को उनके अखंड रूप में, उनके सत्य में, उनके अन्दर की समस्त गहनता एवं समस्वरता में जानती है। अनुभववाद की समस्त प्रेरणा आत्मा तक पहुंचने की, आत्मा में रहने की, आत्मा द्वारा देखने की तथा आत्मा के सत्य को जीवन में क्रियान्वित करने की होती है।

आधुनिक सभ्यता जिस विशिष्ट प्रवृत्ति की ओर झुक रही है उसका स्वरूप यही है। हर जगह हम पदार्थों को समझने के लिए अनुभव-प्रधान दृष्टिकोण का प्रयोग करने लगे हैं। शिक्षा के क्षेत्र में जैसे-जैसे बच्चा बड़ा होता हुआ मनुष्य बनता हैं, उसकी मानसिक अवस्था का ज्ञान प्राप्त करना और अपनी अध्यापन तथा प्रशिक्षण की पद्धतियों का इसी आधार पर निर्माण करना हमारा लक्ष्य है। बच्चे को अपनी बौद्धिक, भावनात्मक, रसात्मक, नैतिक एवं आध्यात्मिक सत्ता तथा अपने सामाजिक जीवन और अपनी प्रवृत्तियों को अपनी ही प्रकृति एवं क्षमता के अनुसार विकसित करने में उसकी सहायता करना ही नवीन लक्ष्य है। यह लक्ष्य उस पुरानी शिक्षा पद्धति के लक्ष्य से सर्वथा भिन्न है जिसमें बच्चे के मस्तिष्क में ज्ञान को जबरन ठूंस दिया जाता था। आज तो अपराधी के प्रति भी नजरिया बदला है। उसे कानून तोड़ने वाला मानकर दण्ड, बन्दीगृह, आतंकित किये जाने, फांसी पर लटकने अथवा शारीरिक एवं नैतिक रीति से पीड़ित किये जाने के योग्य नहीं माना जाता। वरन् उसे समझने का, उसकी आनुवंशिकता उसके सामाजिक परिवेश को जानने का प्रयत्न किया जाता है तथा उसे बाहर से कुचल देने के स्थान पर अन्दर से उसका अधिकाधिक परिवर्तन करने का यत्न किया जाता है।

अनुभववाद में समुदाय, राष्ट्र और अन्य किसी भी समूह को एक ऐसा सजीव संगठन माना जाता है जिसकी अपनी आन्तरिक सत्ता है और उसी के अनुसार उसका संवर्धन तथा स्वाभाविक विकास होता है, इस विकास को पूर्ण एवं फलप्रद बनाना उसका कर्तव्य है। अनुभववाद का वास्तविक स्वरूप आत्मज्ञान के लिए प्रयत्न करना। और सच्चे आत्मज्ञान तथा अन्दर की सामर्थ्य के आधार पर जीवन चलाना है। अतः वास्तविक व्यक्ति अहं नहीं है वरन् वह एक ऐसा दिव्य व्यक्तित्व है जो हमारे विकास के द्वारा हमारे अन्दर उदय होने के लिए तैयारी कर रहा है। इसका उदय और इसकी तृप्ति ही वह सच्चा उद्देश्य है जिसे अनुभवात्मक रीति से सत्य को जानने के लिए आन्तरिक खोज की जानी चाहिए। सच्चा अनुभववाद हमको यह सिखाता है कि हम अपने अहं और अपनी सत्ता से अधिक उच्च आत्मा है।

(6) आध्यात्मिक युग (अवस्था) (Spritual Stage)—अन्त में मानव विकास को अनुभवात्मक युग में से होकर अति बौद्धिक अथवा आध्यात्मिक युग की ओर बढ़ना ही होगा जिसमें वह आध्यात्मिक, अतिबौद्धिक तथा अर्न्तज्ञानात्मक और एक विज्ञानात्मक चेतना का विकास कर लेगा। तथा वह जो कुछ बनने, अनुभव करने, सोचने तथा करने का प्रयास

कर रहा है उसके लिए वह एक उच्चतर, दिव्य प्रकाश एवं शक्ति को अनुभव करने में समर्थ हो जाएगा। श्री अरबिन्द ने आध्यात्मिक युग के सन्दर्भ में अपनी कल्पना ही की है। इस युग में किस प्रकार की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाएं होंगी, इसका भी उन्होंने उल्लेख किया है। श्री अरबिन्द के अनुसार एक आध्यात्मीकृत समाज अपने आध्यात्मिक व्यक्तियों के समान ही अहम् में नहीं वरन् आत्मा में निवास करेगा, एक सामूहिक अहम् के रूप में नहीं वरन् सामूहिक आत्मा के रूप में अस्तित्व रखेगा। अहम् भावपूर्ण दृष्टिकोण से मुक्ति इसकी पहली और प्रमुख विशेषता होगी। आध्यांत्मिक समाज मनुष्य में निहित दिव्य सत्ता की अभिव्यक्ति और प्राप्ति को ही अपनी समस्त क्रियाकलाप का, अपनी शिक्षा, विद्या, और अपने विज्ञान का नीतिशास्त्र, कला तथा अपने आर्थिक व राजनीतिक ढांचे का सम्पूर्ण और प्रधान लक्ष्य बनाएगा। जिस प्रकार से प्राचीन वैदिक युग में उच्च जातियों की सांस्कृतिक शिक्षा के साथ हुआ वही आध्यात्मिक शिक्षा के साथ होगा। वह अपने क्षेत्र में समस्त ज्ञान को अपने अन्दर समेट लेगी और आत्मविकास और आत्मउपलब्धि को प्राप्त करेगी। इस समाज में **भौतिक और आन्तरात्मिक विज्ञान** का अध्ययन मानव जीवन के स्थूल उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए नहीं वरन् ईश्वर एवं आत्मा को जानने के लिए करेंगे। **नीतिशास्त्र का उद्देश्य** कर्म का नियम स्थापित करना नहीं वरन् मनुष्य में दिव्य प्रकृति को विकसित करना होगा। **कला का उद्देश्य** बाह्य जगत् की मूर्तियों का निर्माण करना नहीं वरन् उन्हें एक ऐसे अर्थपूर्ण अर्न्तदृष्टि से देखेगा जो उनके सौन्दर्य और सत्य को प्रकट कर सके।

एक आध्यात्मीकृत समाज अपने **समाजशास्त्र** में व्यक्ति को सन्त से लेकर अपराधी को सामाजिक समस्या की इकाई के रूप में नहीं देखेगा वरन् उन्हें एक ऐसी आत्मा के रूप में देखेगा जो एक जाल में फंसी दुःख उठा रही है और जिन्हें उसे मुक्त करना है। व्यक्ति को ऐसी आत्मा के रूप में देखेंगे जो विकसित हो रही है और उन्हें विकसित होने के लिए उत्साहित करना है अथवा ऐसी आत्माएं जो विकसित हो चुकी हैं और जिनसे वे निम्न आत्माएं जो अभी अपरिपक्व हैं जिन्हें सहायता और शक्ति प्रदान करनी है।

आध्यात्मिक युग के **अर्थशास्त्र का उद्देश्य** उत्पादन की एक विशाल मशीन का निर्माण करना नहीं होगा वरन् उसका उद्देश्य प्रत्येक मनुष्य को उसकी प्रकृति के अनुसार कार्य का आनन्द देने एवं आन्तरिक विकास के लिए स्वतन्त्रता प्रदान करना होगा, साथ ही उसका उद्देश्य समृद्ध और सुन्दर जीवन की व्यवस्था भी करना होगा। **राजनीतिक क्षेत्र** में आध्यात्मिक युग में दूसरों का बध कर रक्त बहाने में व्यक्ति की रुचि नहीं होगी और न ही वह सशस्त्र फौजों द्वारा निहत्थे लोगों पर गोलियों की बौछारें करेगा। आध्यात्मिक युग में व्यक्ति और समुदाय का उद्देश्य दिव्य सत्ता को प्राप्त करना होगा तथा व्यक्ति बाह्य दबाव के स्थान पर आत्मिक दबाव और स्वतन्त्रता से परिपूरित होगा। बाह्य दबाव के कारण ही व्यक्ति दूसरों का, अपने परिवार का, अपनी जाति, कुल, धर्म और अपने समाज और राष्ट्र का दास बना रहता है। बाह्य दबाव से बचने के लिए व्यक्ति को आत्मा का दबाव अनुभव करना चाहिए और उसी के दबाव में रहना चाहिए। ज्योंही मनुष्य अपनी आध्यात्मिक सत्ता को पहचान लेता है वह बाह्य नियमों से छूट जाता है। आध्यात्मिक युग इस सत्य को अनुभव कर लेगा और वह मनुष्य को मशीन द्वारा पूर्ण करने का कार्य नहीं करेगा। उसका उद्देश्य मानव जीवन में बाह्य दबाव को जितना जल्दी हो सके और जिस हद तक हो सके कम कर देना

होगा और ऐसा वह अपने अन्दर स्थित आत्मा के दिव्य दबाव को जागृत करके कर सकेगा। पूर्णतः आध्यात्मिक समाज वह होगा जिसमें सब मनुष्य गहरे रूप में स्वतन्त्र होंगे, व्यक्ति भगवान में निवास करने वाली एक आत्मा होगा और उसका जीवन उसकी अपनी दिव्य अहम् मुक्त प्रकृति के नियम से संचालित होगी। आध्यात्मिक युग में व्यक्ति केवल अपनी ही मुक्ति और पूर्णता की खोज में जुटा नहीं रहेगा वरन् दूसरों की मुक्ति और पूर्णता की खोज करना भी उसका उद्देश्य होगा। आध्यात्मिक युग में मनुष्य सबमें भगवान के दर्शन करेगा और अपनी प्रेममयी सेवा के द्वारा सबमें भगवान की उपासना करेगा। वह न तो अपने लिए और न राज्य और समाज के लिए और न वैयक्तिक या सामूहिक अहम् भाव के लिए ही जीवन धारण करेगा वरन् उसका जीवन एक उच्च वस्तु के लिए, उसके अन्दर स्थित भगवान के लिए और विश्व स्थित दिव्य सत्ता के लिए होगा इस प्रकार श्री अरबिन्द के अनुसार मानव समाज का विकास प्रतीकात्मक युग से प्रारम्भ होकर आध्यात्मिक युग में पूर्णता को प्राप्त करेगा।

अतिमानव की अवधारणा
(CONCEPT OF SUPERMAN)

श्री अरबिन्द के विचारों में अतिमानव की अवधारणा का एक विशिष्ट स्थान है। वे मानव का अतिमानसिक विकास कर उसे अतिमानव बनाना चाहते थे। श्री अरबिन्द के पूर्व जर्मन दार्शनिक नीत्से ने भी अतिमानव की बात कही थी। श्री अरबिन्द की मान्यता यह रही है कि आज के युग की सभी समस्याओं का हल यह है कि मानव आज जिस भूमि पर है उससे ऊपर उठकर वह नवीन भूमि पर पहुंच जाए जो अतिमानव की भूमि है। मनुष्य को इस प्रकार से ऊपर उठने का प्रयास करना चाहिए। वे कहते हैं कि वर्तमान में मनुष्य के द्वारा किये जाने वाले सभी अत्याचारों एवं गलत कार्यों के पीछे प्रमुख कारण बुद्धि से प्रेरित होकर कार्य करना ही है। इसीलिए समाज सुधारकों, साधु-सन्तों, उपदेशकों, आदि का कहना है कि मानव बुद्धि को निर्मल बनाओ, उसका कलुष धो डालो ऐसा होने पर मनुष्य के कर्म अपने आप सुधर जाएंगे। श्री अरबिन्द के अनुसार मनुष्य के कलुष तभी समाप्त होंगे जब वह अतिमानव का स्वामी होगा। बुद्धि में भी काफी कुछ अज्ञान भी रहता है, परन्तु पूर्ण मानव पूर्णतः प्रकाश की स्थिति है। अतः मनुष्य को अज्ञान से बचने के लिए अति मानस में प्रवेश करना चाहिए और अतिमानव में प्रवेश करने वाले ही अतिमानव होंगे। आपके अनुसार यह सम्भव है कि अतिमानस पहले किसी एक व्यक्ति या समूह में उतरे फिर उसका विस्तार होता जाए और विस्तार इतना हो जाए कि एक दिन सारी मनुष्य जाति ही अति-मनुष्य में बदल जाए।

श्री अरबिन्द का मत है कि साधारण मानव समाज धीरे-धीरे ही विकसित होता है और उसमें जड़-भौतिक तथा प्राणिक मनुष्य से लेकर मनोमय मनुष्य तक के क्रम विकास के सभी स्तर विद्यमान होते हैं। पहले एक छोटा सा दल गुह्य और आध्यात्मिक ज्ञान को प्राप्त करता है, धीरे-धीरे वह अतिमानसिक मनुष्य की तैयारी करेगा। श्री अरबिन्द कहते हैं कि यह विकास का चक्र सर्वदा ऊपर की तरफ होता है, किन्तु यह विकास सीधी रेखा में ऊपर नहीं जाता वरन् चक्राकार में, ऊपर चढ़ता है जिसमें आरोहण व अवरोहण की एक शृंखला होती है। इस विकास क्रम में व्यक्ति को जो कुछ उपलब्ध होता है उसका प्रमुख अंश सुरक्षित रहता

है और यदि कुछ समय के लिए आच्छादित भी हो जाता है तो वह नवीन युगों की आवश्यकता के अनुरूप नये आकारों में पुनः प्रकट होता है।

इस प्रकार से अरबिन्द के अनुसार अतिमानसिक क्षमता से युक्त व्यक्ति ही अतिमानव कहलाता है। साधारण मानव का अतिमानसिक विकास किस प्रकार से होता है और कैसे वह अतिमानव बनता है, इसका श्री अरबिन्द ने विस्तार से उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि मानव ही नहीं वरन् सम्पूर्ण विश्व ही अतिमानस से जड़ तत्व की ओर तथा पुनः जड़ तत्व से प्राण तत्व के मार्ग से अतिमानस के विकास क्रम में चक्कर लगाता है। वे लिखते हैं," यह सृष्टि अतिमानस से जड़ तत्व तक सत्ता के सभी स्तरों में से होती हुई नीचे उतरी है और प्रत्येक स्तर में उसने उस स्तर के अनुरूप एक जगत्, राज्य, लोक अथवा व्यवस्था की रचना की है। जड़ जगत् की रचना करने के लिए यह अवतरणोन्मुख चेतना निश्चेतना में डूब गयी और उस निश्चेतना में से धीरे-धीरे बाहर निकलने लगी और यह तब तक ऐसा करती रहेगी जब तक कि यह अपने उच्चतम आध्यात्मिक और अतिमानसिक शिखरों को पुनः नहीं प्राप्त हो जाती और यहां जड़ जगत् में उनकी शक्तियों को अभिव्यक्त नहीं कर देती।"

श्री अरबिन्द कहते हैं कि जड़ तत्व एवं प्राण तत्व के प्रत्येक स्तर में एक अंतःप्रेरणा शक्ति होती है, यह अन्तःप्रेरणा शक्ति उस स्तर के अनुरूप एक क्रिया पद्धति ग्रहण करती है और पर्दे के पीछे से कार्य करती है। वे लिखते हैं, "जड़ तत्व के अन्दर एक अन्तःप्रेरणा शक्ति है जो भौतिक जगत् की क्रिया को, अणु-परमाणु से लेकर सूर्य और ग्रह-तारों और उनके अन्दर विद्यमान तत्वों की क्रिया को धारण करती है। प्राण तत्व में भी एक अन्तःप्रेरणा शक्ति है जो प्राण की क्रिया और विकास को संचालित करती है। मनुष्य में भी अन्तःप्रेरणा शक्ति होती है जो उसे अतिमानसिक विकास की ओर अग्रसर करती है। इस प्रकार अन्तःप्रेरणा शक्ति सभी स्तरों में विद्यमान रहती है।"

मनुष्य के अतिमानसिक विकास और आध्यात्मिक विकास की श्री अरबिन्द ने दो धाराएं मानी हैं : (i) गुह्य शक्तियों द्वारा उन गुप्त लोकों की खोज करना जिन्हें इस जड़ जगत् ने हमसे छिपा रखा है, और (ii) दूसरी धारा है मनुष्य के अन्तरात्मा और आत्मसत्ता अर्थात् आत्मा की खोज करना वैदिक युग के भारत में आध्यात्मिक खोज की धारा प्रचलित थी, यद्यपि गुह्य ज्ञान भी उस समय था, परन्तु उसे गौण बना दिया गया। वैदिक युग में योगी लोग अपनी अन्तर्दृष्टि और अनुभव की शक्ति से छिपी हुई वस्तुओं को जान लेते थे। वे अपने इस ज्ञान को सामान्य मनुष्य समाज से गुप्त रखते थे।

वैदिक युग के बाद बुद्धि और दर्शन का महान् विस्फोट हुआ जिसमें आध्यात्मिक सत्य को नये ढंग से प्राप्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु अन्तःप्रेरणा या गुह्य प्रक्रिया के द्वारा नहीं जैसा कि वैदिक ऋषियों ने किया, वरन् चिन्तन मनन की शक्ति, युक्तिमुक्त विचार शक्ति के द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया। इसके साथ ही योग की पद्धतियां विकसित हुईं जिन्होंने आध्यात्मिक अनुभूति को प्राप्त करने के लिए चिन्तनशील मन का उपयोग किया। हृदय और भावनाओं के द्वारा मनुष्य के भावात्मक स्तर को आध्यात्मिक भाव से परिपूर्ण किया। इसके बाद तान्त्रिक प्रक्रियाएं, हठयोग, आदि की क्रियाएं भी अस्तित्व में आईं जो शरीर में विद्यमान आत्मा की शक्ति को जानने का प्रयास करती रहीं।

अतिमानस के अवतरण की प्रक्रिया लम्बी है अथवा कम-से-कम एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें एक लम्बी तैयारी की आवश्यकता होती है। श्री अरबिन्द कहते हैं कि अतिमानस कुछ थोड़े से लोगों में व्यक्त होगा और फिर दूसरों में फैलेगा, पर ऐसा नहीं लगता कि वह क्षण भर में सारी पृथ्वी पर छा जाएगा। वह क्या करेगा और उसे किस प्रकार करेगा, इस विषय में वह स्वयं ही तय करेगा, किन्तु जब अतिमानसिक परिवर्तन हो जाएगा तो पृथ्वी पर अज्ञान तथा रोग समाप्त हो जाएंगे। व्यक्ति अपनी इच्छा के अनुसार जीवन की अवधि तथा शरीर की क्रियाओं में परिवर्तन कर सकेगा।

श्री अरबिन्द का मत है कि अतिमानसिक शक्ति का अवतरण एक अनिवार्य आवश्यकता है और इसीलिए सुनिश्चित है। प्रायः लोग यह नहीं समझते कि अतिमानस क्या है? अथवा यह अनुभव नहीं करते कि चेतनारहित जड़ तत्व के जगत में चेतना के आविर्भाव का तात्पर्य क्या है, इसी कारण वे इस अनिवार्यता को स्वीकार करने में असमर्थ होते हैं।

अतिमानसिक विकास के क्रम में समूची मानव जाति अतिमानसिक हो जाएगी, ऐसा नहीं लगता है। वरन् जिस तरह से आज मनोमय जीवों की एक जाति पृथ्वी पर विद्यमान है उसी भांति अतिमानसिक जीवों की भी एक जाति यहां विकसित हो जाएगी। स्वयं मनुष्य को भी अपने मन और अति मन के बीच के मध्यवर्ती क्षेत्रों में ऊपर उठने की तथा उनकी शक्तियों को अपने जीवन में सार्थक बनाने की एक क्षमता प्राप्त होगी, जिसका मतलब होगा पृथ्वी पर मानवता के अन्दर एक महान् परिवर्तन। श्री अरबिन्द कहते हैं हमारा यह उद्देश्य नहीं है कि समूची मानव जाति को अतिमानस सम्पन्न बना दिया जाए वरन् भौतिक विकास क्रम में अतिमानसिक चेतना के तत्व को स्थापित करना हमारा लक्ष्य है।

अतिमानसिक विकास क्रम में जब शरीर का रूपान्तरण पूर्ण हो जाएगा तो उसका मतलब होगा, मृत्यु का कोई बन्धन न होना, इसका मतलब यह नहीं है कि मनुष्य युगों-युगों तक उसी शरीर को बनाये रखने के लिए बाध्य होगा वरन् मनुष्य जब चाहे अपना एक नया शरीर बना ले, पर यह कैसे होगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता। श्री अरबिन्द योग को अतिमानसिक शक्ति प्राप्त करने का एक साधन मानते हैं, उन्हीं के शब्दों में, "योग का उद्देश्य है पृथ्वी पर अतिमानसिक चेतना को उतार लाना, उसे यहां स्थापित करना, अतिमानसिक चेतना के तत्वों की सहायता से व्यक्ति और समष्टि के आन्तरिक और बाह्य जीवन को व्यवस्थित रूप से शासित करके एक नवीन जाति की सृष्टि करना।"

श्री अरबिन्द कहते हैं कि अतिमानसिक शक्ति का पृथ्वी पर अवतरण लाने के लिए विशाल परिवर्तन लाना आवश्यक है। वे कहते हैं कि अतिमानसिक अवतरण होने पर महान् विध्वंसकारी उथल-पुथल का होना आवश्यक नहीं है। निश्चय ही महान् परिवर्तन होंगे, पर वे ध्वंसात्मक होने के लिए बाध्य नहीं होंगे। जब अतिमानसिक शक्तियां परिवर्तन के लिए दबाव डालेंगी तो सम्भव है कि विरोधी शक्तियों के प्रतिरोध और संघर्ष के कारण ध्वंसात्मक घटनाएं हों। अतिमानस में समन्वय करने की शक्ति विद्यमान है जो आकस्मिक संघर्ष और हिंसा की अपेक्षा अन्य उपायों से प्रतिरोध पर विजय प्राप्त कर सकती है। अरबिन्द कहते हैं जहां तक मैं समझता हूं, एक बार जब अतिमानसिक सत्य जड़ तत्व में स्थापित हो जाएगा तो रूपान्तर का कार्य बहुत कम कष्टकर होना सम्भव हो जाएगा। अतिमानस की विरोधी

शक्तियों के विद्यमान होने का कारण है अज्ञान का फैला हुआ राज्य और विरोधी शक्तियों का सत्ताधिकारी होना जो अपना अधिकार खोना नहीं चाहते।

अतिमानस का अवतरण कार्यों में तेजी से आएगा, किन्तु यह पेटेण्ट औषध की तरह कार्य नहीं करेगा और न प्रत्येक चीज को आंख की पलक झपकते ही बदल देगा।

श्री अरबिन्द अतिमानसिक और आध्यात्मिक को एक ही न मानकर पृथक्-पृथक् मानते हैं। यदि दोनों को एक ही मान लिया जाए तो वे कहते हैं कि अब तक जितने भी ज्ञानी, भक्त और साधक हुए हैं वे सब अतिमानसिक पुरुष कहलाएंगे और जिस किसी को भी आध्यात्मिक अनुभव होगा वहीं अतिमानसिक पुरुष हो जाएगा, किन्तु अरबिन्द के अनुसार, आध्यात्मिक अनुभव एक अलग चीज है जो मानव के अन्तः चेतना में होता है। आध्यात्मिक पुरुष भगवान को सर्वत्र विद्यमान, आत्मा को सबमें और सबको आत्मा में स्थित देखता है। वह विश्वव्यापी दिव्य शक्ति (ईश्वर) को सभी कार्य करते हुए अनुभव कर सकता है, वह अपने को भक्ति और आनन्द से ओतप्रोत अनुभव कर सकता है। जबकि अतिमानसिक स्थिति तो ज्ञान की एकदम दूसरी स्थिति है, दूसरे प्रकार का संकल्प है, भावावेश और सौन्दर्य बोध की एक दूसरी ही ज्योतिर्मयी प्रकृति है। आध्यात्मिक अनुभूति भगवान के साथ सम्पर्क स्थापित करके अथवा हमारे अन्दर स्थित आत्मा के साथ साक्षात्कार करके प्राप्त की जा सकती है जबकि अतिमानस एक ऐसी चेतना है जो अभी यहां नहीं है जिसे ऊपर से नीचे उतरना है। अतिमानसिक सत्य के सिवा बाकी सब कुछ मिथ्या है, ऐसा नहीं है वरन् अतिमानसिक से नीचे कोई पूर्ण सत्य नहीं है। अतिमानसिक परिवर्तन सिद्धि की अन्तिम अवस्था है, अतिमानसिक चेतना के प्रवेश के बिना आनन्द लोक में आरोहण असम्भव है। अतिमानसिक चेतना में ही सत्य शक्ति और आनन्द शक्ति विद्यमान है। अतिमानस शक्ति को उतार लाने के लिए हमें बहुत प्रयत्न करना होगा, संघर्ष करना होगा, किन्तु यह सब असम्भव नहीं है। पूर्ण योग और अन्य साधनों के द्वारा अतिमानस को उपलब्ध करना सम्भव हो सकेगा। अतिमानसिक ज्ञान अभी तक किसी को उपलब्ध नहीं हुआ है क्योंकि अभी तक अतिमानस भी किसी को प्राप्त नहीं हुआ है, परन्तु उसका प्रतिबिम्ब आध्यात्मिक चेतना में विद्यमान है। इसी चेतना को प्रयासों से अतिमानसिक ज्ञान में परिवर्तित करना होगा, यह मार्ग कंटकाकीर्ण अवश्य है, किन्तु असम्भव नहीं जैसा कि अरबिन्द कहते हैं, सबसे बड़ी अन्धेरी रातें ही सबसे बड़ी ऊंषाओं की तैयारी करती हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्री अरबिन्द की अतिमानव की अवधारणा एक ऐसी भावी कल्पना है जिसे वे योग के माध्यम से पृथ्वी पर लाना चाहते थे। चूंकि वे एक आध्यात्मिक पुरुष, एक योगी और एक दार्शनिक थे, अतः उनके द्वारा इस प्रकार के मानव की कल्पना करना उचित ही प्रतीत होता है। यदि श्री अरबिन्द की कल्पना को मूर्त रूप मिल जाय, वह साकार हो जाय तो मानव जाति और यह धरती अनेक कष्टों, पीडाओं और संकटों से मुक्त हो जाएगी। और इस पर चहुं ओर दिव्य प्रकाश सहयोग प्रेम, एवं स्नेह के वातावरण का दिग्दर्शन होगा तथा मानवता के क्रूर रूप का जो हमें दंगों, संघर्ष एवं युद्ध के दौरान दिखायी देता है का अन्त हो जायेगा।

राष्ट्रवाद (राष्ट्रीयता) एवं मानव एकता (Nationalism and Unity of Mankind)

श्री अरबिन्द ने राष्ट्र, राष्ट्रवाद व राष्ट्रीयता की आध्यात्मिक व्याख्या प्रस्तुत की है। आप राष्ट्रवाद या राष्ट्रीयता को धर्म के रूप में मानते हैं। आपको राष्ट्रीयता के अग्रदूत के नाम से पुकारा गया है। आपने अपने राजनीतिक जीवन के अति अल्पकाल में राष्ट्रवाद को नया स्वरूप दिया। आपने स्पष्टतः घोषणा की कि भारतवासियों में राष्ट्रीयता की तीव्रता व सच्ची भावना के जागृत होने पर ही देश स्वतन्त्र हो सकता है। तब लोग अपने प्राणों का बलिदान तक देने को तैयार नहीं हो जाते तव तक परतन्त्रता की बेड़ियों को काटकर स्वतन्त्रत होना सम्भव नहीं है। आपने राष्ट्रवाद को ईश्वरीय देन के रूप में स्वीकार किया है। आपने राष्ट्र को भूमि का टुकड़ा मात्र नहीं माना है, केवल लोगों का एक प्रदेश मात्र नहीं समझा है। आपने भारत राष्ट्र को माता के रूप में पूज्य माना है जो लाखों वर्षों से भारतवासियों का अपनी सन्तान के रूप में पालन-पोषण करती रही है। भारत राष्ट्र करोड़ों व्यक्तियों की शक्ति से निर्मित एक महान् शक्ति है। यह तो मातृ शक्ति है जिसके प्रति सम्मान, प्रेम, त्याग एवं समर्पण की भावना होनी चाहिए। यह केवल उसी समय सम्भव है जब देशवासियों आध्यात्मिक निष्ठा हो। कोई भी देश राष्ट्र कहलाने का अधिकारी तभी बनता है जब देशवासी अपनी मातृभूमि के कण-कण से प्यार करें, उसके लिए तन, मन, धन अर्पण करने को तैयार रहें, आवश्यकता पड़ने पर अपने जीवन का बलिदान करने से भी नहीं हिचकिचायें।

श्री अरबिन्द की दृष्टि में राष्ट्रवाद का अर्थ राष्ट्र की आत्मा को जगाना है। आप उन नेताओं के विचारों से सहमत नहीं थे जो भारत की राष्ट्रीयता को जगाने के स्थान पर यूरोप की नकल करना चाहते थे, देशवासियों को पाश्चात्य रंग में रंगना चाहते थे। आपकी मान्यता थी कि राष्ट्रवाद ही भारत को अपनी गौरवमयी संस्कृति से पुनः परिचित करा सकता है, भूले हुए आध्यात्मिक अतीत की चेतना करा सकता है। भारत अपनी गौरवमयी संस्कृति की नींव पर नवीन विकास की ओर आगे बढ़ सकता है। श्री अरबिन्द ने राष्ट्रवाद की व्याख्या करते हुए लिखा है, "राष्ट्रवाद राष्ट्र में दैवी एकता प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा मात्र है, एक ऐसी एकता जिसमें सभी निर्णायक व्यक्ति चाहे राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक कारकों की दृष्टि से उनके कार्य कितने ही विविधतापूर्ण क्यों न हों, चाहे विभिन्न घटक कितने ही असमान क्यों न हो, फिर भी वे वास्तविक एवं मौलिक रूप में एक ही और समान होते हैं। राष्ट्रवाद के उस आदर्श में जो भारत विश्व के सामने प्रस्तुत करेगा, मनुष्य और मनुष्य के बीच, जाति और जाति के बीच, वर्ग और वर्ग के बीच एक अनिवार्य समानता होगा, सभी प्राणी जैसा कि तिलक ने संकेत किया है, भिन्न-भिन्न परन्तु समान एवं राष्ट्र रूपी विराट पुरुष के एकीकृत अंग होंगे।"

श्री अरबिन्द की दृष्टि में राष्ट्रवाद का आधार सच्ची देशभक्ति है जो व्यक्ति को मातृभूमि को वन्दनीय मानकर उसकी पूजा करना, उसी का सदा चिन्तन करना, उसी की सेवा करने और सब कुछ समर्पित करने के लिए प्रेरित करती है। देशभक्ति का आधार राष्ट्रीयता की भावना है। श्री अरबिन्द की दृष्टि में राष्ट्रीयता कोई राजनीतिक विचार मात्र नहीं है। वे तो राष्ट्रीयता को कर्म के रूप में मानते हैं। राष्ट्र की सेवा को प्रमुखता देते हैं। कोटि-कोटि जनता की सेवा से बढ़कर कोई पुनीत कार्य नहीं है। उन्होंने स्वतन्त्रता संग्राम को पवित्र यज्ञ की संज्ञा दी है। आपने लिखा है, "यज्ञ की अग्नि की सात लपलपाती हुई जिह्वाओं में हम जो

कुछ हैं और हमारे पास जो कुछ है, को अर्पण करना चाहिए। इस अग्नि को अपने रक्त एवं प्राणों तथा अपने प्रिय एवं निकटतम व्यक्तियों की खुशियों को स्वाहा करके जीवित रखना चाहिए। इसका कारण यह है कि मातृभूमि एक देवी है जो अपूर्ण या विकलांग बलि स्वीकार नहीं करती और त्याग से पीछे हटने वालों के द्वारा भी स्वतन्त्रता देवताओं से प्राप्त नहीं की जा सकती।

श्री अरबिन्द की मान्यता थी कि सामाजिक विकास व्यक्ति एवं समाज के स्वधर्म के नियमों के आधार पर होना चाहिए। साथ ही वे यह भी मानते थे कि समाज के किसी भी वर्ग का उत्पीड़न नहीं होना चाहिए, किसी के द्वारा किसी का शोषण नहीं होना चाहिए। श्री अरबिन्द दैवी शक्ति में विश्वास करते थे। उनकी मान्यता थी कि भारत को भौतिक बल या अस्त्र-शस्त्र के बल से स्वतन्त्रता नहीं मिलेगी, बल्कि आध्यात्मिक बल से ही मिलेगी। उन्होंने लिखा है कि मुझ में भारत को स्वतन्त्र कराने की शक्ति है और इसीलिए मेरा जन्म हुआ है। शस्त्र-बल से नहीं बल्कि ब्रह्म-बल से लड़ूंगा तथा विजय अवश्य प्राप्त करूंगा।

श्री अरबिन्द का राष्ट्रवाद संकीर्ण नहीं होकर व्यापक, उदार एवं सार्वभौमिक था। वे एक विश्व की धारणा में विश्वास करते थे। वे मानते थे कि एक विश्व-संगठन के माध्यम से सभी मानवों में एकता स्थापित की जा सकती है। आपके अनुसार विश्व-राज्य स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक संगठित संघ होगा जिसमें दासता एवं असमानता का कोई स्थान नहीं होगा। ऐसे विश्व-राज्य में सब स्वतन्त्र होंगे, जीवन-यापन की समान सुविधाएं सबको प्राप्त होंगी। साथ ही सबको समान सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक न्याय मिल सकेगा। श्री अरबिन्द ने स्वयं लिखा है, "उस विश्व-राज्य का सर्वोत्तम रूप स्वतन्त्र राष्ट्रों का एक ऐसा संघ होगा, सभी प्रकार की पराधीनता, बल पर आधारित असमानता एवं दासता समाप्त हो जायेगी।"[1] स्पष्ट है कि आप व्यापक राष्ट्रवाद एवं मानव-एकता में विश्वास करते हैं। आपने राष्ट्रवाद के आध्यात्मिक स्वरूप को प्राचीन संस्कृति के स्रोतों पर आधारित किया ही, परन्तु साथ ही इसे मानवतावादी स्वरूप भी प्रदान किया। डॉ. करणसिंह के अनुसार, "उनकी मान्यता उन्हें संकीर्ण राष्ट्रवाद की श्रेणी में नहीं रखकर राष्ट्रवाद के नवीन व्याख्याकार एवं परम उदार राष्ट्रवादी विचारक के रूप में प्रस्तुत करती है।"[2]

श्री अरबिन्द के सामाजिक एवं राजनीतिक विचार (Social and Political Thoughts of Sir Aurobindo)

सन् 1905-10 के मध्य श्री आरबिन्द को देश के प्रमुख व्यक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त हो चुकी थी, विशेषतः राजनीति के क्षेत्र में। आपने जब राजनीति में प्रवेश किया तब देश में कांग्रेस एक संस्था के रूप में कार्यरत थी, उस समय कांग्रेस का नेतृत्व उदारवादियों (नम्रतावादियों) जैसे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, महादेव गोविन्द रानाडे, फिरोजशाह मेहता, आदि के हाथों में था। श्री अरबिन्द नम्रतावादियों की अंग्रेजों के सम्मुख गिड़गिड़ाने की नीति में विश्वास नहीं करते थे। उनका स्पष्ट मत था कि गिड़गिड़ाने या अनुनय-विनय से देश को स्वतन्त्र नहीं कराया जा सकता।

(1) पूंजीवाद का विरोध—श्री अरबिन्द पूंजीवादी व्यवस्था के आलेचक रहे हैं। आपने भारत के लोगों की दरिद्रता को देखकर पूंजीवादी व्यवस्था की आलोचना की आप यद्यपि

1 Sri Aurobindo, *The Ideal of Human Unity*, p. 400.
2 Karan Singh, *Prophet of Indian Nationalism*, pp. 82-83.

समाजवाद के पक्ष में थे, परन्तु उस समाजवाद के नहीं जिसमें राज्य के हाथों में सब प्रकार की शक्तियां केन्द्रित हो जाती हैं। आप तो श्रमिक वर्ग में चेतना लाना चाहते थे और इस दृष्टि से आपने श्रमिकों में काम भी किया। श्री अरबिन्द श्रम और पूंजी के बीच बढ़ते हुए गतिरोध को आधुनिक समय की एक प्रमुख समस्या मानते थे। आप इस बात में विश्वास नहीं करते थे कि राज्य के माध्यम से ही समाजवाद लाया जा सकता है। आप समाजवाद के आर्थिक व सामाजिक पक्ष का तो समर्थन करते हैं, परन्तु सर्वाधिकारवादी पक्ष का नहीं। आपका विचार था कि व्यक्ति में आध्यात्मिक विकास कर सभी व्यक्तियों को समान धरातल या स्तर पर लाया जा सकता है, उनमें समानता के भाव जागृत किये जा सकते हैं। श्री अरबिन्द का तो कहना था कि कांग्रेस को श्रमिकों को ऊपर उठाने का प्रयत्न करना चाहिए। उन्होंने तो यह भी माना कि कांग्रेस की दयनीय दशा का कारण श्रमिक वर्ग की उपेक्षा है।

श्री अरबिन्द आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास करते थे और यह मानते थे कि इसी शक्ति को जन-जन में विकसित कर उन्हें समानता की दिशा में आगे बढ़ाया जा सकता है।

आप सब प्रकार के शोषण एवं उत्पीड़न के विरुद्ध थे। आपका तो आध्यात्मिक शक्ति में ही दृढ़ विश्वास था। आपने स्वयं लिखा है कि व्यक्ति अपनी अन्तिम बफादारी (भक्ति) न तो राज्य को प्रदान करता है जो एक यन्त्र या साधन है और न ही समुदाय को जो उसके जीवन का एक अंग है न कि सम्पूर्ण जीवन। उसकी निष्ठा सत्य, स्वयं, आत्मा जो भीतर और सबमें विद्यमान है, के प्रति होनी चाहिए। श्री अरबिन्द बहुत-से लोगों के इस विचार से सहमत नहीं थे कि भारत को सामाजिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता की धारणा पश्चिमी देशों से प्राप्त हुई है। उनका तो कहना है कि हमें आध्यात्मिक शक्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त करने की धारा वेदान्त से ही प्राप्त हुई है।

(2) **निष्क्रिय प्रतिरोध के समर्थक**—श्री अरबिन्द के अनुसार प्रत्येक राष्ट्र को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है। फिर भारत को परतन्त्र बनाये रखने और उसकी सांस्कृतिक परम्पराओं को अंग्रेजों द्वारा नष्ट किये जाने के प्रयास को कैसे सहन किया जा सकता है। उन्हें उदारवादियों की अंग्रेजों की न्यायप्रियता में आस्था पसन्द नहीं थी। निष्क्रिय प्रतिरोध से श्री अरबिन्द का आशय स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए अहिंसक आन्दोलन से नहीं था। वे तो इस पक्ष में थे कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के महान् लक्ष्य की पूर्ति के लिए अहिंसा का मार्ग भी अपनाया जा सकता था। वे एक उग्रवादी विचारक थे। उनकी दृष्टि में राष्ट्र की स्वतन्त्रता ही सर्वोपरि थी, वे तो गीता के क्षात्र-धर्म के अनुकरण में विश्वास करते थे। साधु-वृत्ति और नैतिकता पर राजनीति को आधारित करना कायरता की निशानी मानते थे। वे श्रीकृष्ण के इस सन्देश को पूर्णतः मानते थे कि राष्ट्रीय आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रीय शत्रुओं का संहार करना धर्म-युद्ध है। आप असहयोग व सशस्त्र विद्रोह को उपयुक्त राजनीतिक पद्धति मानते हैं।

श्री अरबिन्द ने स्वतन्त्रता के लक्ष्य तक पहुंचने के लिए संगठित निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्धति को उत्तम बताया। आपने निष्क्रिय प्रतिरोध की धारणा को स्पष्ट करते हुए बताया है कि इसमें निम्नलिखित बातें सम्मिलित हैं :

(i) स्वदेशी का प्रसार तथा विदेशी माल का बहिष्कार।

(ii) राष्ट्रीय शिक्षा का प्रसार तथा राष्ट्रीय शिक्षण संस्थाओं की स्थापना।

(iii) सरकारी अदालतों व न्यायालयों का बहिष्कार।

(iv) जनता के द्वारा सरकार के साथ किसी प्रकार का कोई सहयोग नहीं करना।

(v) सामाजिक बहिष्कार का प्रयोग उन लोगों के विरुद्ध दण्ड के रूप में किया जाय जो निष्क्रिय प्रतिरोध के विपरीत आचरण करते हुए सरकार के साथ सहयोग करें।

श्री अरबिन्द का निष्क्रिय प्रतिरोध से यह तात्पर्य कदापि नहीं था कि हर स्थिति में निष्क्रिय प्रतिरोध आन्दोलन को अहिंसात्मक ही बनाये रखा जाय। उनकी तो स्पष्ट मान्यता थी कि आवश्यकतानुसार सरकार का सक्रिय विरोध किया जाय और हिंसा का जबाव हिंसा से दिया जाय। श्री अरबिन्द ने स्वयं लिखा है, "यदि सहायता एवं मौन स्वीकृति क्रमशः सारे राष्ट्र में वापस ले ली जाय तो भारत में अंग्रेजी सत्ता का बने रहना कठिन हो जायेगा। यह एक ऐसा हथियार है जो भारत में ब्रिटिश शक्ति की जड़ें ही काट सकता है और यदि अपेक्षित कुशलता एवं धैर्य से कार्य किया जाय तो यह भारत में अंग्रेजी राज्य को समाप्त कर सकता है।"

(3) हिंसा एवं अंहिसा—श्री अरबिन्द आवश्यकतानुसार हिंसा के प्रयोग के समर्थक हैं। कुछ लोगों का यह मानना गलत है कि वे पूर्णतया अहिंसावादी थे। उनको कुछ लोगों ने शान्तिवादी एवं अहिंसावादी भी कहा है। श्री अरबिन्द की यह स्पष्ट घोषणा थी कि मैं एक नपुंसक नीतिवादी नहीं हूं और न ही मैं निर्बल शान्तिवादी हूं। आपकी यह स्पष्ट मान्यता रही है कि प्रत्येक राष्ट्र को स्वतन्त्रता-प्राप्ति का अधिकार है, और उसके लिए यदि कोई अन्य मार्ग न हो तो हिंसा का सहारा भी लिया जा सकता है। वास्तविकता यह है कि श्री अरबिन्द ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध एक सशस्त्र विद्रोह के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने में गुप्त रूप से लगे हुए थे। उनका बंगाल के क्रान्तिकारियों के साथ पाण्डिचेरी चले जाने के बाद भी सम्पर्क बना रहा। इससे स्पष्ट है कि वे अहिंसा के उपासक नहीं थे। उन्होंने स्वयं लिखा है कि धर्म युद्ध में राष्ट्र के शत्रुओं को मारना भी धर्म का ही एक अंग है।

(4) व्यक्ति और राज्य के सम्बन्ध में विचार—व्यक्तिवाद श्री अरबिन्द के विचारों का प्रमुख आधार रहा है, लेकिन वे संकीर्ण व्यक्तिवाद में विश्वास नहीं करके मानव गरिमा को सुरक्षित रखने वाले व्यक्तिवाद में विश्वास करते थे। उनकी दृष्टि में व्यक्ति को अपने अहम् को समष्टि में समर्पित कर देना चाहिए। श्री अरविन्द इस बात को मानने को तैयार नहीं थे कि राज्य श्रेष्ठ मस्तिष्कों का प्रतिनिधित्व करता है। उन्होंने राज्यों को एक भद्दी सुविधा की संज्ञा दी है। अपने राज्य को एक भौतिक आवश्यकता मात्र माना है जिसे स्वयं में एक साध्य के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। उन्होंने लिखा है, "राज्य एक सुविधा है और अपेक्षाकृत हमारे सामूहिक विकास की एक भद्दी सुविधा है, उसे कभी भी स्वयं में साध्य नहीं बनना चाहिए।" राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में श्री अरबिन्द का मत यह था कि राज्य के कार्य बहुत ही सीमित होने चाहिए। उनके अनुसार राज्य का कार्य बाधाओं को दूर करना और अन्याय को मिटाना है। आप तो यहां तक मानते थे कि राज्य के द्वारा न तो शिक्षण कार्य किया जाना चाहिए और न ही राज्य के द्वारा किसी धर्म विशेष का पालन करवाया जाना चाहिए। श्री अरबिन्द व्यक्ति के चहुंमुखी विकास तथा आत्मविश्वास के पक्ष में थे। आप समाजवादी दर्शन के लोक-कल्याणकारी आर्थिक कार्यक्रम से प्रभावित थे। आप किसी भी रूप में आर्थिक व्यक्तिवाद के समर्थक नहीं थे। श्री अरबिन्द राज्य में व्यक्ति को तीन प्रकार के अधिकार देना आवश्यक मानते थे। यह तीनों अधिकार व्यक्ति के जीवन के लिए बहुमूल्य हैं।

आप व्यक्ति के लिए स्वतन्त्र प्रेस अभिव्यक्ति के अधिकार, स्वतन्त्र सार्वजनिक सभा करने के अधिकार तथा संगठन निर्मित करने के अधिकार को आवश्यक समझते हैं।

(5) स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार—श्री अरविन्द की मान्यता है कि राष्ट्रीय विकास के लिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता आवश्यक है। आपने तीन प्रकार की स्वतन्त्रताओं का उल्लेख किया है। प्रथम, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता जिसे विदेशी नियन्त्रण से मुक्ति कहा जा सकता है। द्वितीय, आन्तरिक स्वतन्त्रता जिसे किसी व्यक्ति के निरंकुशवाद या किसी वर्ग के सामूहिक नियन्त्रण से मुक्त स्वशासन करना शामिल है। तृतीय, व्यक्तिगत स्वतन्त्रता जिसके अन्तर्गत व्यक्ति के समाज या शासन के स्वेच्छाचारी नियन्त्रण से मुक्त होने की बात सम्मिलित है। श्री अरबिन्द की मान्यता है कि व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से राष्ट्र की चहुंमुखी प्रगति आसान हो जाती है।

(6) संस्कृति की गतिशीलता सम्बन्धी विचार—श्री अरबिन्द संस्कृति को जीवन की चेतना के रूप में स्वीकार करते हैं। संस्कृति सामाजिक, राजनीतिक संस्थाओं, कला, साहित्य, दर्शन, नीतियों एवं धर्म से बनती है। आपने संस्कृति और सभ्यता को सामाजिक विकास के महत्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार किया है। आपके अनुसार व्यक्ति के भौतिक, जैविकीय एवं मानसिक विकास में संस्कृति की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। श्री अरबिन्द यह मानते हैं कि प्रत्येक संस्कृति किसी न किसी विशिष्ट तत्व से प्रभावित होती है और वह तत्व ही उस संस्कृति को विशिष्टता प्रदान करता है। आप यह मानते हैं कि संस्कृति भौतिक, नैतिक, बौद्धिक, सौन्दर्यात्मक तथा आध्यात्मिक तत्वों से निर्मित होती है। इनमें से किसी एक तत्व की प्रधानता के कारण संस्कृति को विशिष्टता प्राप्त होती है। श्री अरबिन्द ने लिखा है, "किसी भी समुदाय की संस्कृति जीवन की एक चेतना की अभिव्यक्ति के रूप में समझायी जा सकती है जो कि दो पक्षों में प्रकट होती है।"

एक पक्ष रचनात्मक अभिव्यक्ति सौन्दर्य, बोध, बुद्धि और कल्पना का पक्ष है। और दूसरा व्यावहारिक एवं बाह्य-निर्माण का पक्ष है। श्री अरबिन्द ने बतलाया है कि सांस्कृतिक तत्व का मूल आधार आन्तरिक आत्मा है। यही आत्मा प्रेरणात्मक तत्व किसी संस्कृति को जीवित रखने के लिए अनिवार्य है। श्री अरविन्द ने इस प्रेरणात्मक तत्व को संस्कृति की शक्तिशाली प्रेरणा माना है जिसके द्वारा संस्कृति समुदाय को प्रगति की दिशा में आगे बढ़ाती है और उच्च आदर्शों की ओर बढ़ने के लिए प्रेरित करती है। संस्कृति के लिए नैतिक और सौन्दर्यात्मक तत्व को आपने अत्यधिक आवश्यक माना है। नैतिक संस्कृति का सम्बन्ध संकल्प, आचार और चरित्र से है, जवकि सौन्दर्यात्मक संस्कृति का सम्बन्ध सुन्दर के प्रति संवेदनशीलता से है। श्री अरबिन्द ने एक अन्य संस्कृति की बात की है जिसे आपने आध्यात्मिक संस्कृति कहा है। केवल बौद्धिक संस्कृति पूर्ण संस्कृति नहीं हो सकती क्योंकि बौद्धिक मनुष्य पूर्ण मनुष्य नहीं है। बुद्धि पर आधारित संस्कृति का पतन उसी प्रकार निश्चित है जिस प्रकार रोम की नैतिक संस्कृति एवं एथेन्स की सौन्दर्यात्मक संस्कृति का पतन हुआ। स्पष्ट है कि कोई भी अकेला तत्व जैसे कला, धर्म, नैतिकता, दर्शन, साहित्य, बुद्धि, चरित्र एवं सौन्दर्य, आदि मनुष्य को पूरी तरह से सन्तुष्ट नहीं कर सकता। संस्कृति के सभी तत्वों में से अधिक महत्वपूर्ण तत्व समन्वयात्मक तत्व ही है जो बुद्धि, नैतिकता एवं सौन्दर्य तीनों तत्वों का विकास करने में सहायक है। श्री अरविन्द ने इस समन्वयात्मक तत्व के रूप में आध्यात्मिकता पर जोर दिया है। आपने आध्यात्मिक संस्कृति को ही संस्कृति का उच्चतम स्वरूप माना है। श्री अरबिन्द का दृढ़ विश्वास है कि मौजूदा सांस्कृतिक संकट का निवारण आध्यात्मिक

संस्कृति के विकास के द्वारा ही हो सकता है। श्री अरबिन्द यह मानते हैं कि मानव संस्कृति के विकास की पूर्णता के लिए एक गतिशील विविधता आवश्यक है। श्री अरबिन्द ने बताया है कि संस्कृति का मुख्य उद्देश्य मानव को अज्ञान से ज्ञान की ओर, अशुभ से शुभ की ओर, अनैतिकता से नैतिकता की ओर, विकृति से सौन्दर्य की ओर, बर्बरता से सभ्यता की ओर, भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर ले जाना है। श्री अरबिन्द मानते हैं कि विभिन्न संस्कृतियां अपनी-अपनी विशिष्टताएं बनाये रखते हुए और साथ ही अपने स्वधर्म का पालन करते हुए, पारस्परिक आदान-प्रदान के माध्यम से विविधता से एकता की ओर बढ़ सकती हैं, आध्यात्मिक संस्कृति के आदर्श की स्थापना में योग दे सकती हैं।

निष्कर्ष—श्री अरबिन्द एक महान् देशभक्त, राष्ट्रवादी, योगी, तत्वदर्शी एवं मानव जाति के सच्चे प्रेमी थे। सर्वप्रथम पूर्ण स्वतन्त्रता का विचार श्री अरबिन्द के द्वारा ही प्रस्तुत किया गया है। आपको राजनीति के आध्यात्मिकरण का श्रेय है। आप भारत राष्ट्र को ईश्वर की अभिव्यक्ति मानते थे और पश्चिम की श्रेष्ठता को मानने को तैयार नहीं थे। श्री अरबिन्द का विभिन्न क्षेत्रों में योगदान अद्वितीय है। वे मात्र एक विचारक नहीं होकर एक योगी थे, यही उनकी महानता का मूल कारण है। रोमां रोलां ने उनके सम्बन्ध में लिखा है, "श्री अरबिन्द भारतीय विचारकों में सबसे अग्रगण्य हैं, जिन्होंने पश्चिम तथा पूर्व की आत्माओं में सबसे अधिक पूर्ण समर्थन किया है। देश की महान् विभूतियों जैसे तिलक, लाजपत राय, विपिनचन्द्रपाल एवं रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने श्री अरबिन्द के उदात्त राष्ट्रवाद की काफी प्रशंसा की है। डॉ. कर्णसिंह ने लिखा है, "राष्ट्रीय आन्दोलन को गूढ़ एवं आध्यात्मिक महत्व देने, उनके सामने पूर्ण स्वराज का प्रेरणास्पद आदर्श प्रस्तुत करने, भारत को विशिष्ट सांस्कृतिक परम्परा के तेज से नवजीवन संचारित करने, स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिए एक राजनीतिक योजना तैयार करने एवं सम्पूर्ण आन्दोलन को अन्तर्राष्ट्रीय तथा मानव एकता के आदर्श के मुख्य प्रसंग में रखने का सर्वाधिक श्रेय श्री अरबिन्द को ही है।"

प्रश्न

1. अरबिन्द के दर्शन की विवेचना कीजिए। **(पूर्वांचल, 1995)**
2. अरबिन्द के मानव चक्र की अवधारणा का उल्लेख कीजिए। **(पूर्वांचल, 1992)**
3. अरविन्द की अतिमानव की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
4. अरबिन्द के सामाजिक एवं राजनीतिक विचारों का उल्लेख कीजिए।
5. अरबिन्द के प्रमुख विचारों की विवेचना कीजिए।
6. अरबिन्द के उद्विकास के सिद्धान्त का वर्णन कीजिए। **(पूर्वांचल, 1991)**
7. "राज्य एक सुविधा है और अपेक्षाकृत हमारे सामूहिक विकास की एक भद्दी सुविधा है, इसे कभी भी स्वयं में साध्य नहीं बनना चाहिए।" श्री अरविन्द के विचारों की उपर्युक्त कथन के प्रकाश में समीक्षा कीजिए। **(पूर्वांचल, 1990)**
8. संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिए :
   (i) अतिमानव की अवधारणा। **(पूर्वांचल, 1993)**
   (ii) अरबिन्द का सामाजिक दर्शन। **(पूर्वांचल, 1994)**
   (iii) मानव चक्र। **(पूर्वांचल, 1995)**
9. अरबिन्द के राष्ट्रवाद से आप क्या समझते हैं? **(पूर्वांचल, 1996)**
10. भारतीय सामाजिक चिन्तन में श्री अरबिन्द के योगदान की विवेचना कीजिए। **(पूर्वांचल, 1997)**

10

महात्मा गांधी : सत्य एवं अहिंसा की अवधारणा

[MAHATMA GANDHI : CONCEPT OF SATYA AND AHIMSA]

महात्मा गांधी आधुनिक भारत के उन महान् विचारकों में से एक हैं जिन्होंने भारत की बौद्धिक और सांस्कृतिक परम्पराओं से प्रेरणा प्राप्त की और अपने विचारों को तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक स्थिति के अनुरूप ढाला। गांधी अपनें युग के महान् नेता थे। उन्होंने सत्य और अहिंसा के सनातन सिद्धान्तों का व्यावहारिक जीवन में प्रयोग कर मानवता का मार्ग-दर्शन किया। उन्होंने समस्त भारत में राष्ट्रीय चेतना जागृत की। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस को उन्होंने प्रभावशाली जन-आन्दोलन के रूप में संगठित किया। संसार के सबसे अधिक शक्तिशाली ब्रिटिश साम्राज्य को भारत से उखाड़ फेंकने के लिए उन्होंने अहिंसा एवं सत्याग्रह को अस्त्र के रूप में प्रयोग किया। भारत के स्वाधीनता संघर्ष का उन्होंने लम्बे समय तक नेतृत्व किया और अन्त में देश को स्वतन्त्रता दिलायी। इसीलिए उन्हें भारत का 'राष्ट्रपिता' कहा जाता है। 1920 से 1947 तक गांधीजी ने भारत का एकछत्र नेतृत्व किया। इस काल में भारतीय जीवन के सभी पक्षों राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक व धार्मिक पहलुओं पर उनके महान् व्यक्तित्व की छाप पड़ी। अतः इस काल को 'गांधी युग' कहा जाता है। गांधीजी एक राजनीतिज्ञ ही नहीं वरन् एक समाज-सुधारक, दार्शनिक, शिक्षाविद्, आध्यात्मिक पुरुष एवं महान् विचारक भी थे। मूल रूप में महात्मा गांधी एक आध्यात्मिक और धार्मिक सन्त थे। उनकी धर्म सम्बन्धी धारणा पारलौकिक नहीं वरन् लौकिक थी और वे मानवता की सेवा को ही वास्तविक धर्म मानते थे। किन्तु उस समय की परिस्थितियों ने उन्हें राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेने के लिए प्रेरित किया। स्वयं गांधीजी ने एक बार पोलक से कहा था, "मैंने राजनीति का चोगा पहन रखा है, किन्तु हृदय से एक धार्मिक पुरुष हूं।" उन्होंने 1929 में अरुण्डेल को लिखा था, "मेरा झुकाव राजनीति की ओर नहीं धर्म की ओर है।"

गांधीजी यह मानते थे कि मानव और मानव जाति की सभी समस्याएं नैतिक समस्याएं हैं। मनुष्य को सभी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक कार्यों को अपनी अन्तरात्मा की

पुकार के आधार पर करना चाहिए। व्यक्ति जब अपनी आत्मा की आवाज को स्वार्थवश कुचल देता है तो उसका पशुत्व प्रबल हो जाता है और विभिन्न समस्याओं के प्रति उसके विचार दूषित हो जाते हैं। वे राजनीति और नैतिकता को एक ही सिक्के के दो पहलू मानते थे। नैतिकता के जिन सामान्य सिद्धान्तों को व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन पर लागू किया जा सकता है, उनसे राजनीति भी मुक्त नहीं है। अतः राजनीति से बुराइयों को दूर करने के लिए राजनीतिक कार्यों का संचालन मानवीय दृष्टिकोण से किया जाना चाहिए। गांधीजी का समस्त दर्शन राजनीति तथा समाज के प्रति उनके आध्यात्मिक और नैतिक दृष्टिकोण में मौजूद है।

महात्मा गांधी का जीवन-परिचय (Life Sketch of Mahatma Gandhi)

गांधीजी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 में काठियावाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था। उनका पूरा नाम मोहनदास कर्मचन्द गांधी था। उनके पिता राजकोट रियासत के दीवान थे। उनकी माता एक साधु प्रकृति की धार्मिक महिला थीं और उनका बालक गांधी पर बहुत प्रभाव पड़ा। मोहनदास स्कूल में एक साधारण योग्यता वाले विद्यार्थी थे, किन्तु वे समय के बहुत पाबन्द और शिक्षकों के आज्ञाकारी थे। पहले उन्होंने गुजराती स्कूल में और बाद में अंग्रेजी स्कूल में शिक्षा ग्रहण की। सन् 1883 में 13 वर्ष की आयु में उनका विवाह कस्तूरबा के साथ कर दिया गया। मोहनदास जब 16 वर्ष के थे तो उनके पिता का देहान्त हो गया। 17 वर्ष की आयु में उन्होंने मैट्रिक पास की और 1888 में कानून की शिक्षा प्राप्त करने के लिए वे इंग्लैण्ड चले गए। वहां रहकर उन्होंने खान-पान, वेश-भूषा और रहन-सहन में अंग्रेजीयत अपना ली थी, किन्तु शीघ्र ही उन्होंने अंग्रेजीयत को त्यागकर भारतीयता को अपना लिया। इंग्लैण्ड में ही गांधीजी ने अंग्रेजी में अनुवादित गीता का अध्ययन किया जिससे उनकी धार्मिक प्रवृत्ति पुष्ट हुई।

1891 में विधि की शिक्षा ग्रहण करके गांधीजी भारत लौटे और वकालत करना प्रारम्भ किया। स्वभाव से शर्मीले एवं लज्जाशील होने के कारण वकालत के व्यवसाय में वे बहुत अधिक सफल नहीं हुए। काठियावाड़ तथा बम्बई में कुछ दिन तक वकालत करने के बाद एक धनवान गुजराती मुसलमान के मुकदमे की पैरवी करने के लिए वे दक्षिणी अफ्रीका गए। दक्षिणी अफ्रीका में काले-गोरे का भेद और अपने देशवासियों की दयनीय स्थिति देखकर उन्हें बहुत आघात लगा और उनके हितों की रक्षा के लिए संघर्ष करने हेतु उन्होंने वहीं रहने का निश्चय किया। एक लम्बे अर्से तक गांधीजी भारतीयों के साथ वहां रहे और सत्याग्रह एवं अहिंसा के आधार पर गोरी सरकार से संघर्ष किया। भारतीयों को अफ्रीका में कुली कहकर पुकारा जाता था, अतः वहां के लोग गांधीजी को भी कुली बेरिस्टर कहने लगे। वहां भारतीयों के साथ कई भेद-भाव बरते जाते थे। उन्हें रेल के प्रथम दर्जे के डिब्बे में बैठने की इजाजत नहीं थी। एक बार गांधीजी प्रथम श्रेणी के डिब्बे में बैठकर जा रहे थे तो उनका सामान बाहर फेंक दिया गया और उन्हें धक्के देकर उतार दिया गया। इन सभी बातों से गांधीजी बहुत क्षुब्ध हुए। दक्षिणी अफ्रीका की सरकार के अन्यायों से लड़ने के लिए गांधीजी ने **'नेपाल भारतीय कांग्रेस'** संगठन का गठन किया। वहां वे दो बार जेल गए और दो बार क्रमशः 7 व 14 दिनों का व्रत भी किया। उनके संघर्ष से वहां की गोरी सरकार को झुकना पड़ा तथा भारतीयों को मानवीय अधिकार देने पड़े। संघर्ष के नए तरीके—अहिंसा, उपवास

और सत्याग्रह अपनाने के कारण आपकी ख्याति शीघ्र ही चारों ओर फैल गयी। इसके बाद गांधीजी इंगलैण्ड चले गए जहां उनकी भेंट गोपालकृष्ण गोखले से हुई और वे उनसे बहुत प्रभावित हुए।

1914 में गांधीजी भारत लौट आए और उन्होंने भारतीय राजनीति में प्रवेश किया। इस समय गांधीजी को अंग्रेजों की न्यायप्रियता में पूरा विश्वास था, इसलिए उन्होंने भारतीय जनता को बिना किसी शर्त के ब्रिटिश सरकार को सहायता देने के लिए प्रेरित किया। गांधीजी ने भारत में अपना राजनीतिक जीवन चम्पारन के सत्याग्रह से प्रारम्भ किया और इस क्षेत्र में नील की खेती करने वाले कृषकों पर गोरे जमींदारों के अत्याचारों की जांच करने के लिए सरकार को एक कमीशन नियुक्त करने को बाध्य किया। इसके एक वर्ष बाद खेड़ा जिले में 'कर न दो आन्दोलन' और अहमदाबाद के 'मजदूर आन्दोलन' में उन्होंने सफलता प्राप्त की। गांधीजी ने साबरमती के तट पर अहमदाबाद के निकट अपना आश्रम बनवाया। इस समय तक गांधीजी एक राजभक्त भारतीय थे, किन्तु 1918 में ब्रिटिश सरकार द्वारा 'रौलेट ऐक्ट' पास किए जाने और अप्रेल 1919 के जलियांवाला बाग हत्याकाण्ड के कारण महात्मा गांधी का ब्रिटिश सरकार की न्यायप्रियता से विश्वास उठ गया। इसी समय खिलाफत के प्रश्न पर भारत का मुसलमान वर्ग भी ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध था, अतः हिन्दू-मुस्लिम एकता में विश्वास रखने वाले महात्माजी ने इसे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध आन्दोलन प्रारम्भ करने का उपयुक्त अवसर समझा और इसी समय उन्होंने सरकार के विरुद्ध असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया। इस आन्दोलन का बहुत प्रसार हुआ, किन्तु धीरे-धीरे यह हिंसक रूप धारण करने लगा। अतः 4 फरवरी, 1922 के चौरी-चौरा काण्ड से दुःखी होकर गांधीजी ने इस आन्दोलन को स्थगित कर दिया। 4 मार्च, 1922 को गांधीजी को राजद्रोह के अपराध में गिरफ्तार कर 7 वर्ष की सजा सुनायी गयी, किन्तु जेल में उनका स्वास्थ्य बिगड़ जाने के कारण 5 फरवरी, 1924 को उन्हें जेल से मुक्त कर दिया गया। इसी वर्ष वे कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गए।

सन् 1930 में गांधीजी ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया। सन् 1942 में आपने 'भारत छोड़ो आन्दोलन' चलाया जिसमें 'करो या मरो' (Do or Die) का नारा दिया। गांधीजी को इस कार्य में सफलता नहीं मिली और उन्हें बन्दी बना लिया गया। सन् 1944 में जेल से रिहा होने के बाद उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम समस्या के समाधान के लिए प्रयास किया। इसी समय उनकी धर्म पत्नी कस्तूरबा का निधन हो गया। जिन्ना पाकिस्तान के निर्माण की बात पर अड़े रहे। गांधीजी देश के बंटवारे के विरोधी थे, किन्तु ब्रिटिश नीति, मुस्लिम लीग की हठधर्मिता और साम्प्रदायिक दंगों के कारण उन्हें विभाजन स्वीकार करने के लिए बाध्य होना पड़ा।

गांधीजी के प्रयत्नों के कारण 15 अगस्त, 1947 को भारत आजाद हुआ। गांधीजी सदैव रचनात्मक कार्यों में लगे रहे और साम्प्रदायिक तनावों को कम करने एवं दलितों के उद्धार के लिए प्रयत्नशील रहे। 30 जनवरी, 1948 को जब गांधीजी दिल्ली में संध्याकालीन प्रार्थना-सभा हेतु जा रहे थे तो नाथूराम गोडसे नामक युवक ने गोली मारकर उनकी हत्या कर दी और राम-राम कहते हुए उन्होंने शरीर त्याग दिया। उनकी मृत्यु पर महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने कहा था, "आगे आने वाली पीढ़ियां शायद ही यह विश्वास कर सकेंगी कि

उन जैसे हाड़-मांस का पुतला कभी इस भूमि पर पैदा हुआ था।" डॉ. स्टेन्ले जोन्स ने लिखा है, "हत्यारे ने महात्मा गांधी की हत्या करके उन्हें अमर बना दिया। मृत्यु से वे अपने जीवन की अपेक्षा अधिक बलशाली हो गए।"

गांधीजी की कृतियां

गांधीजी ने अपने विचारों को समय-समय पर कई लेखों, पत्र-पत्रिकाओं एवं पुस्तकों के माध्यम से प्रकट किया। **'हिन्द स्वराज'** तथा **'मेरे सत्य के प्रयोग'** में उन्होंने अपने विचारों का प्रतिपादन किया। उनकी अन्य रचनाएं हैं—शान्ति और युद्ध में अहिंसा', 'नैतिक धर्म', 'सत्याग्रह', 'सत्य ही ईश्वर है', 'सर्वोदय', 'साम्प्रदायिक एकता' एवं 'अस्पृश्यता निवारण', आदि। आपने अफ्रीका में 'इण्डियन ओपीनियन' और भारत में 'यंग इण्डिया', 'हरिजन', 'नवजीवन', 'हरिजन सेवक', 'हरिजन बन्धु', आदि पत्रों का भी सम्पादन किया।

गांधीजी के दर्शन की पृष्ठभूमि (गांधीवादी दर्शन के प्रेरणा स्त्रोत)

गांधीजी के जीवन और दर्शन को अनेक महापुरुषों, धर्मों एवं धार्मिक ग्रन्थों ने प्रभावित किया। उन पर उनकी माता के पवित्र जीवन एवं पिता की सादगी और सदाचार का अमिट प्रभाव पड़ा। गांधीजी को प्रभावित करने में जिन पुस्तकों, धर्मों एवं व्यक्तियों की मुख्य भूमिका रही, **वे इस प्रकार हैं :**

(1) **गीता**—गांधीजी के जीवन पर रामायण एवं महाभारत के अतिरिक्त गीता का विशेष प्रभाव पड़ा। उन्होंने लिखा है, "जब मैं संशयों और निराशाओं से घिरा होता हूं, और जब मुझे क्षितिज पर एक भी प्रकाश-रश्मि नहीं दिखायी देती, तब मैं भगवद्गीता की ओर मुड़ता हूं और मुझे आश्वासन के लिए एक-न-एक श्लोक मिल जाता है और मैं तुरन्त परेशान करने वाली मुसीबतों में मुस्कराने लगता हूं। मेरा जीवन बाहरी दुःखों से परिपूर्ण रहा है और अगर उन्होंने मेरे ऊपर कोई अमिट तथा दृष्टिगोचर होने वाला असर नहीं डाला है, तो मैं उसके लिए भगवद्गीता की शिक्षा के प्रति आभारी हूं।"

(2) **कुरान**—गांधीजी धर्म की दृष्टि से उदार दृष्टिकोण रखते थे। वे हिन्दू धर्म ग्रन्थों की भांति मुस्लिम धर्म ग्रन्थों का भी आदर करते थे। उन्होंने कुरान का अध्ययन किया तो पाया कि उसमें भी प्रेम, सत्य, अहिंसा तथा भाईचारे की भावना पायी जाती है।

(3) **बाइबिल**—गांधीजी को बाइबिल ने भी प्रभावित किया। 'शैलोपदेश' वाले अध्याय को पढ़कर महात्माजी को जीवन के मूल्यों का ज्ञान हुआ और उससे प्रभावित होकर आपने सत्याग्रह और अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया। विश्व-बन्धुत्व तथा दैवी परिवार की प्रेरणा उन्हें बाइबिल से ही मिली।

(4) **जैन, बौद्ध एवं कन्फ्यूसियस धर्म**—गांधीजी ने अहिंसा के विचार जैन और बौद्ध धर्म से भी ग्रहण किए। बौद्ध भिक्षुओं ने दस शिक्षा पदों में पहला स्थान अहिंसा को दिया था। गांधीजी बुद्ध के इन विचारों से बहुत प्रभावित हुए कि मनुष्य को क्रोध को प्रेम से जीतना चाहिए, बुराई को अच्छाई से, लोभी को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिए। चीन का कन्फ्यूसियसवाद भी प्रेम और अहिंसा पर बल देता है। इन सभी धर्मों का सामूहिक प्रभाव गांधीजी का प्रेरणा स्रोत बना।

(5) **टॉल्सटाय**—गांधीजी पर टॉल्सटाय की रचना "दी किंगडम ऑफ गौड विदिन यू" का विशेष प्रभाव पड़ा। उन्होंने स्वीकार किया कि उनके अहिंसावादी विचार इस पुस्तक के

पढ़ने से और भी दृढ़ हुए। वे टॉल्सटाय के इस विचार से बहुत प्रभावित हुए कि अपने विचारों को किसी अन्य पर थोपना मानसिक हिंसा है।

(6) **जॉन रस्किन**—गांधीजी जॉन रस्किन की पुस्तक 'अन्टू दिस लास्ट' से इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने **'सर्वोदय'** नाम से इस पुस्तक का गुजराती में अनुवाद कर दिया। इस पुस्तक से आपने तीन बातें सीखीं—(i) एक व्यक्ति का हित सभी व्यक्तियों के हित में निहित है; (ii) एक वकील का कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना एक नाई का, क्योंकि सभी व्यक्तियों को अपनी आजीविका कमाने का समान अधिकार है; (iii) शारीरिक श्रम करने वाले किसान या कारीगर का जीवन ही वास्तविक जीवन है। गांधीजी ने रस्किन से प्रभावित होकर बुद्धि की अपेक्षा चरित्र पर अधिक बल दिया, आत्म-बल को सर्वोच्च स्थान दिया, राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन में धर्म और नैतिकता को महत्व दिया। पूंजीपतियों को ट्रस्टी मानने की धारणा उन्होंने रस्किन से ही ग्रहण की।

गांधीजी पर अराजकतावादी विचारक हेनरी डेविड थोरो, हक्सले, आदि कई विचारकों का भी प्रभाव पड़ा। गांधीजी के बारे में **प्रो. एस. एन. बिसारिया** ने कहा है, "गांधीजी का दर्शन एक ऐसा दर्शन है जिसमें विश्व के सारे कोनों के सन्तों की शिक्षाएं आकर सम्मिलित हो गयी हैं और जिनकी उन्होंने अपनी ही व्याख्या दी है। वास्तव में गांधीवाद शाश्वत सत्य की पुनर्व्याख्या के अतिरिक्त और अधिक कुछ भी नहीं है। उन्होंने अपनी प्रेरणा बुद्धि तथा विचारों के विभिन्न कूपों से ली है और उनको आधार मानकर एक नवीन तथा विचित्र दर्शन की सृष्टि की है।"

गांधीवाद
(GANDHISM)

गांधीजी ने विभिन्न विषयों पर समय-समय पर अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनके इन विचारों और शिक्षाओं को ही गांधीवाद के नाम से जाना जाता है। एक प्रश्न यह भी किया जाता है कि क्या गांधीवाद नाम की कोई वस्तु है? इस सन्दर्भ में स्वयं गांधीजी ने 1936 में सावली सेवा संघ में प्रवचन करते हुए कहा था, "गांधीवाद नामक कोई वस्तु नहीं है। मैं अपने बाद कोई सम्प्रदाय छोड़ना नहीं चाहता। मैं कभी इस बात का दावा नहीं करता कि मैंने कोई नया सिद्धान्त चलाया है। मैंने केवल अपने ढंग से सर्वमान्य सच्चाइयों को अपने नित्य-प्रति के जीवन और समस्याओं पर लागू करने की चेष्टा की है। मैंने जो मत बनाए और निष्कर्ष निकाले हैं, वे सब अन्तिम नहीं हैं। मैं कल ही उन्हें परिवर्तित कर सकता हूं। दुनिया को सिखाने के लिए मेरे पास कुछ भी नहीं है। **"सत्य और अहिंसा उतने ही पुराने हैं जितने कि पहाड़। मैंने तो केवल इन दोनों का यथासम्भव विस्तृत क्षेत्र में प्रयोग करने का प्रयत्न किया है.........आप इसे गांधीवाद न कहें, इसमें कोई वाद नहीं है।"**[1]

यह सच है कि अन्य राजनीतिक विचारकों के समान गांधीजी कोई दार्शनिक नहीं थे। वे कर्मयोगी थे और उन्होंने जो कुछ लिखा वह जीवन में आयी समस्याओं और परिस्थितियों के सन्दर्भ में था। गांधीजी ने कभी भी अपने विचारों के बारे में पूर्णता का दावा नहीं किया। वे तो सदा सत्य और अहिंसा के साथ प्रयोग करते रहे। उन्होंने अन्तिम रूप से या आगामी समय के लिए कोई मत प्रतिपादित नहीं किया और न ही वे यह चाहते थे कि अनुयायियों

1 **Sitaramayya, B. P. :** ***Gandhi and Gandhism*, p. 26.**

द्वारा उनका अन्धानुकरण किया जाए। फिर भी गांधीजी का एक निश्चित जीवन-दर्शन था, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए उनके कुछ सिद्धान्त और पद्धति थी। उनके इन सिद्धान्तों और कार्य-पद्धति का ही सामूहिक नाम **'गांधीवाद'** है। गांधीवाद मानवता का सिद्धान्त है। डॉ. पी. एस. रमाया ने लिखा है, ''गांधीवाद नीतियों, सिद्धान्तों, नियमों, आदेशों और निषेधों, आदि का सिद्धान्त ही नहीं वरन् जीवन का एक रास्ता है। इनके द्वारा जीवन की समस्याओं के प्रति एक नवीन दृष्टिकोण का प्रतिपादन या पुरातन दृष्टिकोण की पुनर्व्याख्या करते हुए आधुनिक समस्याओं के लिए पुरातन हल प्रस्तुत किए गए हैं।''

गांधीजी का आध्यात्मिक दर्शन
(SPIRITUAL PHILOSOPHY OF GANDHIJI)

गांधीजी का सम्पूर्ण जीवन आध्यात्मवाद से ओत-प्रोत था। उनके राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक सभी विचारों पर आध्यात्म एवं धर्म का प्रभाव पाया जाता है। उनके आध्यात्मवाद में ईश्वर, सत्य, नैतिकता, साधनों की श्रेष्ठता एवं अहिंसा का विशिष्ट स्थान है।

ईश्वर की अवधारणा (The Concept of God)

गांधीजी का ईश्वर में अटूट विश्वास था। वे सत्य और ईश्वर में कोई भेद नहीं करते थे। उनके अनुसार संसार की समस्त गतिविधियों का संचालन करने वाली शक्ति का नाम ही ईश्वर है। उनकी आस्था ईश्वर में इतनी थी कि वे हवा और पानी के बिना जीवित रहने की कल्पना कर सकते थे किन्तु ईश्वर के बिना नहीं। गांधीजी के अनुसार ईश्वर जीवन्त है, वह सत्य है, अतः उसकी प्राप्ति जीवन का परम ध्येय होना चाहिए। उनके अनुसार ईश्वर शेषनाग की शैय्या पर सोने वाला या सातवें आसमान पर रहने वाला नहीं वरन् एक ऐसी शक्ति है जिसे हम महसूस तो कर सकते हैं, किन्तु जान नहीं सकते। वे कहते हैं—मेरे लिए ईश्वर सत्य तथा प्रेम है, प्रकाश तथा जीवन्न का स्रोत है, अन्तःकरण है। उन्होंने ईश्वर को दरिद्रनारायण माना। वे कहते हैं—मैं उस ईश्वर के अलावा जो लाखों मूकजनों के हृदय में निवास करता है और किसी को ईश्वर नहीं मानता। ईश्वरीय शक्ति जीवन को उदार, सहिष्णु और पवित्र बनाती है। हम ईश्वर को बुद्धि से नहीं माप सकते, तर्क की कसौटी पर नहीं कस सकते, विज्ञान के नियमों से नहीं समझ सकते वरन् श्रद्धा के बल पर उसकी अनुभूति कर सकते हैं। श्रद्धा ही वह प्रकाश किरण है जिसके द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार सम्भव है। इस प्रकार से गांधीजी ने ईश्वर को अलौकिक से लौकिक बना दिया, स्वर्ग से धरती पर उतारकर मनुष्यों में सम्पृक्त कर दिया।

धर्म की अवधारणा (The Concept of Religion)

गांधीजी ने समाज में व्याप्त धर्म के विकृत रूप को देखा और अपने तर्कों एवं निष्कर्षों के आधार पर धर्म की पुनःव्याख्या की। गांधीजी के अनुसार, ''धर्म से मेरा अभिप्राय औपचारिक या रूढ़िगत धर्म से नहीं वरन् उस धर्म से है जो सब धर्मों की बुनियाद है और जो हमें अपने सृजनहार का साक्षात्कार कराता है। गांधी का धर्म 'सम्प्रदायवाद' नहीं है। वह हिन्दुत्व, इस्लाम और ईसाइयत से परे है। मनुष्य धर्म के बिना जी नहीं सकता। कुछ लोग अपनी बुद्धि के घमण्ड में कह देते हैं कि उन्हें धर्म से कोई वास्ता नहीं। परन्तु यह ऐसी ही बात है जैसे कोई मनुष्य यह कहे कि वह सांस तो लेता है परन्तु उसके नाक नहीं है।

गांधीजी का धर्म मानवतावादी है जिसका चरम लक्ष्य सेवा है। गांधीजी के धर्म के प्रमुख तत्व हैं—सत्य, प्रेम और अहिंसा। गांधीजी के धर्म में ऊंच-नीच, जाति-भेद तथा रंग-भेद का कोई स्थान नहीं है। गांधी का धर्म सर्वोदय का धर्म है, दरिद्रनारायण की सेवा का धर्म है। गांधी के लिए धर्म और नैतिकता पर्यायवाची शब्द थे। गांधीजी सभी धर्मों में विश्वास करते थे। दुनिया के सभी धर्मों की आधारभूत शिक्षाओं में उनका विश्वास था। उनके आश्रम में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई सभी थे। वे धर्म परिवर्तन में विश्वास नहीं करते थे।

गांधीजी का कहना था कि धर्म की आराधना के लिए हमें किसी गुफा में अथवा पर्वत-शिखर पर जाने की आवश्यकता नहीं है। धर्म की अभिव्यक्ति तो समाज में हमारे कार्यों में होनी चाहिए। गांधीजी ने धर्म का मानवीकरण एवं समाजीकरण किया। पीड़ितों, असहायों और अभावग्रस्त लोगों की सेवा को उन्होंने सबसे बड़ा धर्म बताया। गांधीजी ने आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को स्वीकार किया और मृत्यु के भय को दूर करने का प्रयत्न किया। गांधी ने गीता के 'निष्काम कर्म' का उपदेश दिया। गांधी का धर्म सह-अस्तित्व का धर्म है, सहिष्णुता का धर्म है। वे सभी धर्मों की समानता में विश्वास करते थे। एक ही लक्ष्य पर पहुंचने के ये विभिन्न मार्ग हैं।

धर्म और राजनीति (Religion and Politics)

गांधीजी ने धर्म और राजनीति के बीच अटूट सम्बन्ध की स्थापना की। उन्होंने इस बात को अस्वीकार किया कि धर्म को राजनीति से पृथक् होना चाहिए। वे कहते थे धर्म के बिना राजनीति पाप है। उन्होंने **राजनीति का आध्यात्मीकरण** किया। उनका विश्वास था कि यदि राजनीति को मानव समाज के लिए वरदान होना है तो उसे उच्चतम नैतिक और आध्यात्मिक सिद्धान्तों पर आधारित होना चाहिए। उन्होंने कहा, "मेरे लिए धर्मविहीन राजनीति कोई चीज नहीं है।.........नीति शून्य राजनीति सर्वथा त्याज्य है।" वे कहते हैं, "राजनीति धर्म की अनुगामिनी है। धर्म से शून्य राजनीति मृत्यु का एक जाल है, क्योंकि इसमें आत्मा का हनन होता है।"

गांधीजी एक आध्यात्मिक व धार्मिक सन्त भी थे। जब उन्होंने देखा कि राजनीति धर्मविहीन होती जा रही है तो उन्होंने राजनीति में प्रवेश लिया। वे कहते हैं, "यदि मैं राजनीति में भाग लेता हूं तो केवल इसलिए कि राजनीति एक सांप की भांति चारों ओर से हमें घेरे हुए है, मैं इस सांप से लड़ना चाहता हूं...........मैं राजनीति में धर्म का प्रवेश चाहता हूं।" इस प्रकार से गांधीजी ने राजनीति के क्षेत्र में जो भी कार्य किए वे धार्मिक कार्य ही थे। एक बार तिलक ने कहा था कि राजनीति साधुओं का खेल नहीं है। इसका उत्तर देते हुए गांधीजी ने कहा, "राजनीति साधुओं का और केवल साधुओं का काम है।" वे कहते थे बिना धर्म के "राजनीति एक मुर्दा है, जिसको सिवाय जला देने के और कोई उपयोग नहीं हो सकता।" एक बार **पोलक** से चर्चा करते हुए उन्होंने कहा, "अधिकतर धार्मिक मनुष्य जिनसे मैं मिला हूं, वे छिपे तौर पर राजनीतिज्ञ हैं, किन्तु मैं राजनीतिज्ञ का जामा पहने हुए, हृदय से एक धार्मिक मनुष्य हूं।" गांधीजी ने कहा, "जो यह कहते हैं कि राजनीति से धर्म का कोई सम्बन्ध नहीं है, वे धर्म को नहीं जानते हैं। जो देश-प्रेम को नहीं जानता वह धर्म को नहीं जानता।"

गांधीजी के अनुसार राजनीति देश-धर्म है, उससे अलग होकर व्यक्ति आत्मघात करता है। गांधी का धर्म रूढ़िवादी, आडम्बरयुक्त धर्म नहीं है। यह मूर्ति-पूजा भी नहीं है। वे राजनीति

को धर्म और नैतिकता का अंग मानते थे। राजनीति शक्ति और सम्पत्ति प्राप्त करने के लिए संघर्ष नहीं है, वरन् वह लाखों पद-दलितों को सुन्दर जीवन व्यतीत करने योग्य बनाने, मानव के गुणों का विकास करने, उन्हें स्वतन्त्रता एवं बन्धुत्व तथा आध्यात्मिक गहराइयों एवं सामाजिक समानता के बारे में प्रशिक्षित करने का निरन्तर प्रयास है। एक राजनीतिज्ञ जो इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए काम करता है, धार्मिक हुए बिना नहीं रह सकता।

राजनीति में धर्म के प्रवेश से गांधीजी का यह तात्पर्य नहीं है कि राजसत्ता धर्माधिकारियों के हाथों में दे दी जाए अथवा राज्य को किसी धर्म विशेष या सम्प्रदाय विशेष का प्रचारक बनना चाहिए। उनका राज्य तो धर्म-निरपेक्ष है जिसमें सभी नागरिकों को स्वधर्म पालन की छूट होगी। राज्य को चाहिए कि वह नीति और धर्म के शाश्वत और सार्वभौमिक नियमों—सत्य, अहिंसा, प्रेम और सेवा का पालन करे। राजनीतिज्ञों को सभी धर्मों के प्रति समान भाव रखना चाहिए। गांधीजी ने स्वतन्त्रता-संग्राम में धर्म और राजनीति का समन्वय अपने कार्यों द्वारा किया। उन्होंने अंग्रेजी शासन का मुकाबला आत्मा की नैतिक शक्ति और सत्य व अहिंसा के आधार पर किया।

साध्य एवं साधन में एकता (Unity of Ends and Means)

गांधीजी यह मानते थे कि हमारे साध्य ही नहीं वरन् साधन भी उच्च होने चाहिए क्योंकि जैसे साधन होंगे वैसे ही साध्य की प्राप्ति होगी। गांधीजी ने साध्य को जितना महत्व दिया है उतना ही साधन को भी। गांधी दर्शन में इन दोनों को अलग नहीं किया गया है। साध्य का ऊंचा होना ही पर्याप्त नहीं है। साधन की उच्चता और नैतिकता भी आवश्यक है और यदि सच पूछा जाए तो साधन अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि मनुष्य जो कर्म करता है उसका फल उसके हाथ में नहीं होता है, किन्तु कर्म अवश्य हाथ में होता है, इसलिए जो हाथ में है वह ज्यादा महत्वपूर्ण है। वे कहते हैं, "मेरे जीवन में साध्य और साधन सम्परिवर्तनीय शब्द हैं।" न केवल साध्य ही नैतिक, पवित्र, शुद्ध और उच्च होने चाहिए वरन् साधन भी उसी मात्रा में नैतिक, पवित्र, शुद्ध और उच्च होने चाहिए। गांधीजी कहते हैं, "यदि पवित्र साध्य के लिए पवित्र साधन उपलब्ध नहीं हैं तो उस साध्य को त्याग देना चाहिए।" अपवित्र साधनों से उच्च साध्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। जैसा हम बोएंगे वैसा ही हम काटेंगे। "उद्देश्य (साध्य) की ओर हमारी प्रगति साधनों की पवित्रता के अनुपात में होगी।" जैसे साधन वैसे साध्य; साधन और साध्य को पृथक् करने वाली कोई दीवार नहीं।" साध्य और साधन की अपृथक्ता तथा पवित्रता पर जोर देते हुए उन्होंने 'हिन्द स्वराज' में लिखा था, "साधन एक बीज के समान तथा साध्य एक वृक्ष के समान है और साध्य तथा साधन में उसी प्रकार का अमिट सम्बन्ध है जिस प्रकार का एक बीज तथा वृक्ष में होता है।" जिस प्रकार से अच्छी फसल के लिए अच्छे बीजों की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार से अच्छे साधनों के बिना उत्तम ध्येय तक भी नहीं पहुंचा जा सकता। उन्होंने सदैव साधनों की पवित्रता पर जोर दिया। उन्होंने स्वराज की प्राप्ति के लिए हिंसात्मक उपायों का विरोध किया और उनके स्थान पर सत्याग्रह रूपी अस्त्र का प्रयोग किया। समाज की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक सभी प्रकार की उन्नति के लिए अहिंसात्मक साधनों का ही उपयोग किया जाना चाहिए। युद्ध, संघर्ष, हिंसा, घृणा एवं प्रतिकार के द्वारा समाज में शान्ति स्थापित नहीं की जा सकती। जीवन का सर्वोच्च आदर्श सत्य (ईश्वर) की प्राप्ति भी अहिंसा और सत्याग्रह रूपी पवित्र

साधनों से ही की जा सकती है। गांधीजी के लिए साधन ही सब कुछ है। वे कहा करते थे, "अहिंसा की स्थापना हिंसा से नहीं हो सकती जहां प्रेम की जगह विकर्षण की प्रक्रिया चल रही हो वहां प्रेम कैसे स्थापित होगा? जहां स्वयं विषमता की वृत्ति है वहां विषमता कैसे दूर होगी। असत की स्थिति से सत की, विद्वेष से प्रेम की, शरीर बल से आत्मैक्य की स्थिति की स्थापना कभी सम्भव नहीं। कटु बीज से मीठे फल की प्राप्ति कभी नहीं हुई है। विषमताएं, अन्याय तथा उत्पीड़न तभी दूर हो सकते हैं जब हमारे साधन भी निर्दोष एवं प्रेमपूर्ण हों। वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से साध्य साधन से भिन्न नहीं, उसी का घनीभूत है। साधन ही साध्य में रूपान्तरित होता है।" गांधीजी छल-कपट, हत्या और पशुबल के द्वारा स्वराज प्राप्त करने के इच्छुक नहीं थे। उन्हीं के शब्दों में, "मैं अहिंसा और सत्य हेतु देश को होमने के लिए तैयार हूं, देश के लिए अहिंसा और सत्य को नहीं।" इस प्रकार गांधीजी ने साध्य और साधनों की पवित्रता पर बल देकर एक क्रान्तिकारी विचार का सूत्रपात किया। यही विचार उन्हें मार्क्स से भिन्न करता है। मार्क्स वर्ग-विहीन समाज के आदर्श की प्राप्ति के लिए हिंसा और क्रान्ति का उपदेश देता है।

गांधीजी के राजनीतिक विचार
(POLITICAL VIEWS OF GANDHIJI)

गांधीजी ने प्लेटो, रूसो या मार्क्स की भांति किसी आदर्श राजनीतिक व्यवस्था का खाका नहीं खींचा और न ही ऐसा करने में उनकी कोई रुचि ही थी। वे राजनीतिक कार्यकर्ता और कर्मयोगी थे। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया कि वे पहले से नहीं बता सकते कि अहिंसा और सत्याग्रह पर आधारित उनका राजनीतिक समाज कैसा होगा। समय-समय पर उनके द्वारा दिए गए भाषणों, वक्तव्यों, भेंटों, प्रकाशित लेखों एवं 'हिन्द स्वराज' नामक पुस्तक में प्रकट किए गए विचारों से उनके राजनीतिक विचारों का पता चलता है।

राज्य के बारे में गांधी जी के विचार

गांधीजी के राज्य सम्बन्धी विचार दार्शनिक अराजकतावादियों से मिलते-जुलते हैं। वे राज्य को बहुत अधिक महत्व देने को तैयार नहीं हैं, उनके अनुसार व्यक्ति साध्य और राज्य साधन है। वे राज्य को सामाजिक उत्थान और जनकल्याण का एक साधन मात्र मानते हैं। उन्होंने कई कारणों से राज्य की सत्ता का विरोध किया है; जैसे—(1) राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास का मार्ग प्रशस्त नहीं करता। यह अनैतिक है, क्योंकि इसमें लोग स्वेच्छा से नहीं वरन् कानून एवं दण्ड के भय से कार्य करते हैं; (2) राज्य संगठित हिंसा का प्रतीक है; (3) राज्य का बढ़ता कार्यक्षेत्र व्यक्ति में स्वावलम्बन और आत्मविश्वास के गुणों को विकसित नहीं होने देता; (4) राज्य सत्ता का प्रतिनिधित्व करता है।

गांधीजी ने नैतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक तीनों ही आधारों पर राज्य की आलोचना की। उनके अनुसार राज्य निर्धन वर्ग का शोषण करने वाली हिंसक संस्था है, यह नैतिकता का हनन करती है, अतः इसे समाप्त हो जाना चाहिए। राज्य की उत्पत्ति गांधीजी हिंसा से मानते हैं। वे कहते हैं, "राज्य एक केन्द्रित और व्यवस्थित रूप में हिंसा का प्रतिनिधि है। व्यक्ति की आत्मा होती है राज्य आत्माहीन यन्त्र है। राज्य को हिंसा से दूर नहीं किया जा सकता क्योंकि इसका अस्तित्व ही इस पर निर्भर करता है.....मैं राज्य की शक्ति में वृद्धि को बड़े भय से देखता हूं क्योंकि यद्यपि ऐसा प्रतीत होता है कि यह शोषण को कम कर

अच्छाई में वृद्धि कर रहा है किन्तु ऐसा व्यक्ति के व्यक्तित्व को नष्ट करके कर रहा है, जो सब विकास के मूल में है, यह मानव मात्र को वड़ी हानि पहुंचाता है। जिस चीज को मैं स्वीकार करता हूं वह अहिंसा पर आधारित संगठन है और राज्य हिंसा पर आधारित संगठन।" गांधीजी अहिंसा पर आधारित किसी भी समाज में राज्य को अनावश्यक मानते हैं। ऐसे समाज में प्रत्येक मनुष्य अपना शासक स्वयं होता है। आदर्श समाज में कोई राजनीतिक सत्ता नहीं होती, क्योंकि उसमें कोई राज्य नहीं होता।

राज्य के अस्तित्व के विरुद्ध होते हुए भी एक आवश्यक बुराई के रूप में गांधीजी राज्य को समाप्त करने के पक्ष में नहीं थे। वे राज्य के कार्यक्षेत्र को अधिकाधिक सीमित करने के पक्ष में थे। इस सन्दर्भ में उन्होंने तीन सुझाव दिए :

(1) **सत्ता का विकेन्द्रीकरण**—गांधीजी राजनीतिक शक्ति के विकेन्द्रीकरण के पक्ष में थे उनका उद्देश्य प्रत्येक गांव को आर्थिक एवं राजनीतिक रूप से एक आत्मनिर्भर गणराज्य बनाना था। वे ग्राम पंचायतों को अपने गांव का प्रबन्ध एवं प्रशासन करने के सभी अधिकार दिए जाने के पक्ष में थे। वे प्रान्तीय एवं केन्द्रीय सरकारों का ग्राम प्रशासन में कम-से-कम हस्तक्षेप चाहते थे। उनकी प्रजातन्त्र में दृढ़ आस्था थी। वे बहुमत के शासन के समर्थक थे, किन्तु अल्पसंख्यकों के हितों के प्रति उदासीन नहीं थे।

(2) **राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूनतम**—राजसत्ता की बुराइयों को दूर करने के लिए उनका सुझाव यह था कि राज्य का कार्यक्षेत्र न्यूनतम हो और राज्य व्यक्ति के कार्य में कम-से-कम हस्तक्षेप करें।

(3) **राज्य के प्रभुत्व सिद्धान्त का खण्डन**—गांधीजी राज्य के प्रभुत्व के सिद्धान्त का खण्डन करते हैं, वे व्यक्ति को साध्य और राज्य को साधन मानते हैं। राज्य जनता की भक्ति का हकदार तभी हो सकता है जब वह जनता के लिए कल्याणकारी कार्य करे। यदि राज्य अपने कर्तव्यों से विमुख हो जाता है, जनता पर अन्याय और अत्याचार करने लगता है और ऐसे कानूनों का निर्माण करता है जो व्यक्ति के अन्तःकरण के विरुद्ध हों तो वह जनता की भक्ति प्राप्त करने का अधिकार खो बैठता है। ऐसी दशा में जनता की राजसत्ता का विरोध करना चाहिए।

संसद पर गांधीजी के विचार—गांधीजी ने संसदीय लोकतन्त्र में अविश्वास व्यक्त किया है क्योंकि इसमें ईमानदारी और जनकल्याण की भावना के स्थान पर ढोंग और प्रदर्शन का बोलबाला होता है। उन्होंने ब्रिटिश संसद की तुलना बांझ स्त्री और वेश्या से की। बांझ स्त्री की भांति इसने कोई अच्छा कार्य नहीं किया और वेश्या की भांति यह मन्त्रियों के हाथों की कठपुतली है जो आते और चले जाते हैं। इसके सदस्य ढोंगी और स्वार्थी होते हैं जो परस्पर खींचातानी में लगे रहते हैं। संसद् के कार्यों में कोई निश्चितता नहीं होती जो आज किया जाता है, उसे कल नष्ट किया जा सकता है।

निर्वाचन—गांधीजी निर्वाचन और प्रतिनिधित्व के विरोधी नहीं थे, किन्तु वे उसके प्रचलित स्वरूप से सन्तुष्ट नहीं थे। उनका मत है कि चुनावों द्वारा एक शोषणकारी वर्ग जन्म लेता है जिसके द्वारा व्यक्ति का नैतिक पतन कर दिया जाता है। उनके मतानुसार चुनाव में वही व्यक्ति उम्मीदवार हो सकता है जो स्वार्थहीन हो, समाज सेवा की भावना से प्रेरित होकर

चुनाव लड़ना चाहता हो। वे कहते हैं, चुनाव के उम्मीदवारों को पदलोलुपता, आत्म-विज्ञापन, विरोधियों की निन्दा करने और मतदाताओं के मनोवैज्ञानिक शोषण से बचना चाहिए।

गांधीजी वयस्क मताधिकार को व्यापक बनाने के पक्ष में थे। मताधिकार के लिए आवश्यक योग्यता सम्पत्ति न होकर शारीरिक श्रम होना चाहिए। मतदाताओं की आयु 18 से 50 वर्ष के बीच होनी चाहिए जो शारीरिक श्रम द्वारा राज्य की सेवा करते हों। 50 वर्ष से अधिक आयु के लोगों का केवल नैतिक प्रभाव होगा, किन्तु उनके हाथ में मत द्वारा प्राप्त राजनीतिक सत्ता नहीं।

गांधीजी साधारणतः सामान्य मामलों में बहुमत द्वारा निर्णय के पक्ष में थे, किन्तु महत्वपूर्ण मामलों में अल्पमत की उपेक्षा के पक्ष में भी नहीं थे। बहुमत और अल्पमत को अपना दिमाग खुला रखना चाहिए। दोनों को आत्म-परीक्षण करना चाहिए कि कौन-सा निर्णय सही है और उसी पर अमल करना चाहिए।

संरक्षकता (न्यासिता)
(TRUSTEESHIP)

गांधीजी के आर्थिक विचार—गांधीजी कोई अर्थशास्त्री नहीं थे। इसलिए उनके आर्थिक विचार अर्थशास्त्र के किसी सिद्धान्त पर आधारित नहीं थे। अपने आर्थिक विचारों में उन्होंने अर्थशास्त्र के नियमों का पालन भी नहीं किया और न ही उन्होंने किसी आर्थिक सिद्धान्त की रूपरेखा ही स्पष्ट रूप से तैयार की। आर्थिक समस्याओं के बारे में उनके सुझाव, समय, आवश्यकता एवं मानवता के दृष्टिकोण से परिपूर्ण हैं। गांधीजी के आर्थिक विचारों के प्रमुख बिन्दु निम्नांकित हैं :

औद्योगीकरण (Industrialization)

गांधीजी औद्योगीकरण एवं केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था के विरोधी थे। आप बड़े उद्योगों के विरोधी इसलिए थे क्योंकि इसके लिए काफी मात्रा में धन, कच्चे माल एवं विस्तृत बाजारों की आवश्यकता होती है। कच्चे माल और बड़े बाजारों की खोज साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को जन्म देती है जो नैतिकता के विरुद्ध है। भारत जैसे विशाल जनसंख्या वाले देश में बड़े कारखानों की स्थापना से बेकारी और गरीबी को प्रोत्साहन मिलेगा। औद्योगीकरण में मानव श्रम का स्थान मशीनें ले लेती हैं। भारत जैस देश में पहले से ही काम और साधन कम हैं और जनशक्ति अधिक है, अतः मशीनों का प्रयोग उचित नहीं है। बड़े उद्योगों से होने वाला उत्पादन गरीब कारीगरों को नुकसान पहुंचाता है, श्रमिकों और मालिकों में अनावश्यक विवाद एवं संघर्ष पैदा करता है तथा समाज में अशान्ति फैलाता है। यह हिंसा के लिए उत्तरदायी है तथा समाज में गलाकाट आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा को जन्म देता है। गांधीजी यन्त्रीकरण को 'पाप का प्रतिनिधि' मानते हैं। यन्त्र की तुलना गांधीजी ने उस साधन से की है जो मानव या पशु श्रम का पूरक या उसकी कुशलता बढ़ाने वाला नहीं वरन् उसका ही स्थान लेने वाला है। अपने जीवन के अन्तिम क्षणों तक उनका यह विश्वास रहा कि आदर्श समाज में यन्त्र होने ही नहीं चाहिए। वे कहते हैं, "यन्त्र के पक्ष में एक भी अच्छा बिन्दु मेरे ध्यान में नहीं है। वे तीन कारणों से यन्त्रों को अवांछनीय मानते थे—(i) इनकी नकल हो सकती है; (ii) इनके विकास की कोई सीमा नहीं है; तथा (iii) यह मानव श्रम का स्थान ले लेता है।

इसका यह अर्थ नहीं है कि गांधीजी सभी प्रकार की मशीनों के प्रयोग के पूर्णतया विरुद्ध थे। वे मशीनें जो सर्वसाधारण के हित साधन में काम आती हैं, उनका प्रयोग वे उचित मानते थे। उदाहरण के लिए, रेल, जहाज, सिलाई की मशीन, चर्खा, आदि के वे समर्थक थे, किन्तु मानव का शोषण एवं विनाश करने वाली मशीनों एवं यन्त्रों के वे विरोधी थे। जैसे-जैसे जीवन का अनुभव बढ़ता गया, गांधीजी यन्त्रों से समझौता करते गए। उन्होंने कहा, "मैं मिल उद्योग का विकास चाहता हूं, परन्तु मैं इसका विकास देश की कीमत पर नहीं चाहता।" गांधीजी विनाशकारी यन्त्रों के विरोधी हैं। **"वे 'यन्त्र' के नहीं, 'यन्त्र होड़' के विरोधी हैं। वे यन्त्र के दुरुपयोग के विरोधी हैं। वे व्यक्ति को यन्त्रों का दास नहीं बनाना चाहते। गांधीजी यन्त्रों का उन्मूलन नहीं चाहते। वे उन्हें केवल सीमित करना चाहते हैं।** गांधीजी उन बड़े उद्योगों को रखने के भी पक्ष में हैं जो सार्वजनिक कल्याण के लिए आवश्यक हैं, किन्तु उन पर वे व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सार्वजनिक स्वामित्व चाहते हैं ताकि उनमें उत्पादन व्यक्तिगत लाभ के लिए नहीं वरन् प्रेम व सार्वजनिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर किया जाए। गांधीजी के शब्दों में, "मैं इतना समाजवादी अवश्य हूं कि इन कारखानों को सार्वजनिक नियन्त्रण में रखा जाए या उनका राष्ट्रीयकरण कर दिया जाए। सार्वजनिक उपयोगिता वाले यन्त्र सार्वजनिक नियन्त्रण में होने चाहिए। गांधीजी की सम्पूर्ण आर्थिक विचारधारा में 'सर्वोत्तम मानव है।' एक आदर्श स्थिति को छोड़े बिना गांधीजी ने यन्त्रों की आवश्यकता को उसी प्रकार स्वीकार किया जिस प्रकार आत्मा की मुक्ति के लिए शरीर की आवश्यकता को।

गांधीजी ने इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के इतिहास का विस्तृत अध्ययन किया और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि आधुनिक युग के पूंजीवाद के दुष्प्रभावों से बचने का एक उपाय **आर्थिक विकेन्द्रीकरण है।** विकेन्द्रीकरण के द्वारा देश की ग्रामीण जनता को अधिकाधिक लाभ होगा, प्रत्येक गांव एक आर्थिक इकाई के रूप से काम कर सकेगा। गांधीजी स्वदेशी खद्दर के पक्ष में थे। खद्दर उद्योग के द्वारा गरीबों को काम मिलता है तथा पैसा भी विदेश में नहीं जाता। गांधीजी का अर्थशास्त्र प्रत्येक व्यक्ति का, यहां तक कि दुर्बल का भी सामान्य हित चाहता है जो औद्योगीकरण में सम्भव नहीं है क्योंकि यह शोषण एवं वर्ग-संघर्ष को जन्म देता है। शोषण हिंसा है। गांधीजी के अर्थशास्त्र का आधार अहिंसा और धर्म है। बड़े उद्योगों से धन तो प्राप्त होता है, किन्तु स्वास्थ्य समाप्त हो जाता है।

गांधीजी के आर्थिक विकेन्द्रीकरण का ध्येय विशाल पैमाने पर कार्य करने वाले उद्योगों और कारखानों को बन्द करके उनके स्थान पर कुटीर उद्योगों को स्थापित करना था। यदि मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण को समाप्त करना है तो इसका सर्वोत्तम साधन कुटीर उद्योग ही है ताकि राष्ट्रीय सम्पत्ति के वितरण में अधिक विषमता नहीं आ पाये।

शारीरिक श्रम की महान् उपयोगिता में आस्था के कारण गांधीजी औद्योगीकरण और मशीनों द्वारा बड़ी मात्रा में उत्पादन को मानव के लिए अभिशाप मानते थे। किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वे मशीनों और मशीनों द्वारा संचालित बड़े उद्योगों के सर्वथा विरोधी थे। गांधीवाद चर्खा, भक्ति या लंगोटी लगाने की सीख देने वाली आर्थिक व्यवस्था नहीं है। गांधीजी औद्योगीकरण के विरोधी होते हुए भी मशीनों के उपयोग की उस सीमा तक छूट देते हैं जहां तक वह विनाशकारी और शोषण को प्रोत्साहन देने वाली न हो। वे गृह उद्योगों में काम

आने वाली मशीनों के समर्थक थे, यद्यपि वे कहते थे कि "यान्त्रिक शक्ति से चलने वाली मशीनों को काम में लेकर लाखों लोगों को बेकार कर देना मेरी दृष्टि में अपराध है।"

गांधीजी ने औद्योगीकरण का विरोध किया और उसके स्थान पर कुटीर उद्योगों पर आधारित विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का समर्थन किया, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक गांव एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करेगा। कुटीर उद्योगों में यन्त्रों एवं उत्पादित वस्तु दोनों का स्वामी स्वयं श्रमिक होगा। गांधीजी का विचार था कि यदि एक गांव अपनी दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुएं स्थानीय कुटीर व्यवसाय से प्राप्त कर सके तो वह गांव आत्मनिर्भर होगा। इससे पूरा-का-पूरा राष्ट्र आत्मनिर्भर बन सकेगा और राष्ट्रीय जीवन में आर्थिक विषमता नहीं होगी। वे खादी को भारत की राजनीति एवं आर्थिक समस्याओं के हल का अमोघ अस्त्र मानते थे। आर्थिक क्षेत्र में उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं के उपभोग पर जोर दिया। भारत के लिए वे कुटीर उद्योग-धन्धों की व्यवस्था को ही सर्वोत्तम मानते थे।

आर्थिक विषमता को दूर करने हेतु गांधीजी ने न्यासिता का सिद्धान्त प्रस्तावित किया जिस पर यहां विचार किया जा रहा है।

गांधीजी आर्थिक विषमता को समाप्त करने के पक्ष में थे। वे पश्चिमी पूंजीवादी व्यवस्था को पसन्द नहीं करते थे क्योंकि यह व्यवस्था शोषण, प्रतिद्वन्द्विता और संघर्ष को जन्म देती है। किन्तु वे आर्थिक समानता स्थापित करने के लिए साम्यवादी ढंग जिसमें बलपूर्वक धनिकों का धन छीनकर उसका सार्वजनिक हित में प्रयोग करने की बात कहते हैं, के पक्ष में भी नहीं थे। वे रूसी समष्टिवादी अर्थव्यवस्था को भी पसन्द नहीं करते थे क्योंकि यह हिंसा पर आधारित है, पूंजीपतियों को नष्ट कर देना चाहती है, इससे तो समाज उनकी सेवाओं से वंचित रह जाएगा। समाजवाद में केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति अधिक है। यह सत्ता के बढ़ाने में विश्वास करती है। गांधीजी का विचार था कि पूंजीपतियों का हृदय परिवर्तन कर सार्वजनिक हित में उनकी सम्पत्ति का प्रयोग किया जाना चाहिए। पूंजीवादी और समष्टिवादी दोषों को दूर करने के लिए गांधीजी ने 'न्यासिता के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अनुसार, "अमीर व्यक्ति का धन उसके पास ही रख दिया जाएगा जिसमें से वह अपनी उचित जरूरतों के लिए खर्च करेगा और बाकी बचे हुए धन का वह ट्रस्टी होगा जिसका प्रयोग समाज के लिए किया जाएगा।"

ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त एकत्रित किए हुए या अपनी आवश्यकताओं से अधिक कमाए हुए धन पर लागू होता है। इस सिद्धान्त में निजी सम्पत्ति के अधिकार को वहां तक स्वीकार किया गया है जहां तक वह व्यक्ति के नैतिक, बौद्धिक और शारीरिक विकास के लिए आवश्यक है। यह सिद्धान्त निजी उद्यम और सरकार द्वारा नियन्त्रित उद्यम में समझौता है।

इस सिद्धान्त में दो बातें मौजूद हैं—(i) अपेक्षा से अधिक धन पूंजीपति के पास एक न्यास के रूप में रहेगा; (ii) अपेक्षा से अधिक धन का प्रयोग समाज-कल्याण के लिए होगा।

गांधीजी का मत है कि जो धनिक ऐसा नहीं करे, उसके विरुद्ध हिंसा नहीं वरन् अहिंसात्मक असहयोग एवं सत्याग्रह का प्रयोग किया जाएगा, उसका हृदय परिवर्तन कर उसे सद्‌मार्ग पर लाया जाएगा। फिर भी सफलता न मिले तो सरकार उसके उद्योगों को अपने हाथ में लेकर जनहित में उनका उपयोग करेगी। इस प्रकार गांधीजी अहिंसात्मक साधनों से सामाजिक न्याय स्थापित करना चाहते थे।

गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में न तो व्यक्तिगत सम्पत्ति के दोष हैं और न ही सार्वजनिक स्वामित्व के। इसमें न तो निजी उद्यम द्वारा उत्पन्न असमानताएं और शोषण की स्थिति पैदा होती है और न ही सार्वजनिक उद्यम की हिंसा और स्वतन्त्रता के हनन की सम्भावना रहती है। इसमें वर्ग-संघर्ष की सम्भावना भी कम होगी, सहकारी संस्थाओं के माध्यम से इसमें श्रम और पूंजी के सम्बन्ध में तालमेल बैठाया जाएगा।

ट्रस्टीशिप द्वारा गांधीजी वर्ग-विभाजन को नहीं वरन् वर्ग-संघर्ष को समाप्त करना चाहते थे। उन्हीं के शब्दों में, "विभाजन तो होगा ही परन्तु वह क्षैतिज (Horizontal) प्रकार का होगा, लम्बवत् (Vertical) प्रकार का नहीं।" गांधीजी पूंजीपतियों और जमींदारों का सफ़ाया नहीं चाहते थे वरन् उनके व मजदूरों के सम्बन्धों में परिवर्तन लाना चाहते थे। वे स्वामियों का सफाया करके समाज को उनकी योग्यताओं से वंचित करना नहीं चाहते वरन् उन्हें अपेक्षा से अधिक धन के ट्रस्टी बनाना चाहते थे। वे कहते थे कि प्रतिभावान की बुद्धि को कुण्ठित करने की कोई आवश्यकता नहीं किन्तु ऐसे व्यक्ति की आय के बड़े भाग को राज्य के हित में उसी तरह प्रयोग में लिया जाना चाहिए जिस तरह से संयुक्त परिवार में पिता अपने कमाने वाले पुत्रों की आय का उपयोग करता है। पुत्र केवल न्यास के रूप में ही अपनी आमदनी को अपने पास रख सकते हैं। ट्रस्टीशिप के द्वारा गांधीजी दो उद्देश्य प्राप्त करना चाहते थे—(i) इसमें अपरिग्रह की बात भी रह जाती है, और (ii) परिग्रह वाले की ममता पर चोट भी नहीं आती। संक्षेप में गांधीजी ट्रस्टीशिप द्वारा पूंजीपति को समाप्त किए बिना पूंजीवाद की बुराइयों का अन्त करना चाहते हैं।

गांधीजी ट्रस्टीशिप की योजना को एक वृहद् क्रान्ति कहते थे। वे कहते थे कि एक पूंजीपति की सम्पत्ति को जब्त कर उसे जनता में वितरित करना स्वयं में एक असाधारण क्रान्ति है। परन्तु ट्रस्टीशिप की योजना तो इससे भी 'वृहद् क्रान्ति' है क्योंकि ट्रस्टीशिप में जनता पूंजीपति की न केवल सम्पत्ति का उपयोग करती है बल्कि उसकी योग्यता, जानकारी और अनुभव का भी प्रयोग करती है।

गांधीजी के ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त में 'दोहरे स्वामित्व' की बात निहित है जिसे उन्होंने 'वैध' और 'नैतिक' स्वामित्व की संज्ञा दी है। वैध रूप में न सम्पत्ति या भूमि पर पूंजीपति जमींदार का स्वामित्व होगा वरन् नैतिक रूप से उस पर समाज का स्वामित्व होगा। इस प्रकार सारी सम्पत्ति पर, जिसे गांधीजी समाज की उत्पत्ति मानते हैं, धनिकों और श्रमिकों अथवा जमींदारों और कृषकों का स्वामित्व रहेगा। वे पूंजीपतियों और जमींदारों से कहा करते थे कि "आप अपने धन का उपयोग उसे त्याग कर करें।"

गांधीजी की मान्यता है कि यदि पूंजीपति या जमींदार अपने आप अपेक्षा से अधिक धन के ट्रस्टी नहीं बनते तो उन्हें अहिंसक असहयोग द्वारा ट्रस्टी बनने के लिए बाध्य किया जाएगा। यदि ऐसा होने पर भी वे ट्रस्टी नहीं बनते तो कम-से-कम हिंसा का प्रयोग करते हुए उस धन पर सरकारी स्वामित्व स्थापित किया जाएगा। ऐसी स्थिति में गांधीजी निजी स्वामित्व के बजाय सार्वजनिक स्वामित्व को पसन्द करते हैं। गांधीजी ने जिस सामान्य कल्याण की विचारधारा के आधार पर निजी सम्पत्ति के अधिकार का समर्थन किया, उसी सामान्य कल्याण के आधार पर उन्होंने राज्य के नियन्त्रण की मांग की। अंग्रेज उदारवादियों की तरह ही गांधीजी सरकारी स्वामित्व के पक्ष में नहीं हैं। परन्तु यदि सर्वोदय के लिए यह आवश्यक हो

जाए तो वे निजी स्वामित्व के साथ-साथ सरकारी स्वामित्व को भी उचित मानेंगे। उनका उद्देश्य केवल एक है कि सम्पत्ति का उपयोग केवल सामान्य कल्याण के लिए किया जाए।

गांधीजी का विश्वास है कि ट्रस्टी का कोई उत्तराधिकारी नहीं होता। यदि कोई है तो वह जनता है। वैध अधिकार तो मौलिक दृष्टि में है, राज्य में नहीं क्योंकि, "सम्पत्ति को जब्त होने से बचाने के लिए ही तो ट्रस्टीशिप के सिद्धान्तों को गढ़ा गया है।" फिर भी गांधीजी इसे राज्य द्वारा नियन्त्रित करना चाहते हैं क्योंकि इस प्रकार की व्यवस्था से राज्य और ट्रस्टी दोनों पर नियन्त्रण रहता है।

ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त की मुख्य विशेषताएं (Major Characteristics) निम्नलिखित हैं :

1. यह वर्तमान पूंजीवादी व्यवस्था वाले समाज को समतावादी व्यवस्था में परिवर्तन करने का साधन है।
2. इसमें पूंजीवाद के लिए कोई स्थान नहीं है यद्यपि यह पूंजी के स्वामियों को अपने आपको सुधार लेने का अवसर प्रदान करता है।
3. यह हृदय परिवर्तन का सिद्धान्त है। यह व्यक्ति को धन और लोभ की वृत्ति से मुक्ति दिलाना चाहता है।
4. यह सम्पत्ति के निजी स्वामित्व के अधिकार को स्वीकार नहीं करता। यह केवल व्यक्ति की उचित आवश्यकताओं को स्वीकार करता है जिन्हें समाज स्वीकार करता है।
5. यह आवश्यकता पड़ने पर सम्पत्ति को राज्य के कानून द्वारा नियन्त्रण करने के पक्ष में है।
6. यह सम्पत्ति का प्रयोग न तो स्वार्थ-सिद्धि के लिए करना चाहता है और न समाज के हितों के विरुद्ध करना चाहता है।
7. यह धन के स्वामित्व से इतना सम्बन्धित नहीं है जितना कि समाज-कल्याण से है।
8. यह आय की न्यूनतम और अधिकतम सीमाएं निर्धारित करता है तथा विषमताओं को समाप्त करना चाहता है।
9. यह उत्पादन 'लाभ' के लिए नहीं बल्कि 'सामाजिक आवश्यकता' के लिए करना चाहता है।

अपरिग्रह—आर्थिक अन्याय और असमानता को दूर करने के लिए गांधीजी ने अपरिग्रह का विचार दिया। उनका मत था कि प्रकृति स्वयं उतना उत्पादन करती है जितना सृष्टि के लिए आवश्यक है। अतः प्राकृतिक नियम यह है कि अनावश्यक संग्रह न कर उतना ही प्राप्त किया जाए जितनी आवश्यकता है। गांधीजी मानव की इच्छाओं में अत्यधिक वृद्धि से भी चिन्तित थे और सादगी तथा सन्तोषपूर्ण जीवन को आदर्श मानते थे।

वर्ग सहयोग—गांधीजी साम्यवादियों के वर्ग-संघर्ष की अपेक्षा वर्ग सहयोग में विश्वास करते थे। वे मानते थे कि पूंजीपति व श्रमिक के हित परस्पर विरोधी नहीं वरन् एक-दूसरे के पूरक होते हैं। उनके सामूहिक प्रयत्नों से ही उद्योगों का विकास सम्भव है। वे पूंजीपतियों की शक्ति एवं अधिकारों को सीमित करने एवं श्रमिकों को उद्योगों के प्रबन्ध में भागीदार बनाने के पक्ष में थे। इस प्रकार गांधीजी के अनुसार मानव जीवन का मूल मन्त्र सहयोग है, संघर्ष नहीं। श्रमिक और पूंजीपति परस्पर सहयोग एवं सम्पर्क से लाभ उठा सकते हैं।

गांधीजी के आर्थिक विचारों का मूल्यांकन—अनेक विद्वानों ने गांधीजी के विचारों को अव्यावहारिक बताकर उनकी आलोचना की है। उनके विचार समय और इतिहास की गति को पीछे ले जाने वाले हैं। उन्होंने यन्त्रों की अनावश्यक भर्त्सना की है जबकि विश्व में सभी देश यन्त्रीकरण की ओर अग्रसर हो रहे हैं। यदि भारत ने यन्त्रीकरण नहीं किया तो वह अन्य देशों की तुलना में पिछड़ जाएगा। उनका खादी का सिद्धान्त भी वर्तमान परिस्थितियों में अव्यावहारिक प्रतीत होता है।

गांधीजी का ट्रस्टीशिप (न्यासिता) का सिद्धान्त अव्यावहारिक प्रतीत होता है क्योंकि पूंजीपतियों के हृदय परिवर्तन की बात भी कठिन है। उनका यह सिद्धान्त काल्पनिक अधिक है जो मानव की नैतिक शक्तियों में आवश्यकता से अधिक विश्वास करता है। गांधीजी ने सामाजिक संघर्ष की जटिलताओं को जितना सरल समझा, इतनी सरल वे नहीं हैं। कुछ विद्वान तो गांधीजी के इस सिद्धान्त को पूंजीपतियों का रक्षाकवच मानते हैं। गांधीजी एक ही समय में व्यक्तिगत स्वामित्व और सार्वजनिक स्वामित्व की बात करते हैं जो कि उचित प्रतीत नहीं होता। उनका यह विचार भी मिथ्या है कि तकनीकी विकास और आध्यात्मिक विकास एक-दूसरे के विरोधी हैं।

सत्य एवं अहिंसा की अवधारणा
(CONCEPT OF SATYA AND AHIMSA)

गांधीवाद में सत्य और अहिंसा को विशेष महत्व दिया गया है। इन दोनों के बीच अटूट सम्बन्ध है। गांधीजी के अनुसार सत्य ही ईश्वर है। जो व्यक्ति दूसरों को कष्ट देता है, वह सत्य का उल्लंघन करता है। हिंसा असत्य है क्योंकि यह जीवन की एकता और पवित्रता के विपरीत है। अतः जीवन में अहिंसा का पालन करना सत्य के उपासक का परम कर्तव्य है।

(अ) सत्य (Satya)

सत्य क्या है, इसका उत्तर देते हुए गांधीजी कहते हैं—तुम्हारी अन्तरात्मा जो कहती है, वह सत्य है, किन्तु सभी का अन्तःकरण एक जैसी बात नहीं कहता। सत्य को ग्रहण कर उसे व्यक्त करने के लिए अन्तरात्मा का शुद्ध होना आवश्यक है, क्योंकि शुद्ध अन्तरात्मा की आवाज ही सत्य हो सकती है। दुष्टात्माओं की आवाज सत्य नहीं हो सकती। आत्मा की शुद्धि के लिए गांधीजी ने कई उपाय बताए हैं। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्वाद, निर्भीकता एवं शारीरिक श्रम, आदि को अपनाकर आत्मा की शुद्धि की जा सकती है। गांधीजी मानते हैं कि पूर्ण सत्य की प्राप्ति सम्भव नहीं है क्योंकि आत्म-शुद्धि के साधनों को पूरी तरह नहीं अपनाया जा सकता फिर भी व्यक्ति इन साधनों के द्वारा उत्तरोत्तर सत्य की ओर अग्रसर हो सकता है।

गांधीजी ने बताया कि तुम्हारी अन्तरात्मा जो कहती है वही सत्य है, किन्तु सभी की अन्तरात्मा एक ही बात नहीं कहती। संस्कार भेद के कारण सज्जन और दुर्जन की अन्तरात्मा की वाणी में भी अन्तर पाया जाता है। दुर्जन व्यक्ति बुरे कर्मों, विचारों और वाणी का भी औचित्य ढूंढ़ लेते हैं और वैसा ही करते हैं जैसा वे सोचते हैं जबकि एक सज्जन व्यक्ति की आत्मा वैसा करने को कभी नहीं कहेगी। अतः शुद्ध अन्तरात्मा की आवाज ही सत्य है।

सत्य शब्द सत् से बना है। सत् का अर्थ है होना या अस्तित्व, शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से सत्य का अर्थ हुआ—होने का भाव व अस्तित्व सत्य के सिवा किसी दूसरी वस्तु का

अस्तित्व ही नहीं है। सामान्यतः सत्य का अर्थ केवल सच कहा जाता है, किन्तु गांधीजी ने सत्य का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया है। विचार में, वाणी में और आचार में सत्य का होना ही सत्य है। इस सत्य को जो पूर्णतया समझ लेता है, उसे संसार में दूसरा कुछ भी जानने को नहीं रहता, क्योंकि सारा ज्ञान इसी में समाया हुआ है, जो उसमें न समाये, वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है।[1] सत्य की व्यापकता को समझाते हुए गांधीजी ने कहा है कि मेरे लिए सत्य सर्वोपरि सिद्धान्त है, जिसमें कि अन्य कई सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। यह केवल वचन का ही सत्य नहीं है, मन का सत्य भी है और हमारी कल्पना का सापेक्षिक सत्य ही नहीं है, बल्कि निरपेक्ष सत्य, वह शाश्वत सिद्धान्त जो कि ईश्वर है। उन्होंने अन्यत्र कहा है—सत्य निरपेक्ष, सर्वकालीन और अनन्त है।

सत्य शब्द का अर्थ गांधीजी ने इस प्रकार बताया है "सत्य शब्द सत् से बना है। सत् य़ानि होना। सत्य यानि हस्ती। सत्य के सिवाय और किसी चीज की हस्ती ही नहीं है। परमेश्वर का सही नाम ही "सत्" यानि सत्य है। इसलिए परमेश्वर सत्य है, ऐसा कहने के बजाय सत्य ही परमेश्वर है, ऐसा कहना ज्यादा ठीक है।"[2]

गांधीजी के लिए सत्य ही ईश्वर है, शाश्वत और सनातन सिद्धान्त है। अपनी आत्मकथा में वे लिखते हैं—मेरे मन में सत्य ही सर्वोपरि है और उसमें अगणित वस्तुओं का समावेश हो जाता है। जब तक मैं इस सत्य का साक्षात्कार न कर लूं तब तक मेरी अन्तरात्मा जिसे सत्य समझती है, उस काल्पनिक सत्य को अपना आधार मान कर मैं अपना जीवन व्यतीत करता हूं। गांधीजी का मत था कि जीवन की प्रत्येक अवस्था में सत्य का पालन किया जाना चाहिए, चाहे उसका परिणाम कुछ भी क्यों न हो, चाहे उसका कितना ही मूल्य क्यों न चुकाना पड़े। गांधीजी सत्य को शाश्वत मानते थे। वे कहते थे—"एक सत्य ही है, इसके अलावा दूसरा कुछ भी इस जगत् में नहीं है।" ईश्वर सत्य है का एक अर्थ यह है कि गांधीजी ने नैतिक मूल्यों से सत्य को सर्वोच्च माना है। इसलिए वे आजन्म सत्य के लिए कष्ट झेलते रहे। अतः इस अर्थ में सत्य ही आराध्य है, यही वास्तव में ईश्वर है, अतः ईश्वर सत्य है वाक्य में ईश्वर वस्तुतः धर्म और नैतिकता रूपी गंगा जमुना के संगम पर खड़ा मालुम पड़ता है।[3] गांधीजी का मानना है कि जो सत् है, वहीं ईश्वर है। सत् का अर्थ मन कर्म और वचन से उसमें विश्वास करना है। वास्तव में जगत में जो कुछ है सत् है सत्य है, परमेश्वर है, उसके सिवाय कुछ नहीं है। गांधीजी कहते हैं कि मेरा दावा है कि मैं बचपन से ही सत्य का पुजारी हूं। मेरे लिए यह सबसे सहज और स्वाभाविक वस्तु थी। मेरी भक्तिपूर्ण खोज ने मुझे ईश्वर सत्य है, के प्रचलित मंत्र के बजाय सत्य ही ईश्वर है का अधिक गहरा मन्त्र दिया। यह मन्त्र मुझे ईश्वर को मानो अपनी आंखों के सामने प्रत्यक्ष देखने की क्षमता प्रदान करता है। मैं अनुभव करता हूं कि वह मेरे रग रग में समाया हुआ है।[4]

गांधीजी अहं की भावना को सत्य के दर्शन में बाधक मानते थे। वे कहते थे कि देहधारियों के लिए पूर्ण सत्य की प्राप्ति असम्भव है क्योंकि देह रहते अहं भाव पूर्णतया नष्ट नहीं हो

1 विजयश्री चन्द्र, 'महात्मा गांधी का धर्म-दर्शन', पृ. 144।
2 गांधीजी, मंगल प्रभात, पृष्ठ 5।
3 डॉ. दशरथ सिंह, गांधीवाद को विनोबा की देन, पृ. 151।
4 गांधीजी, हरिजन, 9-8-1994।

सकता और जब तक किसी भी रूप में अहं भाव मौजूद है, सत्य के दर्शन नहीं हो सकते। आत्मशुद्धि ही हमें सत्य के निकट ले जा सकती है।

गांधीजी सत्य की खोज को ही ईश्वर की खोज मानते थे। मधुर वाणी, शिष्ट आचरण, परोपकार, सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार और मैत्री भाव ही सत्य की खोज के आधार हैं। सत्य की खोज सभी कर सकते हैं. चाहे वह महात्मा हो या बालक। सत्य की शोध के साधन सरल भी हैं और कठिन भी। उन्होंने विश्वशान्ति एवं विश्व-बन्धुत्व के लिए सत्य की खोज को आवश्यक माना। गांधीजी के सत्य की व्यावहारिक उपयोगिता यह भी है कि यदि विश्व के शक्तिशाली देश दबाव की राजनीति छोड़ कर शाश्वत सत्य की खोज में लग जाएं तो सारे झगड़े ही समाप्त हो जाएंगे और विश्व-बन्धुत्व एवं विश्वशान्ति की कल्पना साकार हो जाएगी।

गांधीजी का सम्पूर्ण जीवन सत्यमय था। वे सत्य के सामने और किसी बात से समझौता नहीं कर सकते थे। उनका आग्रह था कि हमारा प्रत्येक व्यवहार और कार्य सत्य के लिए होना चाहिए। सत्य के अभाव में हम किसी भी नियम का शुद्ध रूप में पालन नहीं कर सकते। वाणी, विचार और आचार का सत्य होना भी सत्य है, सत्य की अर्चना ही ईश्वर की सच्ची भक्ति है। जिस प्रकार से एक रेखा में प्रत्येक स्थान पर बिन्दु होते हैं वैसे ही जीवन या विश्व में प्रत्येक स्थान पर सत्य की सिद्धि तभी सम्भव है जब हम अपनी दृष्टि को सदैव निर्दोष और निर्मल रखें। गांधीजी ने कहा कि सत्य के द्वारा हमें सहिष्णुता प्राप्त होती है जिससे हम खुले दिमाग से दूसरों की बात सुन सकते हैं। सत्य जीवन का साध्य है और साध्य के साथ ही साधन की समस्या भी जुड़ी है। गांधीजी के सत्य के परिवेश में व्यक्ति ही नहीं वरन् समूह, समाज और सम्पूर्ण मानव जाति सम्मिलित है। सत्य का पालन धर्म, परिवार, राजनीति, अर्थनीति, आदि सब में होना चाहिए। व्यक्ति व समाज का कोई पक्ष इससे वंचित नहीं रहना चाहिए। गांधीजी ने सापेक्ष सत्य और शुद्ध सत्य में भेद किया। सापेक्ष सत्य वह सत्य है जिसे हम किन्हीं विशेष परिस्थितियों के सन्दर्भ में देखते हैं। जो एक प्रकार की परिस्थिति में सत्य हो सकता है, सम्भव है वह भिन्न प्रकार की परिस्थिति में सत्य न हो। शुद्ध सत्य अन्तिम सत्य है। वही है, वही था और वही रहेगा। सत्य के शुद्ध अर्थ में गांधीजी सत्य और ईश्वर को एक ही मानते हैं। वे ईश्वर की पूजा सत्य के रूप में करते हैं। इस अर्थ में सत्य मानव जीवन का लक्ष्य बन जाता है।

गांधीजी के सत्य सम्बन्धी विचारों के सार को मशरुवाला ने निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है :

1. सत्य ही परमेश्वर है यह सत्य का "पर" अथवा ऊंचा अर्थ हुआ। उसके "ऊपर" अथवा साधारण अर्थ में सत्य का मतलब है, सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी, सत्य कर्म।
2. सत्य में सत् अर्थात् "है" धातु है। वह हमेशा है और रहेगा। असत्य का अर्थ है नहीं। उसका अस्तित्व ही नहीं है। उसका सदा नाश है। जय तो सत्य की ही है। जो सत्य है वही अन्त में हितकर और भला है। अतः सत्य का अर्थ भला ही होता है और जो सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्य कर्म है, वही सदाग्रह, सदविचार, सद्वाणी और सद्कर्म है।

3. जिन सत्य और सनातन नियमों से विश्व का जड़ चेतन तन्त्र चलता है अविश्रांत रूप से उनकी खोज में लगे रहना और तदनुसार अपने जीवन को बनाए रहना तथा सत्यादि साधनों द्वारा असत्य का प्रतिकार करना ही सत्याग्रह है।
4. जो विचार हमारी राग-द्वेष विहीन, निष्पक्ष तथा श्रद्धा और भक्ति से युक्त बुद्धि को सदा के लिए अथवा जिन परिस्थितियों का अन्दाज लग सकता है उन परिस्थितियों में यथासम्भव दीर्घ समय के लिए, योग्य और न्यायोचित प्रतीत हो, वह हमारे लिए सत्य विचार है।
5. जैसी हमारी जानकारी है, उसी रूप में वस्तु स्थिति को, कर्त्तव्य आ पड़ने पर जो वाणी ठीक-ठीक प्रस्तुत करती है और उसमें से कोई भिन्न आभास उत्पन्न हो, इस प्रकार घटाने या बढ़ाने का प्रयत्न नहीं करती, वह सत्य वाणी है।
6. विचार द्वारा जो सत्य प्रतीत होता है उसी का विवेकपूर्ण आचरण सत्य कर्म है।
7. यों कहना कि "पर" सत्यरूपी जो परमेश्वर है, उसे जानने के लिए "अपर" सत्य एक साधन है, अथवा सत्य आग्रह, सत्य विचार, सत्य वाणी और सत्यकर्म की अर्थात् अपर सत्य के पालन की पूर्ण सिद्धि ही परमेश्वर का साक्षात्कार कही जा सकती है, साधन के लिए दोनों में कोई भेद नहीं।

नैतिकता की गांधीय धारणा में सत्य को शीर्षस्थ स्थान प्राप्त है। सत्य का निरपेक्ष स्तर जहां आध्यात्मिक आस्था के माध्यम से मानवीय प्रयत्नों में प्राणिमात्र के प्रति प्रेम व सद्भाव की अनुभूति करता है, वहीं सत्य का सापेक्ष अथवा लौकिक स्तर, मानवीय आचरण की पवित्रता को सुनिश्चित करता है।

(ब) अहिंसा (Ahimsa)

अहिंसा गांधीय नीति का दूसरा मौलिक नियम है। गांधी अहिंसा के चैम्पियन के रूप में अधिक प्रसिद्ध थे। यद्यपि गांधी सत्य को उच्चतम मानते थे। राघवन ऐयर सम्भवतः इसीलिए लिखते हैं कि, "उनका नाम सामान्यतः अहिंसा की धारणा से पहचाना जाता था।"

गांधीजी के अनुसार अहिंसा मनुष्य का स्वाभाविक गुण है, मनुष्य स्वभाव से ही अहिंसाप्रिय होता है, कुछ विशेष परिस्थितियां ही उसे हिंसा के लिए मजबूर करती हैं। मानव की अहिंसक प्रवृत्ति का ही परिणाम है कि आदिम युग का नरभक्षी मानव आज का सभ्य और सुसंस्कृत मानव वन गया है। इतिहास इस वात का साक्षी है कि अहिंसा ही मानव के उत्तरोतर जीवन का सर्वोच्च गुण है, अहिंसा के द्वारा ही व्यवस्थित समाज की रचना की जा सकती है और जीवन में उन्नति सम्भव है।

अहिंसा का अर्थ केवल हत्या न करना ही नहीं है वरन् अन्य किसी प्रकार से भी अपने विरोधी को हानि न पहुंचाना है। गांधीजी के शब्दों में, **"अहिंसा का तात्पर्य अत्याचारी के प्रति नम्रतापूर्ण समर्पण नहीं है, वरन् इसका तात्पर्य अत्याचारी की मनमानी इच्छा का आत्मिक-बल के आधार पर प्रतिरोध करना है।"** उन्होंने 1930 में **यंग इण्डिया** के एक अंक में लिखा था, "पूर्ण अहिंसा सभी प्राणियों के प्रति दुर्भावना के अभाव का नाम है। ..... अहिंसा अपने क्रियात्मक रूप में सभी जीवधारियों के प्रति सद्भावना का नाम है। यह तो विशुद्ध प्रेम है।" **गांधीजी के अनुसार अहिंसा का तात्पर्य है, मन,वचन और कर्म से किसी को कष्ट न देना, किसी का दिल न दुखाना।** अहिंसक व्यक्ति प्रेम, क्षमा, सहानुभूति और सत्य की मूर्ति होता है। उसका कोई शत्रु नहीं होता। अहिंसा प्रेम की ऐसी जड़ी-बूटी है जो कट्टर-से-कट्टर शत्रु को

भी मित्र बना सकती है, शक्तिशाली अस्त्र को परास्त कर सकती है। यह अजेय शक्ति है, आत्मा का गुण है जो चिरंजीवी है।

गांधीजी की अहिंसा का क्षेत्र बहुत व्यापक है। इसमें ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, आदि सभी कुछ आ जाते हैं। गांधीजी के अनुसार यदि कोई व्यक्ति अपनी अनिवार्य आवश्यकता से अधिक लेता है तो वह हिंसा है। अविनय, तिरस्कार एवं अहंकार भी हिंसा है। झूठ बोलना, ठगना, कम तोलना, विवशता का अनुचित लाभ उठाना, बुरा विचार, द्वेष, बैर, डाह, किसी का बुरा चाहना, जिसकी जगत को चाह है उस पर अधिकार करना, आदि सभी हिंसा है। क्रोध, संग्रह, अनावश्यक विरोध, पशु बल का प्रयोग, आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति रखना, चोरी सभी हिंसा है। शारीरिक श्रम गांधीजी की अहिंसा का अभिन्न अंग है। गांधीजी की अहिंसा सर्वोच्च प्रेम सर्वोच्च दयालुता और सर्वोच्च आत्म बलिदान है। यह शुद्धता और स्वच्छता पर आधारित है। इसमें घृणा, द्वेष और हिंसा का लेशमात्र भी स्थान नहीं है। किसी भी कार्य को हिंसक और अहिंसक करार देने से पूर्व उसके आशय और उद्देश्य को जान लेना आवश्यक है।

गांधीजी अहिंसा को समस्याओं के समाधान का एक अस्त्र भी मानते हैं। उनके अनुसार ऊंची-से-ऊंची हिंसा का विरोध अहिंसा के द्वारा किया जा सकता है। उनके अनुसार अहिंसा निष्क्रियता, अकर्मण्यता या उदासीनता नहीं है वरन् बुराई तथा अन्याय का प्रतिकार करते रहना है। अहिंसक योद्धा बुराई से टक्कर लेता है, अन्यायी के अत्याचारों से घबराता नहीं वरन् वीरतापूर्वक उसका मुकाबला करता है। अहिंसा अन्याय का विरोध करती है। अहिंसा का अस्त्र कायर और भीरु पुरुषों के लिए नहीं है, जिसमें सहन-शक्ति हो, जो शक्ति रखते हुए भी दूसरों को क्षमा कर सकता हो, वही इस अस्त्र को अपना सकता है। गांधीजी कहते थे कायरता की अपेक्षा हिंसा का ही प्रयोग श्रेष्ठ है। "जहां भीरुता और हिंसा में से किसी एक को चुनना है वहां में हिंसा चुनने को कहूंगा। अहिंसा भीरुता के लिए आड़ नहीं है क्योंकि इसमें कुशल शस्त्र प्रयोगी से अधिक बहादुरी की आवश्यकता होती है।"[1] अहिंसा एक ऐसा अस्त्र है जिसका प्रयोग सभी व्यक्ति कर सकते हैं, यदि उनमें ईश्वर और मनुष्य जाति के प्रति प्रेम है।

गांधीजी ने अहिंसा रूपी अस्त्र का प्रयोग सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी किया। गांधीजी ने अहिंसा को एक अस्त्र के रूप में संगठित किया। उनका विश्वास है कि जिस प्रकार से प्रशिक्षण द्वारा हिंसा को संगठित किया जा सकता है, उसी प्रकार से अहिंसा को भी संगठित किया जा सकता है। यदि अहिंसा संगठित नहीं हो सकती तो वह धर्म नहीं है। गांधीजी ने कहा यदि मुझ में कोई विशेषता है तो यही कि मैं सत्य-अहिंसा को संगठित कर रहा हूं। ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अहिंसात्मक आन्दोलन करके उन्होंने भारत को स्वतन्त्र कराया। सामाजिक क्षेत्र में उन्होंने साम्प्रदायिक झगड़ों एवं अस्पृश्यता निवारण के लिए अहिंसा रूपी अस्त्र का प्रयोग किया। कई दिन का कठोर उपवास करके वे लोगों का ध्यान समाज की बुराइयों की ओर आकृष्ट करते रहे तथा समानता एवं प्रेम पर जोर देकर साम्प्रदायिक एवं जातीय भेद-भाव को नष्ट करने के लिए लोगों को प्रोत्साहित करते रहे। गांधीजी अहिंसा को आत्मिक बल मानते थे जिसमें कठोर हृदय को भी पिघलाने की शक्ति होती है। कुछ

1 गांधीजी, शान्ति और युद्ध में अहिंसा।

समय के लिए हिंसा चाहे विजयी हो जाए, किन्तु अन्ततः उसे पराजित होना ही पड़ेगा। गांधीजी का विश्वास था कि जहां अन्याय, उत्पीड़न और भय है, मानव परम्परा, समाज, कानून, दण्ड या अविवेक के कारण सिकुड़ा और दबा हुआ है, वहां अहिंसा को संगठित कर अत्याचारों से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है। दक्षिणी अफ्रीका, चम्पारन, खेड़ा और डाण्डी यात्रा में गांधीजी ने अहिंसक साधनों द्वारा जनमत को संगठित करके यह वता दिया कि अहिंसा संगठित हो सकती है और यह ऐसा अस्त्र है जो कभी विफल नहीं होता और द्वेष या शत्रुता पैदा नहीं करता। इस प्रकार से गांधीजी की अहिंसा समाज की बुराइयों एवं समस्याओं से लोहा लेने का एक अस्त्र है तो युद्ध का एक नैतिक विकल्प भी। यह बुराई को अच्छाई से जीतने का सिद्धान्त है जिसमें कोई बदले की भावना नहीं है, कोई षड्यन्त्र नहीं है, कोई प्रतिकार नहीं है, कोई संगठित युद्ध या गुप्त हत्या नहीं है।

गांधीजी की अहिंसा एक दर्शन ही नहीं, कार्य करने की एक पद्धति और हृदय परिवर्तन का एक साधन भी है। वे अहिंसा को वैयक्तिक आचरण तक ही सीमित न रख कर मानव जीवन की प्रत्येक परिस्थिति पर लागू करते हैं। गांधीजी की अहिंसा पारलौकिक शान्ति या मोक्ष प्राप्ति का ही साधन नहीं है, वरन् सामाजिक शान्ति, राजनीतिक व्यवस्था, धार्मिक समन्वय और पारिवारिक निर्माण का भी साधन है। यह मानव हृदय की दिव्य ज्योति है। वे कहते हैं, "मानव हृदय की दिव्य ज्योति राख से ढक तो सकती है, किन्तु कभी बुझती नहीं और मारकाट के बीच भी अहिंसा का नियम काम करता है। गांधीजी अहिंसा के बारे में कोरे कल्पनावादी नहीं वरन् व्यवहारवादी थे। इसलिए उन्होंने मनुष्यों या सम्पत्ति को हानि पहुंचाने वाले जीव-जन्तुओं को मारने की अनुमति दी। उन्होंने अपने आश्रम में तड़पते हुए मरणासन्न बछड़े को कष्ट मुक्त करने के लिए जहर का इन्जैक्शन लगाने की भी स्वीकृति प्रदान की। इसमें हिंसा अवश्य थी, किन्तु इसके पीछे असीम दया तथा पर:दुख कातरता का भाव निहित था। उन्होंने कुंवारी कन्या को भी उस व्यक्ति की हत्या की अनुमति दी जो उसका शील भंग करना चाहे। उन्होंने उस पागल की भी हत्या की अनुमति दी जो सड़क पर नंगी तलवार लिए घूम रहा हो और जो भी सामने आए उसकी हत्या करे। इस प्रकार गांधीजी की अहिंसा अकर्मण्यता का दर्शन नहीं वरन् कर्मठता व गतिशीलता का दर्शन है, अन्याय के विरुद्ध लड़ने का एक अमोघ अस्त्र है।

अहिंसा जनसाधारण का स्वाभाविक धर्म है क्योंकि यह हम जैसे जीवों का शाश्वत कानून है। गांधीजी ने सत्य और अहिंसा में कोई भेद नहीं माना, वे सत्य को साध्य और अहिंसा को साधन मानते थे।

गांधीजी ने अहिंसा के तीन रूपों का उल्लेख किया है—जागृत अहिंसा, औचित्यपूर्ण अहिंसा तथा कायर की अहिंसा।

(1) जागृत या वीर की अहिंसा (Enlightened Non-violence)—इस प्रकार की अहिंसा शूरवीर का लक्षण है। यह सम्पन्न और वीर व्यक्तियों की अहिंसा है। यह क्षत्रिय धर्म की परिसीमा है, अभय की चरमावस्था एवं वीरता की परिसीमा है। इस प्रकार की अहिंसा विवशता में स्वीकार नहीं की जाती वरन् नैतिकता में अडिग विश्वास के कारण ही अपनायी जाती है। इसमें प्रचण्ड शक्ति होती है और भय का नाम नहीं होता। इसमें किसी भी प्रकार की भयंकर स्थिति से मुकावला करने की शक्ति होती है, इसमें विरोधी को सताने की अपेक्षा

उसका हृदय परिवर्तन करने की इच्छा होती है। इसमें पहाड़ों को हिला देने एवं असम्भव को सम्भव बना देने की शक्ति होती है। यह सर्वोच्च कोटि की अहिंसा है जिसका प्रयोग राजनीति में ही नहीं वरन् जीवन के सभी क्षेत्रों में किया जा सकता है।

(2) **औचित्यपूर्ण अहिंसा** (Reasonable Non-violence)—इसे निर्बल व्यक्तियों की निष्क्रियात्मक अहिंसा भी कहते हैं। इसे किसी विशेष उद्देश्य की प्राप्ति हेतु अपनाया जाता है। इसमें विवश व्यक्ति अपनी निर्बलता के कारण ही हिंसा का प्रयोग नहीं करता है। अहिंसा का यह रूप जागृत अहिंसा की भांति शक्तिशाली नहीं होता, अतः इसकी सफलता सीमित होती है। साहस, सच्चाई एवं सावधानी से इसका प्रयोग करने पर कुछ निश्चित सीमा तक इससे लक्ष्यों की प्राप्ति हो सकती है। परिस्थितियों की मांग होने पर इसमें हिंसा का प्रयोग किया जा सकता है।

(3) **कायर की अहिंसा** (Non-violence of the Cowards)—यह अहिंसा का तीसरा प्रकार है। गांधीजी के अनुसार कायरता और अहिंसा आग और पानी की तरह एक साथ नहीं रह सकते। गांधीजी कायरता को एक भीषण प्रकार की हिंसा मानते थे। वे कायर होने की अपेक्षा हिंसक होना पसन्द करते थे। अहिंसा को कायरता की ढाल कभी भी नहीं बनाया जा सकता। वे कहते हैं, "अपमानित और भयभीत होकर मरें, इसकी अपेक्षा मैं यह अधिक पसन्द करूंगा कि आप वीरतापूर्वक प्रहार करते हुए और उसे झेलते हुए मरें।"[1] वे कहते हैं, "एक हिंसक से कभी भी अहिंसक होने की आशा की जा सकती है, किन्तु एक नपुंसक से ऐसी आशा नहीं की जा सकती।" गांधीजी कायर व्यक्ति को इंसान कहने के लिए भी तैयार नहीं थे। अतः कायर व्यक्ति द्वारा अहिंसा का जो दम भरा जाता है, उसे अहिंसा नहीं कहा जा सकता। अहिंसा वीरों का धर्म है। इस प्रकार गांधीवादी अहिंसा को कायरता की संज्ञा देना नितान्त अनुचित है।

गांधीजी ने अहिंसा के दो पक्षों का उल्लेख किया है—**सकारात्मक एवं नकारात्मक।** किसी प्राणी की काम, क्रोध एवं द्वेष के वशीभूत होकर हिंसा न करना या कष्ट नहीं पहुंचाना इसका नकारात्मक पक्ष है। सभी लोगों के प्रति प्रेम एवं दया का बर्ताव इसका सकारात्मक पक्ष है। गांधीजी के विचार से अहिंसा एक नैतिक अस्त्र है जिसका प्रयोग बुराई को दूर करने के लिए किया जाता है। अहिंसा सबके लिए है, इसका प्रयोग अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर भी किया जा सकता है।

सत्याग्रह
(SATYAGRAH)

गांधीजी ने बुराई के प्रतिरोध के लिए एक नवीन मार्ग का आविष्कार किया जिसे सत्याग्रह का नाम दिया गया। सत्याग्रह की पद्धति गांधीजी की राजनीति को विशेष और अपूर्व देन है। सत्याग्रह शब्द का प्रयोग गांधीजी ने दक्षिणी अफ्रीका में किया था। **इसके द्वारा गांधीजी ने हिंसक जगत् को अहिंसा की शिक्षा दी।** साधारण भाषा में सत्याग्रह बुराई को दूर करने अथवा विवादों को अहिंसक तरीकों से हल करने का तरीका है। साधारण भारतीय नागरिक के लिए यह अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध स्वतन्त्रता की लड़ाई का एक अहिंसात्मक तरीका था।

1 अहिंसा और सत्य, गांधी साहित्य प्रकाशन, पृ. 19।

विंसेण्ट शीयन के शब्दों में यह गांधीजी द्वारा "सर्वोच्च आविष्कार या उत्पत्ति थी।"

सत्याग्रह का अर्थ (Meaning of Satyagrah)

सत्याग्रह के अर्थ को स्पष्ट करते हुए एन. के. बोस लिखते हैं, "सत्याग्रह अहिंसक तरीकों द्वारा युद्ध का संचालन है।" डॉ. कृष्ण लाल धरणी के अनुसार, "सत्याग्रह अहिंसक सीधी कार्यवाही है।" सत्याग्रह का एक अर्थ है, सत्य (ईश्वर) को न छोड़ना, सत्य प्राप्त करने के लिए सतत प्रयत्न करना। साहित्यिक दृष्टि से सत्याग्रह, सत्य + आग्रह शब्दों से मिलकर बना है जिसका अर्थ है सत्य के लिए आग्रह करना अर्थात् व्यक्ति जिसे सत्य समझता है उस पर आजीवन डटा रहे। यह सत्य के लिए तपस्या है। सत्याग्रह अहिंसा का ही एक रूप है। सत्य की प्राप्ति के लिए अहिंसात्मक साधनों द्वारा आग्रह करना सत्याग्रह है। गांधीजी के अनुसार, "प्रेम व त्याग द्वारा सत्य सिद्धि के लिए प्रयत्न करना ही सत्याग्रह है।"अहिंसात्मक संघर्ष को उन्होंने सत्याग्रह का नाम दिया। सत्याग्रह को आत्मबल का नाम भी दिया गया है। सत्याग्रह एक ऐसा नैतिक शस्त्र है जिसका कार्य शत्रु का हृदय परिवर्तन करना होता है। सत्याग्रह एक प्रकार का युद्ध भी है जो बिना विशेष हथियार के, बिना रक्त बहाए, बिना हानि पहुंचाए चलता रहता है। यह कायरों का युद्ध नहीं वरन् वीरों का युद्ध है। 'सत्याग्रह आत्मानुभूति और संयोग' की कला है। सत्याग्रही का बल दुःख उठाने में है। दूसरों को कष्ट पहुंचाने से सत्य की अवहेलना होती है। गांधीजी अक्सर डैनियल, सुकरात, प्रह्लाद और मीरा का उदाहरण देकर कहा करते थे कि इन्होंने अपने पीड़कों के प्रति किसी प्रकार की दुर्भावना नहीं रखी। सत्य के पुजारी का यह पुनीत कर्तव्य है कि सत्य की कसौटी तथा उसके आधारों की रक्षा करे। सत्याग्रह किसी एक पक्ष की विजय तथा दूसरे की पराजय में नहीं वरन् सत्य की विजय और असत्य के विलीन होने में विश्वास करता है। सत्याग्रह में संख्या का नहीं वरन् गुणों का महत्व है। संख्या तो बुजदिल के लिए प्रसन्नता का विषय हो सकता है, शूरवीर तो अकेला ही लड़ने में शूरवीरता पाता है।

गांधीजी का सत्याग्रह एक आदर्श है, कर्मयोग का व्यावहारिक दर्शन है और एक क्रियाशील अवधारणा है। इसका प्रयोग सरकार, कौम, जाति, व्यक्ति-विशेष, समूह, सबके विरुद्ध हो सकता है, यदि वे दूषित या भ्रष्ट हों। सब प्रकार के अन्याय, उत्पीड़न और शोषण के विरुद्ध आत्मबल का प्रयोग ही सत्याग्रह है। यह केवल शासकों और शासितों के बीच की वस्तु नहीं है। इसका प्रयोग शासन की अत्याचारी नीतियों, सामाजिक कुरीतियों, अस्पृश्यता, साम्प्रदायिकता, आदि सभी के विरुद्ध किया जा सकता है। गांधीजी इसका प्रयोग युद्ध की स्थिति (सशस्त्र आक्रमण) का सामना करने के लिए भी करना चाहते हैं। जब देश के लोग आक्रमणकारियों के हथियारों और तोपों के सामने निःशस्त्र होकर छातियां खोलकर खड़े हो जाएंगे तो आक्रमणकारियों का हृदय पिघल जाएगा। गांधीजी ने दूसरे महायुद्ध में अबीसीनियावासियों, चैकों, पोलों और अन्य आक्रमण से पीड़ित लोगों को तथा चीन पर जापानी आक्रमण होने पर चीनियों को भी यही सलाह दी थी। उनका विश्वास था कि अत्याचार और हिंसा का निवारण सत्याग्रह द्वारा सम्भव है। उन्होंने सत्याग्रह को युद्ध के विरुद्ध अस्त्र के रूप में प्रस्तुत किया।

गांधीजी यह मानते हैं कि सत्याग्रह एकमात्र अस्त्र है जिससे बुराई और अन्याय का प्रतिरोध सम्भव है। यह एक जीवन-पद्धति भी है। वे कहते हैं, "अहिंसा की वर्णमाला परिवार

की पाठशाला में सीखी जाती है और फिर उसका प्रयोग राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर भी किया जा सकता है। इस प्रकार से गांधीजी का सत्याग्रह जहां एक ओर सरस, निष्कपट, निःस्वार्थ, आत्मा-प्रधान, प्रेम-प्रधान और श्रेष्ठ जीवन व्यतीत करने का दर्शन है वहीं यह समूह और समाज की बुराइयों और अन्यायों को दूर करने का उपाय भी है। जहां यह एक धार्मिक आन्दोलन, शुद्धिकरण और तप की एक क्रिया तथा शिकायतें दूर करने का साधन है, वहीं यह सात्विक सर्वकल्याणकारी युद्ध और उच्च जीवन की शिक्षा देने वाला अध्यापन कार्य भी है। पलकें जिस प्रकार से अपने आप ही आंखों की रक्षा करती हैं, उसी प्रकार से सत्याग्रह प्रकट होकर आत्म स्वतन्त्रता की रक्षा स्वयं ही किया करता है। गांधीजी को विश्वास है कि दुराग्रह की दीवार सत्य रूपी प्रेम और अहिंसा रूपी साधन के सामने टिक नहीं सकती।

गांधीजी ने सत्याग्रह और निष्क्रिय प्रतिरोध में अन्तर किया है, उसे हम तालिका द्वारा इस प्रकार प्रकट कर सकते हैं—

	निष्क्रिय प्रतिरोध	सत्याग्रह
(1)	यह निर्बलों का अस्त्र है।	यह वीरों का अस्त्र है।
(2)	यह कामचलाऊ राजनीतिक अस्त्र है।	यह एक नैतिक अस्त्र है।
(3)	इसका उद्देश्य प्रतिपक्षी को परेशान करना है जिससे कि वह हार मान ले।	इसका उद्देश्य प्रेम व धैर्यपूर्वक स्वयं कष्ट सहन करके विरोधी का हृदय परिवर्तन करना व उसकी भूल सुधारना है।
(4)	यह निषेधात्मक रूप से कार्य करता है। इसमें व्यक्ति अनिच्छापूर्वक कष्ट सहन करता है।	यह सकारात्मक रूप में कार्य करता है। इसमें व्यक्ति प्रेम, प्रसन्नता व स्वेच्छा से कष्ट सहन करता है।
(5)	इसमें आन्तरिक शुद्धता का अभाव है।	इसमें आन्तरिक शुद्धता आवश्यक है।
(6)	इसका प्रयोग सार्वभौमिक नहीं है।	इसका प्रयोग सार्वभौमिक है।
(7)	यह साधनों की पवित्रता पर बल नहीं देता, इसमें आवश्यकता पड़ने पर हिंसा का प्रयोग भी किया जा सकता है।	इसमें साधनों की पवित्रता और अहिंसा पर बल दिया जाता है।
(8)	इसमें ईश्वर में विश्वास करना आवश्यक नहीं है।	इसमें ईश्वर में विश्वास किया जाता है। 'निर्बल के बल राम' सत्याग्रही का मूल मन्त्र है।
(9)	यह युद्ध का नैतिक विकल्प नहीं है।	यह युद्ध का नैतिक विकल्प है।

गांधीजी ने सत्याग्रही के कुछ गुणों का भी उल्लेख किया है। प्रत्येक व्यक्ति से सत्याग्रह पर चलने की अपेक्षा नहीं की जा सकती। सत्याग्रही के लिए यह आवश्यक है कि वह सत्य पर चलने वाला हो, अनुशासन में रहने का अभ्यस्त हो, तथा मन, वचन, और कर्म से अहिंसा में विश्वास रखने वाला हो। सत्याग्रही कभी अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए छल, कपट, झूठ और हिंसा, आदि का आश्रय नहीं लेता। वह जो कुछ भी करता है खुले रूप में करता है और अपनी कमजोरियों और भूलों को छिपाने के बजाए खुले रूप में उन्हें स्वीकार करने के लिए तत्पर रहता है। गांधीजी ने **'हिन्द स्वराज'** में सत्याग्रही के लिए ग्यारह व्रतों

का पालन आवश्यक बताया है, वे हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, शारीरिक श्रम, अस्वाद, निर्भयता, सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखना, स्वदेशी तथा अस्पृश्यता निवारण। सत्याग्रही प्रतिपक्षी को कभी कष्ट नहीं देता, वह स्वयं कष्ट सहन करता है। सत्याग्रही का बल कष्ट उठाने में है, दूसरों को कष्ट पहुंचाने में सत्य का उल्लंघन होता है। सत्याग्रही सत्ता प्राप्त करने के लिए नहीं वरन् विरोधी के हृदय परिवर्तन के लिए सत्याग्रह करता है।

गांधीजी ने सत्याग्रह के सात स्वरूपों का उल्लेख किया है—असहयोग, सविनय अवज्ञा, हिजरत, व्रत (उपवास), हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार एवं धरना :

(1) **असहयोग (Non-co-operation)**—गांधीजी का विचार था कि किसी भी शासन द्वारा जनता के सहयोग से ही शोषण व अत्याचार किया जाता है, ऐसी स्थिति में यदि जनता शासन के साथ सहयोग करने से मना कर दे तो वह शासन कार्य नहीं कर सकेगा। सन् 1920-22 में भारत में ब्रिटिश शासन का विरोध करने के लिए गांधीजी ने असहयोग का रास्ता ही अपनाया था जिसने ब्रिटिश सरकार की जड़ें हिला दी थीं।

गांधीजी असहयोग को **'स्वर्णिम अस्त्र'** एवं **'देवास्त्र'** की संज्ञा देते हैं। वे इसे वैधानिक मानते हैं। इसकी तुलना उन्होंने उस सर्जन से की है जो विषैले फोड़े को अच्छा करने के लिए चीरता है। इसका उद्देश्य तोड़-फोड़ करना नहीं वरन् रचनात्मक कार्य करना है। असहयोग बुराई का अन्त करता है, बुरा करने वाले को शुद्ध करता है। इसके लिए वह हड़ताल, सामाजिक बहिष्कार और धरना, आदि में से किसी का भी सहारा ले सकता है। असहयोग को गांधीजी 'सन्तप्त प्रेम की अभिव्यक्ति' कहते हैं अर्थात् व्यक्ति जिसे असत्य, अवैध, अनैतिक या अहितकर समझता है, उसके साथ सहयोग नहीं करता है। बुराँई को चुपचाप सहना नैतिकता और कानून दोनों के विरुद्ध है। बुराई के साथ असहयोग व्यक्ति का कर्तव्य और धर्म है। गांधीजी मानते हैं कि सहयोग के बिना निरंकुश और क्रूर शासक भी शासन नहीं कर सकता। अतः असहयोग द्वारा उसे इतना शक्तिहीन बना दिया जाए कि वह न्याय करने को बाध्य हो जाए। जब लिखा-पढ़ी और याचिकाएं असफल हो जाती हैं तो बुराई के साथ असहयोग करके सफलता प्राप्त की जा सकती है।

(2) **सविनय अवज्ञा (Civil Disobedience)**—इसे निष्क्रिय प्रतिरोध भी कहा जाता है। गांधीजी इसे पूर्ण प्रभावदायक और सैनिक विद्रोह का रक्तहीन विकल्प कहते हैं। सविनय अवज्ञा का अर्थ अहिंसक और विनयपूर्ण तरीकों से कानूनों की अवज्ञा करना है।

इसका अभिप्राय "असैनिक कानून को भंग करना है।" यह एक प्रकार की अहिंसक क्रान्ति है। गांधीजी इसे "पूर्ण प्रभावी और सशस्त्र क्रान्ति का रक्तहीन स्थानापन्न" कहते हैं। यह असहयोग की अन्तिम स्थिति है। कोई भी सत्याग्रही यदि राज्य के प्रति आज्ञाकारी रहता है तो इसका असहयोग निरर्थक हो जाता है। सविनय अवज्ञा के कई रूप हो सकते हैं; जैसे—कर न देना, राज्य सत्ता को मानने से मना करना या एक-एक करके सारे अनैतिक कानूनों का विरोध करके सरकारी तन्त्र को ठप्प कर देना, आदि। इसमें सत्याग्रही अपने विरोध को अहिंसात्मक तरीके से प्रकट करता है। सविनय अवज्ञा अस्त्र का प्रयोग केवल सरकार के विरुद्ध ही किया जाता है। कुछ लोगों का मत है कि इससे तो राज्य में अराजकता उत्पन्न होगी। इसका उत्तर देते हुए गांधीजी कहते हैं, "जब सविनय प्रतिरोधी किसी से घृणा नहीं करता, शस्त्र का प्रयोग नहीं करता तो अराजकता फैलने का प्रश्न ही नहीं उठता।'

अनैतिक कानून की अवज्ञा वास्तव में एक उच्च नैतिक नियम की पालना है। गांधीजी इसे प्रचार और शिक्षा का सर्वोत्तम साधन मानते हैं। सन् 1931 में नमक कानून को तोड़कर गांधीजी ने इस अस्त्र का प्रयोग किया था।

(3) **हिजरत (Hijrat)**—हिजरत का तात्पर्य है स्वैच्छिक देश निकाला या व्यक्ति द्वारा अपना स्थायी निवास त्यागकर अन्यत्र चले जाना। हिजरत का प्रयोग करने की सलाह गांधीजी उन लोगों को देते हैं जो अपने आपको पीड़ित अनुभव करते हैं, आत्मसम्मान रखते हुए उस स्थान पर नहीं रह सकते और अपनी रक्षा के लिए जिनके पास हिंसक शक्ति नहीं है। गांधीजी ने 1918 में बारडोली और 1939 में लिम्बड़ी, जूनागढ़ और विट्ठलगढ़ की जनता को हिजरत का प्रयोग करने की सलाह दी थी।

(4) **व्रत या उपवास (Fasting)**—सत्याग्रह का एक अन्य रूप व्रत या अनशन है जिसका आजकल बड़ा गलत प्रयोग किया जाता है। यह सबसे शक्तिशाली अस्त्र है जिसका प्रयोग व्यक्ति स्वयं अपने पर लागू करता है। इसका प्रयोग सावधानी एवं समझ से करना चाहिए। यह एक **'आध्यात्मिक औषधि'** है जिसका प्रयोग निपुण वैद्य ही कर सकता है। उपवास का प्रयोग आत्म-शुद्धि, स्वास्थ्य, पश्चाताप, सार्वजनिक हित, अन्याय के विरुद्ध, बुरे व्यक्ति का हृदय परिवर्तन करने, आदि के लिए किया जा सकता है। इसे गांधीजी **'अग्निबाण'** कहा करते थे। उनका विचार था कि इसे अपनाने में अत्यधिक सावधानी बरती जानी चाहिए। इसका प्रयोग कुछ विशेष अवसरों पर आत्म-शुद्धि या अत्याचारियों के हृदय परिवर्तन के लिए किया जाना चाहिए। इसके अतिरिक्त इस अस्त्र का प्रयोग हर किसी व्यक्ति द्वारा नहीं वरन् आध्यात्मिक बल सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा ही किया जाना चाहिए, क्योंकि इसके सफल प्रयोग के लिए मानसिक शुद्धता, अनुशासन और नैतिक मूल्यों में आस्था की अत्यधिक आवश्यकता होती है। मन का शरीर के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है, मन की शुद्धि के लिए केवल अन्न ग्रहण न करना ही उपवास या व्रत नहीं है वरन् सभी प्रकार के मलिन विचारों से मन को मुक्त रखना ही उपवास है।

गांधीजी कहा करते थे कि जिस प्रकार बाह्य जगत् के लिए आंखें काम देती हैं, उसी प्रकार से अन्तर्जगत के लिए उपवास काम देता है। उपवास यदि सत्य और अनुकूल परिस्थितियों पर आधारित हो तो यह अमोघ अस्त्र है जो व्रत आत्माओं में भी जान डाल देता है गिरी हुई आत्माओं में खलबली मचा देता है। यह ऐसे हृदय की भाषा है जो विरोधी को स्पर्श किए बिना नहीं रह सकती। गांधीजी के शब्दों में, "लोग कहने से चेतते ही नहीं। उपवास से हजारों को सन्देश पहुंचाया जा सकता है।" उपवासों में धैर्य, दृढ़ता, पवित्रता, एकाग्रता और शान्ति अद्वितीय होनी चाहिए। उपवास काल में उसका मन स्वच्छ और निर्मल होना चाहिए, उसे संयमी होना चाहिए। उपवास को गांधीजी शुद्धता की देवी कहकर पुकारते हैं।

(5) **हड़ताल (Strike)**—हड़ताल अन्याय के विरुद्ध विरोध प्रदर्शित करने के लिए की जाती है। हड़ताल अपने वैध व उचित कष्टों के निवारण के लिए श्रमिकों के अधिकार में एक शस्त्र है। हड़ताल आत्मशुद्धि के लिए किया जाने वाला एक स्वैच्छिक प्रयत्न है जिसका लक्ष्य स्वयं कष्ट सहन करते हुए विरोधी का हृदय परिवर्तन करना है। गांधीजी के अनुसार हड़ताल करने वालों की मांगें नितान्त स्पष्ट व उचित होनी चाहिए।

हड़ताल, स्वेच्छा तथा आत्म-शुद्धि के लिए आत्मोत्सर्ग है जो अनुचित मार्ग पर जाने वाले विरोधी का हृदय परिवर्तन करने वाली होती है। यह जनता का दुःख-दर्द प्रकट करने का माध्यम है। यह वैध कष्टों को दूर करने का अस्त्र है। इसमें जोर-जबरदस्ती, लूटमार, गुण्डागर्दी व आतंक का कोई स्थान नहीं है। गांधीजी इसे लोगों में जागृति लाने का एवं सरकार के कार्यों के प्रति अप्रसन्नता व असहमति प्रकट करने का सर्वोत्तम साधन मानते हैं। वे इसे एक सीधी कार्यवाही भी मानते हैं जिसका प्रयोग उन्होंने दक्षिणी अफ्रीका में जनरल स्मट्स के विरुद्ध एवं चम्पारन में समस्याओं के समाधान के लिए किया था।

(6) सामाजिक बहिष्कार (Social Boycott)—इसका अभिप्राय समाज के उन लोगों का बहिष्कार करना है जो जनमत की अवहेलना करते हैं और जनमत से सहयोग नहीं करते। गांधीजी कहते हैं कि इसका प्रयोग मर्यादा में रहकर करना चाहिए। इसका यह अर्थ नहीं कि विरोधी को आवश्यक सेवाओं जैसे, भोजन, वस्त्र, डॉक्टर की सुविधा, आदि से वंचित कर दें। यह तो हिंसा होगी। सामाजिक बहिष्कार का यह भी अर्थ नहीं है कि अनादर और गालियों से विरोधी के जीवन को असहाय बना दिया जाए। इसका प्रयोग पूर्णतः अहिंसावादी ढंग से होना चाहिए।

गांधीजी ने आर्थिक बहिष्कार की भी बात कही जिसका प्रयोग विदेशी वस्तुओं और विशेष रूप से ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार के लिए किया गया।

(7) धरना (Picketing)—गांधीजी ने जिस धरने की बात कही, उसका स्वरूप अहिंसक है। अहिंसक धरना देने वाले का कर्तव्य है कि वह जनमत को जगाए, उपयुक्त वातावरण को बनाए, सामने वाले व्यक्ति को चेतावनी दे और उसका हृदय परिवर्तन करे। धरना देने का उद्देश्य विचारों को बदलना है न कि असभ्यतापूर्ण व्यवहार करना, जोर-जबरदस्ती करना और धमकी देना है। गांधीजी कहते हैं कि यदि धरना शान्त न रह सके तो उसे एकदम बन्द कर देना चाहिए। सज्जनता और मौन प्रयास के द्वारा सुधारक कलंकी के हृदय को जीतता है। धरना जनता की निन्दा द्वारा कलंकियों को लज्जित करता है, हिंसा के भय द्वारा नहीं। गांधीजी ने शराब की दुकानों को बन्द करने के लिए धरने का प्रयोग किया था।

सत्याग्रह का मूल्यांकन (Evaluation of Satyagrah)

कुछ विद्वानों ने गांधीजी के सत्याग्रह की अवधारणा की निम्न आलोचनाएं की हैं :

(1) कुछ आलोचक सत्याग्रह के साधनों जैसे, हड़ताल, बहिष्कार और उपवास को 'बल प्रयोग' ही मानते हैं। **आर्थर मूर** इन्हें 'मानसिक हिंसा' कहता है। **सी. एम. केस** के मतानुसार इनमें विरोधी को बलपूर्वक दबाया जाता है यद्यपि यह बल प्रयोग अहिंसक है। उपवास को भी 'त्रास' (Terrorism) की संज्ञा दी गयी है। **जॉर्ज अरुण्डेल** कहते हैं कि इसमें विरोधी के पास एक ही विकल्प है, 'आत्म-समर्पण या उपवासी की आत्महत्या'। इसमें उपवासी विरोधी की भावनाओं, उसकी मानवता, वीरता व दया का शोषण करता है।

(2) सत्याग्रह का प्रयोग भी सभी परिस्थितियों में नहीं किया जा सकता। इसका प्रयोग केवल प्रजातन्त्र में ही सम्भव है निरंकुश शासनों में नहीं। हिटलर, मुसोलिनी और स्टालिन जैसे निरंकुश शासकों के शासन में सत्याग्रह का संगठन कठिन है।

(3) यह कहना भी कठिन है कि सत्याग्रही के प्रयत्नों से विरोधी का हृदय परिवर्तन हुआ है। ऐसा मनोवैज्ञानिक और सामाजिक कारणों से भी हो सकता है।

(4) सत्याग्रह से एकता पैदा हो, यह आवश्यक नहीं है। इससे विघटन भी पैदा हो सकता है, जैसा कि हिन्दुस्तान के विभाजन से स्पष्ट है।

(5) सत्याग्रह का कई स्थानों पर प्रयोग भी अव्यावहारिक है; जैसे—(i) छापामार लड़ाई में आक्रमणकारी का पता लगाना कठिन है; (ii) वर्तमान में लड़ाई सीमा पर नहीं, दूर बैठकर भी लड़ी जाती है; (iii) आज कोई भी राष्ट्र अहिंसक साधनों द्वारा अपनी रक्षा नहीं कर सकता; (iv) परमाणु युद्ध में सत्याग्रह का महत्व नहीं रह गया है; (v) राज्य द्वारा हिंसा का त्याग सम्भव नहीं है; (vi) विरोधी मानवीय मूल्यों को महत्व दे, यह भी आवश्यक नहीं है।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हिंसा का प्रयोग पूर्णतः समाप्त होना असम्भव है।

(7) सत्याग्रह तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक सभी लोग इसका समर्थन न करें।

(8) अहिंसक साधनों से सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन लाना कठिन है क्योंकि पूंजीपति व अन्य लोग उन्हें प्राप्त स्थिति को स्वेच्छा से नहीं छोड़ेंगे।

प्रश्न

1. महात्मा गांधी के जीवन पर प्रकाश डालिए। उनके जीवन को प्रभावित करने वाले ग्रन्थों एवं विद्वानों का उल्लेख कीजिए।
2. सत्य पर गांधीजी के विचारों की विवेचना कीजिए।
3. अहिंसा पर गांधीजी के विचारों को सविस्तार समझाइये।
4. 'सत्य और अहिंसा गांधीवाद के दो मूल आधार हैं।" स्पष्ट कीजिए
5. गांधीजी के राजनीतिक विचारों का उल्लेख कीजिए।
6. न्यासिता पर गांधीजी के विचारों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिए।
7. सत्याग्रह पर गांधीजी के विचार बताइये।

11

गांधीजी की सर्वोदय तथा सामाजिक पुनर्निर्माण कार्यक्रम की अवधारणा

[GANDHIJI CONCEPT OF SARVODAYA AND SOCIAL RECONSTRUCTION PROGRAMME]

सर्वोदय
(SARVODAYA)

बीसवीं सदी के मनीषियों में महात्मा गांधी का नाम सबसे अधिक प्रमुख रूप से लिया जा सकता है। "सर्वोदय विचारधारा विचार जगत को मूल रूप में महात्मा गांधी की ही देन है। सर्वोदय का आदर्श है—

"संसार के समस्त लोग सुखी हों। सब निष्कपट, निर्लोभी तथा निस्वार्थी हों। सब लोग दूसरों को सज्जन समझें तथा किसी को कभी भी किसी प्रकार का दुख न हो।"[1]

महात्मा गांधी एक आध्यात्मिक सन्त थे, जिन्होंने तत्कालीन परिस्थितियों की विवशता के कारण मानव मात्र की सेवा के लक्ष्य को सामने रखकर सार्वजनिक जीवन में पदार्पण किया। महात्मा गांधी ने जिस समय सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया उस समय सामान्यतया यह विचार प्रचलित था कि सत्य और अहिंसा के नैतिकवादी सिद्धान्त तो व्यक्तिगत जीवन के लिए ही है, जिन्हें सार्वजनिक जीवन में सफलतापूर्वक नहीं अपनाया जा सकता। लेकिन महात्मा गांधी इस धारणा के नितान्त विरुद्ध थे। इस सम्बन्ध में उनका विचार था कि **"व्यक्ति की दो अन्तरात्माएं नहीं हो सकतीं, एक व्यक्तिगत एवं सामाजिक और दूसरी राजनीतिक मानवीय कार्यों के सभी क्षेत्रों में एक ही नैतिक संहिता का पालन किया जाना चाहिए। हमें सत्य और अहिंसा को केवल व्यक्तिगत व्यवहार के ही नहीं वरन् संघों, समुदायों और राष्ट्रों के व्यवहार के सिद्धान्त बनाना है।"**

गांधीजी की विचारधारा का आधारभूत तत्व यह है कि अपने मूल रूप में मनुष्य और मनुष्य जाति की सारी समस्याएं नैतिक समस्याएं हैं। **ऐसी स्थिति में मनुष्य यदि सही अर्थों में**

1 **"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु या कश्चिद् सुख भाग्यवेत॥"**

मनुष्य बन जाय और अपने सारे सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक कार्यों को अन्तरात्मा की पुकार के अनुसार करें, तो समाज अथवा विश्व में दुख, संकट तथा समस्या जैसी कोई चीज रह ही नहीं सकती है। एक स्वस्थ राजनीतिक समाज तथा विवेकशील व्यक्ति के प्रत्येक कार्य के पीछे एक नैतिक बल अथवा प्रेरणा होनी चाहिए, क्योंकि जिस क्षण व्यक्ति अपनी आत्मा की सचेतन आवाज को स्वार्थ के वशीभूत होकर कुचल देता है, उसी क्षण उसका पशुत्व प्रबल हो जाता है और सभी समस्याओं के प्रति उसका विचार एवं दृष्टिकोण दूषित हो जाता है।

अपने इसी नैतिक दृष्टिकोण के आधार पर गांधीजी ने सार्वजनिक जीवन और विशेषतया राजनीति में सत्य और अहिंसा के सिद्धान्तों का प्रतिपादन और इनका सफलतापूर्वक प्रयोग किया।

गांधीवादी विचारधारा अपने आप में पूर्णतया ठोस और व्यावहारिक होते हुए भी इसे सफलतापूर्वक अपनाने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि व्यक्तियों का नैतिक चरित्र उच्च होना चाहिए। क्योंकि सामान्यतया व्यक्तियों का नैतिक चरित्र इस स्तर का नहीं होता इसलिए यह कहा जाने लगा कि गांधीवादी विचारधारा एक ऐसे आदर्श का प्रतिपादन करती है, जिसे व्यवहार में अपना सकना सम्भव नहीं है। ऐसी स्थिति में भारतवासियों के द्वारा एक ओर तो गांधीजी का गुणगान किया गया, लेकिन दूसरी ओर महात्मा गांधी तथा उनके विचारों को एक ऐसी वस्तु मान लिया गया, जो पूजा की वस्तु ही हो सकती है, अपनाने की नहीं। ऊंचे से ऊंचे स्वर में 'महात्मा गांधी की जय' बोलने वाले भारतवासी व्यवहार में महात्मा गांधी के जीवन दर्शन को बिल्कुल ही भूल गये। लेकिन गांधीजी की विचारधारा को कुछ व्यक्तियों के द्वारा अवश्य ही अपने जीवन में उतार लिया गया था और ऐसे कुछ व्यक्तियों में प्रमुख थे **विनोबा भावे**। गांधीजी की मृत्यु के बाद सन्त विनोबा जैसे कुछ व्यक्तियों के द्वारा महात्मा गांधी की सर्वोदयी विचारधारा का अधिक से अधिक प्रचार और प्रसार करने तथा इसे क्रियात्मक रूप प्रदान करने का निश्चय किया गया।

सर्वोदय विचारधारा भारत की विचार जगत की विशिष्ट देने है और सर्वोदयी विचारकों में **विनोबा भावे, जय प्रकाश नारायण, काका कालेलकर, शंकरराव देव और सिद्धराज ठड्ढा**, आदि के नाम प्रमुख रूप से लिये जा सकते हैं।

सर्वोदय : तात्पर्य और विकास

(SARVODAYA : MEANING AND DEVELOPMENT)

सर्वजनहित पर आधारित आदर्श सामाजिक व्यवस्था—महात्मा गांधी **जॉन रस्किन** की प्रसिद्ध पुस्तक '*Unto This Last*' से बहुत अधिक प्रभावित हुए थे। गांधीजी के शब्दों में **'यह पुस्तक मेरे जीवन का मोड़ बिन्दु लक्षित करती है।'** गांधीजी के द्वारा रस्किन की इस पुस्तक का गुजराती भाषा में **'सर्वोदय'** शीर्षक से अनुवाद किया गया। इस पुस्तक में प्रमुख रूप से तीन विचारों पर बल दिया गया था: (1) सबके हित में ही व्यक्ति का हित निहित है, (2) एक नाई का कार्य भी वकील के समान ही मूल्यवान् है क्योंकि सभी व्यक्तियों को अपने कार्य से स्वयं की आजीविका प्राप्त करने का अधिकार होता है, और (3) श्रमिक का जीवन ही एक मात्र जीने योग्य जीवन है।[1] सर्वोदय का अर्थ सभी का कल्याण है, समाज के किसी एक वर्ग विशेष का ही नहीं।

1 **M. K. Gandhi : *Sarvodaya*. p. 3.**

'सर्वोदय' विचारधारा को ठीक रूप में समझने के लिए इस विचारधारा का अन्य कुछ विचारधाराओं—साम्यवाद, श्रेणी समाजवाद और संघवाद से अन्तर जान लिया जाना चाहिए। सर्वोदय का लक्ष्य समाज के सभी वर्गों और व्यक्तियों का कल्याण है, लेकिन ये अन्य विचारधाराएं समाज के किसी एक वर्ग विशेष के कल्याण पर ही बल देती हैं। साम्यवाद पूंजीवादी और बुर्जुआ तत्वों से घृणा करता है और उचित-अनुचित, हिंसक तथा अहिंसक सभी प्रकार के प्रयत्नों के आधार पर सर्व-हारावर्ग के हितों की रक्षा के लिए संघर्ष करता है। लेकिन सर्वोदय धनी, मध्यम वर्ग और निर्धन वर्ग सभी का कल्याण चाहता है नागरिकों को सुख प्रदान करने की दृष्टि से सर्वोदय उपयोगितावाद से भी आगे जाता है। जहां उपयोगितावाद **'अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख'** प्रदान करना चाहता है, सर्वोदय का लक्ष्य सभी का सुख है। 'सर्वोदय' उपयोगितावाद से एक और दृष्टि से भी आगे है। उपयोगिता का लक्ष्य व्यक्तियों का भौतिक सुख है लेकिन सर्वोदय का लक्ष्य व्यक्तियों का भौतिक, मानसिक और आध्यात्मिक सभी प्रकार का सुख है। निर्धन वर्ग के सम्बन्ध में जहां उसका लक्ष्य आर्थिक कल्याण है, वहां धनिक वर्ग के सम्बन्ध में उसका लक्ष्य है आध्यात्मिक कल्याण, अर्थात् धनी वर्ग में अपरिग्रह और त्याग की भावना उत्पन्न कर उन्हें आत्मिक कल्याण की ओर आगे बढ़ाना। **कुमारप्पा** ने **'सर्वोदय'** के सम्बन्ध में लिखा है, **"सभी के कल्याण के रूप में सर्वोदय, गांधीजी के अनुसार आदर्श सामाजिक व्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता है। इसका आधार सभी के लिए प्रेम है। इसमें बिना किसी अपवाद के सभी के लिए स्थान है चाहे कोई युवराज हो या साधारण कृषक, हिन्दू हो या मुसलमान, सवर्ण हिन्दू हो या हरिजन, गोरा हो या काला, सन्त हो पापी। किसी व्यक्ति या समुदाय को दबाने, शोषित करने या भंग करने का इसमें भाव ही नहीं है। सभी इस सामाजिक व्यवस्था में समान रूप से भागीदार होंगे, सभी अपने श्रम का प्रयोग करेंगे, सबल निर्बलों की रक्षा और उनके संरक्षक के रूप में कार्य करेंगे और सभी सबके कल्याण का कार्य करेंगे।"**[1]

सर्वोदय समाज—गांधीजी की सर्वोदय की कल्पना को कार्य रूप में परिणत करने के लिए 22 और 23 दिसम्बर, 1949 को काका कालेलकर की अध्यक्षता में एक 'सर्वोदय आर्थिक सम्मेलन' आयोजित किया गया। इस सम्मेलन में सभी के सामाजिक, आर्थिक और नैतिक कल्याण पर विचार किया गया। बाद में, सर्वोदय के इस आदर्श को कार्य रूप में परिणत करने का भार गांधीजी के एक सच्चे और महान् अनुयायी **आचार्य विनोबा भावे** के द्वारा लिया गया। आचार्य विनोबा ने अपनी पूरी शक्ति से सर्वोदय आन्दोलन में प्राण फूंकने की चेष्टा की।

सर्वोदय के आदर्श—सर्वोदय आन्दोलन के आधारभूत आदर्श निम्नलिखित हैं :

(1) **एक राज्यविहीन समाज**—सर्वोदय के मुख्य प्रतिपादक आचार्य विनोवा भावे का लक्ष्य एक ऐसे समाज की स्थापना करना रहा, जिसमें व्यक्ति शोषण और दमन से पूर्णतया स्वतन्त्र होंगे। 'सर्वोदय' राज्य के वर्तमान रूप के नितान्त विरुद्ध है क्योंकि राज्य का यह रूप दमन की प्रवृत्ति पर आधारित है। एक न्यायोचित व्यवस्था में शासक और शासित का कोई अन्तर ही न होगा। **जयप्रकाश नारायण** और सर्वोदय के कुछ अन्य प्रतिपादकों के द्वारा जनकल्याणकारी राज्य की वर्तमान धारणा की भी आलोचना की गयी है, क्योंकि इससे शासन

1 M. K. Gandhi : *Sarvodaya*, p. 3 (Edited by Kummarappa).

की शक्तियों और कार्यों में वृद्धि हो जाती है। व्यवहार में, विश्व के विभिन्न राज्यों में शासन की शक्तियां जिस प्रकार से निरन्तर बढ़ती जा रही है, उससे यह आलोचना उचित जान पड़ती है। सर्वोदय का अन्तिम आदर्श एक ऐसे राज्यविहीन समाज की स्थापना है, जो प्रत्येक प्रकार की सत्ता से पूर्णतया मुक्त होगा। क्योंकि इस अन्तिम आदर्श की स्थापना में समय लगेगा, इसलिए अन्तरिम काल में किसी-न-किसी प्रकार का शासन अवश्य ही होगा।

(2) **प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्र और दलीय पद्धति के विरुद्ध**—सर्वोदय उस शासन व्यवस्था का भी विरोध करता है, जो प्रजातन्त्र के नाम से भारत, ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका आदि राज्यों में विद्यमान है। सर्वोदय के अनुसार यह तथाकथित प्रजातन्त्र वास्तव में, जनता का शासन नहीं, वरन् दलीय पद्धति पर आधारित व्यवस्था है। इस शासन व्यवस्था में राजनीतिक दलों के कारण शक्ति के लिए प्रबल होड़ सी लगी हुई है और किसी भी दल ने जनता के ही वास्तविक नियन्त्रण में रहकर शासन करने का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया है। दल पद्धति के ही कारण लोकतन्त्र ने समाज को तानाशाही शासन भी दिये हैं। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद इटली, जर्मनी, आदि राज्यों में जो तानाशाही शासन व्यवस्थाएं स्थापित हुईं, वे तथाकथित प्रजातन्त्र की दल पद्धति का ही परिणाम थीं।

आधुनिक लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था एक दिखावा मात्र है क्योंकि सभी मुख्य प्रश्नों पर विचार तो पहले से ही दल की सभाओं में कर लिया जाता है। उन्हें संसद में प्रस्तुत करना तथा उन पर वाद-विवाद करना औपचारिक ही होता है। इस प्रकार आधुनिक लोकतन्त्र में संसद तथा विधानसभाएं आडम्बर मात्र होती हैं।

दलबन्दी में दल के सदस्यों का नैतिक पतन भी अनिवार्य है। अपने दल को शक्तिशाली बनाने के उद्देश्य से वे साम-दाम दण्ड-भेद सभी प्रकार के भले-बुरे उपायों का प्रयोग करते हैं। बहुमत दल सामान्यतः विरोधी दल के प्रस्तावों की उपेक्षा करता है, चाहे वे प्रस्ताव अत्यधिक उपयोगी क्यों न हों। दूसरी ओर विरोधी दल बहुमत दल के प्रस्तावों का केवल विरोध के लिए विरोध करते है। इन सबके परिणामस्वरूप सार्वजनिक हित की हानि होती है।

प्रश्न यह है कि आज के प्रजातन्त्रात्मक-शासनों में जो दलीय पद्धति विद्यमान है, उसे निर्दलीय किस प्रकार बनाया जा सकता है। इस सम्बन्ध में आचार्य भावे ने ग्राम पंचायतों को फिर से सबल बनाने और बहुमत निर्णय के स्थान पर सर्वसम्मत निर्णय के सिद्धान्त को अपनाने का सुझाव दिया है। जनतन्त्र को यथार्थ रूप देने के लिए आवश्यक है कि ग्राम पंचायतों के सदस्यों का चुनाव दल प्रणाली की कार्यविधियों से मुक्त जनता की सर्वसम्मति से हो। विनोबाजी ने **'आधारभूत प्रजातन्त्र'** (Basic Democracy) के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जिसके अनुसार प्रत्यक्ष निर्वाचन केवल ग्राम पंचायतों के सदस्यों का होगा। ग्राम पंचायतें तहसील पंचायतों के सदस्यों का चुनाव करेंगी और तहसील पंचायतें जिला पंचायतों के सदस्यों को चुनेंगी। राज्य तथा केन्द्रीय प्रशासन का निर्माण भी इसी सिद्धान्त के आधार पर होगा। वर्तमान व्यवस्था में यह संस्थागत परिवर्तन होगा और इसमें आधारभूत ग्राम तथा नगर पंचायतों के अतिरिक्त अन्य सभी स्तरों पर सदस्यों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष होगा। साथ ही मतदाता और प्रतिनिधि दोनों के लिए यह आवश्यक होगा कि वह शरीर श्रम से निर्वाह करने वाला अथवा काफी घण्टे राष्ट्र की सेवा करने वाला हो। **गांधीजी** का मत था कि **"मताधिकार के लिए आवश्यक योग्यता, सम्पत्ति या पद नहीं, शरीर श्रम होना चाहिए—साक्षरता**

या सम्पत्ति की कसौटी व्यर्थ सिद्ध हुई है। शरीर श्रम से उन सबको अवसर मिलता है, जो राज्य के हित में शासन में भाग लेना चाहते हैं।"

यदि दलीय पद्धति को समाप्त न भी किया जा सके, तो सभी स्तरों पर दलीय पद्धति के बन्धनों को शिथिल कर दिया जाना चाहिए।

(3) राजनीतिक और आर्थिक विकेन्द्रीकरण—सर्वोदय सबसे अधिक जोर शक्ति के विकेन्द्रीकरण पर देता है। विकेन्द्रीकरण के दो रूप होते हैं—**राजनीतिक एवं आर्थिक।** राजनीतिक विकेन्द्रीकरण का अर्थ है कि स्थानीय संस्थाओं में अधिक से अधिक स्वायत्त शासन हो। वे अपने क्षेत्र में स्वावलम्बी हों। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकारें उनके कार्यों में कम-से-कम हस्तक्षेप करें, उन्हें केवल सलाह दें, आदेश नहीं।

राजनीतिक विकेन्द्रीकरण के साथ-साथ आर्थिक विकेन्द्रीकरण भी आवश्यक है जिसका तात्पर्य यह है कि उत्पादन के साधनों पर राज्य या किन्हीं विशेष व्यक्तियों का अधिकार न होकर उत्पत्ति के साधनों पर स्वयं उत्पादकों का ही अधिकार होना चाहिए। उदाहरण के लिए, जिस भूमि पर जो खेती करे, वह उसी के अधिकार में रहे। आर्थिक क्षेत्र में सर्वोदय का सम्पत्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण लगभग साम्यवादी है, परन्तु उसकी प्रवृत्ति आध्यात्मिक है। वे सम्पत्ति की समानता तो स्थापित करना चाहते हैं, किन्तु इसके लिए वे कानून या शक्ति का प्रयोग करने के पक्ष में नहीं हैं, वरन् वे यह कार्य व्यक्तियों के दृष्टिकोण में मूलभूत परिवर्तन करके करना चाहते हैं। सर्वोदयी समाज की अर्थव्यवस्था में मुनाफे की प्रवृत्ति, किराये या ब्याज के लिए कोई स्थान नहीं होगा और सभी कार्य सामाजिक हित की भावना से किये जायेंगे। **'प्रत्येक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करे और आवश्यकता के अनुसार प्राप्त करे'**, यह इस समाज का आधारभूत नियम होगा।

भूदान आन्दोलन
(BHOODAN MOVEMENT)

'सर्वोदय' आर्थिक और राजनीतिक शक्ति का विकेन्द्रीकरण कर प्रेम, सेवा और सहयोग के आधार पर नवीन व्यवस्था की स्थापना करना चाहता है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आचार्य भावे के द्वारा भूदान यज्ञ के मार्ग को अपनाया गया। **सिद्धराज ढड्ढा के शब्दों में, "भारत में भूदान यज्ञ के जरिये हम आर्थिक और राजनीतिक दोनों तरह के विकेन्द्रीकरण को और इन दोनों प्रकार की केन्द्रित शक्तियों को समाप्त करना चाहते हैं। भूदान यज्ञ के जरिए हम उत्पादन का मुख्य साधन जमीन जन-जन के हाथ में पहुंचा देते हैं। अतः केन्द्रीकरण को रोकते हैं यह तो स्पष्ट है, परन्तु उससे राजनीतिक सत्ता का भी विकेन्द्रीकरण होता है। यह कार्य यज्ञ में मिली हुई जमीन के बंटवारे के हमारे तरीके से और उसके बाद गांव में जो व्यवस्था कायम हुई उससे होता है। भूमिदान यज्ञ के जरिये हम जनता में उसकी सोई हुई शक्ति का फिर से भान कराते हैं और उसे बताते हैं कि गांव के सब मसलों का, सब समस्याओं का हल गांव वाले खुद मिल-जुलकर कर सकते हैं और उन्हें करना चाहिए।"**

विनोबाजी ने भूदान यज्ञ प्रारम्भ करते हुए कहा कि **"व्यक्तियों के द्वारा स्वीकार कर लिया जाना चाहिए कि समस्त धरती ईश्वर की है। अगर समस्त धरती पर सामाजिक रूप में स्वामित्व हो तो सारा असन्तोष दूर हो जायगा और प्रेम तथा सहयोग के युग का आगमन होगा।**

मैं चाहता हूं कि व्यक्तियों के द्वारा प्रारम्भ में अपनी भूमि का कुछ भाग दान किया जाय। इसके साथ ही उन्हें दूसरों की सेवा के कार्य में लग जाना चाहिए।[1]

सर्वोदय सम्मेलन और भूदान—जब अप्रेल 1951 में आन्ध्र प्रदेश के शिवरामपल्ली में सर्वोदय सम्मेलन आयोजित हुआ, उस समय आचार्य भावे तेलंगाना में पंचमपल्ली स्थान पर ठहरे हुए थे। इस समय अनेक हरिजन और अन्य व्यक्ति आचार्य भावे से मिले और उन्हें अपनी भूमिहीनता के कष्ट सुनाये। यह भेंट सर्वोदय आन्दोलन के इतिहास में क्रान्तिकारी सिद्ध हुई और इससे प्रेरित होकर आचार्य भावे ने भूदान यज्ञ प्रारम्भ किया। जब आचार्य भावे को बतलाया गया कि इन निर्धन भूमिहीन व्यक्तियों को 80 एकड़ भूमि की आवश्यकता है तो इस महान् नेता ने वहां उपस्थित व्यक्तियों से पूछा कि क्या कोई व्यक्ति इतनी भूमि दे सकता है? सर्वोदय नेता की बात का उत्तर पंचमपल्ली के ही रामचन्द्र रेड्डी ने तुरन्त 100 एकड़ भूमिदान करके दिया। इस प्रकार भूदान यज्ञ का कार्य 18 अप्रेल 1951 को प्रारम्भ हुआ। इसके बाद पास के ही एक गांव में उन्हें 60 एकड़ की भेंट प्राप्त हुई। विनोबाजी की अपील निरर्थक नहीं गयी और अब उन्हें इस बात का विश्वास हो गया कि व्यक्तियों की अन्तरात्मा को परिवर्तित कर अहिंसक ढंग से क्रान्ति लायी जा सकती है। तेलंगाना में, जिसे साम्यवादियों को गढ़ समझा जाता था, आचार्य ने 51 दिन में 12,201 एकड़ भूमि प्राप्त की। यह अपने आप में एक बड़ी विजय थी और अब आचार्यजी ने भूदान में 50 **मिलियन एकड़ प्राप्त करने का लक्ष्य निर्धारित किया।**

मूल-विचार—भूदान के मूल विचार निम्नलिखित हैं :

(1) **प्रन्यास धारणा**—भूदान सम्पत्ति के प्रन्यास सिद्धान्त में विश्वास करना है। यह विश्वास करता है कि समस्त भूमि ईश्वर की है और मानव इस पर प्रन्यासी के रूप में ही अधिकार रखते हैं।

(2) **न्याय और नैतिकता पर आधारित**—भूदान न्याय और नैतिकता के सिद्धान्त को अपनाने पर जोर देता है। इसके अन्तर्गत भूमि का दान दया के रूप में नहीं, वरन् इसलिए किया जाना है कि न्याय की यह मांग है। भूदान नेता का विचार है कि समाज में पर्याप्त सद्भावना विद्यमान है, आवश्यकता केवल इस बात की है कि व्यक्तियों की सद् प्रवृत्तियों को विकसित किया जाय।

(3) **नवीन दृष्टिकोण को जन्म**—भूदान पुरानी आर्थिक और सामाजिक मान्यताओं को परिवर्तित कर उनमें एक नवीन दृष्टिकोण को जन्म देगा। भूदान भूमि के अन्तिम स्वामित्व के प्रश्न को हल करेगा। भूमि निजी सम्पत्ति नहीं हो सकती, वरन् यह तो सबकी सम्पत्ति होगी। भूदान व्यक्तियों की संग्रह, स्वामित्व और अहं की प्रवृत्ति को दूर कर उनका हृदय परिवर्तन करेगा। एक व्यक्ति को केवल उतनी ही भूमि अपने पास रखने का अधिकार हो सकता है, जितनी कि उसे आवश्यकता है और अपनी आवश्यकता से अतिरिक्त भूमि उसे समाज को लौटानी होगी। भूदान यज्ञ के अन्तर्गत आचार्य के द्वारा न केवल धनी वरन् थोड़ी भूमि के स्वामित्व वाले निर्धन किसानों से भी भूमि दान के रूप में प्राप्त की जाती है जिससे धनी गरीब सबके दृष्टिकोण में परिवर्तन हो सकें। भूदान की विशेषता यह है कि इसके द्वारा

1 Bhave : *Bhoodan Yajna* (1957), p. 19.

दबाव या विनाश के आधार पर नहीं, वरन् हृदय परिवर्तन के आधार पर आर्थिक और सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया जाएगा।

सम्पत्ति दान—प्रारम्भ में विनोबाजी नगद धनराशि स्वीकार नहीं करते थे और उनका विचार था कि धन अनेक सामाजिक समस्याओं को जन्म देता है तथा भारत के पतन का कारण रहा है, किन्तु उनके विचार में परिवर्तन हुआ और उन्होंने सोचा कि बीज, खाद और पशु धन खरीदने के लिए धन की आवश्यकता होती है। अतः अनुभव के आधार पर उन्होंने अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन किया। नवीन दृष्टिकोण ने '**सम्पत्ति दान**' या धन की भेंट की धारणा को जन्म दिया। "**भूदान कार्य के साथ में मैंने अभी हल ही में एक अन्य कार्यक्रम सम्पत्ति दान यज्ञ का प्रारम्भ किया है। यह भूदान यज्ञ की पूर्ति के लिए आवश्यक है।**"[1]

ग्रामदान और ग्रामराज—विनोबाजी प्रारम्भ में भूदान और अगले कदम के रूप में ग्रामदान चाहते हैं जिसका तात्पर्य है एक पूरे गांव की भेंट प्रदान करना। प्रारम्भ में व्यक्ति अपनी भूमि का एक टुकड़ा देंगे, किन्तु अन्त में वे अपनी सारी भूमि दे देंगे। इस ग्रामदान के आधार पर ग्रामराज की स्थापना की जायगी। जब ग्रामदान होगा, तो भूमि पर किसी का भी व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहेगा और समस्त समुदाय को सामूहिक रूप से भूमि पर अधिकार प्राप्त होगा।

"ग्रामदान आन्दोलन 1952 में उत्तर प्रदेश के मानग्रोथ गांव के समस्त निवासियों द्वारा अप्रत्याशित रूप से अपना ग्रामदान करने के साथ प्रारम्भ हुआ। इसके बाद उड़ीसा में विनोबाजी की पद यात्रा के समय इस आन्दोलन में गति आयी। उड़ीसा में 30 जनवरी, 1953 को कटक जिले में मानपुर पहला ग्रामदान के रूप में दिया गया। इसके बाद यह आन्दोलन कोरापुर जिले में फैला और 26 जनवरी, 1955 को विनोबाजी द्वारा उड़ीसा में प्रवेश करने पर 26 ग्राम दान के रूप में प्राप्त किये गये।"[2] विनोबाजी का ग्रामराज महात्मा गांधी के '**पंचायती राज**' जैसा ही है।

ग्रामराज के लक्षण—ग्रामराज के प्रमुख लक्षण निम्न हैं :

(1) **ग्राम में सहयोग और पारिवारिक भावना**—जिस प्रकार एक परिवार सदस्य समस्त परिवार की उन्नति के लिए कार्य करते हैं, ग्रामराज में सभी व्यक्ति समस्त समुदाय के कल्याण के लिए कार्य करेंगे। प्रत्येक कृषक भूमि के एक टुकड़े पर खेती करेगा और सभी के द्वारा आवश्यकतानुसार एक दूसरे की सहायता की जायगी। ग्रामराज में समस्त समुदाय सुखी होगा और एक व्यक्ति और दूसरे व्यक्ति या एक सामाजिक वर्ग और दूसरे सामाजिक वर्ग के बीच द्वेष या बैर की भावना नहीं होगी। व्यक्ति द्वारा व्यक्ति का शोषण नहीं किया जायेगा। इस समुदाय में संग्रह की प्रवृत्ति नहीं होगी और मेरे-तेरे की भावना का अन्त हो जायगा। वर्तमान समय में जिस प्रकार से व्यक्ति स्वयं के लिए जीता और अपनी योग्यताओं का अपने लिये ही प्रयोग करता है, ग्रामराज में प्रत्येक व्यक्ति अपनी योग्यता का सामान्य कल्याण में प्रयोग करेगा। एम. चौधरी के शब्दों में, "**प्रत्येक अपना सर्वस्व समुदाय को प्रदान कर देगा और उसके सम्बन्ध में प्रत्येक प्रकार की चिन्ता समुदाय के द्वारा की जायगी।**"

(2) **विकेन्द्रीकरण अथवा अहिंसा**—ग्रामराज में हिंसा और दमन के लिए कोई स्थान नहीं होगा। इस प्रकार ग्रामराज की प्रकृति वर्तमान समय के राज्य से नितान्त भिन्न होगी। इसमें

1 Bhave : *Bhoodan Yajna*, p. 100

2 M. Chaudhari : *The Gramdan Movement* (1957), p. 1.

शक्ति का केन्द्रीकरण नहीं, वरन् गांवों के माध्यम से शक्ति का विकेन्द्रीकरण होगा, जिनमें प्रत्येक गांव पूर्ण और अपने आप में एक लघु राज्य होगा। प्रत्येक गांव में एक सामान्य ग्राम परिषद होगी, जिसमें प्रत्येक परिवार अपना एक प्रतिनिधि भेजेगा। इस प्रकार अहिंसक ढंग से समाज की समस्त व्यवस्था का संचालन किया जायेगा।

(3) शोषण और दलीय राजनीति नहीं—ग्रामराज में निर्बल का सबल के द्वारा कोई शोषण नहीं किया जायेगा। इसमें प्रतिस्पर्द्धा नहीं, वरन् पारस्परिक सहयोग और समन्वय होगा। ग्रामराज में कोई राजनीतिक दल भी नहीं होंगे और **राजनीति का स्थान लोक नीति अर्थात् व्यक्तियों के कल्याण की प्रवृत्ति के द्वारा ले लिया जायेगा।**

(4) स्वतन्त्रता, समानता और मातृत्व—इस ग्रामराज में स्वतन्त्रता, समानता और मातृत्व का वातावरण होगा, क्योंकि इसमें राजनीतिक दल, जमींदार या पूंजीपतियों जैसे शोषक तत्व नहीं होंगे। स्वशासित ग्रामीण समुदायों में जनता सम्प्रभु होगी। व्यक्ति वर्ग और जाति की भावनाओं से भी पूर्णतया स्वतन्त्र होंगे। ग्रामराज में सभी व्यक्तियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्राप्त होगी और धर्म या जाति के आधार पर कोई भी भेदभाव नहीं किया जायगा।

सर्वोदय का मूल्यांकन

गुण (Merits)—सर्वोदय के प्रमुख गुण निम्नलिखित कहे जा सकते हैं :

(1) सामान्य कल्याण का एक साधन—सर्वोदय सत्ता और शोषण की राजनीति का विरोध करता है। इसके अन्तर्गत राज्य सत्ता और शोषण का नहीं वरन् सेवा का एक साधन होगा। ग्रामराज अहिंसा पर आधारित है और सर्वोदय में सभी के हित की भावना निहित है। भूदान, सम्पत्तिदान और ग्रामदान ये पद्धतियां हृदय परिवर्तन के नैतिक साधन के रूप में हैं। सर्वोदय भावना को ग्रहण कर लेने पर धनी और गरीब सभी निजी सम्पत्ति के प्रति मोह का त्याग कर देंगे और समस्त समाज के कल्याण की निरन्तर चेष्टा करेंगे।

(2) उच्च आदर्श—सर्वोदय में उच्च आदर्श निहित है, जिन्हें शान्तिपूर्ण और अहिंसात्मक ढंग से, द्वेष और घृणा से नितान्त दूर रखते हुए अपनाया जाना है। सर्वोदय नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों पर बहुत अधिक जोर देता है और इस दृष्टि से यह बहुत अधिक महत्वपूर्ण है।

(3) नवीन सामाजिक और आर्थिक मूल्य—सर्वोदय नवीन सामाजिक और आर्थिक मूल्यों को जन्म देता है। इसमें स्वामित्व की प्रवृत्ति के स्थान पर प्रन्यास की प्रवृत्ति को अपनाने पर ज़ोर दिया गया है। इसमें व्यक्ति सभी के हित के लिए कार्य करेंगे और समस्त समुदाय में पारिवारिक भावना होगी। इस प्रकार सामाजिक और आर्थिक क्षेत्र का समस्त ढांचा पूर्णतया परिवर्तित हो जायगा।

दोष (Demerits)—सर्वोदय की धारणा के प्रमुख रूप से निम्नलिखित दोष भी बतलाये जाते हैं :

(1) व्यावहारिक नहीं—सर्वोदय के आदर्श निश्चित रूप से बहुत अधिक उच्च हैं और सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें कोई दोष नहीं बतलाया जा सकता, लेकिन विश्व की जो वास्तविक स्थिति है, उसके अन्तर्गत महात्मा गांधी और अन्य व्यक्तियों द्वारा प्रतिपादित इन महान् आदर्शों के आधार पर समाज की रचना लगभग असम्भव ही है। मानवीय प्रकृति जैसा कि हम वर्तमान समय में देखते हैं, स्वार्थ, मोह और लगाव की भावना को छोड़ने में असमर्थ है और ऐसी स्थिति में अहिंसा तथा पूर्ण सहयोग की भावना पर आधारित समाज की स्थापना सम्भव नहीं

प्रतीत होती। हम नैतिकता के उस धरातल तक नहीं पहुंच सके हैं कि कानून की सहायता के बिना एक पूर्ण अहिंसक क्रान्ति सफल हो सके। विश्व में अब तक कभी भी ऐसे समाज की स्थापना नहीं हो सकी है जिसमें सभी व्यक्ति ऐसा सोचें कि वे एक ही परिवार के सदस्य हैं।

सर्वोदय के सिद्धान्त बहुत अधिक कल्पनात्मक हैं और इसमें बहुत अधिक सन्देह है कि उन्हें इस धरती पर प्राप्त किया जा सकता है। अधिकांश गांवों में व्यक्ति न तो अपने नैतिक कल्याण के प्रति उत्सुक है और न ही अपने भौतिक कल्याण के प्रति। ऐसी स्थितिं में सर्वोदय के विचार नहीं पनप सकते।

(2) **एक ही देश में सर्वोदय को अपनाना सम्भव नहीं**—वर्तमान समय के प्रतियोगी विश्व में जबकि विश्व के अन्य देश से सिद्धान्तों पर आधारित हैं जिनकी सर्वोदय से कोई संगति नहीं है, एक ही देश व राज्य में सर्वोदयी समाज की स्थापना नहीं की जा सकती है। जब तक विश्व के सभी राज्य सर्वोदय के विचार को स्वीकार न करलें भारत जैसे एक ही देश में सर्वोदयी समाज की स्थापना की आशा बहुत अधिक धूमिल है। प्रश्न यह है कि जब हिंसा पर आधारित किसी वर्तमान राज्य के द्वारा सर्वोदयी समाज वाले किसी राज्य पर आक्रमण किया गया, तो स्थिति क्या होगी?

(3) **हृदय परिवर्तन बहुत अधिक कठिन**—सर्वोदयी समाज हृदय परिवर्तन पर आधारित है और वर्तमान समय में स्वार्थी व्यक्तियों का हृदय परिवर्तन बहुत अधिक कठिन है। महात्मा गांधी और विनोबा भावे जैसे महान् व्यक्ति उन थोड़े से व्यक्तियों का हृदय परिवर्तन तो कर सकते हैं जो उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क और प्रभाव में आते हैं लेकिन सामान्य मिट्टी के बने व्यक्ति न तो स्वयं निस्वार्थी हो सकते हैं और न दूसरों को निस्वार्थी बना सकते हैं। महान् बौद्धिक और प्रशासनिक क्षमताओं या अन्य प्रकार के व्यक्तियों की खोज कठिन नहीं है, किन्तु पूर्णतयां निस्वार्थी व्यक्तियों की खोज, जो प्रति पल सर्वोदय का ही ध्यान रखते हों, निशिचत रूप से बहुत अधिक कठिन है।

(4) **निरर्थक भूमि के दान की घटनाएं**—यद्यपि यह उचित नहीं है कि जिन व्यक्तियों द्वारा अपनी भूमि दान में दी गयी, उन व्यक्तियों के मूल उद्देश्य पर शंका की जाय किन्तु वह एक तथ्य है कि भूदान के अन्तर्गत अनेक मामलों में संदिग्ध उपयोगिता वाली भूमि दान में दी गयी। कुछ मामलों में नितान्त बंजर भूमि दान में दी गयी तो कुछ अन्य मामलों में ऐसी भूमि का दान किया गया, जिस पर स्वामित्व सम्बन्धी विवाद चल रहा था।

यह सत्य है कि सर्वोदय के परिणामस्वरूप व्यक्ति सुखी होंगे और पृथ्वी पर स्वतन्त्रता, समानता और मातृत्व से पूर्ण स्वर्ग की स्थापना होगी, किन्तु प्रश्न यह है कि इस सर्वोदयी समाज की स्थापना किन साधनों के आधार पर सम्भव है? जब तक वास्तविकताओं को बिल्कुल ही भुला न दिया जाय, इस प्रश्न का उत्तर निश्चित रूप से बहुत कठिन है?

यद्यपि व्यवहार में सर्वोदयी समाज की स्थापना बहुत कठिन है फिर भी विश्व सर्वोदयी विचारकों के प्रति इस बात के लिए कृतज्ञ हैं कि उन्होंने मानव जाति के सम्मुख ऐसे महान् आदर्श रखें, जिनकी ओर बढ़ने का प्रयत्न विश्व के द्वारा किया जाना चाहिए।

गांधीजी का सामाजिक पुनर्निर्माण कार्यक्रम
या
आदर्श समाज या रामराज्य
(SOCIAL RECONSTRUCTION PROGRAMME)
OR
(IDEAL SOCIETY OR RAMRAJ)

गांधीजी के राजनीतिक विचारों के अन्तर्गत ही गांधीजी द्वारा चित्रित आदर्श राज्य, जिसे वे रामराज्य कहते थे, की रूपरेखा दे देना उचित होगा। गांधीजी के सामाजिक पुनर्निर्माण कार्यक्रम का मूर्तरूप रामराज्य या आदर्श समाज के रूप में देखने को मिलता है।

'रामराज्य' शब्द का प्रयोग कुछ भ्रामक हो सकता है, क्योंकि इसका शाब्दिक अर्थ है, 'रामचन्द्रजी का राज्य।' वस्तुतः राजा रामचन्द्र के समय और आज की स्थिति में अवस्था और काल का एक लम्बा भेद होने के कारण रामराज्य आज की स्थिति में व्यावहारिक नहीं हो सकता। गांधीजी भी इस बात से परिचित थे। उनके द्वारा **'रामराज्य शब्द का प्रयोग भावनावश अलंकारिक अर्थ में किया गया है, शाब्दिक अर्थ में नहीं।'**

इस सम्बन्ध में यह बात भी स्मरणीय है कि गांधीजी ने भी प्लेटो के समान दो आदर्शों का वर्णन किया है; प्रथम पूर्ण आदर्श और द्वितीय उप-आदर्श। उनकी पूर्ण आदर्श सामाजिक व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य के लिए कोई स्थान नहीं है। लेकिन गांधीजी यथार्थवादी थे और उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि मानव स्वभाव की वर्तमान स्थिति को देखते हुए पूर्ण आदर्श की स्थापना सम्भव नहीं है। इसलिए उनके द्वारा व्यावहारिक दृष्टिकोण से उप-आदर्श की कल्पना की गयी है और गांधीजी के आदर्श समाज या राज्य के रूप में हमारे द्वारा उनके उप-आदर्श का ही अध्ययन किया जाता है।

गांधीजी के उप-आदर्श समाज या उनके आदर्श राज्य की विशेषताएं इस प्रकार हैं :

(1) अहिंसात्मक समाज—गांधीजी अपने आदर्श राज्य को, 'अहिंसात्मक समाज' के नाम से भी पुकारते हैं। गांधीजी के इस आदर्श समाज में राज्य संस्था का अस्तित्व रहेगा और पुलिस, जेल, सेना तथा न्यायालय आदि शासन की बाध्यकारी सत्ताएं भी होंगी। फिर भी यह अहिंसक समाज इस दृष्टि से है कि इनमें इन सत्ताओं का प्रयोग जनता को आतंकित और उत्पीड़ित करने के लिए नहीं, उनकी सेवा करने के लिए किया जायेगा। इस आदर्श समाज में कभी-कभी समाज-विरोधी तत्वों के विरुद्ध दबाव का प्रयोग करना पड़ सकता है, किन्तु इस दबाव का रूप सत्याग्रह का होगा, हिंसात्मक नहीं।

(2) शासन का रूप लोकतान्त्रिक—गांधीजी के आदर्श समाज में शासन का रूप पूर्णतया लोकतान्त्रिक होगा। जनता को न केवल मत देने का अधिकार प्राप्त होगा, वरन् जनता सक्रिय रूप से शासन व्यवस्था के संचालन में भी भाग लेगी। शासन सत्ता सीमित होगी और सभी सम्भव रूपों में जनता के प्रति उत्तरदायी होगी।

(3) विकेन्द्रीकृत सत्ता—गांधीजी के आदर्श राज्य का एक प्रमुख लक्षण विकेन्द्रीकृत सत्ता है। गांधीजी सम्पूर्ण भारत में प्राचीन ढंग के स्वतन्त्र और स्वावलम्बी गांव समाजों की स्थापना करना चाहते थे, जिसका आधार ग्राम पंचायतें होंगी। विकेन्द्रीकरण को अधिक सफल बनाने के लिए गांधीजी का सुझाव था कि ग्राम पंचायतों का निर्वाचन तो प्रत्यक्ष रूप से हो

लेकिन गांवों से ऊपर जो भी प्रशासनिक इकाइयां हों जैसे प्रादेशिक सरकार, राष्ट्रीय सरकार, आदि के विधान मण्डलों का चुनाव अप्रत्यक्ष प्रणाली से हो, जिससे सत्ता का समस्त केन्द्र ग्राम पंचायतें ही बनी रहें। इस प्रकार की व्यवस्था से गांवों में स्वशासन और स्वावलम्बन की भावना उत्पन्न होगी और वे वास्तविक अर्थ में स्वतन्त्र होंगे।

(4) **आर्थिक क्षेत्र में विकेन्द्रीकरण**—गांधीजी के आदर्श राज्य में आर्थिक क्षेत्र के अन्तर्गत भी विकेन्द्रीकरण को अपनाने का सुझाव दिया गया है। विशाल तथा केन्द्रीकृत उद्योग लगभग समाप्त कर दिये जायेंगे और उनके स्थान पर कुटीर उद्योग धन्धे चलाये जायेंगे। उन मशीनों का तो प्रयोग किया जा सकेगा, जो मनुष्यों के लिए सुविधाजनक होती हैं, किन्तु मशीनों को मानवीय श्रम के शोषण का साधन नहीं बनाया जायेगा। हर गांव अपनी आवश्यकता की वस्तुएं स्वयं उत्पन्न करेगा और प्रत्येक व्यक्ति अपने उत्पादन के साधनों का स्वयं स्वामी होगा। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में प्रतिस्पर्द्धा और शोषण का अन्त हो जाएगा।

(5) **नागरिक अधिकारों पर आधारित**—गांधीजी का राज्य स्वतन्त्रता, समानता तथा अन्य नागरिक अधिकारों पर आधारित होगा। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति को अपने विचार व्यक्त करने और समुदायों के निर्माण की स्वतन्त्रता होगी। इस समाज के अन्तर्गत जाति, धर्म, भाषा, वर्ण और लिंग आदि के भेदभाव के बिना सभी व्यक्तियों को समान सामाजिक और राजनीतिक अधिकार प्राप्त होंगे।

(6) **निजी सम्पत्ति का अस्तित्व**—इस आदर्श राज्य में निजी सम्पत्ति की प्रथा का अस्तित्व होगा, किन्तु सम्पत्ति के स्वामी अपनी सम्पत्ति का प्रयोग निजी स्वार्थ के लिए नहीं वरन् समस्त समाज के कल्याण के लिए करेंगे। वे यह समझकर कार्य करेंगे कि उनके पास जो सम्पत्ति है, उसका वास्तविक स्वामी समाज ही है और समाज के द्वारा उन्हें इस सम्पत्ति का संरक्षक या ट्रस्टी नियुक्त किया गया है।

(7) **प्रत्येक व्यक्ति के लिए श्रम अनिवार्य**—इस आदर्श समाज में प्रत्येक व्यक्ति के लिए अपने भरण-पोषण हेतु श्रम करना अनिवार्य होगा। कोई भी मनुष्य अपने निर्वाह के लिए दूसरों की कमाई हड़पने का प्रयत्न नहीं करेगा और बौद्धिक श्रम करने वाले व्यक्तियों के लिए भी कुछ-न-कुछ समय के लिए शारीरिक श्रम करना अनिवार्य होगा। सभी व्यक्तियों के द्वारा शारीरिक श्रम किये जाने पर समाज में वास्तविक समानता स्थापित हो सकेगी।

(8) **वर्ण-व्यवस्था**—गांधीजी का आदर्श समाज वर्ण-व्यवस्था पर आधारित होगा। प्राचीन काल की भांति समाज चार वर्गों में विभाजित होगा—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। प्रत्येक वर्ग वंश-परम्परा के आधार पर अपना कार्य करेगा, किन्तु इन वर्गों को सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में समान अधिकार प्राप्त होंगे और किसी भी प्रकार की ऊंच-नीच की भावना नहीं होगी। गांधीजी के आदर्श समाज में स्त्रियों को सभी क्षेत्रों में समान अधिकार प्राप्त होंगे, किन्तु उनका मुख्य कार्यक्षेत्र घर ही होगा।

(9) **धर्मनिरपेक्ष समाज**—इस समाज में किसी एक विशेष धर्म को राज्य का आश्रय प्राप्त नहीं होगा। राज्य की दृष्टि में सभी धर्म समान होंगे और सभी धर्मों के अनुयायियों को समान सुविधाएं होंगी।

(10) **गौ-वध निषेध**—गांधीजी भारत जैसे राज्य में धार्मिक तथा आर्थिक दोनों ही दृष्टि से गाय की रक्षा को बहुत अधिक आवश्यक मानते थे। इसलिए उनके द्वारा अपने आदर्श समाज में गौ-हत्या का निषेध किया गया है।

(11) **मद्य निषेध**—गांधीजी का निश्चित विचार था कि मद्य और अन्य मादक पदार्थों का सेवन व्यक्तियों का चारित्रिक पतन करता है। अतः उनके आदर्श समाज में न तो मादक वस्तुओं का उत्पादन होगा और न ही उनकी बिक्री।

(12) **निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा**—गांधीजी के आदर्श समाज में गांव गांव और मोहल्ले-मोहल्ले में बुनियादी ढंग की स्वावलम्बी पाठशालाएं होंगी, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को कम-से-कम प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क प्रदान की जायेगी।

(13) **अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में शान्तिप्रिय**—गांधीजी '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' की धारणा में विश्वास करते थे, इस कारण उनका आदर्श राज्य अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अन्य राज्यों के साथ मैत्री, सद्भावना और सहयोग के आधार पर सम्बन्ध स्थापित करेगा।

गांधीजी की राजनीतिक विचारधारा के अन्तर्गत ही उनकी शासन से सम्बन्धित धारणा का भी अध्ययन किया जा सकता है। गांधीजी लोकतन्त्रात्मक प्रणाली के समर्थक थे और उन्हें निर्वाचन तथा प्रतिनिधित्व की प्रणाली में विश्वास था। चुनाव में खड़े होने वाले उम्मीदवारों के सम्बन्ध में गांधीजी का विचार था कि उन्हें निःस्वार्थी, योग्य और संयमी होना चाहिए। गांधीजी का विचार था कि मताधिकार की योग्यता का आधार सम्पत्ति या सामाजिक स्थान नहीं, वरन् शारीरिक परिश्रम होना चाहिए।

गांधीजी का विचार था कि लोकतन्त्रात्मक शासन के उचित संचालन के लिए बहुसंख्यकों की भांति अल्पसंख्यकों का सहयोग भी नितान्त आवश्यक है। बहुमत का सदैव ही सही होना आवश्यक नहीं है और एक प्रतिभाशाली व्यक्ति एक हजार मूर्खों से अच्छा होता है। बहुमत में आलोचना सहन करने की क्षमता होनी चाहिए और अल्पमत के द्वारा भी बहुमत की उचित बातें स्वीकार कर ली जानी चाहिए। बहुमत के निर्णय अनुचित होने पर भी अल्पमतों द्वारा इन निर्णयों में परिवर्तन के लिए शान्तिपूर्ण और संवैधानिक साधनों का ही प्रयोग किया जाना चाहिए। इस प्रकार लोकतन्त्र की सफलता के लिए गांधीजी न्यायप्रिय बहुमत और सहनशील अल्पमतों को आवश्यक मानते थे। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि **"बहुमत के शासन का यह अर्थ नहीं है कि एक व्यक्ति की भी राय, यदि वह सही हो, कुचली जाय, बल्कि उसे बहुमत की राय से अधिक महत्वपूर्ण समझा जाना चाहिए। यही मेरी वास्तविक प्रजातन्त्र की कल्पना है।"**

अल्पमत के विचारों को समुचित महत्व देते हुए भी महात्मा गांधी का विचार था कि सामान्य तौर पर अल्पमत के द्वारा बहुमत के निर्णय को स्वीकार कर लिया जाना चाहिए, क्योंकि प्रजातन्त्रात्मक शासन के संचालन का अन्य कोई व्यावहारिक आधार नहीं है। बहुमत के द्वारा भी अल्पमत के विचारों की अवहेलना न करते हुए उन्हें समुचित महत्व दिया जाना चाहिए।

गांधीजी एक महान् आध्यात्मिक पुरुष थे और राजनीति के समान ही अर्थव्यवस्था के सम्बन्ध में उनका विचार था कि सच्चा अर्थशास्त्र नैतिकता के महान् नियमों के प्रतिकूल हो ही नहीं सकता। सच्चा अर्थशास्त्र सामाजिक न्याय चाहता है। वह प्रत्येक व्यक्ति का, यहां

तक कि दुर्बल व्यक्ति का भी सामाजिक हित चाहता है और अच्छे जीवन के लिए यह आवश्यक है।

गांधीजी की आर्थिक विचारधारा के प्रमुखतया पांच बिन्दु हैं : (i) औद्योगीकरण का विरोध, (ii) कुटीर उद्योग-धन्धों का समर्थन, (iii) व्यक्तिगत सम्पत्ति और प्रन्यास धारणा, (iv) अपरिग्रह का सिद्धान्त, और (v) वर्ग सहयोग की धारणा।

(i) औद्योगीकरण का विरोध—आर्थिक व्यवस्था के सम्बन्ध में अपनाये गये अपने इसी नैतिक दृष्टिकोण के कारण गांधीजी के द्वारा औद्योगिक क्रान्ति और उसके परिणामस्वरूप उत्पन्न केन्द्रीकृत अर्थव्यवस्था का विरोध किया गया है। बड़े उद्योगों की स्थापना के लिए बहुत अधिक मात्रा में कच्चे माल और बहुत बड़ी मात्रा में निर्मित पदार्थों की बिक्री के लिए बड़े बाजारों की आवश्यकता होती है तथा कच्चे माल और बड़े बाजारों की खोज की यह प्रवृत्ति साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को जन्म देती है, जो कि नैतिकता के विरुद्ध है।

गांधीजी बड़ी मशीनों को मानव जाति के लिए अभिशाप मानते थे और उनका विचार था कि समाज में घृणा, द्वेष और स्वार्थ में जो वृद्धि दिखायी देती है, वह सब मशीनों का ही फल है। मशीनों के प्रयोग के परिणामस्वरूप ही मानव का शारीरिक एवं नैतिक पतन हुआ है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप धन थोड़े से व्यक्तियों के हाथ में केन्द्रित हो जाता है और बहुसंख्यक वर्ग को अत्यधिक निर्धनता में अपना जीवन व्यतीत करना होता है। इस प्रकार औद्योगीकरण से शोषण को प्रोत्साहन मिलता है। औद्योगीकरण से बेकारी भी बढ़ती है क्योंकि मानवीय श्रम का स्थान मशीनें ले लेती हैं। यदि किसी देश में साधनों और काम की तुलना में जनशक्ति कम हो तो मशीनों का प्रयोग उचित ठहराया जा सकता है। लेकिन जब पहले से ही काम और साधन कम तथा जनशक्ति अधिक हो तो औद्योगीकरण से लाखों करोड़ों व्यक्ति बेकार हो जाते हैं। इन सबके अतिरिक्त औद्योगीकरण का एक दोष यह भी है कि केन्द्रीयकृत उत्पादन के परिणामस्वरूप राजनीतिक शक्ति का भी केन्द्रीयकरण हो जाता है, जो लोकतन्त्र और मानवीय स्वतन्त्रता दोनों का ही शत्रु है।

परन्तु इससे यह मतलब नहीं लिया जाना चाहिए कि गांधीजी सभी प्रकार की मशीनों के प्रयोग से पूर्णतया विरुद्ध थे। मशीनों के प्रयोग के सम्बन्ध में उनका साधारण सिद्धान्त यह था कि जो मशीनें सर्वसाधारण के हित साधन के काम आती हैं, उनका प्रयोग उचित है। उदाहरण के लिए वे रेल, जहाज, सिलाई की मशीन और चर्खा, आदि के समर्थक थे, किन्तु उनका विचार था कि विनाशकारी और मानव शोषण को प्रोत्साहित करने वाली मशीनों का प्रयोग सर्वथा त्याज्य समझा जाना चाहिए।

(ii) कुटीर उद्योग-धन्धों का समर्थन—गांधीजी के द्वारा औद्योगीकरण का विरोध करते हुए कुटीर उद्योग धन्धों पर आधारित एक ऐसी विकेन्द्रित अर्थव्यवस्था का प्रतिपादन किया गया, जिसके अन्तर्गत प्रत्येक गांव एक आर्थिक इकाई के रूप में कार्य करेगा। वे खादी को भारत की राजनीतिक एवं आर्थिक समस्याओं का अचूक हल मानते थे और उनके द्वारा आर्थिक क्षेत्र में स्वदेशी के विचार का प्रतिपादन किया गया। गांधीजी का विचार था कि प्रत्येक देश की अर्थव्यवस्था वहां की जलवायु भूमि तथा वहां के निवासियों के स्वभाव को ध्यान में रखते हुए निश्चित की जानी चाहिए और इन बातों के आधार पर जहां तक भारत का सम्बन्ध है, भारत के लिए कुटीर उद्योग-धन्धों की व्यवस्था ही सर्वोत्तम है।

(iii) **व्यक्तिगत सम्पत्ति और प्रन्यास धारणा**—महात्मा गांधी आर्थिक विषमताओं का अन्त करने के पक्ष में थे, लेकिन वे आर्थिक समानता स्थापित करने के साम्यवादी ढंग से सहमत नहीं थे, जिसके अन्तर्गत धनिकों से उनका धन बलपूर्वक छीनकर उसका सार्वजनिक हित में प्रयोग करने की बात कही जाती है। गांधीजी का विचार था कि हिंसात्मक होने के कारण साम्यवादी पद्धति उपयोगी नहीं हो सकती और पूंजीपति वर्ग को पूर्णतया नष्ट कर देने से समाज उनकी सेवाओं से वंचित रह जायेगा। इस सम्बन्ध में गांधीजी का विचार था कि यदि सत्य और अहिंसा से सार्वजनिक हित के लिए व्यक्तिगत सम्पत्ति ली जा सके, तो ऐसा अवश्य ही किया जाना चाहिए। लेकिन यदि धनिक वर्ग-ऐसा करने के लिए तैयार न हो, तो स्वयं की सम्पत्ति के सम्बन्ध में उनके दृष्टिकोण में परिवर्तन किया जाना चाहिए। धनिकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन के लिए महात्मा गांधी के द्वारा **'प्रन्यास (न्यासिता) सिद्धान्त'** (Trusteeship Theory) का प्रतिपादन किया गया था जिसके अनुसार धनिकों को चाहिए कि अपने धन को अपना न समझकर समाज की धरोहर समझें और उसमें से अपने ऊपर निर्वाह मात्र के लिए खर्च करते हुए शेष धन समाज के हित के कार्यों में लगायें। गांधीजी का कहना था कि जो धनिक ऐसा न करें, उनके विरुद्ध भी शक्ति का प्रयोग न किया जाय, वरन् अहिंसात्मक असहयोग और सत्याग्रह द्वारा उनका हृदय परिवर्तन करके उन्हें सन्मार्ग पर लाने की चेष्टा की जाय। लेकिन यदि पूंजीपति न्यासी के रूप में कार्य करने में नितान्त असफल रहें, तो शासन के द्वारा उनके उद्योगों को अपने हाथ में ले लिया जाना चाहिए और उनका संचालन लाभ के लिए नहीं, वरन् मानवता के कल्याण के लिए किया जाना चाहिए। इस प्रकार गांधीवादी अर्थव्यवस्था का लक्ष्य सामाजिक न्याय की स्थापना करना है, लेकिन वे सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए अहिंसात्मक साधनों का ही प्रयोग करने के पक्ष में हैं।

(iv) **अपरिग्रह का सिद्धान्त**—आर्थिक अन्याय और असमानता को दूर करने के लिए गांधीजी का एक अन्य विचार यह है कि जीवन में अपरिग्रह के सिद्धान्त को अपनाया जाना चाहिए। गांधीजी का मत था कि प्रकृति स्वयं इतना उत्पादन करती है, जितना सृष्टि के लिए आवश्यक है। इसलिए वितरण का प्राकृतिक नियम यह है कि प्रत्येक केवल अपनी आवश्यकता भर के लिए प्राप्त करे और अनावश्यक संग्रह न करे। महात्मा गांधी मानवीय इच्छाओं की अत्यधिक वृद्धि से भी चिन्तित थे और सादगी तथा सन्तोषपूर्ण जीवन को ही आदर्श समझते थे।

(v) **वर्ग सहयोग की धारणा**—आर्थिक क्षेत्र में गांधीजी का एक अन्य विचार वर्ग सहयोग की धारणा है। गांधीवाद साम्यवादी दर्शन की वर्ग संघर्ष की धारणा में विश्वास नहीं करता। गांधीजी का विचार था कि श्रमिक और पूंजीपति के हित परस्पर विरोधी नहीं होते, वरन् एक ही होते हैं और उनके द्वारा सामूहिक प्रयत्नों के आधार पर उद्योग के विकास का प्रयत्न किया जाना चाहिए। इस प्रकार आर्थिक क्षेत्र में गांधीवाद वर्ग सहयोग की धारणा का प्रतिपादन करता है। गाधीजी का विचार था कि पूंजीपति वर्ग को समाप्त करने के बजाय उसकी शक्ति को सीमित करना ही उपयोगी होगा और यह कार्य श्रमिकों को उद्योगों के प्रबन्ध तथा व्यवस्था में भागीदार बनाकर ही किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त गांधीजी का विचार था कि यदि श्रमिक धनिकों के सम्पर्क पर रहेंगे, तो वे उनकी बुद्धि और चातुर्य से लाभ उठाकर अपनी प्रगति कर सकेंगे। इस सम्बन्ध में वे एक सुन्दर उपमा देते हुए कहते हैं: "नदी के किनारे

रहने वाले व्यक्ति को, उस व्यक्ति की अपेक्षा जो कि एक शुष्क रेगिस्तान में रहता है, अन्न पैदा करने के अधिक अवसर प्राप्त होते हैं।"

इस प्रकार गांधीजी का मत था कि मानव जीवन का मूल मन्त्र सहयोग है संघर्ष नहीं, और मजदूर वर्ग पूंजीपतियों से अलग रहने की अपेक्षा उनके सम्पर्क से अधिक लाभ उठा सकता है।

गांधीजी के सामाजिक विचार

राजनीतिक क्षेत्र के साथ-साथ समाज सुधार के क्षेत्र में गांधीजी के विचार और कार्य बहुत महत्वपूर्ण हैं। गांधीजी का विचार था कि जीवन एक सम्पूर्ण इकाई है और हम उसे राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक और सामाजिक, आदि भागों में नहीं बांट सकते। अतः समाज सुधार का काम राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के साथ-साथ चलना चाहिए। स्वराज के लिए संघर्ष राष्ट्रीय आत्मशुद्धि की प्रक्रिया है और इसके कारण गांधीजी ने स्वराज आन्दोलन के साथ-साथ सामाजिक जीवन के लिए रचनात्मक कार्यक्रम को अपनाया। गांधीजी के सामाजिक विचारों की कुछ प्रमुख बातें इस प्रकार हैं : (i) वर्ण व्यवस्था, (ii) साम्प्रदायिक एकता, (iii) स्त्री सुधार, (iv) अस्पृश्यता का अन्त, और (v) बुनियादी शिक्षा।

(i) वर्ण व्यवस्था—वर्ण व्यवस्था को सामान्यतया हिन्दू सामाजिक जीवन का एक दोष समझा जाता है और अनेक व्यक्तियों ने इस बात का प्रतिपादन किया है कि इसका पूर्णतया उन्मूलन कर दिया जाना चाहिए। दूसरी ओर स्वामी दयानन्द जैसे कुछ सुधारक इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि वर्ण व्यवस्था को बनाये रखा जाना चाहिए, किन्तु उसका आधार जन्म न होकर कर्म होना चाहिए। गांधीजी की विचारधारा इनसे भिन्न है। वे वर्ण व्यवस्था को बनाये रखने के समर्थक हैं और उनका विचार है कि इनका आधार जन्म ही होना चाहिए, कर्म नहीं। उनका कहना था कि वर्ण व्यवस्था एक वैज्ञानिक व्यवस्था है और वंशानुक्रम का नियम एक शाश्वत नियम है। मनुष्यों के द्वारा अपना पैतृक कार्य छोड़ देने पर भारी अव्यवस्था फैल जायेगी।

इस प्रकार गांधीजी जन्म के आधार पर वर्ण व्यवस्था के समर्थक थे, किन्तु इसके साथ ही उनका विचार था कि सामाजिक महत्व की दृष्टि में सभी कार्य समान हैं और किसी कार्य को या उसके करने वाले को छोटा नहीं समझा जाना चाहिए। एक हरिजन के कार्य का भी उतना ही महत्व है जितना कि एक वैज्ञानिक के कार्य का हो सकता है। अतः राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक जीवन में सभी को समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए।

(ii) साम्प्रदायिक एकता—सामाजिक क्षेत्र में गांधीजी का एक प्रमुख आदर्श भारत के सभी सम्प्रदायों (हिन्दू, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई और पारसी) को एकता के सूत्र में आबद्ध करना था। उन्होंने साम्प्रदायिक एकता, विशेषकर हिन्दू मुस्लिम एकता पर बहुत जोर दिया और वे मि. जिन्ना के **'द्विराष्ट्र सिद्धान्त'** को मानने के लिए कभी तैयार नहीं हुए। गांधीजी का कहना था कि धर्म को राष्ट्रीयता का आधार नहीं माना जा सकता। उन्होंने अन्त तक भारत के विभाजन का विरोध किया और जब भारत का विभाजन हो ही गया, तो उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम दंगों को रोकने की भरसक चेष्टा की। वे सभी धर्मों को समान समझते थे और उन्होंने साम्प्रदायिक एकता को बनाये रखने के लिए ही अपने प्राणों की आहुति दे दी।

(iii) स्त्री सुधार—राजा राममोहनराय के बाद स्त्री सुधार की दिशा में उल्लेखनीय कार्य करने वाले व्यक्ति महात्मा गांधी ही थे। उनका कथन था कि स्त्रियां किसी भी दृष्टि से पुरुषों से हीन नहीं होतीं और कमजोर कहना उनके प्रति अन्याय और उनका अपमान है। उनका कथन था कि यदि सत्य, अहिंसा, सहिष्णुता और नैतिकता, आदि जीवन के सर्वोच्च गुणों की दृष्टि से विचार किया जाय, तो स्त्रियां पुरुषों से भी श्रेष्ठ हैं।

गांधीजी ने पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह और देवदासी प्रथा, आदि स्त्री जीवन से सम्बन्धित बुराइयों का डटकर विरोध किया और इस बात का प्रतिपादन किया कि स्त्रियों को कानून तथा व्यवहार में पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त होने चाहिए, किन्तु गांधीजी इस बात के पक्ष में नहीं थे कि स्त्रियां आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करें और घर के बाहर पुरुषों से प्रतियोगिता करें। उनका विचार था कि स्त्रियों का एकमात्र और पूर्ण कार्यक्षेत्र घर ही है। वे विवाह-विच्छेद और विधवा-पुनर्विवाह को बुरा नहीं मानते थे। वे परदा-प्रथा के पक्ष में नहीं थे।

(iv) अस्पृश्यता का अन्त—अस्पृश्यता भारतीय समाज का एक गम्भीर दोष रही है। धर्म के झूठे मनगढ़न्त आडम्बरों और वर्ण-व्यवस्था के कल्पित सिद्धान्त ने अस्पृश्यता जैसी घृणित चीज को आज भी जीवित रख छोड़ा है। गांधीजी सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन का पुनर्निर्माण चाहते थे। उन्हें अस्पृश्यता से बहुत चिढ़ थी, अतः उन्होंने अस्पृश्यता के अन्त का बीड़ा उठाया और जीवन भर इसके लिए संघर्ष भी किया। गांधीजी अस्पृश्यता को भारतीय समाज के माथे पर एक कलंक मानते थे, उनका कथन था कि यह एक घातक रोग है जो समस्त समाज को नष्ट कर देगा। वे अस्पृश्यता को लोकतन्त्र विरोधी मानते थे क्योंकि यह लोकतन्त्र के समानता और भाईचारे के सिद्धान्त पर प्रहार करती है। समाज में सभी लोगों का अपना-अपना स्थान और सम्मान होता है। कुछ लोगों को समाज में ऊंचा दर्जा देना और शेष को अस्पृश्य मानकर घृणा की दृष्टि से देखना अलोकतन्त्र है। व्यक्ति-व्यक्ति का शोषण करे, व्यक्ति-व्यक्ति में भेद-भाव की यह बात अमानवीय है।

गांधीजी के अनुसार अस्पृश्यता आर्थिक समस्या भी पैदा करती है क्योंकि अस्पृश्य लोग भारत के निर्धन लोग हैं। इनके लिए जीवनयापन के साधन भी सीमित हैं। अतः उनका आर्थिक जीवन बहुत कष्टमय है। उनके रहन-सहन का स्तर भी बहुत निम्न है। उन्हें गांव एवं नगर के बाहर गन्दे झौंपड़ों में रहने को बाध्य किया जाता है, जहां स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी सुविधाओं का अभाव पाया जाता है।

अस्पृश्यों को अपवित्र माना गया है और उन्हें मन्दिर प्रवेश, पवित्र नदी घाटों के उपयोग, पवित्र स्थानों पर जाने तथा अपने ही घरों पर देवी-देवताओं की पूजा करने का अधिकार नहीं दिया गया। इन्हें वेदों एवं धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन एवं श्रवण की आज्ञा नहीं दी गई। इनके शव सार्वजनिक श्मशान घाट पर भी नहीं जलाए जा सकते। अस्पृश्य लोगों को पूजा, आराधना, भगवत भजन, कीर्तन, पूजा-पाठ, श्राद्ध एवं हवन व यज्ञ करने की भी मनाही है। ये कोई धार्मिक संस्कार भी सम्पन्न नहीं कर सकते।

अस्पृश्यों को सवर्णों के साथ सम्मेलनों, गोष्ठियों, पंचायतों, उत्सवों एवं समारोहों में भाग लेने की भी आज्ञा नहीं दी गई है। अस्पृश्यों की छाया मात्र से सवर्ण लोग अपवित्र हो जाते हैं। अस्पृश्यों को सार्वजनिक स्थानों, कुओं, उद्यानों एवं तालाबों का उपयोग करने की

भी मनाही है। इन्हें शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश नहीं दिया जाता था, इनके सार्वजनिक मेलों, दुकानों और हाटों पर जाने पर भी प्रतिबन्ध था।

आर्थिक प्रतिबन्धों के कारण अस्पृश्यों की आर्थिक स्थिति बड़ी दयनीय हो गयी। इन्हें विवश होकर सवर्णों के झूठे भोजन, फटे-पुराने वस्त्रों से ही अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करनी पड़ती थी। इन्हें भूमि-अधिकार तथा धन-संग्रह की आज्ञा नहीं दी गई। इन्हें मल-मूत्र उठाने, सफाई करने, मरे हुए पशुओं को उठाने, आदि के निम्न व्यवसाय सौंपे गए और बदले में समुचित भुगतान भी नहीं किया जाता। इन्हें राजनीतिक अधिकारों से भी वंचित किया गया।

अस्पृश्यों की इन निर्योग्यताओं को दूर करने के लिए गांधीजी जीवन भर प्रयत्नशील रहे। उन्होंने कहा, "अस्पृश्ता के लिए करोड़ों हिन्दू जिम्मेदार हैं, उससे मुझे हार्दिक घृणा है। सत्याग्रही को चाहिए कि वह अपने अस्पृश्य कहे जाने वाले भाई के लिए रक्षक बनकर डटा रहे और कष्ट सहे।" उन्होंने कहा, "हम सबको हरिजन बनना पड़ेगा नहीं तो हम अस्पृश्यता का नामोनिशान नहीं मिटा पाएंगे".....वे कहते हैं, "अस्पृश्यता स्वयं एक असत्य है। असत्य का समर्थन कभी सत्य से नहीं हुआ जैसे कि सत्य का समर्थन असत्य से नहीं हो सकता, अगर होता तो वह स्वयं असत्य हो जाता है।" गांधीजी अस्पृश्यता से बहुत दुःखी थे, वे लिखते हैं, मैं पुनर्जन्म की इच्छा नहीं रखता, पर मुझे फिर से जन्म लेना पड़े तो मैं एक अछूत के घर जन्म लेना चाहता हूं, जिससे मैं उनके कष्टों को बांट सकूं।

गांधीजी ने अछूतों को 'हरिजन' कहा। उन्होंने कहा, "मां बच्चे का मैला उठाती है, इसलिए वह पवित्र मानी गई है। रोगी की सेवा करने वाली बहिन अत्यन्त दुर्गन्ध वाली वस्तुएं उठाती है, उसका हम सम्मान करते हैं। तब तो सदैव पाखाने साफ कर हमें निरोग रखने में सहायता करते हैं, उनकी हम पूजा क्यों न करें।"

गांधीजी ने अस्पृश्यता का अन्त करने हेतु अछूतोद्धार के लिए जीवन-पर्यन्त प्रयत्न किए। 1932 में उन्होंने 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की। इस संघ ने अस्पृश्यता निवारण, पिछड़े वर्गों को उन्नति के अवसर दिलाने, श्रम के महत्व को स्थापित करने तथा मानव-मानव के बीच समानता और बन्धुत्व की भावना का प्रचार करने के लिए विशेष प्रयत्न किए। इस संघ के द्वारा अस्पृश्यों को सार्वजनिक स्थानों का उपयोग तथा मन्दिरों में प्रवेश करने का अधिकार दिलाने हेतु भी समय-समय पर आन्दोलन किए गए। संघ के प्रयत्नों से दक्षिणी भारत के अनेक मन्दिरों में हरिजनों को प्रवेश की आज्ञा प्रदान की गई। अस्पृश्यों में शिक्षा के प्रसार तथा उन्हें व्यवसाय सम्बन्धी प्रशिक्षण प्रदान करने के लिए भी हरिजन सेवक संघ ने प्रयत्न किया। इस संघ की आज सैकड़ों शाखाएं देश में फैली हुई हैं। इस संघ ने हरिजनों के लिए शिशु मन्दिर, छात्रावास, धर्मशालाओं एवं कुओं, आदि की भी व्यवस्था की है। यह संघ पोस्टरों तथा छोटी-छोटी पुस्तकों के वितरण द्वारा अस्पृश्यता विरोधी प्रचार भी करता है। अस्पृश्यता के लिए अंग्रेजों के समय जब पृथक् निर्वाचन की मांग उठी तो गांधीजी ने इसका घोर विरोध किया था, क्योंकि इससे हिन्दू समाज का एक बहुत बड़ा भाग उससे टूट कर अलग हो जाता।

(v) बुनियादी शिक्षा (Basis Education)—गांधीजी के रचनात्मक कार्यों में बुनियादी शिक्षा का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है। गांधीजी के विचारों के जिस पक्ष का भी हम अध्ययन

करते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि वे उस विषय के विशेषज्ञ थे। धर्म, राजनीति, अर्थव्यवस्था, समाज व्यवस्था तथा शिक्षा कोई भी विषय हो सब पर गांधीजी ने अपने मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। वे कोई शिक्षाशास्त्री नहीं थे फिर भी शिक्षा के क्षेत्र में उन्होंने महत्वपूर्ण योजना प्रस्तुत की। गांधीजी भारत में प्रचलित अंग्रेजी शिक्षा पद्धति से सन्तुष्ट न थे। अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य केवल बाबू वर्ग को पैदा करना था जो उन्हें राजकाज में सहयोग दे सके। यह बौद्धिक विकास तो करती है, किन्तु व्यक्ति के अन्दर उन क्षमताओं को पैदा नहीं करती जिनकी देश व व्यक्ति के व्यावहारिक जीवन में आवश्यकता है। अंग्रेजी शिक्षा में भारतीयकरण का अभाव था। भारतीय आत्मा शून्य थी। शिक्षा का अर्थ केवल साक्षरता ही नहीं है वरन् शिक्षा वह है जो व्यक्ति की आत्मा, बुद्धि और शरीर का विकास करती है, उसके चरित्र का निर्माण करती है। इस दृष्टि से गांधीजी ने बुनियादी शिक्षा की योजना प्रस्तुत की जो एक क्रान्तिकारी योजना है। गांधीजी उच्च शिक्षा के पक्ष में अधिक नहीं थे। भारत की सामाजिक व आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति बुनियादी शिक्षा द्वारा ही पूरी की जा सकती है। बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करना भी है। इसके द्वारा श्रम की महत्ता एवं मानव एकता में वृद्धि होगी। इससे भारत के निर्धन, भूखे और नंगे व्यक्तियों को स्वावलम्बी बनाया जा सकता है।

गांधीजी का विश्वास था कि सच्ची शिक्षा वह है जो बच्चों का सन्तुलित विकास करे, बौद्धिक एवं शारीरिक दृष्टि से उनमें कोई कमी नहीं रहने दे और भविष्य में उन्हें सर्वोदयी समाज का सदस्य बना सके ताकि वे अपनी शिक्षा के बल पर जीविकोपार्जन कर सकें। शिक्षा व्यक्ति के शारीरिक, बौद्धिक एवं नैतिक तीनों पक्षों का विकास करती है। बौद्धिक शिक्षा में गांधीजी ने इतिहास, भूगोल, अंकगणित तथा अन्य विज्ञानों को शामिल किया है। बच्चों के व्यावहारिक पक्ष की ज्ञान पूर्ति के लिए क्रियात्मक शिक्षा जरूरी है, जिसमें सिलाई कताई, बुनाई, बागवानी, मशीनों के पुर्जे, आदि तैयार करना आता है। नैतिक पक्ष की पूर्ति के लिए गांधीजी ने धार्मिक शिक्षा को आवश्यक माना है। धामिंक शिक्षा का तात्पर्य साम्प्रदायिक तत्वों का विकास करने वाली धार्मिक शिक्षा से नहीं है।

बुनियादी शिक्षा की योजना गांधीजी ने वर्धा सभा में स्वीकृत की थी। इसकी मुख्य बातें निम्नांकित हैं :

(1) प्रत्येक सात वर्ष के बालक को मुफ्त, किन्तु अनिवार्य रूप से शिक्षा ग्रहण करनी होगी।

(2) शिक्षा का माध्यम मातृ-भाषा होगा।

(3) शिक्षा के अन्तर्गत प्रत्येक विद्यार्थी को कोई-न-कोई दस्तकारी (हस्तशिल्प) का काम सीखना होगा ताकि वह भविष्य में स्वावलम्बी बन सके। इससे वह शिक्षा के साथ उपार्जन भी करेगा ताकि अपना खर्च स्वयं वहन कर सके।

(4) विषय का विशेष ज्ञान भी कराया जाना चाहिए ताकि विद्यार्थी किसी एक विषय में पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सके, जैसे कपड़े बुनने का कार्य, रुई की किस्में, गुण, पैदावार, आदि के विषय में ज्ञान।

(5) उच्च शिक्षा को व्यक्तिगत अथवा सरकार की इच्छा पर छोड़ देना चाहिए।

इस प्रकार गांधीजी की शिक्षा की यह योजना व्यक्ति को व्यावहारिक, बौद्धिक, नैतिक एवं शारीरिक सभी दृष्टि से तैयार करती है। यह जीवन की एक प्रणाली है, सीखने और जीने की पद्धति है।

विलफ्रेड वेलांक ने लिखा है, "बुनियादी शिक्षा उस सामाजिक क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण अंग है जो सत्य एवं अहिंसा की गांधीजी की धारणा और स्वयं उनके जीवन का मूल स्वर है।" बुनियादी शिक्षा कर्म द्वारा सीखने की एक प्रक्रिया है। यह मानती है कि हाथ और मस्तिष्क के मध्य एक सावयव सम्बन्ध है। यह शिक्षा पद्धति यह मानती है कि प्रत्यक्ष कर्म और वस्तु निर्माण के द्वारा होने वाला ज्ञान पुस्तकें पढ़कर और भाषण सुनकर प्राप्त होने वाले ज्ञान की अपेक्षा अधिक सजीव और स्थायी होता है। गांधीजी को बाल-मनोविज्ञान का भी ज्ञान था। उनका मत था कि स्वभाव से ही बच्चों में कुछ वस्तुएं बनाने व काम करने की प्रवृत्ति होती है। बच्चों के रचनात्मक मस्तिष्क को व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी बनाने के लिए ही उन्होंने बुनियादी शिक्षा की योजना प्रस्तुत की।

राष्ट्रवाद तथा अन्तर्राष्ट्रवाद

यद्यपि गांधीजी मानवतावादी विचारक थे और उनका दृष्टिकोण '**वसुधैव कुटुम्बकम्**' का था, किन्तु इसके साथ ही वे राष्ट्र और राष्ट्रवाद के समर्थक थे। उनका कथन था कि मानव जाति के विकास में सामाजिक जीवन के अनेक स्तर देखने को मिलते हैं; जैसे परिवार, जाति, गांव, प्रदेश और राष्ट्र। इन सबको पार करने के बाद ही विश्वबन्धुत्व या अन्तर्राष्ट्रवाद के अन्तिम आदर्श को प्राप्त किया जा सकता है। अतः व्यक्ति का सामाजिक कर्तव्य परिवार से आरम्भ होता है और मानवता की सेवा तक पहुंचता है। पहले ही सामाजिक इकाइयों के प्रति अपने कर्तव्य का पालन न करके मानवता की सेवा की बात करना अपने उत्तरदायित्व से विमुख होना है।

अपनी उपर्युक्त विचारधारा के आधार पर गांधीजी का कथन था कि प्रत्येक व्यक्ति के अपने देश के प्रति कुछ विशेष कर्तव्य होते हैं, जिन्हें उसके द्वारा आवश्यक रूप से पूरा किया जाना चाहिए। गांधीजी के इन विचारों को उनके द्वारा भारतीय स्वाधीनता संग्राम का नेतृत्व किये जाने के कारण उन्हें एक महान् राष्ट्रवादी कहा जा सकता है लेकिन गांधीजी संकीर्ण या उग्र राष्ट्रवाद के उपासक नहीं थे। वे तो एक रचनात्मक और मानवतावादी राष्ट्रीयता के उपासक थे, जिसके आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रवाद के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। गांधीजी राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रवाद के मार्ग की एक बाधा नहीं समझते थे और उनका विचार था कि अन्तर्राष्ट्रवाद और विश्वबन्धुत्व के लिए राष्ट्रीयता आधार का कार्य करती है। स्वयं उन्हीं के शब्दों में "**मेरे विचार से बिना राष्ट्रवादी हुए अन्तर्राष्ट्रवादी होना असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रवाद तभी सम्भव हो सकता है, जबकि राष्ट्रवाद एक यथार्थ बन जाय।**"

भारत के स्वाधीनता संग्राम के नेतृत्व में भी राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता की यह अन्योन्याश्रितता ही महात्मा गांधी का मार्गदर्शक रही। उन्होंने राष्ट्रीयता को कभी भी संकीर्ण, स्वार्थी और एकाकी अर्थों में ग्रहण नहीं किया और भारत के राष्ट्रीय संघर्ष में उन्होंने मानवता के व्यापक हितों की अवहेलना कभी भी नहीं की। उन्होंने '**यंग इण्डिया**' के 4 अप्रेल, 1929 के अंक में लिखा था कि "**मैं भारतवर्ष का उत्थान इसलिए चाहता हूं कि जिससे सम्पूर्ण विश्व का हित हो सके। मैं भारतवर्ष का उत्थान दूसरे राष्ट्र के विनाश पर नहीं चाहता। मैं उस राष्ट्रभक्ति**

की निन्दा करता हूं जो हमें दूसरे राष्ट्रों के शोषण तथा मुसीबतों से लाभ उठाने के लिए उत्साहित करती है।" इसके अतिरिक्त गांधीजी स्वावलम्बी और स्वाधीन इकाइयों के समर्थक होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आत्मनिर्भरता को परम आवश्यक मानते थे और चाहते थे कि विश्व के राष्ट्र आत्मनिर्भरता की आत्मघातक नीति को छोड़कर अन्तर्निर्भर रहते हुए एक विश्व संघ की स्थापना करें। गांधीजी की कल्पना का विश्व अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति, सहयोग और मित्रता का विश्व था। इस प्रकार गांधीजी राष्ट्रवादी और अन्तर्राष्ट्रवादी दोनों थे।

अधिकार और कर्तव्य

गांधीजीवादी दर्शन में मानव अधिकार और कर्तव्यों का भी प्रतिपादन किया गया है। उनका विचार था कि भारत के प्रत्येक व्यक्ति को विचार और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, संगठन की स्वतन्त्रता व धर्म और अन्तःकरण की स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए। अल्पमतों को अपनी संस्कृति, भाषा और लिपि का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। जाति और लिंग भेद के बिना सभी व्यक्तियों को कानून के समक्ष समान समझा जाना चाहिए। गांधीजी मानव अधिकारों की अपनी इस सूची में नवीन वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन करने के लिए तैयार थे।

मानव अधिकारों की इस प्रकार की सूची देते हुए भी गांधीवादी दर्शन अधिकारों की अपेक्षा कर्तव्यों पर बल देता है। गांधीजी के अनुसार, कर्तव्यपालन का अधिकार ही सर्वोच्च अधिकार है और कर्तव्यपालन के बिना किसी भी प्रकार के अधिकार की कल्पना नहीं की जा सकती है। वास्तव में कर्तव्यपालन में ही अधिकारों की प्राप्ति होती है। स्वयं गांधीजी के शब्दों में, **"अधिकारों का वास्तविक स्रोत कर्तव्य ही है। यदि हम सभी अपने कर्तव्यों का पालन करें तो अधिकार हमसे दूर नहीं रह जायेंगे। लेकिन यदि हम कर्तव्यों को अधूरा छोड़कर अधिकारों के पीछे दौड़ेंगे, तो अधिकार हमसे मृगतृष्णा के समान दूर होते जायेंगे।** आगे वे लिखते हैं, **"कर्म कर्तव्य है, फल अधिकार है।"**

गांधीवादी समाजवाद

गांधीवादी राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्था के वर्णन से स्पष्ट है कि गांधीजी का लक्ष्य सबके लिए सामाजिक न्याय और अवसर की समानता प्राप्त करना रहा है। वस्तुतः सामाजिक न्याय गांधीवादी व्यवस्था का स्वाभाविक परिणाम होगा। गांधीजी को अपने समाजवाद की प्रेरणा 'ईशोपनिषद्' के इस प्रथम श्लोक से मिली जो इस प्रकार है, **"सब कुछ में, जो कुछ भी इस ब्रह्माण्ड में है, परमात्मा रमा हुआ है। इन सबका परित्याग कर दो और आनन्द करो। दूसरों के धन का लोभ न करो।"**

गांधीजी इस मूल समाजवादी विचार का प्रतिपादन करते हैं कि एक मनुष्य केवल इतना लेने का अधिकार रखता है, जितना कि उसका पेट भरने के लिए पर्याप्त हो, जो इससे अधिक लेता है, वह चोर है। इसी भावना को व्यक्त करते हुए गांधीजी ने 1930 में कहा था : **"एक ऐसी वस्तु को भी, जो कि मूल रूप से चुराई नहीं गयी है, चोरी का ही माल समझना चाहिए, यदि बिना आवश्यकता के उसे हम अपने पास रखते हैं। बिना आवश्यकता के भी केवल भविष्य की दृष्टि से किसी वस्तु की कामना करना ही वर्तमान विषमता का मूल है, इससे ईश्वर में अविश्वास प्रकट होता है।"**

गांधीजी भूमि पर निजी स्वामित्व का विरोध करते थे और उनका भूमि पर **सामूहिक स्वामित्व'** में विश्वास था जिसका तात्पर्य है कि समस्त भूमि ईश्वर की है और उस पर अपने श्रम का उपयोग करने वाले व्यक्ति का ही अधिकार होना चाहिए।

यदि समाजवादी एक ऐसे व्यक्ति को कहा जाता है जो कि सामाजिक समानता और सामाजिक न्याय के आदर्शों में विश्वास करता है, भूमि तथा पूंजी पर व्यक्तिगत स्वामित्व को प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध समझता है और अमीरों द्वारा गरीबों पर किये जा रहे सभी प्रकार के शोषण को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध है, तो महात्मा गांधी को एक सर्वश्रेष्ठ समाजवादी मानना होगा। सम्पत्तिविहीन वर्ग के हितों की रक्षा के लिए वे जिस उत्साह के साथ आगे बढ़े, उसका अपना कोई उदाहरण नहीं है। आर्थिक समानता उनके रचनात्मक कार्यक्रम का एक अंग थी और उनका विचार था कि आर्थिक समानता के ठोस आधार के बिना सारा रचनात्मक कार्यक्रम बालू की दीवार के समान होगा। वास्तव में वे अपने तथाकथित समाजवादियों से कहीं अधिक सच्चे समाजवादी थे, क्योंकि उनका आचरण भी उनके सिद्धान्तों के ही अनुरूप था।

परन्तु गांधीवादी समाजवाद पश्चिम में विकसित हुए समाजवाद के विभिन्न रूपों से बहुत अधिक भिन्न है। उनका प्रेरणा स्रोत कार्ल मार्क्स या पश्चिम का अन्य कोई विचारक नहीं, वरन् भारतीय संस्कृति और उसका अहिंसा का सिद्धान्त ही है। समाजवाद उनके स्वभाव का एक अंग है और उनका विचार है कि केवल अहिंसावादी और शुद्ध हृदय वाले व्यक्ति ही सच्चे समाजवादी समाज की स्थापना कर सकते हैं। जहां पश्चिमी समाजवाद हिंसा और वर्ग संघर्ष में विश्वास करता है, शायद विश्व में महात्मा गांधी ही एकमात्र ऐसे विचारक हुए हैं, जिन्होंने समाजवाद के मूल लक्ष्य समानता और सामाजिक न्याय की प्राप्ति के लिए केवल सत्य और अहिंसापूर्ण साधनों को ही अपनाया है।

गांधीवादी समाजवाद, समाजवाद के अन्य रूपों से इस दृष्टि से भी भिन्न है कि जहां पश्चिमी समाजवाद, भौतिकवादी है, गांधीवादी समाजवाद अध्यात्मवादी है। प्रचलित समाजवाद के अन्तर्गत प्रत्येक मूल्य पर भौतिक साधनों के अधिकाधिक विकास पर बल दिया गया है, जबकि गांधीवादी समाजवाद भौतिक विकास की अपेक्षा नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए अधिक प्रयत्नशील है। ये दोनों व्यवस्थाएं इस रूप में भिन्न हैं कि गांधीवादी समाजवाद प्रचलित समाजवाद की वर्ग संघर्ष की धारणा के विरुद्ध वर्ग सहयोग तथा वर्ग सामंजस्य के मार्ग में विश्वास करता है। गांधीजी के अनुसार प्रगति और सामाजिक न्याय के शत्रु पूंजीपति नहीं वरन् पूंजीवादी व्यवस्था है। वे पूंजीपतियों से कहते हैं कि जो कुछ तुम्हारे पास है, वह केवल तुम्हारे निजी परिश्रम का ही फल नहीं है, वह समस्त व्यक्तियों के संयुक्त प्रयास का परिणाम है, इसलिए उसमें सबका भाग होना चाहिए। इस प्रकार उन्होंने सम्पत्ति के सम्बन्ध में ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है, जो अहिंसात्मक ढंग से निजी सम्पत्ति को समाप्त करने का एक प्रयास है और जिसे पश्चिमी समाजवाद की किसी भी धारणा की अपेक्षा क्रान्तिकारी कहा जा सकता है। बलात् सम्पत्ति हरण की अपेक्षा ट्रस्टीशिप अधिक उपयोगी है, क्योंकि इसमें पूंजीपतियों को अपना सुधार करने का अवसर मिलता है और यह उन्हें राज्य का शत्रु नहीं बनाता।

कुछ विचारकों के द्वारा इस मत का प्रतिपादन किया गया है कि गांधीजी वर्ग संघर्ष, पूंजीवादियों को समाप्त करने, बड़े पैमाने के उद्योग और उद्योगों पर राज्य के नियन्त्रण का विरोध करते हैं, इस कारण गांधीवादी विचारधारा को समाजवादी नहीं कहा जा सकता, किन्तु वास्तव में, इन विचारकों का दृष्टिकोण बहुत अधिक भ्रमपूर्ण है। समाजवाद का अर्थ वास्तव में, वर्ग संघर्ष नहीं है। इसका वास्तविक अर्थ तो एक ऐसी नवीन सामाजिक व्यवस्था का निर्माण होना चाहिए, जिसका आधार सामाजिक न्याय और समानता हो, जिसमें एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शोषण न कर सके और जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास करने हेतु पूर्ण स्वतन्त्र हो। समाजवादी समाज तो एक ऐसा सहयोगी समाज होता है जिसके सभी सदस्य भ्रातृत्व के सूत्र में बंधे होते हैं। इस दृष्टि से गांधीजी निस्सन्देह विश्व के एक महान् समाजवादी हैं। **उनका समाजवाद, समाजवाद के अन्य रूपों की तुलना में इस दृष्टि से अधिक महान और उच्चतर है कि यह अहिंसात्मक है और अर्थनीति पर धर्म की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है। आज संघर्ष से पीड़ित मानवता को गांधीवादी समाजवाद की ही आवश्यकता है।**

प्रश्न

1. 'सर्वोदय' पर गांधीजी के विचारों की विवेचना कीजिए।
2. सामाजिक पुनर्निर्माण पर गांधीजी के विचारों का उल्लेख कीजिए।
3. गांधीजी के आदर्श समाज या रामराज्य की रूपरेखा बताइये।
4. गांधीजी भारतीय समाज का पुनर्निर्माण किस प्रकार से करना चाहते थे। उनके आदर्श समाज की प्रमुख विशेषताएं बताइये।
5. गांधीजी के सर्वोदय के विचारों की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए।

12

भारतीय पुनर्जागरण के काल में सामाजिक चिन्तन

[SOCIAL THOUGHT IN THE PERIOD OF INDIAN RENAISSANCE]

उन्नीसवीं शताब्दी का भारतीय इतिहास में विशेष महत्व है क्योंकि इसी शताब्दी में भारत ने मध्य-युग से आधुनिक् युग में प्रवेश किया। अब तक भारतीय समाज और धर्म में अनेक बुराइयां प्रवेश हो चुकी थीं जिन्हें दूर करने के लिए अनेक धर्म सुधार एवं विरोध आन्दोलन हुए, फलस्वरूप लोगों में नई चेतना जागृत हुई और भारत का नया स्वरूप प्रकट हुआ। 19वीं सदी को एक महान् विभाजक रेखा कहा जा सकता है जो आधुनिक युग को मध्य युग से भिन्न करती है। इस युग में भारतीय समाज एवं धर्म में परिवर्तन की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, वह आज तक अनवरत रूप से जारी है।

परिवर्तन प्रकृति का शाश्वत नियम है, दुख के बाद सुख एवं अन्धकार के बाद उजाला अवश्य आता है। 18वीं सदी भी भारत के लिए एक अन्धकार युग था जिसमें चारों ओर अराजकता, अन्धविश्वास एवं अवनति के चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे थे और भारतीय समाज में एकता का नितान्त अभाव था। भारतीयों को फूट एवं राजनीतिक जागरूकता के अभाव का लाभ उठाकर अंग्रेजों ने यहां अपनी जड़ें जमाना शुरू कर दिया था। राजा और सामन्त परस्पर अपने तुच्छ स्वार्थों के कारण झगड़ रहे थे। देश की किसी को चिन्ता नहीं थी, वरन् स्थानीय हित ही प्रधान थे। अंग्रेजों के प्रभाव के कारण भारत का शिक्षित वर्ग पाश्चात्य सभ्यता और ज्ञान को श्रेष्ठ मानने लगा था तथा अपनी सभ्यता और संस्कृति से उनका विश्वास उठ चुका था। ईसाई धर्म प्रचारक हिन्दू और इस्लाम धर्म पर प्रबल आक्षेप कर रहे थे। अंग्रेजी शिक्षा का वर्चस्व बढ़ रहा था और भारतीय अपनी मूल शिक्षा को भूलते जा रहे थे। भारतीय समाज में इतनी कुरीतियां उत्पन्न हो गयी थीं कि लोग उन्हें अपनाने में लज्जा अनुभव करने लगे और अनेक हिन्दुओं ने ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया। मधुसूदन दत्त, नीलकण्ठ शास्त्री तथा रमाबाई जैसे व्यक्तियों ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया। इससे भारतीय सामाजिक एवं धार्मिक जगत् तिलमिला उठा और कुछ करने के लिए बुद्धिजीवी वर्ग में नवीन चेतना का प्रादुर्भाव

हुआ। इस नवीन चेतना ने भारत के प्रत्येक वर्ग को प्रभावित किया। अंग्रेजों का आधिपत्य केवल राजनीतिक सत्ता तक ही सीमित नहीं रहा, वरन् इसने देश के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन के लिए चुनौतियां पैदा कर दीं। अंग्रेजी शासन और पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव के कारण ही भारत में नवजागरण का उदय हुआ। इस नवीन चेतना ने भारतीय समाज, धर्म, साहित्य तथा राजनीतिक जीवन को गम्भीरता से प्रभावित किया। इस नई चेतना एवं इससे प्रभावित विभिन्न प्रयत्नों को ही **भारतीय पुनर्जागरण** कहा जाता है।

जब हम भारतीय पुनर्जागरण पर विचार करते हैं तो पाते हैं कि यहां 19वीं शताब्दी सर्वाधिक महत्वपूर्ण रही है। इसी सदी के प्रारम्भ में यहां ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शुरूआत हुई और कालान्तर में ब्रिटिश साम्राज्य की स्थापना हुई। धीरे-धीरे भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन पर पाश्चात्य संस्कृति एवं सभ्यता का प्रभाव पड़ा। इससे भारतीय समाज संक्रमण की स्थिति में आ गया। लोग पीढ़ियों से चली आ रही धार्मिक मान्यताओं, सामाजिक प्रथाओं, पारस्परिक नियमों, नैतिक संहिताओं, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आदर्शों को त्यागकर नये जीवन-मूल्यों को अपनाने लगे। इस सम्बन्ध में डॉ. आर. सी. मजूमदार ने लिखा है, "संक्रमण की इस स्थिति ने भारतीय समाज को मध्यकाल से आधुनिक काल में परिवर्तित कर दिया।" इतिहासकार मानते हैं कि 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ से आज तक के सामाजिक-सांस्कृतिक परिवर्तनों का दौर पुनर्जागरण है। यहं पुनर्जागरण दो धाराओं के माध्यम से प्रकट हुआ, प्रथम—ब्रह्म समाज आन्दोलन के माध्यम से तथा द्वितीय—आर्य समाज आन्दोलन के माध्यम से।

ब्रह्म समाज विचारधारा के मुख्य आन्दोलनकर्ता राजा राममोहन राय थे। आप भारत में व्याप्त अंधविश्वासों एवं रूढ़ियों से काफी दुखी थे। आप पर पश्चिमी देशों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण, ईमानदारी तथा प्रगतिशील विचारधारा का बहुत प्रभाव था। आर्य समाज के प्रणेता स्वामी दयानन्द सरस्वती थे। आपने विशुद्ध वैदिक संस्कृति अपनाने पर जोर दिया। ब्रह्म समाज एवं आर्य समाज से सम्बन्धित दोनों ही विचारधाराओं ने भारतीय समाज में व्याप्त अंध-विश्वासों एवं अतार्किक रूढ़ियों का विरोध किया। इन दोनों विचारधाराओं के परिणामस्वरूप देश में तीव्र गति से परिवर्तन आये और उन परिवर्तनों ने राष्ट्रीय चेतना जागृत करने में योग दिया।

पुनर्जागरण (रिनेसा) का अर्थ
(MEANING OF RENAISSANCE)

पुनर्जागरण फ्रैंच भाषा के शब्द 'रिनेसा' का हिन्दी रूपान्तरण है। फ्रैंच शब्द RENAITRA का अर्थ होता है उत्पन्न होना, प्रादुर्भाव होना या जन्म लेना। पुनर्जागरण शब्द का प्रयोग भी इसी अर्थ में हुआ है। पुनर्जागरण के लिए समान अर्थों वाले अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है, जैसे, पुनरोत्थान, पुनर्जागृति, नवजागरण, नवचेतना, पुनर्गठन, आदि। पुनर्जागरण के लिए नवजागरण, नवचेतना, या पुनरोद्धार शब्द भारतीय सन्दर्भ में अधिक उपयुक्त लगते हैं। पाश्चात्य सभ्यता के प्रभाव के परिणामस्वरूप भारत में स्वतन्त्रता और समानता की भावना पैदा हुई जिसने उच्चनिम्न की जाति-वर्ण से सम्बन्धित रूढ़ियों को कम करने में योग दिया। प्राचीन भारतीय समाज में स्वतन्त्रता और समानता की प्रवृत्ति थी, जिसमें मध्यकाल में बिगाड़ आया। पुनर्जागरण के काल में इस बीच में बिगड़ी हुई अवस्था को सुधार

कर पुनः प्राचीन भारतीय गौरव प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। प्रारम्भ में भारत में पुनर्जागरण आन्दोलन एक बौद्धिक आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ जो आगे चलकर सामाजिक-धार्मिक होता गया। डॉ. यदुनाथ सरकार ने भारतीय पुनर्जागरण की व्याख्या करते हुए लिखा है कि 'भारतीय पुनर्जागरण आन्दोलन ने अतीत से कभी सम्बन्ध नहीं तोड़ा वरन् उससे प्रेरणा ही ग्रहण करता रहा। इस तरह 'रिनेसा' विदेशी या अतीत के साहित्य का अध्ययन मात्र नहीं होकर नई चेतना का जन्मदाता है।

भारतीय पुनर्जागरण काल के सामाजिक चिन्तन की विशेषताएं (लक्षण)

(CHARACTERISTICS OF SOCIAL THOUGHT OF INDIAN RENAISSANCE PERIOD)

भारतीय पुनर्जागरण काल के सामाजिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएं निम्नलिखित हैं :

(1) भारतीय पुनर्जागरण काल का सामाजिक चिन्तन समाज के किसी एक वर्ग या क्षेत्र से सम्बन्धित नहीं होकर सम्पूर्ण समाज, कला, धर्म, राजनीति, संस्कृति, अदि से सम्बन्धित रहा है। इसका मुख्य लक्ष्य अंधविश्वासों, तर्कहीन रूढ़ियों एवं कुप्रथाओं को समाप्त कर एक आदर्श आधुनिक समाज की रचना करना रहा है। पुनर्जागरण के फलस्वरूप सभी क्षेत्रों में जागरण एवं आधुनिकीकरण की एक नई लहर आयी।

(2) भारतीय पुनर्जागरण काल के सामाजिक चिन्तन ने एक नवीन परिप्रेक्ष्य या दृष्टिकोण को जन्म देने में भी योग दिया। यह दृष्टिकोण सब प्रकार के पूर्वाग्रहों से मुक्त और आलोचनात्मक था। अब लोग धर्म, जाति, ज्ञान, विज्ञान एवं कला पर इसी आलोचनात्मक दृष्टिकोण से विचार करने लगे। इस नवीन दृष्टिकोण के कारण ही लोगों में नवचेतना जागृत हुई। इसी के परिणामस्वरूप लोगों ने समानता एवं स्वतन्त्रता के महत्व को समझा और देश को स्वतन्त्रता प्राप्ति की दिशा में आगे बढ़ाया।

(3) भारतीय पुनर्जागरण काल का सामाजिक चिन्तन यद्यपि पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति के सम्पर्क और संघात का परिणाम है, लेकिन इसके फलस्वरूप कालान्तर में लोग भारत की गौरवमयी प्राचीन संस्कृति की ओर आकृष्ट हुए।

(4) भारतीय पुनर्जागरण काल के सामाजिक चिन्तन का मुख्य आधार धर्म रहा है। पुनर्जागरण का मुख्य लक्ष्य हिन्दू धर्म में लोगों की आस्था पैदा करना रहा है। इसके लिए अनावश्यक कर्म-काण्डों एवं धार्मिक रूढ़ियों से छुटकारा प्राप्त करने का प्रयत्न किया गया। इस हेतु आर्य समाज के प्रणेता स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वेदों की ओर लौटो' का नारा दिया।

(5) भारतीय पुनर्जागरण काल का सामाजिक चिन्तन समन्वयात्मक तथा उदार मानवतावादी रहा है। इसमें सभी प्रकार की संगीर्णताओं से मुक्त होकर मानव मात्र के लिए कल्याणकारी दर्शन अपनाया गया है। इसमें विभिन्न धर्मों, संस्कृतियों एवं उपासना-पद्धतियों के पारस्परिक विरोध को अवास्तविक माना गया है और सभी की अच्छी बातों को ग्रहण करने पर जोर दिया गया है।

(6) भारतीय पुनर्जागरण काल का सामाजिक चिन्तन सदैव विकासमान रहा है। प्रारम्भ में वह एक बौद्धिक आन्दोलन था, धीरे-धीरे वह एक नैतिक शक्ति बना, जिसने समाज और

धर्म में अनेक सुधार किये। आगे चलकर वह राष्ट्रीय जागृति और आधुनिकीकरण का आधार बना।

(7) भारतीय पुनर्जागरण काल के सामाजिक चिन्तन का सम्बन्ध अतीत से जुड़ा रहा है। उसने अतीत से कभी भी अपना सम्बन्ध नहीं तोड़ा। यही कारण है कि उसमें एक निरन्तरता देखने को मिलती है।

डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर' ने 'संस्कृति के चार अध्याय' नामक पुस्तक में भारतीय पुनर्जागरण की दो प्रमुख विशेषताएं बतायी हैं। प्रथम, अतीत की गहराइयों का पता लगाना तथा द्वितीय, निवृत्ति का त्याग करना। भारत ने अपने अतीत को टटोला और उसे नवीन रूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया। भारत का अतीत वेदान्त के ज्ञान में दिया था, जो प्रत्येक युग और काल में सत्य रहा। जब भारत में पुनर्जागरण हुआ तो इसके प्रणेता राजा राममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती और विवेकानन्द बन गये। इस पुनर्जागरण की रीढ़ की हड्डी वेदान्त का ज्ञान ही था। इस प्रकार **भारतीय पुनर्जागरण की एक विशेषता अतीत की गहराइयों की खोज के रूप में प्रकट होती है।**

भारतीय पुनर्जागरण की दूसरी विशेषता निवृत्ति का त्याग है। पाश्चात्य सभ्यता आध्यात्मिकता के बजाय भौतिकता पर अधिक जोर देती है। भारतीय समाज-सुधारकों एवं चिन्तकों जैसे—विवेकानन्द, तिलक, दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय ने स्पष्टतः कहा कि वैदिक धर्म निवृत्ति का उपदेश नहीं देकर व्यक्ति को प्रवृत्ति की ओर ले जाता है। इन लोगों ने संन्यास से भी गृहस्थ को श्रेष्ठ माना। इस प्रकार भारतीय पुनर्जागरण ने भारतीयों के दृष्टिकोण को बदलने में अपूर्व योग दिया।

पुनर्जागरण के प्रणेताओं ने भारत के प्राचीन गौरव को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया तथा अब तक समाज में जो बुराइयां आ गयी थीं, उन्हें दूर कर समाज की प्रगति का मार्ग प्रशस्त किया। पुनर्जागरण के प्रणेताओं के अनुसार भारतीय सभ्यता और संस्कृति श्रेष्ठ है। प्रारम्भ में तो भारतीय पुनर्जागरण एक बौद्धिक आन्दोलन था जिसने हमारे साहित्य, शिक्षा तथा हमारी विचारधारा को प्रभावित किया जिसके फलस्वरूप भारत आजाद हुआ। 19वीं सदी के पुनर्जागरण, के लिए अनेक कारक उत्तरदायी रहे हैं। हम यहां उन्हीं का उल्लेख करेंगे।

भारत में पुनर्जागरण आन्दोलन के कारण तथा उन्हें जन्म देने वाली परिस्थितियां (सामाजिक सुधार आन्दोलनों की धार्मिक-सामाजिक पृष्ठभूमि)—उन्नीसवीं सदी में भारत में पुनर्जागरण आन्दोलन को जन्म देने के लिए जो परिस्थितियां एवं कारण उत्तरदायी रहे हैं, वे निम्नांकित हैं :

(1) **एशिया के जागरण का प्रभाव**—19वीं सदी में पूरे एशिया में चेतना की लहर पैदा हो गयी थी। चीन में विदेशियों के प्रभुत्व के विरुद्ध अनेक गुप्त समितियों का निर्माण हो चुका था, जिन्होंने चीन में अनेक विद्रोहों को जन्म दिया। चीन में जागृति लाने में सनयात्सेन ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इसी तरह से जापान में भी यह नारा बुलन्द किया गया—"सम्राट का आदर करो, विदेशियों को भगा दो।" वहां मुत्सोहितो ने जागृति पैदा करने का कार्य किया। टर्की में भी राष्ट्रीयता की लहर फैल रही थी जो सुल्तान के निरंकुश शासन को उखाड़ फेंकना चाहती थी। यद्यपि भारत में जागृति की लहर बहुत समय पूर्व ही

पैदा हो गयी थी, किन्तु अन्य देशों की जागृति ने इसे प्रोत्साहित किया। वस्तुतः एशिया के देश एक-दूसरे से प्रभावित होकर शक्ति ग्रहण कर जागृत हो उठे थे।

(2) **नये मध्यम वर्ग का उदय**—19वीं सदी में एक नये मध्यम वर्ग का उदय हुआ जिसने परम्परागत सामाजिक संगठन को चुनौती दी। इस शिक्षित मध्यम वर्ग के अधिकांश लोग ब्राह्मण थे, किन्तु इसमें अन्य जातियों के लोग भी सम्मिलित थे। इस समय औद्योगिक क्रान्ति एवं नवीन अंग्रेजी शिक्षा पद्धति के कारण कई नये व्यवसाय पनपे जिनमें विभिन्न जातियों के व्यक्ति साथ-साथ काम करने लगे। यह मध्यम वर्ग पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति से प्रभावित था। अतः इस वर्ग के लोग अपने सामाजिक जीवन को अंग्रेजी के सामाजिक जीवन के आधार पर ही निर्मित करना चाहते थे। अंग्रेजी समाज में स्त्री-पुरुषों की समानता पर बल दिया जाता है। इसलिए 19वीं सदी के अधिकांश सुधार आन्दोलनों में मुख्य रूप से स्त्रियों की स्थिति को सुधारने पर जोर दिया गया। स्त्रियों की शिक्षा, पर्दा-प्रथा समाप्त करना, अन्तर्जातीय विवाहों को स्वीकृति देना, बाल विवाह को रोकना एवं विधवा विवाह पर प्रतिबन्धों को हटाना, आदि समाज सुधार आन्दोलन के मुख्य उद्देश्यों में से थे।

(3) **अंग्रेजों द्वारा आर्थिक शोषण**—अंग्रेजी राज्य की स्थापना का सबसे बड़ा युगान्तकारी परिवर्तन भारत की परम्परागत अर्थव्यवस्था पर पड़ा। अंग्रेजों के आने से पूर्व भारतीय गांव आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर इकाई थे और यह व्यवस्था सदियों से बनी हुई थी। अंग्रेजी राज्य की स्थापना से इसमें परिवर्तन आया। कृषि का व्यापारीकरण हुआ। गांव में उपजी वस्तुएं धीरे-धीरे बड़े-बड़े बाजारों तक पहुंचने लगीं और उनका सम्बन्ध अन्तर्राष्ट्रीय बाजार और औद्योगीकरण से स्थापित हुआ। कृषि में विशेषीकरण पनपा और व्यापारिक फसलों जैसे कपास एवं नील, आदि की खेती को बढ़ावा दिया गया। अंग्रेजों ने नई भूमि व्यवस्था को जन्म दिया जिससे जमींदारी प्रथा शुरू हुई। अंग्रेजों से पूर्व भारत में कुटीर व्यवसायों एवं दस्तकारी उद्योगों का प्रचलन था। अंग्रेजी राज ने भारतीय अर्थव्यवस्था को अंग्रेजी पूंजीवाद से जोड़ दिया। ब्रिटेन ने इस समय औद्योगिक क्रान्ति का क्रम चल रहा था, बड़े-बड़े उद्योग स्थापित हो रहे थे जिनके लिए कच्चा माल भारत से जाने लगा। भारत के बाजारों में ब्रिटेन के कारखानों में बना माल बिकने लगा। इस नई अर्थव्यवस्था ने भारतीय ग्रामीण आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की कमर तोड़ दी और भारतीयों का खूब आर्थिक शोषण हुआ। लोग गांव छोड़कर व्यवसाय की खोज में नगरों में आने लगे। इन नवीन अर्थव्यवस्था के कारण भारत में कई नवीन परिवर्तन हुए जैसे नया भूस्वामी वर्ग पनपा जो एक विशिष्ट प्रकार का सामन्त वर्ग था। एक नवीन मध्यम वर्ग पैदा हुआ जिसने सामाजिक परिवर्तन में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। भारत में औद्योगीकरण एवं नगरीकरण शुरू हुआ, संचार एवं यातायात के नवीन साधनों का प्रयोग होने लगा। अंग्रेजों के आर्थिक एवं राजनीतिक शोषण ने भारत के उन लोगों में चेतना पैदा कर दी जो प्राचीन भारतीय गौरव को पुनः स्थापित करना चाहते थे। नगरों में आने वाले ग्रामीणों ने नवीन वातावरण में जीवन व्यतीत करने के लिए गांवों में प्रचलित परम्पराओं को असंगत पाया। अतः समाज सुधार के आन्दोलन प्रायः नगरों में ही प्रारम्भ हुए और वहीं तक सीमित रहे।

(4) **पाश्चात्य शिक्षा का प्रभाव**—ईसाई पादरियों के प्रभाव से भारत में अंग्रेजी शिक्षा का प्रारम्भ हुआ। सन् 1835 में अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया।

उच्च शिक्षा ग्रहण करने के लिए अनेक भारतीय इंगलैण्ड जाने लगे और उन्होंने कई यूरोपीय देशों की यात्राएं कीं। पश्चिमी सभ्यता, संस्कृति और साहित्य का ज्ञान प्रदान करने में अंग्रेजी भाषा का महत्वपूर्ण योगदान रहा। इस शिक्षा ने भारतीयों को अपनी तुलना अन्य समाजों से करना सिखाया। अंग्रेजी साहित्य में निहित स्वतन्त्रता एवं लोकतन्त्र की भावना ने भारतीयों के हृदय को झकझोर दिया और उनके हृदय में दासता के प्रति घृणा पैदा हुई, उन्हें अपने समाज की बुराइयों का भी ज्ञान हुआ। पाश्चात्य शिक्षा के कारण ही यूरोपीय विज्ञान, दर्शन, प्रौद्योगिकी एवं साहित्य का अध्ययन हमारे देश में होने लगा। अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोग परम्परागत रीति-रिवाजों का विरोध करने लगे और उन्होंने ही समाज सुधार की प्रथम आवाज उठायी, किन्तु इस कार्य में सफलता उन्हीं लोगों को मिली जिन्होंने भारतीय संस्कृति से प्रेरणा ग्रहण की। पाश्चात्य शिक्षा की भूमिका का उल्लेख करते हुए नारायन चन्दावरकर ने कहा, शिक्षा ने लोगों के विचारों में उथल-पुथल मचा दी, नये विवाद उठ खड़े हुए और इस प्रकार सामाजिक प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ। गोपाल कृष्ण गोखले ने भी कहा कि शिक्षा पद्धति के कारण ही भारतीय समाज में महत्वपूर्ण रूपान्तरण हुए।

(5) ईसाई धर्म प्रचारकों की आलोचना—19वीं शताब्दी के आरम्भ में ईसाई पादरियों को धर्म प्रचार की छूट दे दी गयी। उन्होंने न केवल भारतीय धर्म का मजाक उड़ाया, वरन् भारतीय सामाजिक ढांचे की कुट आलोचना भी की, उन्होंने बहुदेववाद, अवतारवाद और मूर्तिपूजा की बुराई की एवं हिन्दू धर्म के लिए अपशब्दों का भी प्रयोग किया। ईसाई मिशनरियों द्वारा अपने-धर्म की प्रशंसा करने की बात तो समझ में आती है, किन्तु हिन्दू धर्म को आडम्बरी एवं पाखण्डी बताना सर्वथा अनुचित था। कार्नवालिस से लेकर केनिंग तक और उसके बाद भी कई गवर्नर जनरलों ने भारतीयों के लिए तिरस्कारात्मक विचार व्यक्त किये। बैंटिंक, मेटकॉफ एवं मैकाले, आदि प्रशासक यहां की विभिन्न कुरीतियों एवं अन्धविश्वासों को दूर कर सुधार करना तो चाहते थे, किन्तु उनके मन में भी भारतीयों के प्रति घोर घृणा और अपनी श्रेष्ठता का दम्भ था। भारतीयों के लिए अब यह जरूरी हो गया था कि वे उनकी चुनौतियों से अपनी रक्षा के उपाय ढूंढ़ते। ईसाई पादरियों एवं उनके धर्म से रक्षा हेतु ही 19वीं सदी में भारत में कई सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन प्रारम्भ हुए। ईसाई पादरियों को सरकार का संरक्षण प्राप्त था। थोड़े-बहुत सामाजिक सुधार जो सरकार ने किये, उनका कारण भी पादरियों का उन पर अप्रत्यक्ष प्रभाव था। वस्तुतः भारतीयों को ही नवीन स्थितियों से मुकाबला करना था जिसके लिए सुधार आन्दोलन ही प्रमुख उपाय था।

(6) भारतीय समाचार-पत्र एवं साहित्य—भारतीय समाचार-पत्रों, पत्रिकाओं एवं साहित्य ने भी धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलन में महत्वपूर्ण योगदान दिया। कई ऐसे पत्र एवं पत्रिकाएं थीं जिनमें अंग्रेजों के दुर्व्यवहार, प्रजातीय द्वेष एवं उनके शोषण के समाचार प्रकाशित होते थे। साथ ही भारतीय राष्ट्रवादियों के विचार भी पत्र-पत्रिकाओं में छपते थे। इनसे भारतीयों में जागरूकता आयी। 'बंगाल गजट', 'दिग्दर्शन', 'समाचार दर्पण', 'संवाद कौमुदी', 'समाचार चन्द्रिका', 'मिरातउल अखबार', आदि पत्रिकाओं में सामाजिक एवं धार्मिक समस्याओं पर विचार-विमर्श आरम्भ कर दिया। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय समाचार-पत्रों ने सामाजिक व धार्मिक विषयों तथा शिक्षा से सम्बन्धित विषयों पर चर्चा करके भारतीय जनमत को जागृत

किया। इन समाचार-पत्रों के कारण ही लोगों ने अपने समाज एवं धर्म की रक्षा करने के प्रयत्न किये और सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए।

उपर्युक्त सभी कारणों से भारत में पुनर्जागरण की एक अद्भुत लहर उत्पन्न हो गयी। नवीन परिवर्तनकारी शक्तियों ने जिस बौद्धिक कोलाहल को जन्म दिया, उससे भारतीय समाज एवं धर्म सुधार आन्दोलनों को प्रेरणा मिली। बाहरी अथवा विदेशी शक्तियों के प्रभाव के कारण भारत में युगान्तकारी परिवर्तनों का सिलसिला शुरू हो गया। एम. एन. श्रीनिवास का मत है कि ब्रिटिश शासन ने भारतीय समाज और संस्कृति में स्थायी और मौलिक परिवर्तन उत्पन्न किये। एक बात स्मरणीय है कि समाज एवं धर्म सुधार आन्दोलनों के उत्तेजक तो बाहर से आये, किन्तु पाश्चात्य परिवर्तनों को भारत ने यथावत् रूप में ग्रहण न कर स्थानीय परिस्थितियों के अनुसार उनमें परिवर्तन भी किये। हमारे देश में समाज-सुधार के सभी प्रेरक भारतीय ही थे।

सुधार एवं विरोध आन्दोलनों का स्वरूप
(FORM OF REFORM AND PROTEST MOVEMENTS)

19वीं शताब्दी में जो सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुए, वास्तव में वे प्राचीन व्यवस्था के विरुद्ध व्यक्तिगत विद्रोह थे। इन विद्रोही व्यक्तियों को व्यंगात्मक भाषा में 'सुधारक' कहा जाता था। इन सुधारकों का उद्देश्य प्रचलित धर्म एवं सामाजिक ढांचे में परिवर्तन करना नहीं, वरन् उनमें रहन-सहन की नवीन शैली विकसित करना था। भारत में ऐसे व्यक्तिगत विद्रोह की प्रणाली प्राचीन काल से चली आ रही थी। 16वीं से 18वीं सदी तक सन्तों और संन्यासियों ने यह कार्य किया जिसे भक्ति आन्दोलन के नाम से पुकारा जाता है। 19वीं सदी में गृहस्थ व्यक्तियों द्वारा इस कार्य में अधिक सहयोग प्रदान किया गया। सुधारकों के विचारों को शिक्षित वर्ग में अधिक महत्व दिया गया और उन्होंने परम्परागत सामाजिक जीवन की प्रणाली से भिन्न जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा दी।

19वीं सदी में यूरोपीय प्रभाव भारत में एक झंझावात की तरह आया जिसने भारतीय बौद्धिकता को हिला दिया। रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं, कि भारत और यूरोप की इस टकराहट से भारत की ऊंघती हुई बूढ़ी सभ्यता की नींद खुल गयी और भारतीय सभ्यता का यही जागरण भारत का नवोत्थान बना। भारत में जो पुनर्जागरण आया उसका उद्देश्य अपने धर्म, परम्परा और विश्वासों का त्याग नहीं, वरन् यूरोपीय सभ्यता और विशिष्टताओं के साथ समन्वय स्थापित करना था। इसके दो परिणाम निकले—एक तरफ भारत के अतीत की गहराइयों को खोजा गया और दूसरी तरफ यूरोप के प्रभाव एवं नवीन रोशनी के सन्दर्भ में अपनी संस्कृति को पुनः संजोने एवं संवारने का प्रयत्न किया गया। अतीत के आधार पर समन्वयवादी विकास भारतीय सुधार आन्दोलनों का मुख्य लक्ष्य था।

सुधार आन्दोलनों के बाहरी उत्तेजक केवल निमित्त थे न कि उत्पादन। अतः भारत में सुधार आन्दोलन क्रान्तिकारी न होकर विकासशील थे। किसी भी समाज सुधारक या धर्म सुधारक ने परम्परागत व्यवस्था में आमूल-चूल परिवर्तन कर किसी नये समाज की रचना की मांग नहीं की। केवल ऐसे सुधारों की मांग की गयी जिनके द्वारा नवीन परिस्थितियों से सामंजस्य स्थापित किया जा सके। इन सुधार आन्दोलनों ने भारत का सांस्कृतिक पुनरुत्रयन करने एवं उसे आधुनिकीकरण की ओर ले जाने में योग दिया। 19वीं सदी से पूर्व भी व्यक्तिगत विद्रोहों

द्वारा भारतीय समाज के स्वरूप को बदलने के प्रयास किये गये थे। कबीर, नानक, दादू, आदि सन्तों ने मध्यकाल में सामाजिक रीति-रिवाजों एवं धार्मिक मान्यताओं के विरुद्ध आवाज उठाई थी, किन्तु उन्नीसवीं सदी के सुधारक इनसे भिन्न थे।

19वीं और 20वीं सदी के समाज सुधार आन्दोलन क्रान्तिकारी होने के बजाय धीरे-धीरे प्रगति करने वाले थे तथा वे प्राचीन सामाजिक ढांचे को यथावत् रखते हुए लोगों के जीवन को सुधारना चाहते थे। उन्होंने लोगों के सामने नई विचारधाराएं रखीं और परम्परागत मूल्यों एवं मान्यताओं को बदलने की योजना प्रस्तुत की। 19वीं सदी में समाज सुधारक अपनी आवाज मध्यम, उच्चवर्गीय एवं शिक्षित वर्ग तक ही पहुंचा सके थे। 20वीं सदी में समाज सुधारकों ने जाति-प्रथा का विरोध किया और सुधार आन्दोलन अन्य वर्गों तक भी फैल गया। इस सदी में समाज सुधार के साथ-साथ समाज सेवा की भी आवश्यकता अनुभव की गयी। पिछड़े, दलित और कमजोर वर्गों के उत्थान पर भी ध्यान दिया जाने लगा।

भारत में समाज और धर्म का निकट का नाता रहा है, अतः यहां समाज सुधार और धर्म सुधार के कार्य कभी भी एक-दूसरे से पृथक् नहीं रहे। फिर भी सुविधा की दृष्टि से भारत में सुधारकों को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—धर्म सुधारक और समाज सुधारक। धर्म सुधारक धर्म द्वारा समाज तक पहुंचते हैं तो समाज सुधारक समाज द्वारा धर्म तक। सुधारकों का प्रमुख उद्देश्य केवल धर्म के स्वरूप को प्रभावित एवं परिवर्तित करना था, जबकि समाज सुधारक समाज की बुराइयों एवं कुरीतियों को दूर करना चाहता थे। **समाज सुधारक धर्म निरपेक्षता, उदारवाद एवं मानववाद में विश्वास करते थे।**

धर्म सुधारकों ने किसी अलग 'समाज' या 'मिशन' का संगठन किया या उससे जुड़े हुए रहे। समाज सुधारकों ने भी सुधार-संघों की स्थापना की, सामाजिक कुरीतियों पर विचार किया, सम्मेलन बुलायें, रचनात्मक कार्यों की ओर ध्यान दिया और समाज-सेवा की दिशा में प्रगति होने लगी। समाज सुधार आन्दोलन उन्हीं क्षेत्रों में अधिक सफल रहे जहां अंग्रेजी शिक्षा एवं पश्चिम का प्रभाव अधिक था। बंगाल और महाराष्ट्र में इसलिए ही इनका प्रभाव अधिक रहा।

भारतीय पुनर्जागरण काल में सामाजिक चिन्तन
(SOCIAL THOUGHT IN THE PERIOD OF INDIAN RENAISSANCE)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि भारतीय पुनर्जागरण क्या है और उसकी प्रमुख विशेषताएं कौन-कौन-सी हैं। भारतीय पुनर्जागरण और उसकी विशेषताओं के अवलोकन से स्पष्ट है कि इस काल के सामाजिक चिन्तन का स्वरूप क्या था। लोग धार्मिक रूढ़ियों और अन्धविश्वासों से ऊब गये थे। भारतीय पुनर्जागरण के अन्तर्गत अनेक धार्मिक आन्दोलन हुए। इन आन्दोलनों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन तथा थियोसोफिकल सोसायटी के आन्दोलन प्रमुख हैं। इस काल में उपनिषदों एवं स्मृतियों की वैज्ञानिक व्याख्याएं प्रस्तुत की गयीं जिसके परिणामस्वरूप हिन्दू धर्म का नवीन स्वरूप सामने आया।

लोक कुप्रथाओं से छुटकारा पाने के लिए समाज-सुधार की ओर प्रवृत्त हुए। वास्तव में पुनर्जागरण से पूर्व भारतीय समाज जर्जर और समस्याग्रस्त हो चुका था। इन सभी प्रकार की समस्याओं से समाज को मुक्त करने का इस काल में प्रयत्न किया गया।

पुनर्जागरण के काल में तार्किक दृष्टिकोण का विशेषतः प्रभाव बढ़ा। लोगों ने पाश्चात्य वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाया। लोग खुलकर सोचने-विचारने लगे और धर्म, नैतिकता, राजनीति, व्यक्ति और समाज पर आलोचनात्मक दृष्टिकोण से विचार किया जाने लगा। डॉ. रामधारी सिंह 'दिनकर' ने संस्कृति के चार अध्याय में बताया है कि 'सबसे अधिक इसमें सात्विक शंका की प्रवृत्ति स्फुटित कर दी है जिससे मनुष्य किसी बात को केवल इसलिए करने को तैयार नहीं है कि वह शास्त्रों द्वारा अनुमोदित है अथवा वह बाप-दादाओं के समय से चली आ रही है।

भारतीय पुनर्जागरण के परिणामस्वरूप प्रसिद्ध दार्शनिक इमरसन को यह कहने के लिए बाध्य होना पड़ा कि संसार में जो कुछ ज्ञात है, वह वेदों का प्रकाश ही है, उससे अलग कुछ नहीं। पुनर्जागरण के फलस्वरूप हिन्दी भाषा, साहित्य और दर्शन का विदेशियों पर इतना प्रभाव पड़ा कि चारों वेदों का अनेक पश्चिमी भाषाओं में अनुवाद हुआ। इसके अलावा शकुन्तला, मेघदूत, कादम्बरी, रामायण, आदि ग्रन्थों का भी अनुवाद हुआ। इस तरह विश्व के लोग भारतीय साहित्य, संस्कृति और दर्शन के महत्व को पहचानने लगे।

भारतीय पुनर्जागरण के काल में हिन्दुत्व का नवीन रूप सामने आया। इस दिशा में स्वामी दयानन्द सरस्वती की पुस्तक 'सत्यार्थ प्रकाश' एक उल्लेखनीय प्रयास है। इसी प्रकार स्वामी विवेकानन्द ने भी वेदान्त और गीता के भाष्य सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किये। तिलक के प्रयत्न के परिणामस्वरूप गीता का भाष्य सुलभ हो सका। इन सब प्रयासों से हिन्दुत्व नये रूप में सामने आया। अब लोग सोचने लगे कि हमारी प्राचीन परम्परा और संस्कृति अत्यन्त गौरवमयी है, श्रेष्ठ है। ऐसी स्थिति में हम पश्चिम की ओर मजबूरी से क्यों देखें? हिन्दू धर्म में उदारतावाद और मानवतावाद पर विशेष बल दिया गया।

भारतीय पुनर्जागरण के काल में राष्ट्र-प्रेम और राष्ट्रीय भावना प्रबल होती गयी। लोग परतन्त्रता या गुलामी से मुक्त होने के लिए आतुर होने लगे। परिणामस्वरूप राष्ट्रीय जागृति जोर पकड़ती गयी जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन को आगे बढ़ाया। इस प्रकार पुनर्जागरण ने एक ओर धर्म-सुधार और समाज-सुधार आन्दोलन को जन्म दिया तो दूसरी ओर राष्ट्रीय आन्दोलन को प्रवाहित किया।

भारतीय पुनर्जागरण के परिणाम : एक मूल्यांकन
(RESULTS OF INDIAN RENAISSANCE : AN EVALUATION)

19वीं सदी के समाज सुधार और धर्म सुधार आन्दोलन मुख्य रूप से व्यक्तिगत प्रयत्नों तक ही सीमित रहे, बाद में चलकर कुछ संगठित प्रयास अवश्य किये गये। सुधार आन्दोलनों ने भारत के सामाजिक, धार्मिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया और जीवन के सभी अंगों में चेतना का संचार किया। इन आन्दोलनों ने भारत के आधुनिकीकरण में भी योग दिया। इन आन्दोलनों के परिणामस्वरूप ही सती-प्रथा पर कानूनी प्रतिबन्ध लगे और धीरे-धीरे यह प्रथा समाप्त होने लगी। राजा राममोहन राय और द्वारिकानाथ टैगोर का इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान रहा।

किन्तु सती-प्रथा के बन्द होने से विधवाओं की समस्या पहले से भी अधिक गम्भीर हो गयी। अब विधवाओं की संख्या में बहुत वृद्धि हो गयी। विधवाओं की समस्या के समाधान के लिए संस्कृत के पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने तीव्र आन्दोलन किया और उनके भागीरथ

प्रयत्नों के कारण ही 1856 में विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित किया गया जिसके अनुसार विधवाओं के विवाह को वैध मान लिया गया और उनकी सन्तानों को भी वैध घोषित किया गया। धीरे-धीरे विधवा विवाह समाज द्वारा स्वीकार कर लिया गया।

विधवाओं की समस्या बाल-विवाह के साथ जुड़ी हुई थी, अतः बाल-विवाह को रोकना भी आवश्यक था। समाज सुधारकों के प्रयत्नों से 1891 में 'ऐज ऑफ कन्सेन्ट बिल' बना, जिसके अन्तर्गत विवाह के लिए लड़कियों की आयु 12 वर्ष तय कर दी गयी। केशवचन्द्र सेन के प्रयत्नों से 'नेटिव मेरिज एक्ट' बना जिसके अन्तर्गत बहुविवाह को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया, बाल-विवाह निषेध कर दिया गया और अन्तर्जातीय विवाह स्वीकृत कर दिये गये।

सुधार आन्दोलनों के परिणामस्वरूप स्त्री शिक्षा को नवीन प्रेरणा मिली। उनके लिए अनेक विद्यालय और महाविद्यालय खोले गये। स्त्री शिक्षा के प्रसार के साथ-साथ उनमें राजनीतिक चेतना उत्पन्न हुई, वे अनेक कौंसिलों, कार्पोरेशनों एवं नगरपालिकाओं में सदस्य होने लगीं। पर्दा-प्रथा का भी उन्मूलन हुआ।

सभी समाज सुधार आन्दोलनों ने जाति प्रथा का विरोध किया, अतः छुआछूत, व्यवसाय, विवाह और खान-पान सम्बन्धी जातीय बन्धनों में शिथिलता आयी। दलित जातियों में चेतना पैदा हुई, उनमें से कई लोग ईसाई बन गये, किन्तु आर्य समाज ने शुद्धि आन्दोलन द्वारा उन्हें पुनः हिन्दू धर्म में सम्मिलित करने का बीड़ा उठाया।

समाज सुधार आन्दोलनों की सबसे बड़ी दुर्बलता यह थी कि समाज सुधारकों ने जिन सिद्धान्तों का प्रचार किया उनका वे स्वयं पालन नहीं करते थे। कुछ समाज-सुधारक स्त्री शिक्षा के तो पक्ष में थे, परन्तु वे विधवा विवाह के समर्थक नहीं थे। फिर भी यह बात निसन्देह सच थी कि समाज-सुधारकों ने सदियों पुरानी परम्पराओं को तोड़ने का प्रयास किया।

धार्मिक क्षेत्र में सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप एक नवीन चेतना पैदा हुई। विवेकानन्द, दयानन्द सरस्वती एवं एनीबेसेन्ट ने हिन्दुओं को अपनी धार्मिक श्रेष्ठता का विश्वास दिलाया जिससे ईसाई धर्म ग्रहण करने की प्रक्रिया अवरुद्ध हुई। इससे भारतीयों को अपने प्राचीन गौरव में आस्था पैदा हुई। धर्म सुधार आन्दोलनों के फलस्वरूप सभी धर्मों की मूलभूत एकता स्थापित हुई और हिन्दू धर्म की कई बुराइयों जैसे बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास एवं रूढ़िवादिता, आदि का उन्मूलन प्रारम्भ हुआ। वस्तुतः ये आन्दोलन धर्म एवं समाज के परिमार्जन करने वाले थे।

धर्म एवं समाज सुधार के आन्दोलनों का प्रभाव साहित्य पर भी पड़ा। संस्कृत की कई पुस्तकों का अंग्रेजी में अनुवाद किया गया जिससे भारत सम्बन्धी अध्ययन प्रारम्भ हुए। पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से एवं अंग्रेजी शिक्षा के प्रभाव के कारण भारत का बौद्धिक जागरण हुआ, नवीन साहित्य का सृजन हुआ, पूरब एवं पश्चिम की साहित्यिक प्रवृत्तियों का समन्वय हुआ, प्रादेशिक भाषाओं का विकास हुआ और भारत की श्रेष्ठ प्राचीन साहित्यिक परम्पराओं का पुनरुद्धार हुआ।

सुधार आन्दोलनों का राजनीतिक क्षेत्र में भी व्यापक प्रभाव पड़ा। सुधारकों ने राष्ट्रीय गौरव जागृत किया और लोगों में राष्ट्रीय चेतना को विकसित किया। **स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'स्वराज' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किया और स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर बल दिया।** उन्होंने

ही हिन्दी को राष्ट्र भाषा के रूप में स्वीकार करने की बात कही, राष्ट्रवाद के विकास में उनकी भूमिका महत्वपूर्ण रही और उन्होंने राजनीतिक स्वाधीनता का समर्थन किया। इस प्रकार से धार्मिक, सामाजिक सुधार आन्दोलनों ने भारत को नवजागरण के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया।

भारतीय पुनर्जागरण एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन
(INDIAN RENAISSANCE AND SOCIAL REFORM MOVEMENTS)

भारत में पुनर्जागरण, सामाजिक सुधार एवं परिवर्तन लाने में सामाजिक आन्दोलनों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। यहां जितने भी आन्दोलन हुए, उनका उद्देश्य सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों, अन्धविश्वासों, रूढ़ियों, अस्पृश्यता, बाल-विवाह, विधवा-विवाह निषेध, दहेज, जाति-प्रथा, सती-प्रथा, आदि बुराइयों को समाप्त कर एक स्वस्थ एवं सुदृढ़ समाज की स्थापना करना था। भारत में सुधार आन्दोलन का इतिहास बहुत प्राचीन है। जैन धर्म, बौद्ध धर्म एवं सिक्ख धर्म का उदय जाति प्रथा की बुराइयों के कारण ही हुआ। अनेक सन्तों जैसे तुलसी, कबीर नामदेव, तुकाराम, गुरुनानक, दादुदयाल, रैदास, आदि ने भारतीय समाज में व्याप्त बुराइयों पर कठोर प्रहार किया और समाज को नयी दिशा दी। मुस्लिमकाल में भक्त कवियों ने सामाजिक बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। अंग्रेजों के समय में विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द सरस्वती, राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, श्रीमती ऐनीबीसेण्ट, रामकृष्ण परमहंस, डॉ. आत्माराम, केशवचन्द्र सेन, रानाडे, महात्मा गांधी, विनोबा भावे तथा बाबू जयप्रकाश नारायण, आदि ने समाज-सुधार के अनेक प्रयत्न किये और कई संस्थाओं की स्थापना की। हम यहां भारत में हुए कुछ प्रमुख सुधार आन्दोलनों का उल्लेख करेंगे।

ब्रह्म समाज
(BRAHMA SAMAJ)

भारतीय धर्म और समाज सुधार आन्दोलनों के प्रवर्तक राजा राममोहन राय थे। उन्हें भारतीय नवजागरण के अग्रदूत और जनक एवं आधुनिक भारत का पिता कहा जाता है। वे एक दूरदर्शी प्रणेता थे, उन्होंने धर्म एवं सामाजिक सुधार एवं नवभारत के निर्माण की दृष्टि से ही ब्रह्म समाज की स्थापना की थी। उन्होंने समझ लिया था कि भविष्य में भारत किस दिशा की ओर मुड़ेगा, इसलिए ही बड़े साहस के साथ उन्होंने यूरोपीय विचारों और विज्ञान का स्वागत किया। एक ओर जहां वे अंग्रेजी भाषा तथा पाश्चात्य विधाओं का स्वागत करने को तैयार थे, वहीं दूसरी ओर वे वेद, अपने धर्म, परम्परा और विश्वासों के प्रति आस्थावान थे। उनका दृष्टिकोण समन्वयवादी था। उन्होंने भारतीयता और यूरोपीयता के उत्तम तत्वों का समावेश करके आधुनिक भारत के निर्माण का ठोस आधार तैयार किया। उनके द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज की समाज-सुधार एवं अन्य क्षेत्रों में भूमिका का उल्लेख करने से पूर्व इसके संस्थापक राजा राममोहन राय के बारे में जान लेना समुचित होगा।

राजा राममोहन राय का जीवन-परिचय

राजा राममोहन राय का जन्म 22 मई, 1772 को बंगाल के राधा नगर गांव में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पिता रमाकान्त राय एक सम्पन्न जमींदार थे। उन्होंने राजा राममोहन राय को अच्छी शिक्षा दिलाने का पूरा प्रयास किया। उन्हें फारसी और अरबी भाषा

का ज्ञान प्राप्त करने के लिए नौ वर्ष की आयु में ही पटना भेज दिया गया। पटना में उन्होंने भाषा ज्ञान के अतिरिक्त एकेश्वरवाद के बारे में भी गहन जानकारी प्राप्त की। राजा राममोहन राय बचपन से ही प्रतिभाशाली थे और उन्होंने अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया। 6 से 9 वर्ष की आयु में उन्होंने बंगला और फारसी भाषा सीखी। 10 से 13 वर्ष की आयु में उन्होंने अरबी और हिन्दी भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। 13 से 15 वर्ष की आयु में अंग्रेजी भाषा, 47 से 49 वर्ष की आयु में ग्रीक व हीब्रू भाषा तथा 59 से 60 वर्ष की आयु में उन्होंने फ्रेंच और लैटिन भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। इनमें से प्रथम 6 भाषाओं में उन्हें सहजता और दक्षता के साथ अपने भावों को अभिव्यक्त करने की क्षमता प्राप्त थी। राममोहन राय को 'राजा' की उपाधि दिल्ली के मुगल सम्राट द्वारा तब प्रदान की गई थी जब उन्हें ब्रिटिश सम्राट के सम्मुख अपना मामला प्रस्तुत करने भेजा। बनारस में रहकर उन्होंने संस्कृत भाषा का ज्ञान प्राप्त किया। लगभग 10 वर्षों तक उन्होंने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नौकरी भी की। इसी दौरान उन्होंने अंग्रेजी भाषा सीखी। इस प्रकार उन्हें भारत की सभी प्रमुख भाषाओं का ज्ञान था।

आरम्भ से ही वे एक क्रांतिकारी विचारक थे। 17 वर्ष की आयु में उन्होंने एक पुस्तिका निकाली, जिसमें उन्होंने मूर्ति-पूजा का विरोध किया, फलस्वरूप कट्टरपन्थी परिवार ने उन्हें घर से निकाल दिया। घर से भागकर उन्होंने सारे भारत का भ्रमण किया। देश से बाहर तिब्बत में जाकर उन्होंने बौद्ध धर्म का अध्ययन भी किया। वे 1805 से 1814 तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी में विभिन्न पदों पर रहे। इस नौकरी से त्याग-पत्र देकर वे धर्म तथा समाज-सुधार के कार्य में लग गये। उन्होंने हिन्दू धर्मशास्त्रों, वेद, वेदान्त और उपनिषदों का अध्ययन किया। 1814 में राममोहन राय कलकत्ता आकर रहने लग गये। यह वह समय था जब ईसाई मिशनरियों ने हिन्दू धर्म पर प्रबल आक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया था। प्रारम्भ में तो राममोहन राय उन आक्षेपों का उत्तर देते रहे, किन्तु बाद में उन्होंने शुद्ध एकेश्वरवाद का समर्थन किया।

राजा राममोहन राय उस वैचारिक क्रांति के प्रणेता थे जिससे आधुनिक भारत का जन्म हुआ। उन्होंने इस देश को मध्ययुगीन दलदल से निकालकर उसमें ऐसी जान फूंकी कि भारतीय विचार और जीवन धारा ही बदल गयी। राममोहन राय की प्रखर मेधा और प्रकाण्ड विद्वत्ता, मानव सेवा की विवेकपूर्ण भावना एवं विश्वजनीन दृष्टि आदि सभी पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार एक साथ लाने में सहायक हुए। ''यदि पश्चिमी देशों में मार्टिन लूथर का कार्य ईसाइयों द्वारा स्मरणीय है तो राममोहन राय के भागीरथ प्रयत्न उन्हें निश्चय ही हिन्दू जाति के हितकर्ताओं में ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित करेंगे।''

राममोहन राय का कार्यक्षेत्र बहुमुखी था। उन्होंने सभी धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन किया और एक सच्चे वेदान्ती के रूप में ईसाई मिशनरियों का प्रभाव बढ़ने से रोका तो दूसरी ओर अद्वैतवादी भारतीय दर्शन की परम्परा को पुनर्जीवित किया। धार्मिक सुधारक के रूप में उन्होंने विभिन्न धर्मों में प्रचलित रूढ़ियों और विधि-विधानों को छोड़ने पर बल दिया तथा एकेश्वरवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। समाज-सुधारक के रूप में उन्होंने एक क्रांति का सूत्रपात किया और बौद्धिक चेतना उत्पन्न की। उनके प्रयत्नों से ही सती प्रथा का अन्त हुआ। उन्होंने विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह और यौवनारम्भ के उपरान्त विवाह के पक्ष में जोरदार प्रचार किया। शिक्षाविद् के रूप में उन्होंने परम्परावादी पण्डितों का विरोध

किया तथा आधुनिक शिक्षा पद्धति का समर्थन किया। वस्तुतः शायद ही कोई ऐसा विषय रहा हो जो उनसे अछूता रह गया हो। यूरोपीय उदारवाद और बुद्धिवाद ने भी उन्हें प्रभावित किया।

राममोहन राय ने समाज-सुधार के कार्य को राजनीतिक जागृति के साथ जोड़ने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने अपने एक पत्र में लिखा कि हिन्दुओं का धार्मिक व्यवहार उन्हें अपने राजनीतिक हितों की दृष्टि से विमुख कर रहा है। जाति-प्रथा और धार्मिक विरोधाभासों एवं धार्मिक संस्कारों की संकीर्णता ने हिन्दू समाज को खोखला बना दिया है और उसकी एकता को भंग कर दिया है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हिन्दू समाज में सुधार कार्य इस प्रकार किया जाये कि वह अपने राजनीतिक महत्व को समझ सके। इस प्रकार राममोहन राय ने युग-दृष्ठ के रूप में राष्ट्रीयता एवं लोकतन्त्र के विचारों को धर्म, सभाज-सुधार एवं राजनीतिक विकास से सम्बन्धित कर दिखाया।

राजा राममोहन राय सच्चे अर्थों में धर्म-निरपेक्षतावादी थे। एक अंग्रेजी पत्र में एक हास्य रूपक छपा जिसमें राममोहन राय को भारत का गवर्नर जनरल बनाने का सुझाव दिया गया था, उसमें लिखा था, "राजा राममोहन राय न हिन्दू हैं, न मुसलमान हैं, और न ईसाई हैं और ऐसी स्थिति में वे निष्पक्षता से गवर्नर जनरल का कार्यभार संभाल सकते हैं।" इससे स्पष्ट है कि स्वयं अंग्रेज उन्हें एक निष्पक्ष भारतीय के रूप में मानते थे।

राजा राममोहन के विचारों पर मोन्थेको, ब्लेकस्टोन तथा बेन्थम के विचारों का प्रभाव पड़ा। 15 नवम्बर, 1830 को राजा राममोहन राय समुद्री मार्ग से इंग्लैण्ड के लिए रवाना हुए और अप्रेल 1832 में वे वहां पहुंचे। वहां उनकी अंग्रेजी दार्शनिक एवं विधिवेत्ता जेरेमी बेन्थम से घनिष्ठता हो गयी। स्वयं ब्रिटिश सम्राट ने भी उनका स्वागत किया। राममोहन राय इंग्लैण्ड से फ्रांस गये जहां वे बीमार पड़ गये। वे पुनः इंग्लैण्ड लौट आये और 20 सितम्बर, 1833 को ब्रिस्टल नगर में उनका स्वर्गवास हो गया। वहीं उनका दाह-संस्कार किया गया। उनकी समाधि पर लगे हुए पत्थर पर लिखा हुआ है, "इस पत्थर की समाधि के नीचे राममोहन राय बहादुर दफन हैं जो ईश्वर की एकता में दृढ़ विश्वास रखते थे तथा जिन्होंने अपना जीवन जनता की सेवा में बलिदान कर दिया था।" इस कथन से स्पष्ट है कि राजा राममोहन राय की सेवाओं की विदेशियों ने मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है।

राजा राममोहन राय की जीवनी लेखिका मिस कालेट ने लिखा है, "इतिहास में राममोहन का स्थान उस महासेतु के समान है जिस पर चढ़कर भारतवर्ष अपने अथाह अतीत से अज्ञात भविष्य में प्रवेश करता है। प्राचीन जाति-प्रथा और नवीन मानवतावाद के बीच जो खाई है, अन्धविश्वास और विज्ञान के बीच जो दूरी है, स्वेच्छाचारी राज्य और जनतन्त्र के बीच जो अन्तराल है तथा बहुदेववाद और शुद्ध ईश्वरवाद के बीच जो भेद है, उन सारी खाइयों पर पुल बांधकर भारत को प्राचीन से नवीन की ओर भेजने वाले महापुरुष राममोहन राय हैं।"

मैक्समूलर ने उनके बारे में लिखा है, "राजा राममोहन राय पहले व्यक्ति थे, जिन्होंने पूर्व और पश्चिम में प्रवाहित जीवनधारा को पूर्णतः संयुक्त किया।"

ब्रह्म समाज की स्थापना : आन्तरिक एवं बाह्म कारक

भारत में ब्रह्म समाज की स्थापना के लिए कई आन्तरिक एवं बाह्य कारक उत्तरदायी रहे हैं। आन्तरिक कारकों में भारतीय समाज एवं धर्म में आयी बुराइयां प्रमुख थीं जिनमें

बाल-विवाह, विधवा पुनर्विवाह की प्रथा, सती-प्रथा, अस्पृश्यता दहेज-प्रथा, कुलीन विवाह, मूर्तिपूजा, धार्मिक आडम्बर, अन्ध विश्वास, जातिवाद, आदि ने भारतीय समाज में सुधार को आवश्यक बना दिया था। दूसरी ओर उस समय भारत में अंग्रेजों का शासन था अतः ईसाई मिशनरी भारत में धर्म प्रचार के लिए हिन्दू धर्म की बुराई कर रही थीं और अपने धर्म का प्रचार कर यहां के लोगों को ईसाई बना रही थीं। इन दोनों ही आन्तरिक एवं बाह्य कारकों ने ब्रह्म समाज की स्थापना के लिए प्रेरणा प्रदान की। इन कारकों का आगे के पृष्ठों में विस्तार से उल्लेख किया गया है।

अपने धर्म सम्बन्धी विचारों को व्यावहारिक रूप देने के उद्देश्य से राजा राममोहन राय ने 20 अगस्त, 1828 को ब्रह्म समाज की स्थापना की। उन्होंने किसी नये धर्म को खड़ा नहीं किया बल्कि विभिन्न धर्मों की उच्च शिक्षाओं से एक सामान्य पृष्ठभूमि तैयार की। ब्रह्म समाज औपचारिक मूल्यों पर आधारित संस्था थी। राममोहन राय हिन्दू धर्म में सुधार लाने के लिए एक संगठन की आवश्यकता महसूस करते थे और इसी संगठन के माध्यम से उन्होंने सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक सुधारों का प्रचार कार्य किया। ब्रह्म समाज के प्रमुख सिद्धान्त एक ही ईश्वर की भावना एवं सभी धर्मों के धार्मिक ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा उत्पन्न करना आदि थे। राममोहन राय ने जातीय बन्धनों, मूर्ति पूजा, यज्ञ और बलि प्रथा का खण्डन किया। 1833 में राजा राममोहन राय की मृत्यु के बाद देवेन्द्रनाथ टैगोर और केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज को अधिक प्रगतिशील बनाया। केशवचन्द्र सेन ईसाई धर्म से अधिक प्रभावित थे। अतः वे ब्रह्म समाज को ईसाई धर्म के अनुसार चलाना चाहते थे, किन्तु देवेन्द्रनाथ टैगोर इससे सहमत नहीं थे। अतः ब्रह्म समाज दो भागों में बंट गया—**आदि ब्रह्म समाज** और **भारतीय ब्रह्म समाज**। आदि ब्रह्म समाज का संचालन देवेन्द्रनाथ करते थे और भारतीय ब्रह्म समाज का केशवचन्द्र सेन। केशवचन्द्र सेन ने अपने समाज के प्रचारार्थ भ्रमण प्रारम्भ किया और बाद में चलकर उन्होंने बम्बई में प्रार्थना समाज और मद्रास में वेद समाज की स्थाना की। 1881 में भारतीय ब्रह्म समाज में पुनः मतभेद प्रारम्भ हो गया। अतः केशवचन्द्र सेन ने नव-विधान समाज की स्थापना की, जिसमें हिन्दू धार्मिक ग्रन्थों के अतिरिक्त ईसाई, बौद्ध और मुस्लिम धार्मिक ग्रन्थों से भी अनेक बातें ली गईं, यद्यपि ब्रह्म समाज विभिन्न शाखाओं में विभक्त हो गया था फिर भी इसका मूल उद्देश्य हिन्दू समाज और धर्म में सुधार लाना था।

ब्रह्म समाज 19वीं शताब्दी का पहला सामाजिक और धार्मिक आन्दोलन था और राममोहन राय पहले भारतीय थे जिन्होंने धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। उस समय भारतीय समाज और धर्म पतन के गर्त में डूब रहा था। समाज में अन्धविश्वास व्याप्त था और कर्मकाण्ड को ही धर्म मान लिया गया। उस समय समाज में कई कुप्रथाएं प्रचलित थीं, ऐसी स्थिति में ईसाई धर्म एवं पाश्चात्य संस्कृति ने हिन्दू धर्म पर प्रहार किया और ऐसा प्रतीत होने लगा था मानो हिन्दू धर्म और सभ्यता नष्ट हो जायेंगे। इसी समय ब्रह्म समाज ने गिरते हुए भारत को सम्भाला और धर्म और समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया और धर्म की प्राचीन मान्यताओं पर प्रहार किया। आगे चलकर इससे अन्य सुधारकों को भी बल मिला। ब्रह्म समाज का रूप हर प्रकार से भारतीय रखा गया। हम इसके द्वारा किये गये विभिन्न अग्र सुधारों का उल्लेख करेंगे :

धार्मिक सुधार

आधुनिक भारत के सुधार का आरम्भ राजा राममोहन राय एवं ब्रह्म समाज ने वेदों और उपनिषदों के आधार पर किया। आपने यह बताया कि ईश्वर एक है, सभी धर्मों में सत्यता है, मूर्ति-पूजा और कर्मकाण्ड निरर्थक हैं। ब्रह्म समाज ने हिन्दू धर्म तथा समाज को अन्धविश्वास तथा आडम्बरों के जाल से मुक्त कराया। जिस काल में राममोहन राय पैदा हुए, हिन्दू धर्म और चिन्तन अपने मूल स्रोत वेद तथा उपनिषदों से भटक गया था। परम्परागत रूढ़ियों, ढोंगों तथा आडम्बरों की भारी तह ने हिन्दुत्व के सच्चे स्वरूप को ढक लिया था। ईसाई पादरी हिन्दू धर्म की तीव्र आलोचना कर रहे थे। वे हिन्दू धर्म की जिस प्रकार छीछालेदर कर रहे थे, उससे राममोहन राय अत्यन्त दुःखी थे। अपने निबन्ध में वे एक स्थान पर कहते हैं, "यह स्वाभाविक बात है कि जब एक जाति दूसरी जाति पर विजय प्राप्त करती है, तब उसका अपना धर्म चाहे जितना भी हास्यास्पद हो किन्तु, हंसी वह उनके धर्म की उड़ाया करती है, जो उनके पांव के नीचे आये हुए हैं। उदाहरणार्थ, मुसलमानों ने जब भारत को जीता, तब हिन्दुओं के धर्म से उन्होंने शत्रुता दिखलायी।....इसलिए आज यदि अंग्रेज धर्म प्रचारक, जो विजेता वर्ग के हैं, भारतवासियों के धर्म की भर्त्सना करते हैं अथवा उसका मजाक उड़ाते हैं तो यह कोई असाधारण बात नहीं है। अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय युवक ईसाइयत की ओर तीव्र गति से बढ़ रहे थे। अपने धर्म और संस्कृति में उनका विश्वास समाप्त हो गया था। इन सभी बातों से राममोहन राय दुःखी हो उठे और उन्होंने हिन्दू धर्म का परिष्कार करने का संकल्प लिया। वे हिन्दू धर्म को प्राचीन आडम्बरों और अन्धविश्वासों से मुक्त कर उसे नया रूप देना चाहते थे। उन्होंने धार्मिक यज्ञ, कर्मकाण्ड, मूर्ति पूजा एवं जातिवाद का खण्डन किया एवं एकेश्वरवाद की प्रशंसा की। उन्होंने फारसी में 'तुहफतुल-मुवाहिदीन' नामक पुस्तक लिखी जिसमें मूर्ति-पूजा का खण्डन एवं एकेश्वरवाद का समर्थन किया। 'संक्षिप्त वेदान्त' नामक पुस्तक में उन्होंने वेदान्त का टीका सहित संग्रह प्रकाशित किया। उन्होंने ईश, मुण्डक, कठ तथा केन उपनिषदों का अनुवाद प्रकाशित किया। वे हिन्दुत्व का आधार वेदान्त को बनाना चाहते थे। उन्होंने ईसाई धर्म के कर्मकाण्डों व ईसा मसीह के ईश्वरीय अवतार होने के दावे पर प्रबल आक्रमण किया एवं ईसाई धर्म प्रचारकों से शास्त्रार्थ किया। इसका परिणाम यह हुआ कि जो हिन्दू ईसाई धर्म ग्रहण कर रहे थे, वे इस धर्म परिवर्तन करने से रुक गये। राजा राममोहन राय ने हिन्दू, इस्लाम और ईसाई तीनों धर्मों का गहन अध्ययन किया और तीनों धर्मों पर वे समान अधिकार के साथ बोल सकते थे। हिन्दू धर्म की पवित्रता, इस्लाम की रुचि और विश्वास तथा ईसाई धर्म का तर्क उन्हें बेहद पसन्द था। उनका वैयक्तिक रहन-सहन मुसलमानों जैसा था। एकेश्वरवाद में विश्वास और मूर्ति-पूजा का विरोध ये दो बातें उन्होंने इस्लाम से लीं। ईसाई धर्म से उन्होंने कुछ भी नहीं लिया। जो कुछ लिया वह ईसाई देशों के सामाजिक जीवन से, ईसाई देशों के राजनीतिक संगठन और विज्ञान से। एकेश्वरवादी और मूर्ति-पूजा के विरोधी होने के कारण हिन्दुत्व में उन्हें अपना आश्रय केवल वेदान्त में मिला। इसलिए उनकी इस्लाम-प्रियता उनकी हिन्दुत्व विरोधी नहीं हुई। विभिन्न धर्मों का अध्ययन करने से और वैज्ञानिक दृष्टि उत्पन्न हो जाने से वे विश्वासवादी हो गये। फ्रांस के विदेश मन्त्री को 1931 में अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा—"केवल धर्म से ही नहीं, प्रत्युत अदूषित सामान्य बुद्धि एवं विज्ञान से भी यही ज्ञात होता है कि सारी

मनुष्य जाति एक परिवार है तथा जो अनेक जातियां और राष्ट्र हैं, वे उसी एक परिवार की शाखाएं हैं।'' यही कारण है कि राममोहन राय द्वारा स्थापित ब्रह्म समाज सभी धर्मों के प्रति उदार और सहनशील है।

ब्रह्म समाज का मूल भारतीय था, इसका आधार-उपनिषद् एवं अद्वैतवाद था। इसकी बैठक में वेदों एवं उपनिषदों के मन्त्रों का पाठ हुआ करता था। **ब्रह्म समाज के प्रमुख सिद्धान्त निम्नांकित हैं :**

(1) ईश्वर एक है; वह संसार का स्रष्टा, पालक और रक्षक है; उसकी शक्ति, प्रेम, न्याय और पवित्रता अपरिमित है।

(2) आत्मा अमर है, उसमें उन्नति करने की असीम क्षमता है और वह अपने कार्यों के लिए भगवान के सामने उत्तरदायी है।

(3) आध्यात्मिक उन्नति के लिए प्रार्थना, भगवान का आश्रय और उसके अस्तित्व की अनुभूति आवश्यक है।

(4) किसी भी बनायी हुई वस्तु को ईश्वर समझकर नहीं पूजना चाहिए और न ही किसी पुस्तक या पुरुष को मोक्ष का एकमात्र साधन मानना चाहिए।

राजा राममोहन राय ने हिन्दू, ईसाई, इस्लाम और बौद्ध आदि सभी धर्मों का अध्ययन किया तो उन्होंने देखा कि सभी धर्मों में सत्य के साथ-साथ कर्मकाण्ड भी पाये जाते हैं। ब्रह्म समाज की एक विशेषता यह है कि यह सभी धर्मों के प्रति सहिष्णु है। ब्रह्म समाज ने लोगों का ध्यान उस ईश्वर की ओर आकृष्ट किया जो निर्विकार, निराकार और परब्रह्म है और जिसका निरूपण वेदों में किया गया है। हिन्दू धर्म में नये धार्मिक विचारों का प्रचार करने के उद्देश्य से राममोहन राय ने 1815 में कलकत्ता में 'आत्मीय सभा' और 1816 में 'वेदान्त कॉलेज' की स्थापना की। उन्होंने ब्रह्म समाज के लिए भवन का निर्माण करवाया। ब्रह्म समाज भवन के ट्रस्ट के दस्तावेज में यह उल्लेख है : सभी लोग बिना किसी भेदभाव के शाश्वत सत्ता की उपासना के लिए इस भवन का प्रयोग कर सकते हैं। इसमें किसी मूर्ति की स्थापना नहीं होगी, न इसमें कोई बलिदान होगा, न किसी धर्म की निन्दा की जायेगी। इसमें केवल ऐसे ही उपदेश दिये जायेंगे, जिनमें सभी धर्मों के बीच एकता और सद्भावना की वृद्धि हो। इस प्रकार राममोहन राय विश्व-बन्धुत्व तथा मानव-प्रेम के पुजारी थे।

सामाजिक सुधार

राजा राममोहन राय उच्चकोटि के समाज-सुधारक थे। उनके बारे में यह मत व्यक्त किया जाता है कि उनका प्रधान विषय धर्म नहीं, समाज था और वे धर्म के आध्यात्मिक पक्ष के स्थान पर उसके सामाजिक और राजनीतिक पक्ष के प्रति अधिक रुचि रखते थे। भारतीय समाज का संगठन धर्म के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। अतः कोई सुधारक धर्म और समाज को साथ-साथ लेकर ही नव-चेतना और जागृति का कार्य कर सकता था। राममोहन राय ने इस बात को जान लिया था, इसलिए उन्होंने धर्म एवं समाज-सुधार का कार्य साथ-साथ किया। किन्तु वस्तुतः वे एक समाज सुधारक थे, समाज की बुराइयों को दूर कर उसे प्रगतिशील बनाना चाहते थे।

उन्होंने समाज में प्रचलित बहु-विवाह, बाल-विवाह, जाति-प्रथा, छुआछूत, मद्यपान,आदि बुराइयों का डटकर विरोध किया तथा समाज-सुधार के लिए स्त्री शिक्षा, विधवा-विवाह,

अन्तर्जातीय विवाह आदि का समर्थन किया। उस समय हिन्दू समाज में कन्या विक्रय और कन्या-वध जैसी कुप्रथाएं प्रचलित थीं। ब्रह्म समाज ने इनके विरुद्ध जोरदार आवाज उठायी। समता के सिद्धान्त के आधार पर उसने लाखों निम्न एवं अस्पृश्य लोगों को ईसाई बनने से रोका। राजा राममोहन राय ने एक कुसंस्कार को हटाने में अपनी पूरी शक्ति लगा दी। नारी उत्पीड़न को दूर करने, उन्हें शिक्षा देने और उनके जन्मजात अधिकारों को दिलाने के लिए राममोहन राय ने एड़ी-चोटी का पसीना एक कर दिया। सबसे बड़ी बात यह है कि राममोहन राय ने नैतिक चरित्र गठन और धार्मिक विकास द्वारा सामाजिक उन्नति करने की कोशिश की। उन्होंने एक सामाजिक क्रान्ति का सूत्रपात किया और यह विश्वास व्यक्त किया कि धर्म और समाज-सुधार की अनुपस्थिति में केवल राजनीतिक विकास का कोई मूल्य नहीं है चाहे राजनीतिक स्तर पर हम मुक्त हो जायें, परन्तु यदि समाज का सुधार और विकास नहीं होगा तथा धार्मिक अन्धविश्वासों और पाखण्डों से हम ऊपर नहीं उठेंगे तो राजनीतिक स्वाधीनता खोखली होगी। इसी दूरगामी विश्वास से प्रेरित होकर राजा राममोहन राय ने सामाजिक क्रान्ति का, सामाजिक-धार्मिक विकास का शंखनाद किया। राममोहन राय ने राजनीतिक प्रगति और सामाजिक तथा धार्मिक सुधारों के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध सुनिश्चित करने की दूरदर्शिता दिखायी और आगे चलकर ऐसी ही अनुभूति महात्मा गांधी को भी हुई थी।

राजा राममोहन राय ने **मूर्ति-पूजा का घोर विरोध किया।** उनका मत था कि इसने असंख्य विभाजन और उप-विभाजन उत्पन्न करके हिन्दू समाज की जड़ों पर कुठाराघात किया है। उन्होंने यह स्थापित करने की चेष्टा की कि मूर्ति पूजा हिन्दू धर्म का कोई मौलिक अंग नहीं है वरन् इसका चलन बाद के युगों में हुआ। मूर्ति-पूजा के पक्ष में यह तर्क दिया जाता रहा है कि 'असली चीज श्रद्धा है। मूर्ति की श्रद्धापूर्वक पूजा की जाय तो ईश्वर प्राप्त होगा।' राममोहन राय का उत्तर था कि विष को श्रद्धा के साथ दूध मानकर पीने से भी वह घातक ही सिद्ध होगा। बाजार से सौदा खरीदने जैसी मामूली बातों में ही हम सोच-समझकर नाप-तौलकर काम करते हैं तो फिर क्यों परम और चरम महत्व की बातों में हम सोच-समझ व माप-तौल को त्यागकर श्रद्धा के आसरे बैठे रहें? राममोहन राय का कहना था कि, "उपनिषद् अद्वैतवाद की शिक्षा देते हैं जिसमें मूर्ति-पूजा का कोई स्थान ही नहीं है।"

राजा राममोहन राय ने **रूढ़िवादिता का विरोध किया** और कहा कि सामान्य प्रवृत्ति के रूप में भी यह खतरनाक है। रूढ़िवादिता में अन्ध श्रद्धा का लाभ उठाकर बहुत से अविवेकपूर्ण कार्यों को बड़ा प्राचीन और पवित्र बना दिया जाता है जबकि सामान्य ऐतिहासिक विश्लेषण से ही यह सिद्ध हो सकता है कि अविवेकपूर्ण कार्य हाल ही की उपज हैं। राममोहन राय का कहना था कि "यदि आप परम्परा को सर्वोपरि मानते हैं तब तो कर्मकाण्ड और मूर्ति-पूजा को छोड़कर शुद्ध ब्रह्म की पूजा करना नितान्त आवश्यक है, क्योंकि शुद्ध ब्रह्म की पूजा ही आपके धर्म की सबसे प्राचीन परम्परा है।"

राममोहन राय ने उदार और वैज्ञानिक सामाजिक विचारों के विकास के लिए अथक् प्रयास किया। उन्होंने **नारी स्वातन्त्र्य, नारी अधिकार और नारी-शिक्षा पर जोर दिया** तथा हिन्दू नारी के साथ किये जाने वाले अन्याय और अत्याचार की कटु आलोचना की। उन्होंने कहा कि "कट्टर हिन्दुओं को चाहिए कि वे शैव-विवाहों को भी वही मान्यता दें जो वैदिक विवाहों को प्राप्त है। अगर उनकी सलाह स्वीकार की जाती, तो विधवा विवाह, अन्तर्जातीय विवाह,

यौवनारम्भ के उपरान्त विवाह आदि सभी हिन्दू समाज में मान्य होते।" स्त्री को अपने मृत पति की सम्पत्ति में हिस्सा दिलाने का भी उन्होंने समर्थन किया। उन्होंने बहुपत्नी प्रथा के विरुद्ध आवाज उठाते हुए ऐसी वैधानिक व्यवस्था की आवश्यकता पर बल दिया जिसमें कोई भी हिन्दू अपनी पहली पत्नी के जीवित रहते हुए बिना न्यायाधीश की आज्ञा के दूसरा विवाह नहीं कर सकता। उनका स्वप्न था कि बाल-विधवाएं पुनः विवाह करें और प्रौढ़ विधवाएं आत्मसम्मान का जीवन जीने के लिए शिक्षा ग्रहण करें। उन्होंने इस बात को स्वीकार नहीं किया कि स्त्रियां पुरुषों की अपेक्षा मन्द बुद्धि वाली होती हैं। भारतीय इतिहास से उदाहरण देकर उन्होंने कहा कि लीलावती, भानुमति, कर्ण राजा और कालिदास की पत्नियां और मैत्रेयी, आदि नारियां प्रतिभा, विद्या और ज्ञान की साकार मूर्तियां थीं। **राय ने जाति-प्रथा के विरुद्ध भी प्रचार किया** और कहा कि असंख्य जातियों और उप-जातियों के कारण ही हिन्दू राजनीतिक दृष्टि से कमजोर है। उन्होंने कहा कि व्यक्ति का मूल्यांकन जन्म से नहीं वरन् उसके गुणों के आधार पर किया जाना चाहिए। राममोहन राय ने 1815 में जिस 'आत्मीय सभा' की स्थापना की, उसमें धर्म के साथ सामाजिक समस्याओं पर भी विचार-विमर्श होता था। जाति-भेद, पंक्ति भोजन और निषिद्ध खाद्य की समस्या, बाल-विधवा, कठोर ब्रह्मचर्य, बहु-विवाह, सती-प्रथा, मूर्तिपूजा, आदि सभी समस्याओं पर इस सभा में आलोचनाएं होती थीं। यह केवल ब्रह्मधर्म प्रचार या ब्रह्मोपासना की सभा नहीं थी वरन् एक समाज-सुधारक सभा भी थी।

राममोहन राय को **अपमानजनक भाषा के प्रयोग** से भी चिढ़ थी। जब ईसाई धर्म-प्रचारकों से उनका वाद-विवाद हुआ तो आरोपों के उत्तर में उन्होंने कहा, "हमें कदापि यह नहीं भूलना चाहिए कि हम यहां गम्भीर धर्म विवेचना कर रहे हैं। इसमें एक-दूसरे के प्रति अशिष्ट भाषा का व्यवहार करना सर्वथा अनुचित है।"

स्त्रियों की स्थिति को सुधारने के लिए राममोहन राय ने भरसक प्रयत्न किया। वे स्त्रियों को भी पुरुषों के ही समान सामाजिक, कानूनी और सम्पत्ति सम्बन्धी अधिकार देने के पक्ष में थे। उन्होंने सती-प्रथा का घोर विरोध किया। सन् 1811 में उन्होंने एक दारुण दृश्य देखा और इसने उनके जीवन पर गहरा प्रभाव डाला। उनके बड़े भाई जगतमोहन के मरने पर उनकी पत्नी को प्रचलित प्रथा के अनुसार सती होने के लिए बाध्य होना पड़ा। वह चिता पर बैठी, किन्तु चिता की ज्वाला जब सह्य नहीं हुई तो वह वहां से उठकर भागी, किन्तु सम्बन्धी लोग धर्म का उल्लंघन कैसे सहन कर सकते थे? उन्होंने उसे जबरदस्ती चिंता पर रस्सियों से कसकर बांधा ताकि वह भाग न सके, किन्तु उसका करुण-चीत्कार दर्शकों के हृदय को भी विदीर्ण कर रहा था। उसके चीत्कार से त्राण पाने के लिए सम्बन्धियों ने शंख, खड़ताल तथा अन्य वाद्य यन्त्र बजाने शुरू किये, ताकि उस अबला का आर्तनाद किसी व्यक्ति को सुनायी न दे। इस हृदय विदारक घटना ने राममोहन राय को सती-प्रथा का कट्टर विरोधी बना दिया। उन्होंने 'शास्त्रार्थ' नामक ग्रन्थ में सती-प्रथा के विरुद्ध कई निबन्ध लिखे और इस अमानुषिक प्रथा के विरुद्ध जनमत जागृत किंया। उन्होंने कहा कि हिन्दू धर्मशास्त्र सती-प्रथा को मान्यता नहीं देते। सन् 1820 से 1830 तक बंगाल में सती-प्रथा को लेकर बहुत विवाद हुआ जिसका आधार धर्मशास्त्र ही थे। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में बताया कि सती-प्रथा या 'सह-मरण' शास्त्रसम्मत प्रथा नहीं है, शास्त्र विकृत कुसंस्कार है। 1829 में उन्होंने इस सम्बन्ध में एक पुस्तिका भी

लिखी। मुख्यतः उन्हीं के प्रचार के फलस्वरूप लॉर्ड विलियम बैंटिंक ने एक आज्ञा जारी कर सती-प्रथा को 1829 में अपराध एवं गैर-कानूनी घोषित कर दिया। श्रीमती फ्रांसिस के. मार्टिन ने **'बंगाल हरकारा'** नामक समाचार-पत्र में लिखा था, "महान् हिन्दू दार्शनिक राममोहन राय की विशेष सहायता के बिना शायद कभी भी अंग्रेज सरकार के लिए कानूनन सती-प्रथा रद्द करना सम्भव न होता, परन्तु उनकी यह देन किसी के द्वारा स्वीकृत नहीं की गयी है।" **सोफिया कालेट** के शब्दों में, "राममोहन राय ने हिन्दू धर्म ग्रन्थों के अपने गम्भीर ज्ञान के आधार पर यह प्रमाणित किया कि सती-प्रथा धर्मसंगत नहीं थी। इतना ही नहीं उन्होंने यह भी दिखाया कि स्वार्थी सम्बन्धीजन किसी धार्मिक प्रेरणा से नहीं, बल्कि विधवाओं के भरण-पोषण के खर्च से छुटकारा पाने के लिए इस प्रथा को जारी रखना चाहते थे।" इस प्रकार ब्रह्म समाज ने समाज-सुधार के क्षेत्र में अद्वितीय कार्य किया और कोई भी सामाजिक बुराई ऐसी नहीं थी जिसके विरुद्ध ब्रह्म समाज ने आवाज न उठायी हो।

साहित्य एवं शैक्षणिक सुधार

साहित्य एवं शिक्षा के क्षेत्र में भी ब्रह्म समाज ने उल्लेखनीय कार्य किया। अपने विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए ब्रह्म समाज द्वारा कई संस्थाओं की स्थापना की गयी जैसे **'तत्व-बोधिनी सभा', 'संगत सभा', 'भारतीय समाज-सुधार सभा'** आदि। राममोहन राय ने अनेक धार्मिक ग्रन्थों का विभिन्न भाषाओं में अनुवाद भी किया। उन्होंने बंगला, उर्दू, फारसी, अरबी, संस्कृत और अंग्रेजी भाषा में अनेक पुस्तकों की रचना कर भारतीय साहित्य को समृद्ध बनाया। राममोहन राय तथा केशवचन्द्र सेन के निबन्धों एवं वक्तव्यों ने भी साहित्य को समृद्ध बनाया। राजा राममोहन राय का 'अपील टू द क्रिश्चियन पब्लिक', केशवचन्द्र सेन के 'यंग बंगाल', 'दिस इज फार यू', 'एन अपील टू द ब्रिटिश नेशन', 'द डेस्टीनी ऑफ ह्यूमन लाइफ' आदि लेखों ने भारतीयों में नवजागरण का संचार किया। राममोहन राय ने 'संवाद कौमुदी' नामक साप्ताहिक पत्र का भी बंगला में प्रकाशन किया। उन्होंने फारसी में 'मिरातउल' अखबार भी निकाला। ब्रह्म समाज द्वारा 'तत्व कौमुदी', 'ब्रह्म पब्लिक ओपीनियन', 'संजीवनी', आदि पत्र भी प्रकाशित किये ये सभी साहित्य के विकास में सहायक तो हुए ही, साथ ही उन्होंने ब्रह्म समाज के विचारों के प्रचार-प्रसार में भी योग दिया।

भारत में जब यह विवाद चल रहा था कि शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी, संस्कृत और फारसी में से क्या हो तो राममोहन राय ने अंग्रेजी का पक्ष लिया। उनका मत था कि आधुनिक युग में प्रगति के लिए अंग्रेजी भाषा का ज्ञान आवश्यक है। उन्होंने पाश्चात्य शिक्षा का भी समर्थन किया और पाश्चात्य शिक्षा के ज्ञान की सभी शाखाओं का शिक्षण वे भारत में भी चाहते थे। इसी उद्देश्य से ब्रह्म समाज ने देश के विभिन्न भागों में स्कूल और कॉलेज खोले। राय ने 1817 में कलकत्ता में हिन्दू कॉलेज, 1822 में ऐंग्लो हिन्दू स्कूल तथा 1824 में वेदान्त कॉलेज की स्थापना की। केशवचन्द्र सेन ने 'ब्रह्म बालिका स्कूल' तथा 'सिटी कॉलेज ऑफ कलकत्ता' की नींव डाली। भारत के आधुनिकीकरण और समाज सुधार में इन शिक्षण संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका रही। हिन्दू कॉलेज ने तो भारतीय बौद्धिक जागरण में अग्रदूत का कार्य किया और 'युवा बंगला आन्दोलन' को जन्म दिया। राजा राममोहन राय का विश्वास था कि भारत के लिए शिक्षा विस्तार की सबसे अधिक आवश्यकता है और शिक्षा विस्तार का काम शुरू होना चाहिए। समाज के निम्न स्तर से, जैसे जब आग पर कोई चीज पकाई

जाती है तब बरतन के नीचे से ही आग जलाने की आवश्यकता होती है। राममोहन राय के शिक्षा सम्बन्धी विचार रचनात्मक थे। वे यह भांप चुके थे कि भारत में पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली के प्रचलन से ही जागरण और राष्ट्रीय एकता की भावना का प्रसार होगा। जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने यह निश्चय किया कि भारत में शिक्षा विस्तार के लिए स्वीकृत सम्पूर्ण राशि संस्कृत शिक्षा प्रतिष्ठानों पर ही खर्च होगी तो उन्हें यह बात उचित प्रतीत नहीं हुई और उन्होंने 1823 को गवर्नर जनरल लॉर्ड एम्हर्स्ट को एक पत्र में लिखा—"यदि ब्रिटिश व्यवस्था का उद्देश्य भारतीयों को सदा अज्ञान के अन्धकार में रखना हो तो फिर संस्कृत प्रणाली ही अच्छी है। परन्तु जब सरकार भारतीय जनता की प्रगति चाहती है तब आधुनिक एवं उदार शिक्षा प्रणाली द्वारा गणित, प्राकृतिक दर्शन, रसायनशास्त्र, शरीर-विज्ञान एवं अन्य उपयोगी वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा भी दी जानी चाहिए।"

निःसन्देह भारत का भावी इतिहास राममोहन राय की दूरदर्शिता को सिद्ध करता है। अंग्रेजी भाषा और पश्चिमी शिक्षा को उन्होंने भारत के लिए लाभदायक बताया। किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि संस्कृति और भारतीय भाषाओं के प्रति उनकी रुचि नहीं थी। उनकी रुचि प्राचीन भारतीय दर्शन और धर्म में भी थी। उन्होंने वेदों और उपनिषदों का बंगाली और अंग्रेजी में अनुवाद किया। पाश्चात्य शिक्षा पद्धति के पक्षपाती होने पर भी भारतीय संस्कृति और ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन के प्रति वे पूर्ण सजग थे। उनका विचार था कि देश की उन्नति के लिए विश्व से सम्बन्ध स्थापित करके कदम-से-कदम मिलाकर चलना पड़ेगा, अतः पाश्चात्य शिक्षा प्रणाली को अपनाना जरूरी है। राममोहन राय चाहते थे कि भारत में प्राथमिक शिक्षा निःशुल्क और अनिवार्य हो। वे नारी शिक्षा के भी जबर्दस्त समर्थक थे। 1830 में समुद्री मार्ग से राममोहन राय ने यूरोपीय देशों की यात्रा प्रारम्भ की और पश्चिमी समाजों को निकट से देखने का उन्हें अवसर मिला। दुर्भाग्य से 1833 में ब्रिटेन में ही उनका स्वर्गवास हो गया अतः यूरोप से लौटकर वे अपने विचारों को व्यक्त नहीं कर पाये।

राष्ट्रीय सुधार

राजा राममोहन राय और ब्रह्म समाज ने राष्ट्रीयता की भावना के विकास में भी योग दिया। उन्होंने भारतीयों को प्राचीन भारतीय गौरव, सभ्यता और संस्कृति का भान कराया जिसके फलस्वरूप लोगों में राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न हुई। राममोहन राय ने स्त्रियों को सम्पत्ति अधिकार दिलाने, भूमि कर में कमी करने हेतु और दमनकारी कृषि कानूनों के विरुद्ध आवाज उठाई। आपने समाचार पत्रों पर लगे प्रतिबन्धों का विरोध किया और सुप्रीम कोर्ट तथा किंग-इन-कौंसिल को प्रार्थना-पत्र भी भेजे। उन्होंने ही सर्वप्रथम 'स्वतन्त्रता का नारा' बुलन्द किया। उन्होंने यह मांग की कि सेना और शासन में भारतीयों को अधिक संख्या में भर्ती किया जाय। उन्होंने इंग्लैण्ड के हाउस ऑफ कामन्स की एक प्रवर समिति के सम्मुख भारतीय शासन के सुधार के भी सुझाव दिये। उन्होंने न्यास में जूरी प्रथा का समर्थन किया और न्यायपालिका को प्रशासन से अलग करने की मांग की। दीवानी एवं फौजदारी कानूनों का संग्रह कराने और न्यायालय में फारसी के स्थान पर अंग्रेजी भाषा का प्रयोग करने तथा किसानों की मालगुजारी निश्चित करने की मांग की। उनके प्रयासों से 1835 में समाचार-पत्रों पर लगे प्रतिबन्ध हटा लिये गये। राममोहन राय ने भारतीयों में राजनीतिक चेतना जागृत करने का पूरा-पूरा प्रयास किया। राजा राममोहन राय ने भारत की स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए

प्रत्येक व्यक्ति से आत्मानुशासित होने की बात कही। राष्ट्रीय स्वाधीनता के सन्दर्भ में राजा राममोहन की आकांक्षा और निष्ठा को इंगित करते हुए विपिनचन्द्र पाल ने लिखा है, "राजा राममोहन राय ही वह प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने भारत की स्वतन्त्रता का सन्देश प्रसारित किया। उन्होंने अनिश्चित काल के लिए भारत की पराधीनता की कभी कल्पना नहीं की थी।"

राजा राममोहन राय प्रेस एवं भाषण की स्वतन्त्रता के महान् समर्थक थे। उनका मत था कि वे समाचार-पत्र लोगों में शिक्षा और ज्ञान का प्रसार करेंगे जिससे कि जनमत तैयार किया जा सके और लोगों में समानता, स्वतन्त्रता, भाई-चारे की भावना एवं स्वाधीनता की बलवती इच्छा जागृत की जा सके।

राममोहन राय मानवता की प्रतिमूर्ति और विश्व-भ्रातृत्व के उपासक थे। बेन्थम ने उनको 'मानव जाति की सेवा में अपना घनिष्ठ तथा प्रिय सहयोगी' कहकर उनका अभिनन्दन किया। उनकी ईश्वर प्रार्थना में अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की झलक दिखाई देती है—"परमात्मा धर्म को ऐसा बना दे जो मनुष्य और मनुष्य के बीच भेदों और घृणा को नष्ट करने वाला हो और मानव जाति की एकता तथा शान्ति का प्रेरक हो। उनकी कामना थी कि मनुष्य को सहिष्णुता, सहानुभूति तथा बुद्धि पर आधारित समाज का निर्माण करने के लिए स्वतन्त्र छोड़ दिया जाय। उन्होंने एक ऐसे विश्व संगठन की कल्पना की थी जिसमें दो राष्ट्रों के मतभेदों को पंच फैसले से निपटाया जा सके।

वे अन्तर्राष्ट्रीयता के भी पुजारी थे, उन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण तरीकों से सुलझाने के लिए प्रत्येक देश से एक प्रतिनिधि लेकर अन्तर्राष्ट्रीय कांग्रेस बनाने का सुझाव दिया। इस प्रकार वे राष्ट्रीयता एवं अन्तर्राष्ट्रीयता दोनों के समर्थक थे। **एडम** ने उनके बारे में लिखा है, "स्वतन्त्रता की लगन उनकी अन्तरात्मा की सबसे जोरदार लगन थी और यह प्रबल भावना उनके धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि सभी कार्यों में फूट-फूटकर निकल पड़ी थी।" यही कारण है कि उन्हें **'नये युग का अग्रदूत'** कहा जाता है।

ब्रह्म समाज आन्दोलन की प्रगति
(PROGRESS OF BRAHMA SAMAJ MOVEMENT)

राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना सन् 1828 में की और 1833 में उनकी मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु के बाद ब्रह्म समाज आन्दोलन को देवेन्द्रनाथ एवं केशवचन्द्र सेन ने सम्भाला। यदि इन दोनों का सहयोग इस संस्था को न मिला होता तो सम्भवतः यह अधिक समय तक कार्य भी नहीं कर पाती।

महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर का परिवार बंगाल का एक सम्पन्न, सुसंस्कृत एवं प्रभावशाली परिवार था। वे स्वयं बड़े प्रतिभावान व्यक्ति थे। 1843 में उन्होंने ब्रह्म समाज का नेतृत्व सम्भाला और इस संगठन को नई दिशा दी। वे हिन्दू धर्म को रूढ़ियों एवं अन्ध-विश्वासों से मुक्त करना चाहते थे। वेद और उपनिषद् में उनकी श्रद्धा थी। उन्होंने धार्मिक चर्चा के लिए **'तत्व बोधिनी'** सभा की स्थापना की। 1842 में वे अपनी इस सभा के सभी सदस्यों सहित ब्रह्म समाज में सम्मिलित हुए। उनके प्रभाव से समाज के कई लोग ब्रह्म समाज में सम्मिलित हुए। उन्होंने भी भारतीयों को ईसाइयत के प्रभाव से बचाया। आगे चलकर ब्रह्म समाज में यह विवाद उत्पन्न हो गया कि वेद अन्तिम प्रमाण हैं या नहीं। अन्त में यही तय हुआ कि वेद भी अन्तिम प्रमाण नहीं हैं, उनके कथन भी वहीं तक मान्य हैं जहां तक वे अपनी सामान्य

बुद्धि से मेल खाते हैं। अब ब्रह्म समाजी किसी शास्त्र को धर्म का आधार न मानकर मानव हृदय में उपजे आत्मज्ञान में धर्म का आधार स्वीकार करने लगे। अब आध्यात्मिक ज्ञान पर बल दिया जाने लगा, अवतारवाद को अस्वीकार किया गया और उपनिषदों की पवित्रता को स्वीकार किया गया। देवेन्द्रनाथ ने दो जिल्दों में 'ब्रह्म धर्म' नामक पुस्तक लिखी जो उपनिषदों पर आधारित थी। देवेन्द्रनाथ का ब्रह्म समाज आदि ब्रह्म समाज के नाम से जाना जाता है। देवेन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाज को और अधिक शक्तिशाली बनाया और धर्म सुधार प्रक्रिया तेज की। इस समय ब्रह्म समाजी जीवन दर्शन को तर्क और विवेक पर आधारित करने का प्रयत्न किया गया। इस समय हिन्दू धर्म का दार्शनिक पक्ष उभर कर सामने आया।

केशवचन्द्र सेन—सन् 1857 में केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज के प्रचार-प्रसार के लिए **'सन्त-सभा'** की स्थापना की। देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने ही सेन को ब्रह्म समाज का प्रधानाचार्य बनाया। सेन ने कलकत्ता के हिन्दू कॉलेज में शिक्षा ग्रहण की थी। वे यूरोपीय धर्म, शिक्षा और संस्कृति से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने संस्कृत भाषा का अध्ययन नहीं किया और न ही वे प्राचीन हिन्दू धर्म ग्रन्थों में ही रुचि रखते थे। वे ब्रह्म समाज को ईसाई धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार चलाना चाहते थे, अतः देवेन्द्रनाथ टैगोर से उनका मतभेद हो गया और उन्होंने 1866 में **'भारतीय ब्रह्म समाज'** की स्थापना की। अब ब्रह्म समाज ईसाई धर्म की ओर झुकने लगा और ईसा मसीह ब्रह्म समाजियों के पथ-प्रदर्शक हो गये। अब बाईबिल एवं ईसाई धर्म ग्रन्थों का अध्ययन होने लगा। उनके आग्रह पर ब्रह्म समाज के सदस्यों ने यज्ञोपवीत तक उतार फेंके। वे हिन्दू धर्म के अनुष्ठानों एवं जाति प्रथा के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने ब्रह्म समाज के प्रार्थना-संग्रह में बौद्ध, यहूदी, हिन्दू, ईसाई, चीनी और इस्लाम सभी धर्मों की प्रार्थनाएं सम्मिलित कीं और वे झांझ तथा करतल लेकर सड़कों पर कीर्तन भी करते थे।

केशव एक क्रान्तिकारी समाज-सुधारक भी थे। उन्होंने जाति-प्रथा का खण्डन किया और अन्तर्जातीय विवाह, विधवा पुनर्विवाह एवं स्त्री-शिक्षा का समर्थन किया। आपने पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह एवं बहु विवाह जैसी बुराइयों का घोर विरोध किया। उनके आग्रह पर 1872 में 'सिविल मैरेज एक्ट' पास हुआ जिसके अनुसार अन्तर्जातीय विवाह मान्य हो गये। इस अधिनियम के अनुसार, वर एवं कन्या की उम्र क्रमशः 18 व 14 वर्ष तय कर दी गयी। 1870 में सेन ने भारतीय सुधार संघ की स्थापना की, जिसके प्रमुख उद्देश्य थे—स्त्री सुधार, मजदूर सुधार, सस्ता-साहित्य, मद्य-निषेध और दान। इन सुधारों को लोकप्रिय बनाने के लिए उन्होंने 'सुलभ समाचार' नामक साप्ताहिक पत्र प्रकाशित किया।

केशवचन्द्र सेन ने ब्रह्म समाज को नया मोड़ दिया और उनके प्रभाव से बंगाल के अनेक नगरों में उसकी शाखाएं स्थापित हुईं। नवयुवकों ने बंगाल के गांव-गांव में जाकर 'समाज' का प्रचार किया। 1878 में सेन ने अपनी 14 वर्ष से भी कम आयु की पुत्री का विवाह कूच बिहार के 16 वर्ष से कम उम्र के राजकुमार के साथ कर दिया। इस विवाह ने सेन के लिए संकट पैदा कर दिया। इस बाल विवाह के लिए केशवचन्द्र सेन की निन्दा की गयी और केशव के विरोधियों ने आनन्दमोहन बोस, विश्वनाथ शास्त्री तथा विजय कृष्ण गोस्वामी के नेतृत्व में अपना अलग **'साधारण ब्रह्म समाज'** स्थापित किया। सेन के साथ जो सभा रही, उसका नाम **'नव विधान सभा'** रखा गया। साधारण ब्रह्म समाज ने कलकत्ता में **'सिटी कॉलेज ऑफ कलकत्ता'** की स्थापना की। इसने पुस्तकालय, छापाखाने और समाचार

पत्र-पत्रिकाओं का प्रबन्ध भी किया। इस प्रकार बाद के समय में साधारण ब्रह्म समाज ने ही धर्म और समाज सुधार हेतु महत्वपूर्ण कार्य किया।

ब्रह्म समाज आन्दोलन अब प्रायः लुप्त हो गया है। यूरोपीय संस्कृति, ईसाई धर्म तथा बुद्धिवादी विचारधारा से यह बहुत प्रभावित था, किन्तु राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा से यह दूर था। यही कारण है कि यह व्यापक व लोकप्रिय न हो सका। इसका क्षेत्र बंगाल तक ही सीमित था। फिर भी ब्रह्म समाज भारत के धार्मिक-सांस्कृतिक आन्दोलन में से एक है। यूरोप के प्रगतिशील विचारों ने आरम्भ में ब्रह्म समाज के माध्यम से ही हिन्दू समाज में प्रवेश किया। यह आधुनिक भारत का प्रथम आन्दोलन था। इसने धार्मिक जीवन में बुद्धिवाद एवं व्यक्ति की आत्मा की स्वतन्त्रता की प्रतिष्ठा की। इसका समाज सुधार कार्यक्रम भी प्रगतिशील था। इसने राष्ट्रीय चेतना को जगाने में भी योग दिया। भारत में ईसाई धर्म का जो तीव्र गति से प्रसार हो रहा था, उसे रोकने में भी इसने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी।

ब्रह्म समाज एवं आर्य समाज की तुलना

ब्रह्म समाज और आर्य समाज दोनों का जन्म भारत में 19वीं सदी में अंग्रेजी शासन काल में हुआ। दोनों ने ही भारत में सामाजिक, धार्मिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों में सुधार लाने का प्रयत्न किया एवं इन क्षेत्रों में दोनों का योगदान अविस्मरणीय है। दोनों के उद्देश्यों में भी पर्याप्त समानता पायी जाती है। दोनों ने ही ईसाई धर्म का भारत में प्रचार करने वाली मिशनरियों का विरोध किया और उनके द्वारा हिन्दू धर्म की की जाने वाली आलोचना का डटकर मुकाबला ही नहीं किया गया वरन् करारा जवाब भी दिया गया। दोनों ने ही हिन्दुत्व एवं भारतीयता के जागरण के लिए प्रयास किये। दोनों संस्थाओं ने स्त्रियों की स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया, उनकी शिक्षा पर बल दिया तथा बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, दहेज, सती-प्रथा एवं बहुविवाह का विरोध किया एवं विधवा पुनःविवाह का समर्थन किया।

दोनों ने हिन्दुत्व का गुणगान किया एवं विदेशों में भी हिन्दू धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए अपनी-अपनी शाखाएं कायम कीं।

दोनों ने जाति प्रथा, जातिवाद एवं अस्पृश्यता का विरोध किया एवं अन्तर्जातीय विवाहों का समर्थन किया। दोनों ने पद-दलितों के उत्थान हेतु प्रयत्न किये।

धार्मिक क्षेत्र में दोनों संस्थाओं ने मूर्ति-पूजा, पाखण्ड, धार्मिक अन्ध-विश्वासों एवं कर्म-काण्डों का विरोध किया। दोनों ही निराकार विश्व में विश्वास करते हैं।

राजनीतिक क्षेत्र में भी दोनों का योगदान समान रूप से महत्वपूर्ण है। ब्रह्म समाज एवं आर्य समाज दोनों ने भारतीय स्वतन्त्रता का समर्थन किया और स्वदेशी एवं स्वराज का नारा बुलन्द किया। दोनों ने हिन्दी एवं संस्कृत भाषा को अपनाने पर बल दिया।

दोनों के प्रयासों से सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने के लिए भारत में अनेक सामाजिक विधान बने जैसे—बाल-विवाह निरोधक अधिनियम, सती-प्रथा निरोध अधिनियम, विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम, आदि।

उपर्युक्त समानताओं के बावजूद भी ब्रह्म समाज एवं आर्य समाज की रीति-नीतियों में अनेक अन्तर भी हैं। ये निम्नांकित हैं :

(1) ब्रह्म समाज की स्थापना की प्रेरणा यूरोप से मिली अर्थात् यूरोप में हुए धार्मिक एवं सामाजिक सुधारों से प्रेरणा ग्रहण करके ही राजा राममोहन राय ने भारत में भी समाज सुधार

हेतु ब्रह्म समाज की स्थापना की जबकि आर्य समाज की स्थापना की प्रेरणा भारतीय ही है। यही कारण है कि ब्रह्म समाज ने विदेशों की नकल पर आधारित परिवर्तन लाने पर बल दिया जबकि आर्य समाज ने भारतीयता को बनाए रखते हुए भारतीय समाज की बुराइयों को दूर करने का प्रयत्न किया। इस प्रकार से ब्रह्म समाज अपनी स्थापना में विदेशी प्रभावों से प्रभावित है जबकि आर्य समाज इसी देश की उपज होने से स्वदेशी है, उसकी स्थापना की प्रेरणा भारतीय परम्परा से मिली।

(2) यद्यपि ब्रह्म समाज एवं आर्य समाज दोनों ने ईसाई धर्म प्रचारकों का विरोध किया। हिन्दू धर्म के बारे में उनके द्वारा की गई आलोचना का करारा जवाब दिया, किन्तु ब्रह्म समाज की लड़ाई रक्षात्मक थी वह हिन्दुत्व का रक्षा कवच ही बना रहा जबकि आर्य समाज ने हिन्दू धर्म की रक्षा ही नहीं कि वरन् अन्य धर्मों के प्रति आक्रामक रुख भी अपनाया।

(3) ब्रह्म समाज ने धर्म निरपेक्षता पर बल दिया जबकि आर्य समाज ने कट्टर हिन्दुत्व का समर्थन किया।

(4) ब्रह्म समाज ने हिन्दू धर्म परिवर्तन करने वालों पर कोई रोक का प्रयत्न नहीं किया जबकि आर्य समाज ने रोक का प्रयत्न तो किया ही, साथ ही अपने शुद्धि आन्दोलन द्वारा उन लोगों को जो धर्म परिवर्तन कर मुसलमान या ईसाई बन गये थे पुनः हिन्दू बनाया। इस प्रकार से आर्य समाज हिन्दू पुनरुत्थान का प्रणेता कहा जा सकता है।

(5) आर्य समाज ने अवतारवाद का विरोध किया, ब्रह्म समाज ने ऐसा कुछ नहीं किया।

(6) आर्य समाज ने एकेश्वरवाद का समर्थन किया एवं बहुदेववाद का खण्डन किया, किन्तु ब्रह्म समाज ने ऐसा कुछ नहीं किया।

(7) आर्य समाज ने प्राचीन आर्य-वैदिक धर्म का समर्थन किया जबकि ब्रह्म समाज ने नहीं।

(8) ब्रह्म समाज पश्चिम और पूर्व के समन्वय में विश्वास करता है, वह दोनों के सेतु का काम करता है, जबकि आर्य समाज शुद्ध भारतीयता के पक्ष में है।

(9) ब्रह्म समाज ने भारत में आधुनिकीकरण की नींव रखी, वह पश्चिम के बुद्धिवाद एवं उदारवाद से प्रभावित था, किन्तु आर्य समाज आधुनिकीकरण के स्थान पर भारतीयता को ही अपनाने पर बल देता है। ब्रह्म समाज पश्चिम के ज्ञान, विज्ञान एवं तकनीकी को अपनाने का भी पक्षपाती था, किन्तु आर्य समाज ने इसका समर्थन नहीं किया।

(10) ब्रह्म समाज यज्ञोपवीत धारण करने का विरोध करता है, आर्य समाज नहीं।

(11) ब्रह्म समाज यज्ञों एवं अनुष्ठानों का विरोध करता है, आर्य समाज इनको सम्पन्न करने पर बल देता है।

(12) ब्रह्म समाज केवल बंगाल तक ही सीमित रहा जबकि आर्य समाज सम्पूर्ण भारत में और विशेष रूप से उत्तरी भारत में अधिक फला-फूला।

(13) श्री अरविन्द का मत है कि राजा राममोहन राय उपनिषदों पर ही ठहर गये थे जबकि दयानन्द ने उपनिषदों से आगे वेदों का अध्ययन किया। उन्होंने कहा, वेदों की ओर जाओ (Go to the Vedas)। उन्होंने वेदों को सर्वोपरि प्रमाण माना था। उन्होंने कहा था कि कोई भी ऐसा ज्ञान नहीं है जो वेदों में निहित न हो जबकि राममोहन राय ऐसा नहीं मानते थे।

इस प्रकार से ब्रह्म समाज और आर्य समाज दोनों में अनेक समानताएं होते हुए भी दोनों में पर्याप्त भिन्नता भी विद्यमान है।

आर्य समाज
(ARYA SAMAJ)

"मनुष्य मात्र के हित-कल्याण, सुख-समृद्धि और उन्नति के प्रयोजन से महर्षि दयानन्द सरस्वती ने जिस महत्वपूर्ण कार्य को प्रारम्भ किया था, उसे जारी रखने के लिए ही आर्य समाज की स्थापना की गयी थी।" —सत्यकेतु विद्यालंकार

उन्नीसवीं शताब्दी में भारत में हुए धर्म सुधार आन्दोलनों में आर्य समाज का प्रमुख स्थान है। इसका प्रमुख आधार वैदिक परम्परा थी। जहां ब्रह्म समाज की स्थापना की प्रेरणा यूरोप से आयी थी, वहीं आर्य समाज की स्थापना की प्रेरणा प्राचीन भारतीय परम्परा में निहित थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती आर्य समाज के संस्थापक थे। उन्होंने अप्रेल 1875 में आर्य समाज की स्थापना की। जब दयानन्द अवतीर्ण हुए, हिन्दू समाज की दशा बड़ी शोचनीय थी, हिन्दुत्व का असली रूप अनेक प्रकार की रूढ़ियों तथा अन्ध-विश्वासों से ढक गया था। इस्लाम और ईसाई दोनों मोर्चों से धर्म प्रचारक हिन्दुत्व पर आक्रमण कर रहे थे। ऐसे समय स्वामी दयानन्द सरस्वती ने देश को नेतृत्व प्रदान किया। उन्होंने पौराणिक रीतियों तथा कर्मकाण्डों का खण्डन कर हिन्दुओं का ध्यान धर्म के मूल स्वरूप की ओर आकर्षित किया। उन्होंने यह बताया कि सच्चा धर्म वैदिक धर्म है जिसके बल पर भारतवर्ष अब भी संसार में प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता है। आर्य समाज की विस्तार से चर्चा करने से पूर्व स्वामी दयानन्द सरस्वती के जीवनवृत्त का उल्लेख समीचीन होगा।

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन-वृत्त (1824-1883)

स्वामी दयानन्द सरस्वती का जन्म काठियावाड़ में मोरवी के एक कस्बे टंकारा में सन् 1824 में औदीच्य ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके जन्म के नाम मूलशंकर तथा दयाराम थे। पांच वर्ष की आयु में बालक मूलशंकर की शिक्षा प्रारम्भ हुई, उसे देवनागरी लिपि सिखायी गयी और श्लोक तथा मन्त्र कंठस्थ कराये गये। आठ वर्ष की आयु में मूलशंकर का उपनयन संस्कार हुआ। उनके पिता कर्सनजी लालजी त्रिवेदी शैव मत के मानने वाले थे। वे अपने इलाके के प्रतिष्ठित जमींदार थे। उनकी इच्छा थी कि उनका पुत्र भी पूजा-पाठ व धार्मिक अनुष्ठानों में प्रवीण हो जाय। शैव धर्म में शिवरात्रि के व्रत का बहुत महत्व है। इस दिन उपवास किया और रात भर जागरण किया जाता है और शिव की पूजा की जाती है। चौदह वर्ष की आयु में बालक मूलशंकर ने शिवरात्रि का व्रत किया और शिव मन्दिर जाकर रात्रि जागरण किया। रात्रि में मूलशंकर शिवजी के दर्शन के लिए जागते रहे तो देखा कि कुछ चूहे बिलों से आकर शिव मूर्ति के इर्द-गिर्द तथा ऊपर-नीचे घूम रहे हैं और उस भोग को खा रहे हैं जो शिवजी को चढ़ाया गया था। इस घटना से मूलशंकर का मूर्ति पूजा से विश्वास उठ गया और वे आगे चलकर इसके घोर विरोधी हो गये।

मूलशंकर के जीवन में दो ऐसी घटनाएं हुईं जिन्होंने उनमें आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। वे घटनाएं हैं—अपनी बहिन की एवं चाचा की मृत्यु। इससे उनके मन में वैराग्य सम्बन्धी विचार उत्पन्न हुए और सच्चे शिव को खोजने की इच्छा एवं दुःख सन्तप्त मानव जाति के दुखों के निराकरण के उपायों को ढूंढने की आकांक्षा प्रबल होती गयी। तरुण

अवस्था में मूलशंकर में वैराग्य भाव देखकर उनके माता-पिता उनका विवाह करा देना चाहते थे। इस बन्धन से बचने के लिए सन् 1846 में वे चुपचाप गृह त्यागकर चले गये। अगले चौदह वर्षों में वे मोक्ष के साधनों की खोज तथा सच्चे शिव की तलाश में इधर-उधर भटकते रहे। ज्ञान की खोज में वे जंगलों, कंदराओं एवं अनेक साधुओं के आश्रमों में भटकते रहे। आपने एक लम्बे समय तक मौन व्रत धारण किया और केवल संस्कृत भाषा का ही प्रयोग किया तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन किया। 1860 में मथुरा में उन्हें दण्डी स्वामी श्री विरजानन्दजी का शिष्यत्व प्राप्त हुआ जो नेत्रहीन एवं परम विद्वान संन्यासी थे। विरजानन्दजी से ही उन्होंने तीन वर्ष तक व्याकरण एवं वेदों का ज्ञान प्राप्त किया। विरजानन्दजी प्राचीन विद्याओं के ज्ञाता थे, वे मनीषी शिक्षक और स्वतन्त्र चिन्तक थे। वे मूर्ति-पूजा, कुसंस्कार और बहुदेववाद के विरोधी थे। उन्होंने दयानन्द जी को वेदों की दार्शनिक व्याख्या सिखायी और उनसे कहा कि तुम हिन्दू धर्म को गन्दे क्षेपकों और विकृतियों से शुद्ध करो। गुरु से विदा होकर उन्होंने घूम-घूम कर हिन्दू धर्म, सभ्यता और भाषा का प्रचार-प्रसार किया तथा हिन्दू धर्म में फैले हुए अन्धविश्वासों एवं पाखण्डों के विरुद्ध आन्दोलन चलाया। सन् 1864 में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सार्वजनिक रूप से उपदेश देना प्रारम्भ किया था जो 1883 में उनकी मृत्यु के साथ समाप्त हुआ। इस अवधि में उन्होंने अथक् प्रयास किये, लोगों से वाद-विवाद किये, अपने विचारों का प्रचार किया तथा आर्य समाज की स्थापना की। उन्होंने तत्कालीन हिन्दू समाज की दयनीय दशा को देखा। उन्होंने देखा कि देश में चारों ओर नैतिक कायरता, बौद्धिक पतन और सामाजिक अधोगति की स्थिति बनी हुई है। हिन्दुओं की दुर्दशा ने उनके विचारों को क्रान्ति दी और वे हिन्दू समाज को सुधारने, विदेशी तत्वों के आक्रमण से उसे बचाने और हिन्दू सामाजिक संगठन के विविध अंगों के बीच सामंजस्य स्थापित करने के मार्ग पर दृढ़ता से चल पड़े। उन्हें इस बात से गहरा आघात लगा कि अंग्रेजी शिक्षा और ईसाई मिशनरियों के प्रयत्नों से ही बड़ी संख्या में हिन्दू या तो नास्तिक होते जा रहे हैं या ईसाई बनते जा रहे हैं। अतः हिन्दुओं को पुनर्संगठित करने, हिन्दू धर्म की रक्षा करने, धर्म परिवर्तन कर अहिन्दू बने लोगों को पुनः हिन्दू बनाने तथा हिन्दू समाज में एकता उत्पन्न करने के पुनीत कार्य में उन्होंने अपने को जीवनपर्यन्त लगाये रखा।

स्वामी दयानन्द प्रखर बुद्धि, संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड विद्वान एवं प्रभावशाली वक्ता थे। वे विरोधियों को हाजिर जवाबी और सूक्ष्म तर्कों के द्वारा परास्त कर देते थे। उन्होंने अपने भाषणों और विचारों से तत्कालीन जनता, राजा-महाराजाओं और विद्वानों को बहुत प्रभावित किया। उदयपुर के महाराणा उनके शिष्य बन गये और जोधपुर महाराज जसवन्त सिंह जी ने उनसे मनुस्मृति की शिक्षा ग्रहण की थी। स्वामी जी ने सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार किया, वैदिक धर्म को प्रतिष्ठित किया और उसे सार्वदेशिक बताया। हिन्दी भाषा के माध्यम से उन्होंने देश में नवजागरण का शंखनाद किया। उनके निर्भीक और त्यागी जीवन से प्रेरणा पाकर देश के हजारों स्त्री-पुरुषों ने आजादी की लड़ाई में भाग लिया। उनकी प्रेरणा से ही लोगों ने स्वाभिमान एवं आत्मगौरव की रक्षा के लिए प्राणों की आहुति देकर भी स्वतन्त्रता का मोल चुकाया। एक समय ऐसा भी था जब आर्य समाज और कांग्रेस एक-दूसरे के पूरक समझे जाते थे। भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में स्वामी दयानन्द जी की यह एक अमूल्य देन थी।

1857 की क्रान्ति की असफलता का एक प्रमुख कारण देशी रियासतों का तटस्थ रहना था। अतः स्वामी जी ने देशी रजवाड़ों को अपना प्रमुख कार्य क्षेत्र बनाया और उसी प्रयास में जोधपुर रियासत में उनके विरुद्ध एक षड्यन्त्र की रचना की गयी तथा उन्हें भोजन में जहर दे दिया गया। 30 अक्टूबर, 1883 को दीपमालिका के दिन राजस्थान में अजमेर शहर में उन्होंने 'प्रभु तेरी इच्छा पूर्ण हो' वाक्य के साथ अपनी जीवन-लीला समाप्त की। उनसे प्रेरणा लेने वाले अनेक देशभक्त लोगों को उनके देहावसान पर हार्दिक वेदना हुई। सर सैयद अहमद खां ने उनकी मृत्यु पर संवेदना व्यक्त करते हुए कहा, "मैंने दुनिया के कई मुल्कों का दौरा किया और अपनी जिन्दगी में हिन्दुस्तान और यूरोप में मुझे बहुत से आलिम और मुदुब्बिर लोगों से मिलने का मौका मिला, लेकिन मैंने महर्षि दयानन्द जैसी आलिम हस्ती अपनी ज़िन्दगी में नहीं देखी। उनकी मृत्यु से विद्या के सूर्य का अन्त हो गया।" उन्होंने कई पुस्तकों की रचना की जिसमें **सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, यजुर्वेद भाष्य, ऋग्वेद भाष्य, वेदांग प्रकाश, आदि प्रमुख हैं।**

आर्य समाज की स्थापना

हिन्दू धर्म में व्याप्त बुराइयों को समाप्त करने एवं वैदिक धर्म तथा संस्कृति का पुनरुद्धार करने के उद्देश्य से अप्रेल 1875 में बम्बई में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आर्य समाज नामक संस्था की स्थापना की। प्रारम्भ में, आर्य समाज ने केवल तीन सिद्धान्त रखे :

(1) आर्य समाज केवल वेदों को ही स्वतन्त्र और अन्तिम शब्द स्वीकार करेगा।
(2) समाज का प्रत्येक सदस्य अपनी आय का 1/100वां भाग आर्य समाज, आर्य विद्यालय और 'आर्य प्रकाश' समाचार पत्र को देगा।
(3) आर्य समाज के विद्यालयों में नवयुवक और नव-युवतियों को सत्य और उचित शिक्षा प्रदान करने के लिए वेदों के आधार पर ही शिक्षा दी जायगी।

सन् 1877 में इन तीनों सिद्धान्तों के स्थान पर आर्य समाज के निम्नांकित सिद्धान्त स्वीकृत किये गये :

(1) वेद ही सत्य ज्ञान के स्रोत हैं, अतः वेदों का अध्ययन आवश्यक है।
(2) वेदों के आधार पर मन्त्र, पाठ और हवन करना।
(3) मूर्ति पूजा का खण्डन।
(4) तीर्थ-यात्रा और अवतारवाद का विरोध।
(5) कर्म और पुनर्जन्म अथवा जीवन के आवागमन के सिद्धान्त में विश्वास।
(6) एक ईश्वर में विश्वास, जो निराकार है।
(7) स्त्री-शिक्षा में विश्वास।
(8) बाल-विवाह और बहु-विवाह का विरोध।
(9) हिन्दी और संस्कृत भाषा के प्रसार का प्रयत्न।

उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर आर्य समाज ने हिन्दू धर्म एवं समाज में सुधार लाने के लिए प्रयत्न किये। आर्य समाज की सफलता का एक कारण उसकी धार्मिक कट्टरता थी। आर्य समाज ने वेदों को ही सत्य ज्ञान का एकमात्र आधार माना। इनके कारण आर्य समाज हिन्दू धर्म का कट्टर समर्थक बना और **'सैनिक हिन्दुत्व (Militant Hinduism)** कहलाया। आर्य समाज ने भारत में धार्मिक, सामाजिक, शैक्षणिक और राजनीतिक क्षेत्र में जो कार्य

किया, उसकी तुलना किसी धार्मिक एवं सामाजिक सुधार आन्दोलन से नहीं की जा सकती। आर्य समाज का कार्य 19वीं सदी के सभी सामाजिक और धार्मिक आन्दोलनों की तुलना में अधिक सफल और स्थायी रहा। आज भी भारत के विभिन्न गांवों और नगरों में आर्य समाज और उसकी शिक्षण संस्थाएं मौजूद हैं।

भारतीय पुनर्जागरण में आर्य समाज का योगदान

आधुनिक भारत के धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक पुनर्जागरण में आर्य समाज के योगदान को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं :

धार्मिक क्षेत्र में योगदान

धार्मिक क्षेत्र में स्वामी दयानन्द सरस्वती एवं आर्य समाज ने **मूर्ति-पूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, कर्मकाण्ड, बलि-प्रथा, स्वर्ग और नरक की कल्पना, तीर्थ-यात्रा, श्राद्ध, व्रत, अनुष्ठान आदि का विरोध किया।** मूर्ति-पूजा को उन्होंने वेदों के विपरीत और धर्म-विरुद्ध बताया। उन्होंने मूर्ति-पूजा के समर्थकों को शास्त्रार्थ में पराजित किया और बहुत-से मूर्ति-पूजक विद्वान तो मूर्तियों को गंगा में प्रवाहित करके दयानन्द के शिष्य बन गये। उन्होंने निर्गुण एवं निराकार ईश्वर की आराधना पर बल दिया। एकेश्वरवाद उनका मुख्य सिद्धान्त था। उन्होंने प्रतिदिन वेद में निर्दिष्ट यज्ञ तथा सन्ध्या करना प्रत्येक आर्य के लिए आवश्यक बताया। स्वामी जी ने पौराणिक अन्धविश्वासों तथा रूढ़ियों की काई को हटाकर हिन्दुत्व का वैदिक रूप प्रस्तुत किया, जिसका ईसाई धर्म-प्रचारक व मुस्लिम मौलवी उपहास नहीं कर सकते थे। आर्य समाज ने हिन्दू धर्म को सरल बनाया और उसकी श्रेष्ठता में विश्वास उत्पन्न किया। **श्री अरविन्द** के अनुसार, राजा राममोहन राय उपनिषदों पर ही ठहर गये थे, किन्तु दयानन्द ने उपनिषदों से भी आगे देखा और यह जाना कि हमारी संस्कृति का मूल वेद ही है। वैदिक धर्म तथा संस्कृति का पुनरुद्धार उनके जीवन का लक्ष्य बन गया। उन्होंने हिन्दुओं को वेदों की ओर मुड़ने का आह्वान किया (Go to the Vedas)। उनका मत था कि वेद ही सर्वोपरि प्रमाण है। उन्होंने वेदों की अपने ही ढंग से व्याख्या कीं और यजुर्वेद तथा ऋग्वेद के बहुत-से भाग पर भाष्य लिखा। वेदों को ही उन्होंने अनेक वैज्ञानिक सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्तों का स्रोत माना। उन्होंने कहा कि कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है जिसे हम वेदों से प्राप्त नहीं कर सकते। हिन्दू अपने सत्य ज्ञान को भूल गये हैं और यदि वे वेदों का अध्ययन करेंगे तो उन्हें सम्पूर्ण विश्व का ज्ञान प्राप्त हो जायेगा। हिन्दू धर्म और वेदों की श्रेष्ठता के आधार को लेकर आर्य समाज ने हिन्दू धर्म को इस्लाम और ईसाई धर्म के आक्रमणों से बचाने में सफलता प्राप्त की।

19वीं सदी के हिन्दू-नवोत्थान के इतिहास का प्रत्येक पृष्ठ यह बताता है कि जब यूरोप वाले भारत में आये, तब यहां के धर्म और संस्कृति पर गन्दगी की पर्तें जमी हुई थीं एवं यूरोप के मुकाबले में उठने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि ये पर्तें एकदम उखाड़ फेंकी जायें और हिन्दुत्व का वह रूप प्रकट किया जाय जो निर्मल और बुद्धिगम्य हो। स्वामी जी के मत से यह हिन्दुत्व वैदिक हिन्दुत्व ही हो सकता था, किन्तु यह हिन्दुत्व पौराणिक कल्पनाओं के नीचे दबा हुआ था, उस पर अनेक स्मृतियों की धूल जम गयी थी एवं वेद के बाद के सहस्रों वर्षों में हिन्दुओं ने जो रूढ़ियां और अन्धविश्वास अपना लिए थे, उनके नीचे यह धर्म दबा पड़ा था। दयानन्द क्रान्ति के समान तेज वेग से आये और उन्होंने यह घोषणा

की कि हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में केवल वेद ही मान्य है। अन्य शास्त्रों और पुराणों की बातें बुद्धि की कसौटी पर कसे बिना मानी नहीं जानी चाहिए। छः शास्त्रों और अठारह पुराणों को उन्होंने एक ही झटके में साफ कर दिया। वेदों में मूर्ति-पूजा, अवतारवाद, तीर्थों और अनेक पौराणिक अनुष्ठानों का समर्थन नहीं था, अतः स्वामी जी ने इन सारे कृत्यों और विश्वासों को गलत घोषित किया।

आर्य समाज ने इस्लाम और ईसाइयत से केवल रक्षात्मक लड़ाई ही नहीं लड़ी, वरन् उन धर्मों की कमजोरियों पर आक्रमण भी किया। स्वामीजी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ **'सत्यार्थ प्रकाश'** है। सत्यार्थ प्रकाश के 13वें समुल्लास में ईसाई धर्म और 24वें समुल्लास में इस्लाम के अन्धविश्वासों का खण्डन किया जिसके परिणामस्वरूप इस्लाम और ईसाइयत की श्रेष्ठता की जो भावना बल पकड़ रही थी, वह लुप्त हुई। नवयुवक आर्यसमाजी विदेशियों के प्रति तीव्र घृणा रखते थे। राममोहन ने हिन्दुत्व के पहले मोर्चे पर लड़ाई लड़ी थी जो रक्षा या बचाव का मोर्चा था। स्वामी दयानन्द ने आक्रामकता का थोड़ा-बहुत श्रीगणेश किया क्योंकि वास्तविक रक्षा का उपाय तो आक्रमण की ही नीति है। अब तक हिन्दुत्व की आलोचना करने वाले लोग निश्चिन्त थे कि हिन्दू अपना सुधार चाहे करता हो, किन्तु बदले में हमारी निन्दा करने का उसमें साहस नहीं है, किन्तु, इस मेधावी एवं योद्धा संन्यासी ने उनकी आशा पर पानी फेर दिया। यही नहीं, वे और आगे बढ़े तथा उन्होंने घोषणा कर दी कि धर्मच्युत हिन्दू पुनः हिन्दू धर्म में आ सकता है और अहिन्दू भी यदि चाहें तो हिन्दू धर्म में प्रवेश पा सकते हैं। यह केवल सुधार की वाणी नहीं थी, अपितु यह जागृत हिन्दुत्व का समर-नाद था।

संस्कृति के क्षेत्र में भारत का आत्माभिमान स्वामी दयानन्द में निखरा। ब्रह्म समाज और प्रार्थना समाज के नेता अपने धर्म और समाज में सुधार तो ला रहे थे, किन्तु उन्हें बराबर यह कष्ट सता रहा था कि हम जो कुछ कर रहे हैं, वह विदेश की नकल है। अपनी हीनता और विदेशियों की श्रेष्ठता के ज्ञान से उनकी आत्मा कहीं-न-कहीं दबी हुई थी। आत्महीनता के भाव से अवगत रहने के कारण वे गर्व से नहीं बोल सके। यह गर्व दयानन्द में चमका। उन्होंने रूढ़िवादिता के लिए भारतीयों की कड़ी निन्दा की और उनसे कहा कि तुम्हारा धर्म पौराणिक संस्कारों की धूल में छिप गया है। इन संस्कारों की गन्दी पर्तों को तोड़ फेंको, तुम्हारा सच्चा धर्म वैदिक धर्म है जिस पर आरूढ़ होने से तुम फिर विश्व-विजयी हो सकते हो। जब दयानन्द ने हिन्दुओं का ध्यान अपने धर्म के मूल रूप की ओर आकृष्ट किया तो वे अपनी प्राचीन परम्परा के लिए गर्व अनुभव करने लगे।

दयानन्दजी ने बुद्धिवाद की जो मशाल जलायी थी, उसका कोई जवाब नहीं था। वे जो कुछ कह रहे थे, उसका उत्तर न तो मुसलमान दे सकते थें और न ईसाई और न पुराणों पर पलने वाले हिन्दू पण्डित और विद्वान। यह बिल्कुल सही बात है कि शंकराचार्य के बाद से भारत में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जो स्वामीजी से बड़ा संस्कृतज्ञ, उनसे बड़ा दार्शनिक, उनसे अधिक तेजस्वी वक्ता तथा कुरीतियों पर टूट पड़ने में उनसे अधिक निर्भीक रहा हो। **थियोसोफिस्ट अखबार** ने उनकी प्रशंसा करते हुए लिखा था कि, "उन्होंने जर्जर हिन्दुत्व के गतिहीन दूह पर भारी बम का प्रहार किया और अपने भाषणों से लोगों के हृदयों में ऋषियों और वेदों के लिए अपरिमित उत्साह की आग जला दी। सारे भारतवर्ष में उनके समान हिन्दी और संस्कृत का वक्ता दूसरा कोई और नहीं था।"

पौराणिक धर्म का खण्डन करने एवं मूर्ति-पूजा और बहुदेववाद की आलोचना के सन्दर्भ में उन्होंने कई शास्त्रार्थ भी किये। काशी में उन्होंने वहां के महाराज की उपस्थिति में 500 पण्डितों से शास्त्रार्थ किया और इससे सारे देश में उनकी धाक जम गयी। दयानन्द सरस्वती ने धार्मिक दर्शन के क्षेत्र में त्रैतवाद का प्रतिपादन किया। त्रैतवाद में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन तत्वों या सत्ताओं के अस्तित्व को स्वीकार किया जाता है। ये तीनों एक-दूसरे से पृथक् अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हैं। ईश्वर सृष्टिकर्ता है, वह प्रकृति से सृष्टि का निर्माण करता है। जीव या जीवात्मा भी ईश्वर के समान ही अनादि है। वह शरीर से भिन्न है। शरीर जड़ है, आत्मा शरीर का स्वामी है जो शरीर में रहता हुआ मन एवं बुद्धि द्वारा उसे क्रियाशील रखता है।

दयानन्द जी ने **एकेश्वरवाद** के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। उन्होंने कहा कि सर्वोच्च शक्ति केवल एक ईश्वर है, जिसका सर्वश्रेष्ठ नाम है। इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, वायु,आदि जो बहुत-से नाम वेदों में आते हैं और जिन्हें विभिन्न देवताओं के नाम समझा जाता है, वे सब एक ईश्वर के ही विभिन्न नाम हैं। विश्व में बहुत-से देवी-देवताओं की सत्ता है, यह मत वेदानुकूल नहीं है। सृष्टि का कर्ता, पालक और संहर्ता एक ईश्वर है और विश्व की यह सर्वोपरि शक्ति प्रकृति के विविध रूपों में अपने को अभिव्यक्त करती है। महर्षि दयानन्द के अनुसार ईश्वर निराकार है, उसकी कोई आकृति नहीं होती, अतः उसकी कोई मूर्ति बनायी ही नहीं जा सकती। अतः मन्दिरों में मूर्तियों को प्रतिष्ठापित कर उनकी पूजा करना सर्वथा अनुचित है। ईश्वर के स्वरूप का आर्य समाज के द्वितीय नियम में उल्लेख इस प्रकार से किया गया है, "ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप, निराकार, सर्वशक्तिमान, न्यायकारी, दयालु, अजन्मा, अनन्त, निर्विकार, अनादि, अनुपम, सर्वाधार, सर्वेश्वर, सर्वव्यापक, सर्वान्तर्यामी, अजर, अमर, अभय, नित्य, पवित्र और सृष्टिकर्ता है।" दयानन्द ने जिस ढंग से एकेश्वरवाद का प्रतिपादन किया, वह 19वीं सदी के हिन्दुओं के लिए एक नयी बात थी। उस समय विभिन्न अवतारों की मूर्तियों की पूजा की जाती थी।

ईश्वर की सर्वोच्च शक्ति परमेश्वर की पूजा के लिए दयानन्द जी ने स्तुति, प्रार्थना और उपासना का विधान किया। **मूर्ति-पूजा के वे प्रबल विरोधी थे।** जो लोग यह कहते हैं कि निराकार होने के कारण परमेश्वर का ध्यान करना कठिन है, अतः किसी मूर्ति को उसका संकेत व सूचक मानकर ही उसकी पूजा की जा सकती है। इसका उत्तर देते हुए महर्षि दयानन्द ने कहा, शब्द का, आकाश का और जीव का भी कोई आकार नहीं है फिर भी हम इनका ध्यान कैसे करते हैं? क्या ईश्वर द्वारा बनायी पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति आदि अनके पदार्थों को देखकर परमेश्वर का स्मरण नहीं किया जा सकता? दयानन्दजी ने अवतारवाद का भी विरोध किया। उन्होंने कहा, ईश्वर को अवतार ग्रहण करने की कोई आवश्यकता नहीं, वह बिना शरीर धारण किये ही जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करता है, फिर यदि वह अवतार ग्रहण करेगा तो सर्वव्यापक व अनन्त ईश्वर स्त्री के गर्भ में कैसे समा सकता है?

महर्षि दयानन्द ने ईश्वर के समान जीव को भी अनादि तथा नित्य माना है। शरीर के अन्त के साथ जीव का विनाश नहीं हो जाता। शीत-उष्ण और सुख-दुःख के अनुभव जीव को होते हैं। जीव कर्म में स्वतन्त्र है और अपने अच्छे-बुरे कर्मों के अनुसार फल प्राप्त करता

है। यदि जीव परमात्मा की प्रेरणा से या अधीनता में कार्य करे, तो उसे पाप व पुण्य न लगे। जीव को इस जन्म में तथा अगले जन्म में कर्मफल की प्राप्ति होती है। महर्षि ने सत्यार्थ प्रकाश में लिखा है, "पूर्व जन्म के पाप-पुण्य के अनुसार वर्तमान जन्म और वर्तमान तथा पूर्वजन्म के कर्मानुसार भविष्यत् जन्म होते हैं।" मृत्यु में जीव अपने वर्तमान शरीर का परित्याग कर अपने कर्मों के अनुसार अन्य शरीर प्राप्त कर लेता है। अपने कर्मों के अनुसार ही जीव मनुष्य अथवा अन्य जीव योनियों में जन्म लेता है।

पौराणिक लोग यह मानते हैं कि मृत्यु के पश्चात् पितरों का तर्पण तथा श्राद्ध किया जाना चाहिए। इसके लिए कर्मकाण्ड किये जाते हैं, ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता एवं दान-दक्षिणा दी जाती है। इन सभी का फल पितरों को मिलता है। स्वामी जी का मत है कि तर्पण एवं श्राद्ध आदि कर्म जीते हुए जो प्रत्यक्ष हैं, उन्हीं में घटता है, मरे हुओं में नहीं। अतः जीवितों की सेवा करना ही तर्पण और श्राद्ध है।

स्वामी जी ने वेदों को निर्भ्रान्त और स्वतः प्रमाण माना। इनको प्रमाण मानने में अन्य ग्रन्थों की उपेक्षा नहीं है। वेदों को स्वतः प्रमाण मानने वाले छः दर्शन हैं—सांख्य, योग, न्यायं, वैशेषिक, पूर्व मीमांसा और वेदान्त या उत्तर मीमांसा। इन्हें षड्दर्शन कहते हैं। चिरकाल से यह माना जाता रहा है कि इन दर्शनों के सिद्धान्तों में परस्पर विरोध है, किन्तु स्वामी जी ने इस मत का खण्डन किया और कहा कि उनमें कोई विरोध नहीं है, उन्होंने इसका समन्वयात्मक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया।

सामाजिक क्षेत्र में योगदान

सामाजिक क्षेत्र में आर्य समाज की देन बहुमूल्य रही है। आर्य समाज ने बाल-विवाह, बहु-विवाह, पर्दा-प्रथा, सती-प्रथा, जाति-प्रथा आदि का विरोध किया। स्त्री-शिक्षा, अछूतोद्धार और जाति-समानता का निरन्तर प्रयत्न किया। अन्तर्जातीय विवाह, खान-पान तथा पारस्परिक सम्पर्क आर्य समाज के जीवन की दिनचर्या बन गये। आर्य समाज ने कन्या-वध एवं कन्या और वर विक्रय का घोर विरोध किया। आर्य समाज ने हिन्दुत्व में व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध बिगुल बजाया। मृतकों के श्राद्ध एवं तर्पण का विरोध किया। देव ऋषि और पितरों को सुखयुक्त करना तर्पण है तथा लोगों की श्रद्धायुक्त सेवा करना श्राद्ध है। तर्पण और श्राद्ध जीवित और प्रत्यक्ष लोगों पर ही घटता है, मरे हुओं पर नहीं। वेदों में केवल विद्यमानों की श्रद्धापूर्वक सेवा करने को ही 'तर्पण' और 'श्राद्ध' कहा गया है।

आर्य समाज ने हिन्दुत्व की रक्षा का महत्वपूर्ण बीड़ा उठाया। उनके द्वारा चलाया गया शुद्धि आन्दोलन हिन्दू धर्म का रक्षा कवच बन गया। भारतीय इतिहास में दयानन्द जी ने पहली बार यह घोषणा की कि ईसाई और मुसलमान भी वैदिक धर्म में प्रवेश कर सकते हैं। हिन्दू धर्म की बुराइयों के कारण तथा इस्लाम और ईसाई धर्म के प्रचार के कारण उस समय कई हिन्दु मुसलमान और ईसाई बन गये थे। स्वामी जी ने शुद्धि-आन्दोलन प्रारम्भ किया और जो लोग हिन्दू से मुसलमान और ईसाई बन गये थे, उनका शुद्धिकरण करके पुनः उन्हें हिन्दू बनाया। अपने इस कार्य का समर्थन आर्य समाज ने वेद और ऐतिहासिक आधार पर किया। सन् 1921 में मालाबार में मोपला विद्रोह हुआ। मोपला मुसलमानों ने कई हिन्दुओं की हत्या कर दी और 3,000 हिन्दुओं को मुसलमान बना दिया, किन्तु लाला हंसराज के नेतृत्व में शुद्धि द्वारा इन लोगों को पुनः हिन्दू बनाया गया। प्रसिद्ध आर्य समाजी स्वामी श्रद्धानन्द जी

ने शुद्धि द्वारा लगभग 30,000 मल्कान राजपूतों को जो कि मुसलमान बन गये थे, पुनः हिन्दू बनाया। इसी प्रकार के शुद्धि आन्दोलन देश के कई भागों में आर्य समाज ने चलाये। लाला लाजपतराय ने लिखा है, "आर्य समाज कई अर्थों में हिन्दुत्व का नेता है। इसके सदस्यों को हिन्दुत्व पर बड़ा गर्व है। हिन्दू समाज की रक्षा के लिए इन्हें सभी कुछ करने का न तो कभी असमंजस रहा और न रहेगा।" कविवर दिनकर ने आर्य समाज को **'जागृत हिन्दुत्व का समरनाद'** कहा है। उनका मत है कि 'रणारूढ़ हिन्दुत्व के निर्भीक नेता जैसे स्वामी दयानन्द हुए, वैसा कोई नहीं हुआ।' आर्य समाज ने हिन्दू समाज में संगठन का बीजारोपण किया जिससे हिन्दू समाज में आत्मविश्वास एवं आत्मसम्मान की भावना जागृत हुई।

ईसाइयत और इस्लाम के आक्रमणों से हिन्दुत्व की रक्षा करने में जितनी मुसीबतें आर्य समाज ने झेली हैं, उतनी किसी और संस्था ने नहीं। सच में उत्तर भारत में हिन्दुओं को जगाकर उन्हें प्रगतिशील बनाने का सारा श्रेय आर्य समाज को ही है। पण्डित चमूपति को उद्धृत करते हुए कविवर दिनकर ने लिखा है, "आर्य समाज के जन्म के समय हिन्दू कोरा फुसफुसिया जीव था। उसके मेरुदण्ड की हड्डी थी ही नहीं। चाहे उसे कोई गाली दे, उसकी हंसी उड़ाये, उसके देवताओं की भर्त्सना करे या उस धर्म पर कीचड़ उछाले जिसे वह सदियों से मानता चला आ रहा है, फिर भी इन सारे अपमानों के सामने वह दांत निपोर कर रह जाता था। लोगों को यह उचित शंका हो सकती थी कि वह आदमी भी है या नहीं, इसे आवेश भी चढ़ता है या नहीं अथवा यह गुस्से में आकर प्रतिपक्षी की ओर घूम भी सकता है या नहीं, किन्तु आर्य समाज के उदय के बाद अविचल उदासीनता की यह मनोवृत्ति विदा हो गयी। हिन्दुओं का धर्म एक बार फिर जगमगा उठा। आज का हिन्दू अपने धर्म की निन्दा सुनकर चुप नहीं रह सकता, जरूरत हुई तो धर्म रक्षार्थ वह अपने प्राण भी दे सकता है।"

स्वामी दयानन्द ने वेदों के आधार पर **वर्णाश्रम धर्म** का समर्थन किया, किन्तु जाति-प्रथा और छुआछूत की उन्होंने आलोचना की। उन्होंने कहा कि जाति व्यवस्था का तात्कालिक रूप उस वर्ण-व्यवस्था के एकदम विपरीत था जिस पर वैदिक समाज आधारित था। जन्म को जाति की कसौटी मानने के भयंकर दुष्परिणाम हुए थे। इसलिए दयानन्द जी इस पक्ष में थे कि मनुष्य का वर्ण उसकी मानसिक प्रवृत्तियों, गुणों तथा कर्मों के अनुसार निर्धारित किया जाय। इस प्रकार उन्होंने जन्म पर आधारित श्रेष्ठता के सिद्धान्त पर घातक प्रहार किया। उनका मत था कि मनोवैज्ञानिक एवं व्यावसायिक कसौटी पर आधारित वर्ण का सिद्धान्त अनेक सामाजिक तथा व्यावसायिक संघर्षों का समाधान कर सकता है। वे प्राचीन वर्ण-व्यवस्था को पुनर्जीवित करना चाहते थे। जाति के विरोध में आवाज उठाकर दयानन्द जी ने दलित वर्ग के सामने निश्चय ही एक नवीन आशा की ज्योति जगा दी और उन्हें विश्वास होने लगा कि अब वे सुकर्म करके समाज में अपने को ऊंचा उठा सकते हैं।

स्वामी दयानन्द ने **नारी की गरिमा का समर्थन** किया और हिन्दू समाज में प्रचलित इस विचार का खण्डन किया कि नारी पुरुष के समान नहीं है, उसे प्रकृति ने ही शरीर और स्वभाव से पुरुष से भिन्न बनाया है और यह भिन्नता उसे पुरुष की तुलना में हेय बनाती है। स्त्रियों के सामाजिक जीवन पर लगे अनुचित प्रतिबन्धों की उन्होंने निन्दा की और स्त्री जाति को मातृ-शक्ति के रूप में पूजने पर बल दिया। वेदों के अध्ययन से उन्हें वंचित रखना भी वे उचित नहीं मानते। स्त्रियों को पढ़ने का निषेध उनकी बुद्धि में मूर्खता, स्वार्थ और

निर्बुद्धिता का प्रभाव था। स्वामी जी ने वस्तुतः स्त्रियों के गौरव को बढ़ाया और उनके समान अधिकारों की घोषणा की। वे स्त्री जाति की पूर्ण स्वतन्त्रता के पक्के पक्षपाती थे। स्त्रियों को दीन-हीन दशा से ऊपर उठाने में दयानन्द जी ने जीवनभर कोई शिथिलता नहीं आने दी।

दयानन्द सरस्वती ने **बाल-विवाह का घोर विरोध किया** और कहा कि विवाह के लिए कन्या का कम-से-कम 16 वर्ष का एवं वर का 25 वर्ष का होना आवश्यक है। इससे पूर्व उम्र के स्त्री-पुरुषों में गर्भाधान की क्षमता नहीं होती, वे न तो विवाह के अर्थ और स्वरूप को समझ सकते हैं और न अपने विवेक के अनुसार अपने जीवन-साथी को समझ सकते हैं। इन नियमों के विपरीत चलने वाले दुःख के भागी होते हैं।

दयानन्दजी ने सामाजिक बुराई के प्रत्येक पहलू को स्पर्श किया। उन्होंने कहा कि **समुद्र-यात्रा, खान-पान और अन्तर्जातीय विवाह वर्जित नहीं हैं।** वास्तविकता यह है कि अपने चारों ओर फैले हुए पाखण्ड को देखकर वे तिलमिला उठे थे और उस पर प्रहार करना आरम्भ कर दिया था। स्वामी जी ने क्रान्तिकारी सुधारों की आवश्यकता पर बल दिया। उन्होंने पुत्रहीन विधुर को पुनः विवाह करने की एवं विधवा स्त्री को नियोग द्वारा सन्तान प्राप्त करने की बात कही। आर्य समाज ने सभी प्रकार की **अस्पृश्यता का विरोध किया।**

शिक्षा के क्षेत्र में भी आर्य समाज की भूमिका महत्वपूर्ण रही। आर्य समाज ने गुरुकुल, कन्या-गुरुकुल और डी. ए. वी. कॉलेजों की स्थापना देश के विभिन्न भागों में की और शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। इन शिक्षण संस्थाओं में अंग्रेजी, विज्ञान और आधुनिक समय के सभी विषयों के साथ-साथ संस्कृत, हिन्दी और वैदिक शिक्षा भी दी जाती है। हरिद्वार के पास गंगा तट पर 'गुरुकुल कांगड़ी' की स्थापना की गयी जिसमें हिन्दी माध्यम से सभी विषयों का अध्ययन कराया जाता है। गुरुकुल संस्थाओं में छः वर्ष के बच्चे को भर्ती कर उसे 16 वर्ष तक शिक्षा दी जाती है। यह शिक्षा प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति के अनुरूप है। स्त्री शिक्षा के क्षेत्र में भी आर्य समाज ने कई पाठशालाओं एवं महाविद्यालयों की स्थापना कर महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। हिन्दी भाषा के प्रचार-प्रसार में भी आर्य समाज ने उल्लेखनीय प्रयत्न किये हैं। उनकी अपनी एक राष्ट्रीय शिक्षा पद्धति है।

दयानन्द जी ने शिक्षा को मानव जीवन का महत्वपूर्ण ध्येय माना। उनका विश्वास था कि शिक्षा के अभाव में देशवासी कभी प्रगति नहीं कर सकते। उन्होंने शिक्षा का व्यापक अर्थ लिया। उनके लिए शिक्षा का अर्थ था शरीर का निर्माण, इन्द्रियों की साधना और बौद्धिक शक्तियों का विकास। ब्रह्मचर्य पालन को उन्होंने सच्ची शिक्षा पद्धति की एक आवश्यक शर्त माना और शिक्षण कार्य को चरित्रवान तथा विद्वान व्यक्तियों के हाथ में रखना चाहा।

दयानन्दजी ने सेवानिवृत्त लोगों को जनजातियों के बीच शिक्षा प्रसार करने की सलाह दी और शिक्षा को अन्य सभी सुधारों का आधार माना। उन्होंने माता-पिता को बालक का प्रथम गुरु माना और कहा कि माता-पिता के उपदेश से सन्तान को जितना लाभ हो सकता है, उतना और किसी से नहीं। दयानन्दजी ने स्त्रियों और शूद्रों की शिक्षा पर विशेष बल दिया। यदि स्त्रियां शिक्षित होंगी तो उनकी सन्तानें भी सुशिक्षित होंगी और वे गृहस्थ जीवन को आनन्दमय बना सकेंगी।

दयानन्दजी सह-शिक्षा के पक्ष में नहीं थे। उनका विचार था कि इससे लड़के-लड़कियों के चरित्र पर अनुकूल प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः दोनों के लिए अलग-अलग शिक्षण संस्थाएं

होनी चाहिए। उन्होंने शिक्षण संस्थाओं में सभी वर्गों और जातियों के बच्चों को समानता के आधार पर प्रवेश देने की बात कही तथा धनी एवं निर्धन के बीच भेद-भाव न बरतने को कहा। दयानन्दजी ने ऐसी शिक्षा पद्धति पर बल दिया जो पूर्णरूपेण भारतीय हो और जो कर्तव्यपरायण एवं उत्तरदायी नागरिक तैयार कर सके। उन्होंने देश को एकता के सूत्र में पिरोने के लिए हिन्दी का पूरे देश में प्रचलन आवश्यक माना।

राजनीतिक क्षेत्र में आर्य समाज का योगदान

राजनीतिक जागृति में भी आर्य समाज का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता, विश्वशांति, सामाजिक न्याय और आर्थिक उन्नति के सम्बन्ध में जो चिन्तन महर्षि दयानन्द ने किया, वह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वे अंग्रेजों के शासन को पूर्णतया न्याय के अनुरूप एवं पक्षपात से रहित नहीं मानते थे। **'स्वराज' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग भी महर्षि दयानन्द जी द्वारा किया गया था।** सत्यार्थ प्रकाश में उन्होंने 'स्वदेशी राज्य' शब्द प्रयुक्त किया। वे प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार करना तथा स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना सिखाया। वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने **हिन्दी को राष्ट्र भाषा स्वीकार किया।** महर्षि के हृदय में राष्ट्रीय स्वाधीनता की भावना इतनी तीव्र थी कि वेदों का भाष्य करते हुए भी अनेक मन्त्रों में उन्होंने राष्ट्रीय स्वाधीनता के लिए प्रार्थना की है। उन्होंने आर्याभिविनय में लिखा है, "अन्य देशवासी राजा हमारे देश में कभी न हों तथा हम लोग पराधीन कभी न हों।" बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय और गोपालकृष्ण गोखले, जिन्होंने हमारे राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया, आर्य समाज से प्रभावित थे। आर्य समाज ने अनेक ऐसे कट्टर व्यक्तियों के निर्माण में सहयोग दिया जो कट्टर हिन्दुत्व की भावना को लेकर भारतीय राष्ट्रीयता के समर्थक बने। कांग्रेस में उग्रवाद की भावना के आरम्भ होने का एक कारण हिन्दू धर्म की भावना थी और इसमें सन्देह नहीं कि आर्य समाज ने उस भावना के निर्माण में सहयोग दिया। डॉ. मजूमदार ने लिखा है, "आर्य समाज आरम्भ से ही उग्रवादी सम्प्रदाय था। उसका मुख्य स्रोत तीव्र राष्ट्रीयता था।" इस प्रकार आर्य समाज ने हिन्दू धर्म और संस्कृति की श्रेष्ठता का दावा करके हिन्दू सम्मान और गौरव की रक्षा की और हिन्दुओं में आत्म-विश्वास तथा सम्मान की भावना को जन्म दिया। इससे भारतीय राष्ट्रीयता के निर्माण में अत्यधिक सहायता मिली।

आर्य समाज ने भारतीयों की मानसिक पराधीनता और आत्महीनता की भावना को दूर किया। जब अंग्रेजी पढ़े-लिखे भारतीय नवयुवक पश्चिम की चकाचौंध से आकर्षित होकर उधर दौड़ने लगे तो दयानन्दजी ने घोषणा की कि भारत को यूरोप जाने की आवश्यकता नहीं है वरन् हमें वैदिक आदर्शों के अनुरूप ही धर्म और समाज की व्यवस्था करनी चाहिए। रमेशचन्द्र मजूमदार ने लिखा है, "आर्य समाज ने राष्ट्रीय चेतना के विकास में अत्यधिक महत्वपूर्ण योग दिया है।"

महर्षि दयानन्द ने भारतीयों के हृदय में स्वधर्म और स्वदेश के प्रति स्वाभिमान उत्पन्न करके और देश में नवजागरण का मन्त्र फूंकने का महान् कार्य किया। वे भारतीय राष्ट्रवाद के निःसन्देह अनन्य प्रतिपादक थे। उन्होंने ऐसे समय भारतीय राष्ट्रवाद में प्राण फूंके और देशवासियों को नवजागरण का सन्देश दिया जब भारत पर ब्रिटिश साम्राज्य का शिकंजा कसता जा रहा था। ईसाई सभ्यता देश की पुरातन संस्कृति पर छाती जा रही थी। ऐसे विकट और अवसादग्रस्त समय में महर्षि दयानन्द हिन्दू पुनरुत्थानवाद के उग्र प्रवक्ता बने। उन्होंने

पश्चिम की चकाचौंध से प्रभावित देशवासियों में अपनी संस्कृति की महानता को उजागर किया और बाहर की तरफ झांकती हुई उनकी मनोवृत्तियों को पीछे धकेलकर उसमें देश के प्रति अनुराग जगाया। उन्होंने देशवासियों के सम्मुख भारत की महिमा के गीत गाये और कहा कि आर्यावर्त एक ऐसा देश है जिसके समान पृथ्वी पर और कोई दूसरा देश नहीं है। भारत ही सच्चा पारसमणि है जिसे लोहे रूप दरिद्र विदेशी छूने के साथ ही सुवर्ण अर्थात् धनाढ्य हो जाते हैं। दयानन्दजी ने भारतवासियों में यह भाव भरने का प्रयास किया कि आर्य लोग ही ईश्वर के प्रिय लोग हैं, वेद ही उनकी वाणी है और भारत ही उनका देश है।

हिन्दू पुनरुत्थानवाद के माध्यम से भारतीय राष्ट्रवाद को जगाने के लिए उन्होंने अविवेक, अन्धविश्वासों और रूढ़िवादिता से डटकर लोहा लिया। दयानन्दजी ने लोगों में स्वाभिमान की भावना जागृत की, उनको मानसिक रूप से चेताया, उनमें गौरवशाली अतीत के प्रति उत्साह जगाया और इन सभी बातों से भारतीय राष्ट्रवाद को सम्बल मिला। सम्भवतः उन्होंने यह महसूस किया था कि भारतीय राजनीतिक दृष्टि से पूर्व ही मानसिक दृष्टि से परतन्त्र हो चुके थे और जब तक उन्हें मानसिक दासता से मुक्ति नहीं दिलायी जायेगी, तब तक सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता नहीं दिलायी जा सकती। अतः उन्होंने अपने ओजस्वी भाषणों से देश को मानसिक जड़ता से मुक्ति दिलाने का कार्य किया। भारतीय राष्ट्रवाद के उत्थान की दिशा में यह एक बहुत ही दूरदर्शी और प्रेरणापूर्ण कदम था।

दयानन्दजी के लिए सम्पूर्ण भारत उनका घर था और प्रत्येक देशवासी के मन में वे भारत की सेवा करने की जिज्ञासा और आकांक्षा भर देना चाहते थे। उनका कहना था कि देश की मिट्टी में पलकर ही हम बड़े हुए हैं, अतः उसकी तन-मन-धन से सेवा करना हमारा परम कर्तव्य है। उन्होंने हिन्दी की एक राष्ट्रभाषा के रूप में कल्पना की। उन दिनों जब अंग्रेजी शासन अपने पूरे यौवन पर था और यातायात के साधन भी इतने विकसित नहीं थे, तब कश्मीर से कन्याकुमारी तक स्वामी जी ने हिन्दी के माध्यम से पूरे देश को नवजागरण का मन्त्र दिया था।

स्वामी दयानन्द ने निर्भीकता का पाठ पढ़ाकर भारतीयों को विदेशी प्रभुत्व से टक्कर लेने की शक्ति दी। दयानन्दजी का स्वतन्त्रता के प्रति तीव्र अनुराग था और उनका सम्पूर्ण व्यक्तित्व उसके लिए तड़पा करता था। भारतीय राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन स्वामी दयानन्द द्वारा स्वदेशी की हिमायत से भी मिला। उन्होंने स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करना प्रत्येक व्यक्ति का एक धार्मिक कर्तव्य बताया। स्वामी दयानन्द द्वारा स्थापित आर्य समाज एक साथ ही धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय पुनर्जागरण का आन्दोलन था। स्वराज के विभिन्न साधनों का क्रियान्वयन आर्य समाज की राष्ट्रवादिता की सच्ची अभिव्यक्ति है। स्वदेशी प्रचार, बहिष्कार आन्दोलन, राष्ट्रीय शिक्षण परम्परा, गुरुकुल प्रणाली, स्त्री शिक्षा को प्रोत्साहन, समाज सुधार कार्यक्रम, दलितोद्धार, अस्पृश्यता निवारण, वर्ण-व्यवस्था एवं जाति प्रथा निषेध आदि को आर्य समाज ने ऐसे ठोस रचनात्मक कार्यक्रम का रूप प्रदान किया, जिससे राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रसार जनसाधारण तक सम्भव हो सका। **समूचा आर्य समाज आन्दोलन, स्वधर्म, स्वदेशी, स्वराज और स्वभाषा इन चार स्तम्भों पर आधारित रहा है।**

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि आर्य समाज ने भारत को धर्म, समाज, शिक्षा और राजनीतिक चेतना के क्षेत्र में बहुत कुछ प्रदान किया। हिन्दू धर्म और समाज में आर्य समाज

ने जो क्रान्ति पैदा की, उसकी तुलना ईसाई धर्म में मार्टिन लूथर द्वारा किये गये सुधारों से की जा सकती है। आत्मग्लानि से भरे हिन्दुत्व को महर्षि दयानन्द ने पुनर्जीवित किया और हिन्दू समाज के दोषों के विरुद्ध प्रचण्ड युद्ध किया। एक तरफ उन्होंने हिन्दू धर्म को विदेशी धर्मों से बचाया तो दूसरी तरफ हिन्दू धर्म की बुराइयों पर कठोर प्रहार भी किया। उनकी सेवाओं को हिन्दू समाज और हिन्दुत्व कभी भुला नहीं सकता। आज भी आर्य समाज की अनेक शाखाएं देश-विदेशों में फैली हुई हैं जो जन-जन तक अपनी सेवाएं पहुंचा रही हैं। स्वामी दयानन्द की मृत्यु के बाद लाला हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द,आदि नेताओं के संरक्षण में आर्य समाज निरन्तर हिन्दू समाज के उद्धार का प्रयत्न करता रहा है।

सन् 1892 में आर्य समाज में दो दल हो गये। एक दल के नेता लाला हंसराज थे जो वैदिक सिद्धान्तों के साथ-साथ पाश्चात्य शिक्षा के भी पक्ष में थे। दूसरे दल के नेता महात्मा मुंशीराम थे जिनका विश्वास प्राचीन शिक्षा पद्धति में ही था। इन्होंने ही हरिद्वार के पास **'गुरुकुल कांगड़ी'** की स्थापुना की। मुंशीराम ही आगे चलकर श्रद्धानन्द के नाम से विख्यात हुए और उन्होंने आर्य समाज के शुद्धि आन्दोलन को लोकप्रिय बनाने का अथक् प्रयत्न किया। इसीलिये उन्हें एक मुस्लिम हत्यारे के हाथों अपनी बलि देनी पड़ी। आर्य समाज के प्रयासों के कारण ही अनेक स्थानों पर अनाथालयों, विधवा-आश्रमों और गौशालाओं की स्थापना की गयी है।

आर्य समाज 19वीं सदी का सबसे सफल आन्दोलन था। इसमें धार्मिक नियमों की सरल व्याख्या की गयी जिसे कोई भी आसानी से समझ एवं स्वीकार कर सकता था। इसमें जीवन के उच्च आदर्शों को प्रस्तुत किया गया। स्वामी दयानन्द सरस्वती के आर्य समाज के नियमों से स्पष्ट है कि वे उच्च मानव धर्म के प्रवर्तक थे। आपने जिस पृष्ठभूमि में कार्य किया, उसमें समाज का एकीकरण न तो हिन्दुत्व के आधार पर हो सकता था और न ईसाइयत अथवा इस्लाम के आधार पर। आवश्यकता ऐसे मार्ग की थी जो यूरोप की विज्ञानवादिता के समक्ष युक्ति-युक्त हो और भारतीय हो। वेदों के आधार पर यह मार्ग दयानन्दजी ने आर्य समाज के रूप में खोजा।

कुछ विद्वान आर्य समाज पर यह आरोप लगाते हैं कि यह केवल हिन्दू धर्म की पुनः स्थापना तक सीमित था, इसने साम्प्रदायिकता को पुष्ट किया एवं राष्ट्रीयता का कोई विकास नहीं किया, किन्तु ये आरोप निराधार हैं। आर्य समाज एवं हिन्दुत्व का प्रेरणा स्रोत वेद थे और वेदों से प्रेरणा प्राप्त करना भारत के किसी वर्ग के विरुद्ध नहीं था। अतः आर्य समाज को साम्प्रदायिक कहना किसी भी दृष्टि से उचित नहीं है।

स्वामी दयानन्द का उद्देश्य किसी नये मत या धर्म का प्रचलन करना नहीं था। वे तो समाज में व्याप्त बुराइयों को दूर करना चाहते थे। उन्होंने खुले रूप में घोषणा की "मेरी कोई नवीन कल्पना या मतमतान्तर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है, किन्तु जो सत्य है, उसे मानना-मनवाना और जो असत्य है, उसको तोड़ना-तुड़वाना अभीष्ट है। यदि मैं पक्षपात करता, तो आर्यावर्त के प्रचलित मतों में से किसी एक मत का आग्रही होता, किन्तु जो-जो आर्यावर्त व अन्य देशों में धर्मयुक्त चाल-चलन हैं, उनको स्वीकार और जो अधर्मयुक्त बातें हैं, उनका त्याग नहीं करता, न करना चाहता हूं, क्योंकि ऐसा करना मनुष्य धर्म के बाहर है।"

स्वामी दयानन्द ने जो आर्य समाज का आन्दोलन शुरू किया, उससे हिन्दुओं में आत्म-निर्भरता की भावना जागृत हुई और उनमें आत्म-सम्मान बढ़ा। डॉ. ग्रीसवल्ड कहते हैं, "दयानन्द बहुत सुन्दर स्वप्नों के द्रष्टा थे। वे ऐसे भारत का स्वप्न देखते थे, जो कुसंस्कारों से शुद्ध हो, विज्ञान से पूरा लाभ उठाये और एक ईश्वर की पूजा करे, आत्मशासित हो एवं उसे दुनिया के राष्ट्रों में उचित स्थान मिले तथा उसके प्राचीन गौरव का पुनरुद्धार हो।" फ्रांसीसी विचारक **रोमा रोलां** ने उन्हें कर्मचिन्तक कहा है। **महात्मा गांधी** ने दयानन्द के बारे में लिखा है, "महर्षि दयानन्द के लिए मेरा मन्तव्य है कि वे हिन्द के आधुनिक ऋषियों में, सुधारकों में, श्रेष्ठ पुरुषों में एक थे....उनके जीवन का प्रभाव हिन्दुस्तान पर बहुत ही पड़ा है।"

रिजले ने आर्य समाज को 19वीं सदी का प्रमुख सुधार आन्दोलन कहा है।

थियोसोफिकल सोसायटी
(THEOSOPHICAL SOCIETY)

थियोसोफिकल सोसायटी ने भारत के सांस्कृतिक आन्दोलन एवं पुनर्जागरण में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी और धार्मिक तथा सामाजिक जीवन को प्रभावित किया। यह एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था थी। इसकी स्थापना कर्नल अल्क्राट और एक महिला एच. पी. ब्लेवटास्की ने 7 सितम्बर, 1876 में अमेरिका के न्यूयार्क शहर में की थी। ये दोनों व्यक्ति 1879 में भारत आए और उन्होंने 1886 में मद्रास के निकट अडयार में थियोसोफिकल सोसायटी का केन्द्र स्थापित किया। थियोसॉफी शब्द ग्रीक भाषा के 'थियो' (Theo) (ईश्वर) और 'सोफिया' (Sophia) (ज्ञान) शब्दों से मिलकर बना है, जिसका अर्थ है 'ईश्वर का ज्ञान'। संस्कृत में इसके लिए 'ब्रह्म विद्या' शब्द का प्रयोग होता है। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग तीसरी शताब्दी में एलेक्जेण्ड्रिया के ग्रीक विद्वान इम्बीकस (Imbechus) ने किया था। थियोसोफिकल सोसायटी का उद्देश्य पूर्वी देशों के महान धर्मों तथा दर्शनों का अध्ययन तथा प्रसार करना था। इसके उद्देश्य निम्नांकित थे :

(1) प्रकृति के नियमों की खोज तथा मानव की दैवी शक्तियों का विकास।

(2) किसी भी धर्म की कट्टरता को प्रश्रय न देकर सभी धर्मों में समन्वय स्थापित करना।

(3) प्राचीन धर्म, दर्शन और विज्ञान जो संसार में कहीं भी पाया जा सकता है, के अध्ययन में सहयोग देना।

(4) विश्व-बन्धुत्व अथवा विश्व मानवता का विकास करना।

(5) पूर्वी देशों के धर्मों तथा दर्शन का अध्ययन तथा प्रसार करना।

स्वामी दयानन्द सरस्वती के निमन्त्रण पर कर्नल अल्काट और ब्लेवटास्की 1879 में भारत आए और उन्होंने तत्कालीन धार्मिक आन्दोलनों से सम्पर्क स्थापित किया तथा हिन्दुओं की कुरीतियों को दूर करने का उपदेश दिया। थियोसफी आन्दोलन आध्यात्म विद्या या ब्रह्म विद्या का ज्ञान प्राप्त करने के उद्देश्य से आरम्भ किया गया था आध्यात्मिक शक्तियों और आत्माओं का प्रत्यक्ष ज्ञान करना इस संस्था का मुख्य कार्यक्रम था। ब्लेवटास्की का दावा था कि उन्हें तिब्बत के महात्माओं की आत्माओं के सन्देश प्राप्त होते हैं। भारत आने के पश्चात् इस संस्था का स्वरूप बदला। भारत के सांस्कृतिक नवोत्थान की प्रक्रिया में वह एक आध्यात्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा राजनीतिक आन्दोलन का माध्यम बन गई। थियोसफी आन्दोलन

भी उसी प्रकार भारतीयता का संरक्षक बन गया जिस प्रकार अन्य सामाजिक-धार्मिक आन्दोलन थे।

यद्यपि थियोसफी सभी धर्मों की समानता के भाव को लेकर आरम्भ किया गया था फिर भी इसका झुकाव हिन्दुत्व और बौद्ध धर्म की ओर बना रहा। कर्नल अल्काट ने हिन्दू धर्म के गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहा कि यह सब धर्मों से श्रेष्ठ है तथा सम्पूर्ण सत्य इसी में निहित है। सोसायटी के उद्देश्य को स्पष्ट करते हुए अल्काट ने कहा कि उसका लक्ष्य भारतीयों को उनके प्राचीन गौरव और महानता का स्मरण कराना है ताकि भारत अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा को पुनः प्राप्त कर सके। प्रारम्भ में, अल्काट और ब्लेवटास्की दोनों ने आर्य समाज के साथ मिलकर ईसाई धर्म के प्रभाव को कम करने का प्रयत्न किया। बाद में इन दोनों ने 1886 में मद्रास के उपनगर आडियार में थियोसोफिकल सोसायटी का केन्द्र स्थापित किया। अब इसका कार्य-क्षेत्र सम्पूर्ण भारत हो गया। इस संस्था के सदस्यों को यह आजादी दी गई कि वे अपने-अपने धर्म को मानकर भी संस्था के सिद्धान्तों को अपना सकते हैं। इस संस्था का अपना कोई धर्म ग्रन्थ नहीं था। सोसाइटी की सभा में सभी धर्मों की प्रार्थनाएं की जाती थीं।

श्रीमती एनीबीसेन्ट का नेतृत्व—भारत में इस अन्तर्राष्ट्रीय आन्दोलनों का नेतृत्व एक अंग्रेज महिला श्रीमती एनीबीसेन्ट ने किया। उच्च शिक्षा प्राप्त वह एक कुलीनवंशीय कन्या थीं। उनकी वक्तृत्व कला अनूठी थी। 46 वर्ष की अवस्था में 15 नवम्बर सन् 1893 में वह भारत आयीं और उन्होंने पूरी तरह अपने को भारतीय रंग में रंग डाला। उन्होंने भारतीय वेश-भूषा और खान-पान को पूर्णतः अपना लिया। अधिकांश समय वे काशी में रहीं जो उन्हें बहुत प्रिय थी। यहां उन्होंने गीता का अनुवाद किया तथा रामायण और महाभारत पर भाष्य लिखे। सोसायटी के द्वारा उन्होंने भारतीय धर्म ग्रन्थों के आधारभूत तथ्यों का प्रचार अन्य देशों में भी किया। काशी में उन्होंने सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की स्थापना की जो आगे चलकर हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। एनीबीसेन्ट यह मानती थीं कि वह पूर्वजन्म में हिन्दू थीं। वह हिन्दू तीर्थों में घूमती रहती थीं उन्होंने हिन्दू धर्म और संस्कृति के विषय में अनेक ओजस्वी भाषण दिये। उन्हें भारतीयता, हिन्दू धर्म समाज से बहुत प्यार था। एक बार उन्होंने अपने भाषण में कहा था, 'हिन्दुत्व ही भारत के प्राण हैं, हिन्दुत्व वह मिट्टी है जिसमें भारत का मूल गड़ा हुआ है। यदि यह मिट्टी हटा ली गई तो भारतरूपी वृक्ष सूख जायगा। हिन्दुत्व के बिना भारत के सम्मुख कोई भविष्य नहीं है। उन्होंने कहा, हिन्दुत्व की रक्षा हिन्दू और भारतीय ही कर सकते हैं। भारत में अनेक धर्म, जातियां और प्रजातियां हैं, किन्तु इनमें से कोई भी भारत के अतीत तक नहीं पहुंच सकतीं। इनमें से किसी में भी भारत को एक राष्ट्र में संजोये रखने का दम नहीं है। इनमें से प्रत्येक भारत से लोप हो जाए तब भी भारत, भारत ही रहेगा, किन्तु यदि हिन्दुत्व लोप हो गया तो शेष कुछ भी नहीं बचेगा। भारत के इतिहास, साहित्य, कला और स्मारक सभी पर हिन्दुत्व की अमर छाप अंकित है। उनका विश्वास था कि हिन्दुत्व के जागरण से ही विश्व का कल्याण हो सकता है।

श्रीमती बीसेन्ट ने भारत को अपनी मातृभूमि के रूप में ग्रहण कर लिया था। उन्होंने भारत के पुनरुत्थान की दृष्टि से धार्मिक, बौद्धिक एवं दार्शनिक क्षेत्रों में कार्य किया। हिन्दू सामाजिक प्रथाओं और रीति-रिवाजों में सुधार करने का बीसेन्ट ने भरसक प्रयत्न किया। उन्होंने नये भारत में महिलाओं की भूमिका पर बल दिया। स्वदेशी उद्यम को प्रोत्साहन देने

वाले सर्वप्रथम लोगों में से वह एक थीं। दलित जातियों के लिए उन्होंने प्रशंसनीय कार्य किया। **डॉ. रामधारी सिंह दिनकर लिखते हैं,** "उनके जीवन का सबसे बड़ा कार्य यह रहा कि उन्होंने ऊंघते हुए हिन्दुओं में आत्माभिमान भर दिया एवं जब ईसाई मिशनरी भारत के बाहर भारत के विषय में कुप्रचार करके यहां के लोगों को ईसाई बना रहे थे तब इस ईसाई महिला ने खुलकर भारत और हिन्दुत्व का पक्ष लिया।"[1]

जीवन-परिचय

डॉ. एनीबीसेन्ट एक आयरिश महिला थीं जिनका जन्म सन् 1847 में इंगलैण्ड में हुआ था।1867 में उनका विवाह फ्रैंक बीसेन्ट से हुआ, किन्तु उनका परस्पर ताल-मेल नहीं बैठ पाया और 1873 में उनमें तलाक हो गया। उनके पति इस बात से नाराज थे कि श्रीमती बीसेन्ट ईसाई धर्म के प्रति शंकाएं प्रकट करती थीं जिनका कोई समाधान नहीं था। श्रीमती बीसेन्ट की ईसाई धर्म में यह अनास्था ही आगे चलकर हिन्दू धर्म में उनकी आस्था का कारण बनी। 1867 में वह नेशनल सिक्यूलरिस्ट सोसायटी की सदस्य बनीं। सन् 1889 में वह थियोसोफिकल सोसायटी की सदस्य बनीं। 1893 में उन्होंने शिकागो की धर्म संसद में भाग लिया तथा उसके बाद भारत में रहने का निश्चय किया। 1898 में उन्होंने बनारस में सेण्ट्रल हिन्दू कॉलेज एवं स्कूल की स्थापना की। 1907 में अल्काट की मृत्यु के बाद वे थियोसोफिकल सोसायटी की अध्यक्षा चुनी गईं। 1914 में उन्होंने **'दी कॉमनवील'** तथा **'न्यू इण्डिया'** नामक दो समाचार पत्र प्रारम्भ किये। वे कहती थीं, "मैं तो एक भारतीय टम-टम हूं जिसका कार्य सोये हुए भारतीयों को जगाना है ताकि वे उठें और अपनी मातृभूमि के लिए कुछ कार्य करें।" 1914 में उन्होंने लन्दन में 'होम रूल लीग' की स्थापना की एवं 1916 में उन्होंने मद्रास में 'आल इण्डिया होम रूल लीग' का उद्घाटन किया। 1917 में वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की अध्यक्षा चुनी गईं। वे कांग्रेस के गरम दल एवं नरम दल दोनों के निकट थीं। 1925 में उन्होंने भारतीय कॉमनवैल्थ अधिनियम के लिए आन्दोलन चलाया।

इंगलैण्ड में श्रीमती बीसेन्ट वेफेबियन सोसायटी में काम करती थीं जहां जॉर्ज बर्नार्ड शॉ जैसे विद्वान उनके सहयोगी थे। बनार्ड शॉ ने लिखा है कि उस समय श्रीमती बीसेन्ट के समान ओजस्वी भाषण देने वाला व्यक्ति इंगलैण्ड में और कोई नहीं था। अंग्रेजी भाषा पर बीसेन्ट का असाधारण अधिकार था तथा उनके भाषण साहित्य का एक अंश ही होता था। उनके बारे में लोग कहते हैं कि जब वे बोलती थीं तो ऐसा लगता था मानो सरस्वती ही अपने मुखारबिन्द से कुछ कह रही हों। काशी में एक बार उनका भाषण सुनकर एक विद्वान पंडित ने उन्हें 'सर्वशुक्ला सरस्वती' की उपाधि दी थी।

श्रीमती बीसेन्ट एक मूर्धन्य लेखक भी थीं। उन्होंने धर्म, शिक्षा एवं राजनीति आदि पर अनेक रचनाएं लिखीं। 'दि इण्डियन आइडियल्स' भारतीय समाजशास्त्र को उनकी अमूल्य भेंट है। 'इण्डिया ए नेशन' तथा 'हाउ इण्डिया गॉट हर फ्रीडम' नामक रचनाएं राजनीति के क्षेत्र में उनकी महत्वपूर्ण रचनाएं हैं। ईसाई होते हुए भी वे पुनर्जन्म में विश्वास करती थीं और भारत में पुनः जन्म लेने की उनकी उत्कट इच्छा थी। हम यहां श्रीमती बीसेन्ट के विभिन्न क्षेत्रों में योगदान का उल्लेख करेंगे।

---

1 रामधारी सिंह दिनकर : **संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 562।**

शिक्षा के क्षेत्र में—श्रीमती बीसेन्ट ने शिक्षा को राष्ट्र निर्माण के लिए एक आवश्यक शर्त माना। वे चाहती थीं कि शिक्षा संचालन भारतीयों के हाथों में हो। भारतीय शिक्षा में देशभक्ति एवं धर्म के मूल तत्वों को सम्मिलित किया जाय। शिक्षा का आधार भारतीय चिन्तन हो। साथ ही वे पश्चिमी विज्ञान और तकनीकी की शिक्षा का लाभ उठाने के भी पक्ष में थीं। उनका मत था कि शिक्षा के पाठ्यक्रम में शारीरिक श्रम वाले कार्यों एवं विभिन्न प्रकार के शिल्पों का शिक्षण-प्रशिक्षण भी सम्मिलित किया जाय। उन्होंने सन् 1898 में बनारस में सेन्ट्रल हिन्दू कॉलेज की स्थापना की तथा थियोसोफिकल सोसायटी के माध्यम से देश के विभिन्न भागों में कई स्कूल खोले। उन्होंने नये प्रकार की शिक्षा देने का उपदेश दिया तथा थियोसोफिकल कॉलेजों पर यह दायित्व डाला कि वे नये स्कूल खोलें एवं हिन्दू बालक-बालिकाओं को शिक्षा देते समय भारतीय मूल्यों एवं आदर्शों को विशेषतः ध्यान में रखा जाय। वे बच्चों के बौद्धिक, शारीरिक एवं भावात्मक विकास के लिए उनसे ब्रह्मचर्य के पालन की भी अपेक्षा रखती थीं।

समाज सुधार के क्षेत्र में—श्रीमती बीसेन्ट ने भारत में समाज सुधारक के क्षेत्र में भी अपनी छाप छोड़ी है। उन्होंने भारतीय महिलाओं में जागृति उत्पन्न करने के लिए विशेष प्रयत्न किये। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि भारत तब तक सही अर्थों में स्वतन्त्र नहीं हो सकता जब तक कि नारी को उसका प्राचीन गौरव नहीं मिले और उसके अधिकारों की रक्षा नहीं की जाय। उन्होंने लड़के-लड़कियों से अल्पायु में विवाह न करने की प्रतिज्ञाएं करवायीं। विदेश यात्रा पर लगे धार्मिक प्रतिबन्धों और बाल-विधवा प्रथा की उन्होंने आलोचना की। राष्ट्र निर्माण की दृष्टि से वे स्त्री शिक्षा को आवश्यक मानती थीं। उन्होंने तत्कालीन भारतीय सचिव मांटेग्यू को एक ज्ञापन देकर मांग की कि पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी वोट देने का अधिकार प्रदान किया जाय। बाल-विवाह, कन्या मूल्य प्रथा एवं छुआछूत का भी बीसेन्ट ने विरोध किया।

धार्मिक क्षेत्र में—श्रीमती एनीबीसेन्ट ने भारतीय हिन्दू धर्म की महत्वपूर्ण सेवा की। उन्होंने हिन्दू जागरण के लिए जितना कार्य किया उतना कार्य शायद ही किसी अन्य हिन्दू ने किया हो। वे राष्ट्रवाद को धर्म से भी जोड़ती हैं। वे लिखती हैं, "मेरा दृढ़ विश्वास है कि धर्म के आधार पर ही सच्ची राष्ट्रीयता का निर्माण किया जा सकता है.....जिन गुणों का उपदेश धर्म देता है और जो सब के सब इस पवित्र भूमि में विद्यमान हैं, उन्हीं की हमें राष्ट्र निर्माण के लिए आवश्यकता है।" जहां राजा राममोहन राय एवं विवेकानन्द ने निराकार ईश्वर की उपासना की बात कही तथा मूर्ति पूजा, अवतारवाद, तीर्थ, व्रत-अनुष्ठान एवं पौराणिक बातों का खण्डन किया वहीं एनीबीसेन्ट ने वेदों और उपनिषदों को मान्यता दी और हिन्दुत्व के सभी रूपों का समर्थन किया। 1914 में उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था, "चालीस वर्ष के गम्भीर चिन्तन के बाद मैं इस निष्कर्ष पर पहुंची हूं कि विश्व के सभी धर्मों में मुझे हिन्दुत्व के समान कोई धर्म इतना पूर्ण, वैज्ञानिक, दर्शनयुक्त एवं आध्यात्मिक से परिपूर्ण दिखाई नहीं देता। जितना अधिक तुमको इसका भान होगा, उतना ही अधिक तुम इससे प्रेम रखोगे।"

श्रीमती एनीबीसेन्ट ने हिन्दू धर्म की अनेक रहस्यमय बातों का वैज्ञानिक ढंग से समर्थन किया। उन्होंने हिन्दुओं को हीन भावना से मुक्त कराया। जिस समय वह भारत में आयीं

उस समय अंग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों का अपने धर्म एवं संस्कृति से विश्वास उठने लगा था। ऐसे समय में एनीबीसेन्ट ने भारतीय संस्कृति, धर्म और आदर्शों को पुनर्जीवित किया उन्होंने स्वयं ने कई धार्मिक स्थानों की यात्रा की। उन्होंने अमरनाथ की नंगे पैर यात्रा की और वहां शीतल जल से स्नान कर मन्दिर में प्रवेश किया। उन्हें ऐसा करते देख अन्य हिन्दुओं को यह महसूस हुआ कि हमारा धर्म हीन नहीं है। उन्होंने काशी में रहकर गीता का अनुवाद किया, रामायण और महाभारत पर भाष्य लिखे। उन्होंने यूरोप एवं अमेरिका के लोगों के सामने हिन्दू धर्म तथा संस्कृति के महत्व एवं गौरव का गान किया। इससे भारतीयों के मन में भी हिन्दू धर्म के प्रति आस्था पैदा हुई, उनमें आत्मसम्मान की भावना पैदा हुई। **वेलेण्टाइन शिरोल** लिखते हैं, "जब अतिश्रेष्ठ बौद्धिक शक्तियों तथा अद्‌भुत वक्तृत्व शक्ति से सुसज्जित यूरोपियन, भारत जाकर भारतीयों से यह कहे कि उच्चतम ज्ञान की कुंजी यूरोप वालों के पास नहीं वरन् तुम्हारे पास है तथा तुम्हारे देवता, तुम्हारा दर्शन तथा तुम्हारी नैतिकता की छाया भी यूरोप वाले नहीं छू सकते, तब यदि भारतवासी हमारी सभ्यता से मुंह मोड़लें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है।" थियोसोफिकल सोसायटी ने एकेश्वरवाद का भी समर्थन एवं प्रचार किया। इसके अनुसार मानव जाति के विकास का आधार विकास की ईश्वरीय योजना है, और सभी धर्म इसी योजना के विभिन्न रूप हैं।" अतः उनमें परस्पर कोई मतभेद नहीं हो सकता। सोसायटी धर्म और विज्ञान में भी कोई विरोध नहीं मानती है। इस संस्था के अनुयायी पुनर्जन्म, कर्मवाद के सिद्धान्त एवं कर्मफल में विश्वास करते हैं। मृत्यु के बाद अपने कर्मों के अनुसार ही जीव का पुनर्जन्म होता है और कर्मफल भोगता है। संस्था का उद्देश्य विश्व के सभी वर्गों में भाईचारे की भावना का विकास करना है।

राजनीतिक क्षेत्र में—एनीबीसेन्ट आध्यात्मिक और धार्मिक महिला अवश्य थीं, किन्तु धीरे-धीरे वे सक्रिय राजनीति की ओर भी झुकीं। 1910 से 1920 तक वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की प्रमुख नेता थीं। 1917 में वे कांग्रेस की अध्यक्ष चुनी गईं। वे लोकमान्य तिलक द्वारा चलाए गये होमरूल आन्दोलन में शामिल हुईं। मद्रास सरकार ने उन्हें 1917 में नजरबन्द कर दिया, किन्तु जन आन्दोलन के समक्ष सरकार को उन्हें शीघ्र छोड़ना पड़ा। भारत में राजनीतिक चेतना पैदा करने में उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किया। महात्मा गांधी ने उनके बारे में लिखा है, "जब तक भारतवर्ष जीवित है ऐनीबीसेन्ट की सेवाएं भी रहेंगी। उन्होंने भारत को अपनी जन्मभूमि मान लिया था। उनके पास देने योग्य जो कुछ भी था, उन्होंने भारत के चरणों में अर्पित कर दिया इसीलिए भारतवासियों की दृष्टि में वह इतनी प्यारी और श्रद्धेया हो गयी हैं।" 1920 में जब गांधीजी ने असहयोग आन्दोलन प्रारम्भ कर दिया तो एनीबीसेन्ट को उनकी नीति पंसद नहीं आयी। वे राजनीति को त्यागकर पुनः संस्था के कार्यों में जुट गयीं।

भारत में थियोसोफिकल सोसायटी की अनेक शाखाएं हैं। इस संस्था ने धर्म एवं समाज सुधार आन्दोलन को बल प्रदान किया और राष्ट्रीय आन्दोलन में नई जान फूंकी, किन्तु इसका कार्य केवल दक्षिणी भारत में ही अधिक सफल रहा।

प्रार्थना समाज—जिन सुधारों के लिए बंगाल में ब्रह्मसमाज की स्थापना की गयी, उन्हीं सुधारों के लिए सन् 1867 में डॉ. आत्मारांम एवं उनके परिवार के सदस्यों ने प्रार्थना समाज की स्थापना की। रानाडे, भण्डारकर, तेलग और चन्द्रावरकर, आदि इस आन्दोलन से प्रमुख

रूप से सम्बन्धित थे। इन सभी ने छुआछूत, जाति पांति भेदभाव, बाल विवाह, विधवा विवाह निषेध, सती प्रथा, आदि की बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया और स्त्री शिक्षा के लिए प्रयत्न किये। प्रार्थना समाज के प्रमुखतः छः सिद्धान्त हैं—(1) भगवान एक है और उसने इस संसार को बनाया है, (2) उसकी उपासना से ही लोक और परलोक में सुख मिल सकता है, (3) उसकी उपासना प्रेम और श्रद्धा से उसका भजन करना है, (4) मूर्ति पूजा उसकी सच्ची उपासना नहीं है, (5) भगवान कभी अवतार नहीं लेता न उसकी श्रुति किसी धर्मग्रन्थ में मिलती है और न कोई पुस्तक अपौरुषेय है, तथा (6) सब मनुष्य भगवान की सन्तान हैं, अतः एक-दूसरे के साथ बिना भेद-भाव के भाइयों की तरह रहना चाहिए। इस आन्दोलन के नेता पाश्चात्य आदर्शों तथा प्राचीन भारतीय परम्परा दोनों से ही प्रभावित थे। प्रार्थना समाज के द्वारा अनाथालय विधवा आश्रम तथा कन्याशालाएं भी खोली गयीं और कुछ नेताओं ने तो मजदूर आन्दोलनों में भी हिस्सा लिया।

रामकृष्ण मिशन—स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस की स्मृति में सन् 1897 में रामकृष्ण मिशन नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था के लोगों ने बाढ़, अकाल, महामारियों एवं प्राकृतिक प्रकोपों से त्रस्त लोगों की सेवा की तथा कई स्कूल, कॉलेज, शिशु गृह, अनाथालय एवं छात्रावास, आदि भी खोले। यह संस्था वेदान्त, आदर्शों पर आधारित थी। इसने धार्मिक अन्धविश्वासों, जातीय भेदभाव, छूआछूत, आदि का विरोध किया तथा समानता, विश्वबन्धुत्व, जन सेवा, आदि आदर्शों का प्रचार किया। हिन्दू धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए विवेकानन्द विदेशों में भी गये और अमरीका में होने वाले विश्व-धर्म सम्मेलन में अपने भाषण द्वारा दुनिया के लोगों पर अमिट छाप छोड़ी। स्वामी ब्रह्मानन्द, शिवानन्द, अखण्डानन्द, शुद्धानन्द तथा विरजानन्द ने इस संगठन को आगे बढ़ाया।

नामधारी आन्दोलन—पंजाब में सिक्ख बाबा रामसिंह ने नामधारी आन्दोलन के द्वारा समाज में व्याप्त बाल-विवाह, कन्या वध, पर्दा-प्रथा, भोज, शराब वृत्ति, विधवा-विवाह निषेध, आदि बुराइयों को समाप्त करने का प्रयत्न किया। वे जातीय भेदभाव, विवाह पर दावत देने, दहेज, सजावट एवं रौनक के विरुद्ध थे। इन सुधारों के कारण लोगों को विवाह खर्च हेतु उधार लिए जाने वाले ऋण से मुक्ति मिली।

मुस्लिम सुधार आन्दोलन—सर सैय्यद अहमद खां ने मुस्लिम समाज में व्याप्त बुराइयों, रूढ़िवादिता तथा अन्धविश्वासों को समाप्त करने का प्रयास किया। उन्होंने 'तहजीबुल अखलाक' नामक एक उर्दू पत्रिका भी निकाली जिसका उद्देश्य मुसलमानों को विज्ञान व प्रौद्योगिकी से अवगत कराना तथा उनकी सामाजिक बुराइयों को दूर करना था। वे बहु-पत्नी प्रथा के विरोधी थे। उन्हीं के प्रयत्नों से 1875 में अलीगढ़ में मुस्लिम विश्वविद्यालय की स्थापना हुई।

गांधीजी का सुधार आन्दोलन—गांधीजी ने भारतीय समाज में व्याप्त जातिगत बुराइयों तथा अस्पृश्यता का अन्त करने के लिए आन्दोलन किया। उन्होंने 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की जिसका उद्देश्य दलित वर्ग एवं हरिजनों की सेवा करना तथा उन्हें सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार दिलाना था। गांधीजी बाल-विवाह, वेश्यावृत्ति, नशाखोरी, दहेज-प्रथा, देवदासी प्रथा, पर्दा-प्रथा तथा विधवा-विवाह निषेध के विरोधी थे। उन्होंने हरिजनों की दशा को सुधारने के लिए कुटीर व्यवसायों को बढ़ावा देने, व्यावसायिक प्रशिक्षण

देने, स्कूल, छात्रावास, चिकित्सालय, आदि खोलने और हरिजन बस्तियों की सफाई करने पर भी जोर दिया।

जनजातीय सुधार आन्दोलन—भारतीय जनजातियों की दशा सुधारने के लिए भी कई सामाजिक सुधार आन्दोलन हुए हैं जिनमें बिरसा आन्दोलन, तनाभगत आन्दोलन, बीरसिंह आन्दोलन, आदि प्रमुख हैं। मुण्डा जनजाति के बिरसा तथा ओरॉव जनजाति के तनाभगत आन्दोलन का उद्देश्य धार्मिक बुराइयों तथा जादू-टोने व भूत-प्रेत में विश्वासों को समाप्त करना था। तनाभगत ने शराब व मांस के प्रयोग पर रोक लगायी व खादी पहनने पर जोर दिया। बीरसिंह आन्दोलन गांधीजी के आदर्शों पर आधारित था। भीलों में भी 'भगत आन्दोलन' चला मोतीलाल तेजावत तथा मामा बालेश्वर दयाल ने भीलों में व्याप्त सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने का प्रयास किया। इसी प्रकार के सुधार आन्दोलन मध्य प्रदेश की जनजातियों में भी भाऊसिंह, राजनेगी तथा राजमोहिनी देवी के नेतृत्व में चले।

सर्वोदय आन्दोलन—यह आन्दोलन भी गांधी के आदर्शों पर आधारित था। यह गरीब एवं अमीर की समानता पर जोर देता है तथा सभी के कल्याण की कामना करता है। यह आन्दोलन पर्दा-प्रथा का विरोधी है तथा स्त्रियों को जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समकक्ष दर्जा दिलाने का पक्षपाती है। यह आन्दोलन सेवा द्वारा सामाजिक कुप्रथाओं एवं बुराइयों को समाप्त करना चाहता है। सर्वोदय के कर्मठ कार्यकर्ताओं में बाबू जयप्रकाश नारायण एवं विनोबा भावे प्रमुख हैं।

भारत में हुए विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों के कई अच्छे परिणाम सामने आये। इन्होंने देश में सामाजिक परिवर्तन लाने में भी योग दिया। भारत में सामाजिक आन्दोलनों के प्रमुख परिणाम इस प्रकार हैं :

(1) **सती-प्रथा का अन्त**—भारत में हुए सामाजिक सुधार आन्दोलनों के परिणामस्वरूप ही सती-प्रथा का अन्त हुआ और स्त्रियों को इस अमानवीय अत्याचार से मुक्ति मिली।

(2) **बाल-विवाह की समाप्ति**—सामाजिक आन्दोलनों के परिणामस्वरूप भारत में बाल-विवाह धीरे-धीरे समाप्त होते जा रहे हैं और अब अधिक आयु में विवाह होने लगे हैं। बाल-विवाह पर कानूनी प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये हैं।

(3) **विधवा पुनर्विवाह**—हिन्दू धर्म में विधवाओं को पुनर्विवाह करने की मनाही थी, किन्तु अब उन्हें पुनर्विवाह करने की कानूनी स्वीकृति प्राप्त है और पुनर्विवाह करने वाली विधवा को नये घर में वे ही अधिकार प्राप्त हैं जो पहली बार विवाह करने पर प्राप्त होते हैं। इस प्रकार के विवाह के कारण उन स्त्रियों की रक्षा हो सकी है जो वैधव्य से तंग आकर धर्म परिवर्तन कर लेतीं या वेश्यावृत्ति स्वीकार कर लेती थीं। अब इन्हें आर्थिक सुरक्षा भी प्राप्त है।

(4) **पर्दा-प्रथा की समाप्ति**—पर्दा प्रथा, जो मुस्लिम काल में प्रारम्भ हुई, धीरे-धीरे सारे भारत में फैल गयी। इस प्रथा के कारण स्त्रियां घर की चारदीवारी तक ही सीमित रहती थीं और उनके व्यक्तित्व का विकास नहीं हो पाता था। घर में बन्द रहने से उनका स्वास्थ्य भी खराब हो जाता था। किन्तु इस प्रथा की समाप्ति के बाद उन्हें प्रगति के पूरे अवसर प्राप्त हुए और अब वे जीवन के सभी क्षेत्रों में पुरुषों के समकक्ष कार्य करने लगी हैं।

(5) **दहेज-प्रथा में परिवर्तन**—दहेज-प्रथा को कानूनन समाप्त कर दिया गया है। इससे उन लड़कियों की रक्षा हुई है जो दहेज के अभाव में आत्महत्या कर लिया करती थीं। सुधार

आन्दोलनों ने लड़कियों तथा उनके माता-पिता में इस बुराई को समाप्त करने के प्रति जागरूकता पैदा की, किन्तु आज भी इस बुराई का पूरी तरह अन्त नहीं हुआ है।

(6) सुधार आन्दोलनों के कारण **अस्पृश्यता के विरुद्ध वातावरण** बना है।

(7) **जातिवाद एवं जातीय भेदभाव की समाप्ति हुई है।**

(8) सुधार आन्दोलनों के कारण **अन्तर्जातीय विवाह** होने लगे हैं। इससे विभिन्न जातियों के व्यक्ति निकट आये हैं और उनमें पारस्परिक समझ बढ़ी है।

(9) धार्मिक अन्धविश्वासों, रूढ़िवादिता एवं पाखण्डों की समाप्ति हुई है।

(10) **स्त्री शिक्षा में वृद्धि** हुई है। वे पढ़-लिखकर स्वयं धनोपार्जन करने लगी हैं। इसमें उनकी पुरुषों पर निर्भरता कम हुई और स्त्री स्वतन्त्रता बढ़ी है।

(11) सामाजिक सुधार आन्दोलनों के परिणामस्वरूप सामाजिक बुराइयों को समाप्त करने के लिए कई कानून बनाये गये जिनमें बाल-विवाह निरोध अधिनियम, विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, सती प्रथा निरोध अधिनियम, अस्पृश्यता निवारण अधिनियम, हिन्दू विवाह अधिनियम, दहेज निरोधक अधिनियम, स्त्रियों व क़न्याओं का अनैतिक व्यापार निरोध अधिनियम, आदि प्रमुख हैं। स्पष्ट है कि विभिन्न सामाजिक आन्दोलनों ने भारत में सामाजिक सुधार एवं परिवर्तन लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है।

प्रश्न

1. पुनर्जागरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए भारतीय पुनर्जागरण की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
2. भारत में पुनर्जागरण आन्दोलन के कारणों एवं उन्हें जन्म देने वाली परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए।
3. भारतीय पुनर्जागरण काल में सामाजिक चिन्तन पर एक लेख लिखिए।
4. भारतीय पुनर्जागरण के परिणामों का उल्लेख कीजिए।
5. भारत के सामाजिक पुनर्जागरण के समय में ब्रह्म समाज तथा आर्य समाज के प्रमुख सामाजिक विचारों का वर्णन कीजिए। (पूर्वांचल, 1990)
6. भारतीय पुनर्जागरण की विशेषताओं तथा सामाजिक सुधार आन्दोलन का वर्णन कीजिए। (पूर्वांचल, 1991, 96)
7. हिन्दू परम्परागत सामाजिक मूल्यों को निरन्तरित करते रहने में भारतीय पुनर्जागरण के सामाजिक सुधार आन्दोलनों की भूमिका का मूल्यांकन कीजिए। (पूर्वांचल, 1992)
8. भारतीय पुनर्जागरण काल के सामाजिक सुधार आन्दोलन की धार्मिक-सामाजिक पृष्ठभूमि की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1993)
9. भारतीय पुनर्जागरण काल के सामाजिक चिन्तन के प्रमुख लक्षणों की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1994)
10. राजा राममोहन राय के सामाजिक एवं राजनीतिक चिन्तन का मूल्यांकन कीजिए। (पूर्वांचल, 1997)

13

भारत में समाजशास्त्र
[SOCIOLOGY IN INDIA]

बॉटोमोर के अनुसार समाजशास्त्र एक आधुनिक विज्ञान है जो एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है।[1] वास्तव में अन्य सामाजिक विज्ञानों की तुलना में समाजशास्त्र एक नवीन विज्ञान है। एक विशिष्ट एवं पृथक् विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की उत्पत्ति का श्रेय फ्रांस के दार्शनिक ऑगस्ट कॉम्ट (Auguste Comte) को है जिन्होंने सन् 1838 में समाज के इस नवीन विज्ञान को समाजशास्त्र का नाम दिया। तब से समाजशास्त्र का निरन्तर विकास होता जा रहा है। लेकिन यहां यह प्रश्न उठता है कि क्या ऑगस्ट कॉम्ट के पहले समाज का व्यंवस्थित अध्ययन किसी के द्वारा भी नहीं किया गया। इस प्रश्न के उत्तर के रूप में यह कहा जा सकता है कि ऑगस्ट कॉम्ट के पूर्व भी अनेक विद्वानों ने समाज का व्यवस्थित अध्ययन करने का प्रयत्न किया, लेकिन एक स्वतन्त्र विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र अस्तित्व में नहीं आ सका। समाज के अध्ययन की परम्परा उतनी ही प्राचीन है जितना मानव का सामाजिक जीवन। मनुष्य में प्रारम्भ से ही अपने चारों ओर के पर्यावरण को समझने की जिज्ञासा रही है। उसे समय-समय पर विभिन्न प्रकार की समस्याओं का सामना भी करना पड़ा है। इन समस्याओं के हल के लिए व्यक्ति को एक-दूसरे के साथ मिलकर सामूहिक प्रयत्न भी करने पड़े हैं। इन सब प्रयत्नों के दौरान विभिन्न व्यक्तियों के बीच सामाजिक अन्त:क्रिया हुई, सामाजिक सम्बन्ध बने, अनेक समूह अस्तित्व में आये। साथ ही सहयोग, प्रतिस्पर्द्धा और संघर्ष भी देखने को मिले। व्यक्तियों के व्यवहारों को नियन्त्रित करने के लिए जनरीतियों, प्रथाओं एवं रूढ़ियों का विकास भी हुआ। उस समय सरल प्रकार के समाज पाये जाते थे, परन्तु उनसे सम्बन्धित विभिन्न पहलुओं पर समय-समय पर अनेक विचारकों ने चिन्तन अवश्य किया है, समाज और उससे सम्बन्धित समस्याओं के विषय में अपने विचार व्यक्त किये हैं। स्पष्ट है कि प्रारम्भ से ही व्यक्ति अपने विशिष्ट समाज को समझने का प्रयत्न करता रहा है। पश्चिमी समाजों में समाजशास्त्र के विकास एवं उसमें योग देने वाले प्रमुख समाजशास्त्रियों के बारे में हम पूर्व में उल्लेख कर चुके हैं। यहां हम भारत में समाजशास्त्र के विकास एवं उसमें विभिन्न समाजशास्त्रियों के योगदान का उल्लेख करेंगे।

1 T. B. Bottomore, Sociology : *A Guide to Problems and Literature*, p. 13.

भारत में समाजशास्त्र का विकास
(DEVELOPMENT OF SOCIOLOGY IN INDIA)

भारत में समाजशास्त्र के विकास को तीन युगों में बांटा जा सकता है :

(1) प्राचीन भारत में समाजशास्त्र का विकास।

(2) भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग।

(3) स्वतन्त्र भारत में समाजशास्त्र का व्यापक प्रसार युग।

(1) प्राचीन भारत में समाजशास्त्र का विकास (Development of Sociology in Ancient India)—प्राचीन भारतीय ग्रन्थों—वेद, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, गीता, स्मृतियों, आदि में सामाजिक चिन्तन (Social Thinking) का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है। इन ग्रन्थों के सूक्ष्म अवलोकन से ज्ञात होता है कि यहां उस समय सामाजिक व्यवस्था काफी उन्नत प्रकार की थी और जीवन के आवश्यक मूल्यों पर गहन चिन्तन प्रारम्भ हो चुका था। साथ ही उस समय सामाजिक व्यवस्था को बनाये रखने वाले आवश्यक तत्वों पर भी गम्भीरता से विचार चल रहा था। उस काल के ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि उस समय वर्णाश्रम व्यवस्था व्यक्ति और समाज के जीवन को किस प्रकार संचालित कर रही थी। यह व्यवस्था व्यक्ति और समाज के बीच सुन्दर समन्वय का एक उत्तम उदाहरण है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ जीवन के चार प्रमुख उद्देश्य थे, जिन्हें प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रयत्नशील रहता और अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए समाज-जीवन को उन्नत बनाने में योग देता। उस समय व्यक्ति को इतना महत्व नहीं दिया गया कि वह समाज पर हावी हो जाय और साथ ही समाज को भी इतना शक्तिशाली नहीं मान लिया गया कि व्यक्ति का व्यक्तित्व दब कर रह जाय और वह (समाज) व्यक्ति को निगल जाय। उस समय के चिन्तक इस बात से परिचित थे कि केवल भौतिकता और व्यक्तिवादिता के आधार पर व्यक्ति के जीवन को पूर्णता प्रदान नहीं की जा सकती। अतः इन्होंने आध्यात्मवाद का सहारा लिया, धर्म के आधार पर व्यक्ति के आचरण को निश्चित करने का प्रयत्न किया। यह सम्पूर्ण सामाजिक चिन्तन व समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से अमूल्य सामग्री है।

कौटिल्य (चाणक्य) के अर्थशास्त्र, शुक्राचार्य के नीतिशास्त्र, मनु की मनु स्मृति, मुगल काल में लिखी गयी आईने अकबरी, आदि ग्रन्थों से पता चलता है कि उस समय सामाजिक व्यवस्था कैसी थी, किस प्रकार की रीति-रिवाज, सामाजिक प्रथाएं, परम्पराएं और आचरण सम्बन्धी आदर्श नियम (Norms) प्रचलित थे। इन ग्रन्थों के अध्ययन से उस समय की समाज-व्यवस्था को समझने और उसमें समय-समय पर होने वाले परिवर्तनों को जानने में सहायता मिलती है। उदाहरण के रूप में मनुस्मृति में सामाजिक ज्ञान भरा पड़ा है। इसमें वर्ण, जाति विवाह, परिवार, राज्य, धर्म, आदि पर गम्भीरता से विचार किया गया है। इस ग्रन्थ ने समाज के भावी स्वरूप को निर्धारित करने में काफी योग दिया। **प्राचीन ग्रन्थों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने की दिशा में प्रो. विनयकुमार सरकार, प्रो. बृजेन्द्रनाथ, डॉ. भगवानदास एवं प्रो. केवल मोतवानी ने महत्वपूर्ण योग दिया है।** वर्तमान में आवश्यकता इस बात की है कि प्राचीन भारतीय विचारों पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से चिन्तन और मनन किया जाय। यहां हमें इतना अवश्य ध्यान में रखना है कि उस समय की समाज-व्यवस्था एवं सामाजिक चिन्तन पर धर्म का काफी प्रभाव था। लेकिन ऐसा होना स्वाभाविक भी है। इसका

कारण यह है कि समाज-व्यवस्था के निर्माण में समाज विशेष की संस्कृति एवं विशेषताओं का काफी योगदान होता है। उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि वैदिक काल से ही भारत में समाजशास्त्र के विकास की परम्परा प्रारम्भ हो चुकी थी, यद्यपि मध्यकाल में यहां सामाजिक व्यवस्थाओं के अध्ययन पर ध्यान नहीं दिया गया।

(2) **भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग (Formal Establishment era of Sociology in India)**—भारत में समाजशास्त्र एक नवीन विज्ञान है। यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में यूरोप में समाजशास्त्र का एक व्यवस्थित विषय के रूप में विकास प्रारम्भ हो चुका था, परन्तु भारत में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के पहले तक ऐसा नहीं हो सका। यहां ऐसा कोई विज्ञान नहीं था जो समाज का सम्पूर्णता में अध्ययन करे। पश्चिम के देशों में समाजशास्त्र का विकास तेजी से होता जा रहा था, ऐसी दशा में भारतीयों का ध्यान भी भारत में समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में विकसित करने की ओर गया। परिणामस्वरूप यहां समाजशास्त्र के अध्ययन का कार्य प्रारम्भ हुआ। **सन् 1914 से 1947 तक का काल भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग कहा जा सकता है।**

यहां सर्वप्रथम सन् 1914 में बम्बई विश्वविद्यालय में स्नातक स्तर पर समाजशास्त्र का अध्ययन-कार्य प्रारम्भ हुआ। यहीं सन् 1919 में ब्रिटिश समाजशास्त्री प्रो. पैट्रिक गेड्डिस (Prof. Patric Geddes) की अध्यक्षता में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना हुई और समाजशास्त्र की स्नातकोत्तर कक्षाएं शुरू की गयीं। सन् 1921 में कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रो. बृजेन्द्रनाथ शील के प्रयत्नों से अर्थशास्त्र विषय के साथ समाजशास्त्र का अध्यापन-कार्य चालू किया गया। डॉ. राधाकमल मुकर्जी, विनय कुमार सरकार, डॉ. डी. एन. मजूमदार तथा प्रो. निर्मल कुमार बोस जैसे प्रतिभाशाली विद्वान डॉ. बृजेन्द्रनाथ शील के ही विद्यार्थी थे जिन्होंने आगे चलकर समाजशास्त्र के विकास में काफी योग दिया। सन् 1921 में लखनऊ विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग के अन्तर्गत समाजशास्त्र को मान्यता अवश्य दी गयी, परन्तु इस विषय का अध्ययन अर्थशास्त्र विषय के अन्तर्गत ही किया जाने लगा। यहां देश के प्रमुख विद्वान डॉ. राधाकमल मुकर्जी को समाजशास्त्र का विभागाध्यक्ष नियुक्त किया गया। सन् 1924 में प्रो. पैट्रिक गेडिस के बाद उन्हीं के शिष्य और देश-विदेश में जाने-माने समाजशास्त्री डॉ. जी. एस. घुरिये को बम्बई विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र के विभागाध्यक्ष का पद सुशोभित करने का अवसर मिला। प्रो. राधाकमल मुकर्जी और डॉ. जी. एस. घुरिये का भारत में समाजशास्त्र के विकास में महत्वपूर्ण योग रहा है। मैसूर विश्वविद्यालय में सन् 1923 में स्नातक कक्षाओं में इस विषय को पढ़ाया जाने लगा। इसी वर्ष आंध्र विश्वविद्यालयों में भी समाजशास्त्र को एक विषय के रूप में मान्यता प्रदान की गयी। सन् 1930 में पूना विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र विभाग प्रारम्भ हुआ और श्रीमती इरावती कर्वे ने विभागाध्यक्ष का पद संभाला। धीरे-धीरे देश के कुछ अन्य विश्वविद्यालयों में भी समाजशास्त्र को बी. ए. तथा एम. ए. के पाठ्यक्रम में सम्मिलित कर लिया गया। सन् 1947 के पूर्व तक देश में समाजशास्त्र के विकास की गति काफी धीमी रही, परन्तु इस काल में यहां समाजशास्त्र की नींव अवश्य पड़ चुकी थी। इतना अवश्य है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पूर्व तक कहीं समाजशास्त्र अर्थशास्त्र के साथ तो कहीं मानवशास्त्र या दर्शनशास्त्र के साथ जुड़ा रहा है और एक स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त नहीं कर सका।

(3) स्वतन्त्र भारत में समाजशास्त्र का व्यापक प्रसार युग (Wide Expansion era of Sociology in Independent India)—**सन् 1947 में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से यह युग प्रारम्भ होता है।** इस युग में समाजशास्त्र को देश के विभिन्न विश्वविद्यालयों में एक व्यवस्थित स्वतन्त्र विषय के रूप में मान्यता प्राप्त हुई तथा इसके अध्ययन-अध्यापन की ओर लोगों का ध्यान गया। वर्तमान में देश के आधे से अधिक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विभाग की स्थापना हो चुकी है। वर्तमान में मुम्बई, कलकत्ता, लखनऊ, मैसूर, आंध्र, पूना, बड़ौदा, गुजरात, पटना, भागलपुर, गोरखपुर, दिल्ली, जबलपुर, पंजाब, नागपुर, राजस्थान, जोधपुर, उदयपुर, अजमेर, कोटा, इन्दौर, ग्वालियर, भोपाल, रायपुर, रांची, काशी विद्यापीठ, कुमाऊं, रुहेलखण्ड, बुन्देलखण्ड, बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय, मेरठ, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय, चेन्नई, कानपुर, आदि विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र विभागों की स्थापना हो चुकी है। इनके अतिरिक्त देश के अनेक राजकीय एवं अराजकीय महाविद्यालयों में भी बी. ए. और एम. ए. स्तर पर समाजशास्त्र का अध्यापन-कार्य चल रहा है। वर्तमान में इस विषय की लोकप्रियता एवं उपयोगिता तेजी के साथ बढ़ती जा रही है।

अब तो अनेक विश्वविद्यालयों में समाजशास्त्र से सम्बन्धित शोध-कार्य भी चल रहे हैं। साथ ही समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से देश में कुछ शोध-संस्थान (Research Institutes) भी प्रारम्भ किये गये हैं। ऐसे संस्थानों में इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज, आगरा; टाटा इंस्टीट्यूट ऑफ सोशल साइन्सेज, मुम्बई; जे. के. इंस्टीट्यूट ऑफ सोशियोलॉजी एवं सोशल वर्क्स, लखनऊ; आई. आई. टी., कानुपर, आदि प्रमुख हैं। वर्तमान में कृषि विश्वविद्यालयों में भी समाजशास्त्र (विशेषतः ग्रामीण समाजशास्त्र) के प्रति दिनों-दिन रुचि बढ़ती ही जा रही है। आजकल तो चिकित्सा-संस्थानों (Medical Institutes) में भी समाजशास्त्रीय ज्ञान का महत्व बढ़ता जा रहा है अब चिकित्सा प्रक्रिया में समाजशास्त्रियों की महत्वपूर्ण सेवाओं का लाभ उठाया जाने लगा है। वर्तमान में यह कहा जा सकता है कि इन सभी विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों एवं शोध-संस्थानों के प्रयत्नों से समाजशास्त्र विकास की दिशा में अग्रसर होता जायेगा तथा इसकी सैद्धान्तिक परिपक्वता (Theoretical Maturity) तथा व्यावहारिक उपयोगिता (Practical Utility) बढ़ती ही जायेगी। इसके विकास की भावी दिशा देश के प्रतिभाशाली एवं मूर्धन्य समाजशास्त्रियों पर निर्भर करती है। अब हम यहां समाजशास्त्र के विकास की कुछ प्रमुख प्रवृत्तियों और विभिन्न समाजशास्त्रियों के योगदान की संक्षिप्त में विवेचना करेंगे।

भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियां (Trends of Development of Sociology in India)

भारत में समाजशास्त्र के विकास की तीन प्रवृत्तियां स्पष्टतः दिखायी पड़ती हैं। यहां एक ओर वे समाजशास्त्री आते हैं जो पश्चिमी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं पद्धतियों के आधार पर भारत में समाजशास्त्र को विकसित करना चाहते हैं। दूसरी ओर वे समाजशास्त्री आते हैं जो भारतीय परम्परा, चिन्तन एवं संस्कृति के आधार पर भारत में समाजशास्त्र का विकास चाहते हैं। तीसरी ओर वे समाजशास्त्री आते हैं जो पश्चिमी और भारतीय चिन्तन के समन्वय के आधार पर भारत में समाजशास्त्र का विकास चाहते हैं। इन तीन प्रकार की विचारधाराओं से सम्बन्धित प्रवृत्तियां अग्र प्रकार हैं :

(1) पाश्चात्य समाजशास्त्रीय परम्परा से प्रभावित।

(2) परम्परागत भारतीय चिन्तन से प्रभावित।

(3) पाश्चात्य एवं भारतीय समाजशास्त्रीय परम्पराओं के समन्वित चिन्तन से प्रभावित।

अब यहां हम इन पर एक-एक करके विचार करेंगे।

(1) **पाश्चात्य समाजशास्त्रीय परम्परा से प्रभावित** (Influenced by Western Sociological Thinking)—इस विचारधारा के मानने वाले विद्वानों का कहना है कि भारत में पश्चिमी समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं अध्ययन-पद्धतियों को काम में लेते हुए ही समाजशास्त्र का विकास किया जा सकता है। इस विचारधारा से सम्बन्धित लोगों का कहना है कि पश्चिमी देशों में जिस प्रकार के समाजशास्त्रीय अध्ययन हुए हैं, उसी प्रकार के अध्ययन भारत में भी किये जाने चाहिए। भारत में ऐसे विद्वानों की संख्या काफी है जिन्होंने इस विचारधारा से प्रभावित होकर समाजशास्त्रीय अध्ययन किये हैं। इस प्रकार के अध्ययनों में निम्नलिखित अध्ययन प्रमुख हैं :

यहां पाश्चात्य समाजशास्त्रीय चिन्तन से प्रभावित होकर जाति, वर्ग, विवाह, परिवार, नातेदारी और धर्म से सम्बन्धित अनेक अनुभवात्मक अध्ययन (Empirical Studies) **किये गये हैं।** ऐसे अध्ययनकर्ताओं में डॉ. हट्टन, रिजले, डॉ. घुरिये, मजूमदार एवं कापडिया के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं। इन विद्वानों ने उपर्युक्त विषयों पर गहन अध्ययन कर समाजशास्त्र के विकास में अपूर्व योग दिया। **डॉ. हट्टन और मजूमदार** ने भारतीय जाति-व्यवस्था की सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत की है। **डॉ. घुरिये** ने विभिन्न समाजशास्त्रीय विषयों पर लिखा है, जिनमें जाति, वर्ग, व्यवसाय, परिवार एवं धर्म, आदि मुख्य हैं। आपने अनेक पुस्तकें भी लिखी हैं जिनमें (i) *Caste, Class and Occupation*; (ii) *Culture and Society*; (iii) *Cities and Civilization* प्रमुख हैं। आपके प्रयत्नों से सन् 1952 में 'Indian Sociological Society की स्थापना हुई जिसने 'सोसियोलॉजिकल बुलेटिन' (Sociological Bulletin) का प्रकाशन किया। आप ही इस प्रत्रिका के प्रथम सम्पादक रहे हैं। **डॉ. के. एम. कापडिया** ने विवाह, परिवार और नातेदारी पर अपने अध्ययनों के आधार पर बहुत कुछ लिखा है। आपके कई लेखों के अतिरिक्त दो महत्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं : (i) *Marriage and Family in India*, तथा (ii) *Hindu Kinship* । **डॉ. मजूमदार** ने बिहार, मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश तथा बंगाल के जनजातीय क्षेत्रों में महत्वपूर्ण अनुसन्धान कार्य किया है। जाति-व्यवस्था और ग्रामीण भारत के सम्बन्ध में भी आपने काफी कुछ लिखा है। आपकी पुस्तकों में निम्नलिखित पुस्तकें प्रमुख हैं : (i) *Races and Cultures of India*; (ii) *An Introduction to Social Anthropology*; (iii) *A Tribe in Transition*; तथा (iv) *Caste and Communication in an Indian Village* ।

इस विचारधारा से सम्बन्धित अन्य विद्वानों में वे लोग आते हैं जिन्होंने धार्मिक विश्वासों तथा नैतिक विचारों के तुलनात्मक अध्ययन पर जोर दिया है। उदाहरण के रूप में **डॉ. एम. एन. श्रीनिवास** ने दक्षिण के कुर्ग प्रदेश में कुर्ग लोगों का इस दृष्टि से अध्ययन किया और अपनी प्रसिद्ध पुस्तक *'Religion and Society among the Coorgs of South India'* लिखी। अन्य समाजशास्त्रियों ने इस प्रकार के अध्ययनों में कोई विशेष रुचि नहीं दिखायी, यद्यपि भारत में ऐसे अध्ययनों की काफी महत्ता एवं उपयोगिता है। आपने भारत में जाति

के सन्दर्भ में होने वाले परिवर्तनों को समझाने हेतु **'संस्कृतिकरण'** (Sanskritization) नामक अवधारणा प्रस्तुत की। आपकी उपर्युक्त पुस्तक के अलावा अन्य प्रमुख पुस्तकें निम्नलिखित हैं : (i) *Marriage and Family in Mysore*; (ii) *Caste in Modern India and other Essays*; (iii) *Social Change in Modern India*, (iv) *Indian Village*; (v) *The Remembered Village.*

यहां अनेक विद्वानों ने **'ग्रामीण अध्ययन'** (Village Studies) भी किये हैं। ये अध्ययन अमरीका की समाजशास्त्रीय परम्परा से काफी प्रभावित हैं। भारत में डॉ. एस. सी. दुबे, डॉ. मजूमदार, डॉ. ए. आर. देसाई, आदि प्रमुख समाजशास्त्रियों ने ग्रामीण समाज के अध्ययन में विशेष रुचि दिखायी है।

डॉ. दुबे की निम्नलिखित पुस्तकें काफी लोकप्रिय हैं : (i) *An Indian Village*; (ii) *India's Changing Villages*, तथा (iii) *The Kamar*। प्रथम पुस्तक में शोध-कार्यों के आधार पर ग्रामीण समुदायों पर बहुत कुछ लिखा गया और साथ ही वहां चल रहे विकास कार्यों की धीमी गति के कारणों का विश्लेषण किया गया है। **डॉ. मजूमदार** ने अपनी पुस्तक *'Rural Profile'* ने ग्रामीण समाज का समाजशास्त्रीय दृष्टि से चित्रण किया है। **डॉ. ए. आर. देसाई** ने भारतीय ग्रामीण समाज पर काफी कुछ सामग्री उपलब्ध करायी है। आपकी पुस्तकें (i) *Rural Sociology in India*, तथा (ii) *Rural India in Transition* काफी लोकप्रिय हैं।

समाजशास्त्र की इस परम्परा से सम्बन्धित एवं अन्य प्रवृत्ति सामाजिक और आर्थिक कारकों के एक-दूसरे पर पड़ने वाले प्रभावों के अध्ययन से सम्बन्धित है। इस प्रवृत्ति को **'सामाजिक अर्थशास्त्र'** के नाम से जाना जाता है। इस प्रवृत्ति के विकास में डॉ. राधाकमल मुकर्जी और प्रो. डी. पी. मुकर्जी का विशेष योगदान है। **डॉ. राधाकमल मुकर्जी** ने 'अर्थशास्त्र का संस्थात्मक सिद्धान्त' (*Institutional Theory of Economics*) प्रतिपादित किया। इसमें आपने बताया है कि सामाजिक मूल्य और परम्पराएं आर्थिक जीवन को काफी मात्रा में प्रभावित करती हैं। **डॉ. डी. पी. मुकर्जी** ने अर्थशास्त्र से सम्बन्धित प्राचीन ज्ञान को इतिहास एवं समाजशास्त्र से जोड़ने की दृष्टि से महत्वपूर्ण कार्य किया। यद्यपि ये दोनों विद्वान प्रमुखतः अर्थशास्त्री थे, परन्तु इन्होंने अपने मौलिक चिन्तन और समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के कारण समाजशास्त्र के विकास में काफी योग दिया।

भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन पर पश्चिम का काफी प्रभाव होने के कारण यहां समाजशास्त्र का स्वतन्त्र रूप से विकास नहीं हो सका। यहां समाजशास्त्र में आत्म-निर्भरता (Self-Sufficiency) का अभाव पाया जाता है। डॉ. एस. सी. दुबे की मान्यता है कि भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन और लेखन में उपनिवेशवाद का स्पष्ट प्रभाव अब भी देखने को मिलता है। यहां के बुद्धिजीवी अब भी पाश्चात्य देशों के समाजशास्त्रियों से समाजशास्त्रीय चिन्तन की दृष्टि से प्रेरणा प्राप्त करते हैं, परन्तु वर्तमान में विश्वासपूर्वक यह कहा जा सकता है कि अब समाजशास्त्र उपनिवेशवाद के प्रभाव से छुटकारा प्राप्त करता और स्वतन्त्र रूप से विकसित होता जा रहा है।

(2) परम्परागत भारतीय चिन्तन से प्रभावित (Influenced by Traditional Indian Thinking)—भारत में समाजशास्त्र के विकास की द्वितीय प्रवृत्ति के समर्थकों के अनुसार

भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन की धारा का आधार पाश्चात्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्त नहीं होकर, भारतीय परम्परागत सिद्धान्त होने चाहिए। भारतीय समाज और संस्कृति में कुछ ऐसी विशेषताएं हैं, जिन्हें पाश्चात्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों का अन्धानुकरण करके ठीक से नहीं समझा जा सकता। ऐसी स्थिति में भारत में समाजशास्त्र का विकास परम्परागत भारतीय समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर ही किया जाना चाहिए। ऐसा करने पर ही हम भारतीय समाज को सही परिप्रेक्ष्य में समझ सकेंगे। इस प्रवृत्ति के समर्थकों में आनन्द कुमारास्वामी, डॉ. भगवानदास, प्रो. ए. के. सरन, डॉ. नगेन्द्र एवं नर्मदेश्वर प्रसाद, आदि प्रमुख हैं। आनन्द कुमारास्वामी एवं डॉ. भगवानदास ने भारतीय संस्कृति का काफी गहनता के साथ अध्ययन किया है। इन विद्वानों की मान्यता है कि पश्चिम से लिए गए सिद्धान्तों एव अवधारणाओं के आधार पर हम भारत को ठीक से नहीं समझ पायेंगे। भारतीय समाज और पाश्चात्य समाजों के सामाजिक मूल्यों, जीवन-दर्शन एवं संस्कृति में कुछ ऐसे मौलिक अन्तर हैं कि पाश्चात्य सिद्धान्त यहां के लोगों को भारतीय समाज को वास्तविक रूप में समझने में मदद नहीं दे पायेंगे। इन दोनों विद्वानों के अनुसार परम्परागत भारतीय विचारों का अध्ययन तार्किक दृष्टि से किया जाना चाहिए। प्रो. सरन ने भारतीय समाज की संरचना के अध्ययन के लिए सामाजिक मूल्यों की भलीभांति समझने पर जोर दिया है। प्रो. नर्मदेश्वर प्रसाद ने जाति-व्यवस्था के अध्ययन के आधार पर भारतीय समाज और सम्पूर्ण जीवन-व्यवस्था को समझाने का प्रयत्न किया है। इन सभी विद्वानों की मान्यता है कि भारतीय समाज; सामाजिक संस्थाएं और संस्कृति इतने व्यापक एवं जटिल हैं कि इनके अध्ययन से हम सम्पूर्ण भारतीय समाज-व्यवस्था को ठीक से समझ सकते हैं।

आज अधिकतर समाजशास्त्री यह मानने को तैयार नहीं हैं कि केवल परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों के आधार पर ही भारत में समाजशास्त्र का विकास किया जाना चाहिए। आजकल लोग बौद्धिक समन्वय में विश्वास करते हैं। पाश्चात्य देशों में समाजशास्त्र के क्षेत्र में जो कुछ कार्य हुआ है, उस पर भारतीय परिप्रेक्ष्य में विचार किया जाना चाहिए। यहां दृष्टिकोण यह नहीं होना चाहिए कि जो कुछ परम्परागत भारतीय चिन्तन या सिद्धान्त हैं, उन्हें हमें छोड़ना ही है तथा जो कुछ पाश्चात्य है, उसे ग्रहण करना ही है। भारत की समाज-व्यवस्था ठीक से समझने और यहां समाज के एक विज्ञान के रूप में विकास न केवल परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों का बल्कि जहां आवश्यक और लाभदायक हो, पाश्चात्य समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों एवं अवधारणाओं का भी सहारा लिया जाना चाहिए।

(3) पाश्चात्य एवं भारतीय समाजशास्त्रीय परम्पराओं से समन्वित चिन्तन से प्रभावित (Influenced by Synthetical Thinking of Western and Indian Sociological Traditions)—**इस प्रवृत्ति के समर्थकों में डॉ. राधाकमल मुकर्जी, प्रो. डी. पी. मुकर्जी, डॉ. जी. एस. घुरिये एवं डॉ. आर. एन. सक्सेना के नाम विशेषतः उल्लेखनीय हैं।** इन विद्वानों ने समाजशास्त्र के विकास की दृष्टि से परम्परागत एवं आधुनिक विचारों के समन्वय पर जोर दिया है। **डॉ. राधाकमल मुकर्जी** ने बताया है कि समाजशास्त्रीय विचारों को भली-भांति समझने के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिए। आपकी मान्यता है कि समाज के सामान्य सिद्धान्त को समझने हेतु समाज की संस्तरणात्मक प्रणाली (Hierachical System) और साथ ही उस समाज में मौजूद अलौकिक विश्वासों के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करना

आवश्यक है। पाश्चात्य समाजशास्त्रीय परम्पराओं से प्रभावित होकर आपने भारत में पारिस्थितीय समाजशास्त्र (Ecological Sociology) के विकास की काफी कोशिश की। आपकी एक प्रमुख देन 'प्रवासिता का सिद्धान्त' है। आपने अपने विचारों का प्रतिपादन अपनी निम्नलिखित प्रमुख पुस्तकों में विशेषतः किया है : (i) *Dynamics of Morals*, (ii) *Social Ecology*; (iii) *Social Structure of Values* ।

डॉ. डी. पी. मुकर्जी ने भारत में समाजशास्त्र के विकास में काफी योग दिया है। आपका दृढ़ विश्वास है कि भारतीय समाज का अपना स्वयं का कोई चिन्तन है स्वयं की कुछ मान्यताएं हैं जिनका भी अध्ययन किया जाना चाहिए। आप भारतीय समाज को समझने के लिए भारतीय परम्पराओं के अध्ययन को अत्यन्त आवश्यक मानते हैं। आपने तो यहां तक कहा है कि इन परम्पराओं का अध्ययन भारतीय समाजशास्त्रियों के लिए प्रमुख कर्तव्य होना चाहिए। आपकी मान्यता है कि भारत में अनुसन्धान कार्य केवल पश्चिम से आयातित सिद्धान्तों, अवधारणाओं एवं अध्ययन-पद्धतियों के आधार पर नहीं किया जाना चाहिए। यहां अनुसन्धान के लिए भारतीय परम्पराओं, प्रथाओं, संस्कारों जनरीतियों, आदि को ठीक से समझा जाना चाहिए। यहां भारतीय संस्कृति पर समय-समय पर अन्य संस्कृतियों का और विशेषतः पश्चिमी संस्कृतियों का प्रभाव भी पड़ा और इसके परिणामस्वरूप संस्कृतीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया भी प्रारम्भ हुई। संस्कृति के इस समन्वय को समझने के लिए ऐतिहासिक पद्धति का सहारा लिया जाना चाहिए। आपका दृढ़ विश्वास रहा है कि भारत में पाश्चात्य और भारतीय परम्पराओं के समन्वित चिन्तन के आधार पर ही समाजशास्त्र का उपयोगी ढंग से विकास हो सकता है। आपने अपने विचार प्रमुखतः निम्नलिखित पुस्तकों में व्यक्त किये हैं : (i) *Basic Concepts in Sociology*; (ii) *Modern Indian Culture*; (iii) *Diversities*; (iv) *Personality and Social Sciences*।

डॉ. जी. एस. घुरिये की मान्यता है कि केवल पश्चिमी सिद्धान्तों के अन्धानुकरण के आधार पर भारतीय समाज और संस्कृति को नहीं समझा जा सकता। इसके लिए पाश्चात्य और भारतीय परम्पराओं के समन्वित चिन्तन की आवश्यकता है। पश्चिम में समाजशास्त्र का जो कुछ विकास हुआ है, जो कुछ सिद्धान्त एवं अवधारणाएं विकसित हुई हैं, जो पद्धतियां अपनायी गयी हैं, उन्हें भारतीय परिस्थितियों एवं समाज-व्यवस्था की विशेषताओं को ध्यान में रखे बिना उसी रूप में अपनाना किसी भी दृष्टि से हितकर नहीं होगा। अतः उनमें आवश्यकतानुसार संशोधन करके भारतीय परम्पराओं को ध्यान में रखकर समन्वित चिन्तन के आधार पर ही भारत में समाजशास्त्र का विकास किया जाना चाहिए। आपकी प्रमुख रचनाओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। **डॉ. आर. एन. सक्सेना** भी उपर्युक्त प्रवृत्ति के ही समर्थक है। आपकी मान्यता है कि परम्परागत भारतीय सिद्धान्तों को समझने के लिए ऐतिहासिक दृष्टिकोण को अपनाया जाना चाहिए। आपने बताया है कि पुरुषार्थ सिद्धान्त—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष व्यक्ति के सभी प्रकार के सामाजिक सम्बन्धों का आधार है और समाजशास्त्र में इसके अध्ययन पर विशेष जोर दिया जाना चाहिए। आपके अनुसार प्राचीन भारतीय विचारों पर गम्भीरता से विचार किया जाना चाहिए।

भारत में समाजशास्त्र के विकास की अन्य प्रवृत्ति मार्क्सवादी चिन्तन से प्रभावित है। प्रो. डी. पी. मुकर्जी इसी प्रवृत्ति से प्रभावित रहे हैं, यद्यपि आपने सांस्कृतिक परम्पराओं के अध्ययन के आधार पर समाज-व्यवस्था को समझने पर जोर दिया है।

भारत में समाजशास्त्र के विकास में उपर्युक्त विद्वानों के अतिरिक्त डॉ. पी. एन. प्रभु, प्रो. सच्चिदानन्द, डॉ. योगेश अटल, योगेन्द्र सिंह, प्रो. एल. पी. विद्यार्थी, प्रो. राजाराम शास्त्री, प्रो. एम. एस. ए. राव, प्रो. वाई बी. दामले, डॉ. श्रीमती इरावती कर्वे, डॉ. टी. के. एन. युन्निनाथ, डॉ. बृजराज चौहान, प्रो. ए. के. सरन, प्रो. एस. पी. नगेन्द्र, आदि विद्वानों का योगदान भी काफी महत्वपूर्ण है।

हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद से अब तक भारत में समाजशास्त्रीय चिन्तन की कोई स्पष्ट दिशा नहीं बन पायी है। यहां अन्य देशों से आयातित समाजशास्त्रीय सिद्धान्तों को भारतीय समाज-व्यवस्था की विशिष्ट विशेषताओं को ध्यान में रखे बिना, अपनाये जाने की प्रबल प्रवृत्ति रही है। भारतीय समाज, संस्कृति और सामाजिक चिन्तन पर समाजशास्त्रीय दृष्टि से कम विचार हुआ है। यही कारण है कि यहां समाजशास्त्र की किसी निश्चित पुष्ट परम्परा का अभी तक विकास नहीं हो पाया है, यद्यपि इसके लक्षण अब दिखायी अवश्य देने लगे।

प्रश्न

1. भारत में समाजशास्त्र की उत्पत्ति एवं विकास पर लेख लिखिए।
2. भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रवृत्तियों पर एक लेख लिखिए।

14

गोविन्द सदाशिव घुरिये

[G. S. GHURYE]

भारत में समाजशास्त्र के साथ गोविन्द सदाशिव घुरिये का नाम बड़े सम्मान के साथ जुड़ा हुआ है। वे भारत की प्रथम पीढ़ी के समाजशास्त्रियों में से हैं जिन्होंने भारत में न केवल समाजशास्त्र को दृढ़ता से स्थापित किया वरन् कई ऐसे छात्र भी प्रदान किये जिन्होंने देश के विभिन्न भागों में समाजशास्त्र विषय की स्थापना की एवं समाजशास्त्रीय शोध एवं सिद्धान्तों के द्वारा समाजशास्त्रीय साहित्य को समृद्धि प्रदान की।

प्रो. घुरिये का जन्म 12 दिसम्बर, 1893 में महाराष्ट्र के मालवा क्षेत्र के एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ। उनका शैक्षणिक जीवन प्रारम्भ से ही उच्च कोटि का रहा है। उन्होंने अपनी सभी परीक्षाएं प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। उन्होंने सन् 1918 में संस्कृत में एवं बाद में अंग्रेजी में बम्बई के एल्फिन्स्टन कॉलेज से प्रथम श्रेणी में स्वर्ण पदक प्राप्त कर एम. ए. की परीक्षा पास की।

सन् 1919 में बम्बई विश्वविद्यालय ने समाजशास्त्र विषय पढ़ाने के लिए प्रो. पैट्रिक गेड्डिस को आमन्त्रित किया। इस समय प्रो. घुरिये एल्फिन्स्टन कॉलेज, बम्बई में संस्कृत के प्राध्यापक थे और यह कोई भी नहीं जानता था कि वे एक दिन भारत के महान् समाजशास्त्री बन जायेंगे। प्रो. गेड्डिस के भाषणों को जो लोग सुनते थे, उनमें से घुरिये भी एक थे। गेड्डिस ने ब्रिटिश विश्वविद्यालय में समाजशास्त्र में प्रशिक्षण पाने के लिए घुरिये का चयन किया। उनकी सिफारिश पर बम्बई विश्वविद्यालय ने घुरिये को लन्दन भेजा। कुछ समय तक प्रो. एल. टी. हाबहाउस के साथ अध्ययंन के बाद डॉ. डब्ल्यू. आर. एच. रिवर्स के पास कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में चले गये। वहां घुरिये ने अनेक लेख लिखे तथा डॉ. रिवर्स के निर्देशन में '*Ethnic Theory of Caste*' (जाति का प्रजातीय सिद्धान्त) विषय पर अपना शोध कार्य किया। प्रो. घुरिये के कार्यों पर डॉ. रिवर्स का स्पष्ट प्रभाव दिखायी देता था और उनका झुकाव मानवशास्त्रीय महत्व के विषयों, जैसे नातेदारी और प्रसारवाद की ओर था। प्रो. घुरिये के शोध कार्य की समाप्ति के पूर्व ही प्रो. रिवर्स का देहावसान हो गया।

सन् 1923 में प्रो. घुरिये केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि ग्रहण कर भारत लौट आये। सन् 1924 में उन्हें बम्बई विश्वविद्यालय के समाजशास्त्र विभाग के रीडर

एवं विभागाध्यक्ष पद पर नियुक्ति प्रदान की गई। सन् 1934 में घुरिये को प्रोफेसर के पद नियुक्त किया गया तथा 1959 में वे यहां से सेवा निवृत्त हुए। इसके बाद भी आपकी सेवाएं लेने के लिए बम्बई विश्वविद्यालय ने आपके लिए **'प्रोफेसर एमरीटस'** (Emeritus Professor) का एक नया पद सृजित किया। प्रो. घुरिये ने 25 से भी अधिक पुस्तकों की रचना की है, उन्होंने 800 एम. ए. छात्रों को शीघ्र कार्य एवं 87 छात्रों को डाक्टरेट हेतु शोध कार्य के लिए निर्देशित किया।

प्रो. घुरिये के लेखन में इतिहास, मानवशास्त्र और समाजशास्त्री परम्पराएं विद्यमान हैं। उन्होंने स्वयं ने ही नहीं वरन् अपने छात्रों को भी अनुभवाश्रित अध्ययन एवं अनुसन्धान करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने भारत के अनेक समाजशास्त्र के अध्यापकों को शिक्षा प्रदान की। वे Anthropological Society of Bombay' के 1945-50 तक अध्यक्ष भी रहे। घुरिये ने **'इण्डियन सोशियोलोजिकल सोसायटी'** (Indian Sociological Society) की स्थापना की और इसके तत्वावधान में सन् 1952 में **'सोशियोलोजिकल बुलेटिन'** नामक पत्रिका का प्रकाशन भी प्रारम्भ किया जो आज भारत में ही नहीं वरन् विश्व की प्रमुख समाजशास्त्रीय पत्रिकाओं में से एक है। वे 1966 तक इसके प्रथम अध्यक्ष के रूप में कार्य करते रहे।

भारतीय समाजशास्त्रीय जगत् में प्रो. घुरिये का विशिष्ट स्थान है। अपनी लेखन, निर्देशन, अध्यापन संगठन एवं प्रेरणा की अद्‌भुत क्षमता के कारण उन्होंने अपना एक अनुपम स्थान बना लिया है। उन्होंने भारत में समाजशास्त्रीय साहित्य को समृद्ध बनाने में जो योगदान दिया है, उसके लिए हम सभी उनके चिर ऋणी रहेंगे।

प्रो. घुरिये की कृतियां (Works of Prof. Ghurye)

प्रो. घुरिये की कृतियों की एक लम्बी सूची है। उन सभी का यहां उल्लेख करना सम्भव नहीं है, किन्तु उनमें से कुछ प्रमुख रचनाएं निम्नांकित हैं :

(1) *The Aborigines—So-called and Their Future*, 1943
(2) *Vidyas : A Homage to Comte and a Contribution to Sociology of Knowledge*, 1957
(3) *Gods and Men*, 1962
(4) *Family and Kin in Indo-European Culture*, 1962
(5) *Cities and Civilization*, 1962
(6) *Anatomy of a Ruruban Community*, 1963
(7) *The Mahadev Koli*, 1963
(8) *The Scheduled Tribes*, 1963
(9) *Indian Sadhus*, 1964
(10) *Religious Consciousness*, 1965
(11) *Rajput Architecture*, 1968
(12) *Social Tensions in India*, 1968
(13) *Caste, Class and Occupation*, 1961।

यह पुस्तक पूर्व में *Caste and Class in India* तथा *Caste and Race in India* नाम से भी छप चुकी है। इन दोनों पुस्तकों का ही यह परिवर्तित एवं संशोधित रूप है।

(14) *Two Brahmanical Institutions : Gotra and Varna*, 1972
(15) *I and other Explorations*, 1973
(16) *After a Century and a Quarter*
(17) *Culture and Society*
(18) *Occidental Civilization*
(19) *Indian Costume*
(20) *Bharat Natya and Its Costume*
(21) *Whither India*, 1974
(22) *Social Process.*

प्रो. घुरिये ने अनेक विषयों पर लिखा है और उन्होंने जो अध्ययन पद्धति अपनायी है, वह ऐतिहासिक एवं भारतशास्त्रीय (Indology) पद्धति है।

हम यहां प्रो. घुरिये को कुछ प्रमुख कृतियों का विवरण प्रस्तुत करेंगे।

भारतीय साधु (Indian Sadhus)

यह पुस्तक प्रो. घुरिये ने 1964 में प्रकाशित की। इस पुस्तक में प्रो. घुरिये ने भारत में साधुवाद एवं साधुओं के उत्थान, इतिहास, कार्य और वर्तमान में हिन्दू साधुओं के संगठनों का उल्लेख किया है। इस पुस्तक में कुल 13 अध्याय हैं और अन्त में सन्दर्भ ग्रन्थों एवं पुस्तकों की सूची दी गयी है। प्रो. घुरिये ने भारत के विभिन्न साधु सम्प्रदायों जैसे दशनामी या शंकर सम्प्रदाय के साधुओं, दशनामी नागा या लड़ाकू साधु, नाथ पंथी या कनफड़ा जोगियों, सुधारवादी संन्यासियों, वैरागी या वैष्णव साधुओं, केतु समुदायी नागा या लड़ाकू बैरागियों, सुधारवादी वैरागियों तथा विभिन्न सम्प्रदायों एवं पंथों के साधुओं के बारे में विस्तृत जानकारी प्रदान की है। भारतीय इतिहास के उपेक्षित अध्याय को प्रो. घुरिये ने ही इस पुस्तक के माध्यम से उजागर किया है। भारतीय साधुओं के बारे में यह पुस्तक समाजशास्त्रीय दृष्टि से महत्वपूर्ण सूचना प्रदान करती है।

मानवशास्त्रीय-समाजशास्त्रीय पत्र (Anthropo-Sociological Papers)

इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1963 में हुआ। इस पुस्तक में प्रो. घुरिये ने मानवशास्त्र और समाजशास्त्र से सम्बन्धित जो विभिन्न लेख समय-समय पर लिखे और विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुए उनका संकलन किया है। इनमें जिन विषयों से सम्बन्धित लेख हैं, वे हैं—भारत में द्वैध संगठन (Dual Organisation in India), काठियावाड़ में ममेरे-फुफेरे भाई-बहिनों का विवाह तथा द्वैध संगठन, नातेदारों का नामकरण, विवाह की आयु, भारत में विवाह और वैधव्य, मिस्र की नातेदारी प्रथा एवं भारत की दाह-क्रियाएं, मानव नाल (Placenta) को पृथक् करना, सामाजिक कार्य एवं समाजशास्त्र, सामाजिक श्रेणी के रूप में मित्रता, भारतीय परम्परा, भारतीय एकता, मूल्य और समाज, शैली और सभ्यता, नवाचार और गतिशीलता का समाजशास्त्र आदि। इस पुस्तक में कुल 17 विषयों पर 17 अध्याय लिखे गये हैं।

भारत में सामाजिक तनाव (Social Tensions in India)

इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1968 में हुआ। इस पुस्तक में कुल 14 अध्याय हैं जिनमें तनाव, संघर्ष एकीकरण के अर्थ, उनकी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक व्याख्या तथा भारतीय

सन्दर्भ में विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। प्रथम अध्याय में तनाव, संघर्ष और एकीकरण के अर्थ, विशेषताओं, कारणों, आदि पर प्रकाश डाला गया है। दूसरे अध्याय में अल्पसंख्यकों के सन्दर्भ में तनाव की चर्चा की गयी है। तीसरे अध्याय में मानव अधिकार और अल्पसंख्यक, चौथे अध्याय में अल्पसंख्यकों के बारे में भारतीय संविधान में किये गये प्रावधानों, पांचवें, छठे व सातवें अध्यायों में भारतीय इतिहास एवं संस्कृति का संक्षिप्त विवरण एवं उस पर पड़ने वाले मुसलमानों एवं ईसाई प्रभावों, आठवें अध्याय में हिन्दू व मुस्लिम कला एवं भवन निर्माण कलाओं के मिश्रण का, अध्याय 9 में मुसलमानों में पनपी उदासीनता का, अध्याय दस में हिन्दू-मुस्लिम दंगों का, अध्याय ग्यारह एवं बारह में भारतीय मुसलमानों के विचारों एवं कार्यों का, अध्याय तेरह में भाषाई तनावों का तथा अध्याय चौदह में राष्ट्रीय एकीकरण का विस्तृत उल्लेख किया गया है।

नगर और सभ्यता (Cities and Civilization)

इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1962 में हुआ। इस पुस्तक में कुल ग्यारह अध्याय हैं। इसमें नगरों के प्राकृतिक इतिहास, अमेरिका एवं इंग्लैण्ड के नगरों का इतिहास, भारत के नगरों की स्थिति एवं उनकी वृद्धि, नगर राजधानियों के रूप में तथा विशाल नगरों के रूप का उल्लेख करने के बाद अन्तिम तीन अध्यायों में मुम्बई नगर के बारे में विस्तार से चर्चा की गयी है। इस प्रकार से यह पुस्तक नगरीय समाजशास्त्र के क्षेत्र में प्रो. घुरिये की महत्वपूर्ण कृति कही जा सकती है।

संस्कृति एवं समाज (Culture and Society)

इस पुस्तक में प्रो. घुरिये ने संस्कृति और समाज के सम्बन्धों का उल्लेख किया है। आपने इस पुस्तक में यह दर्शाने का प्रयत्न किया है कि सामाजिक विघटन के कारण संस्कृति को भी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। भारतीयों को वर्तमान में विज्ञान एवं मानवता के बीच उत्पन्न असन्तुलन के कारण अपने राष्ट्र निर्माण के कार्य को सावधानीपूर्वक करने की अपेक्षा भी घुरिये ने की है।

प्रो. घुरिये की इस पुस्तक का प्रकाशन सन् 1963 में हुआ। इसके अन्तर्गत हवेली तालुका के 111 गांवों का अध्ययन है जो लोग नगरीय-नैरन्तर्य (Folk Urban-Continum) की परम्परा में पारिस्थितिकीय अध्ययन है। गांवों के आकार को आधार मानकर इसमें गांवों को विभिन्न भागों में बांटा गया है। आठ गांव जिनकी जनसंख्या तीन हजार या उससे अधिक है, को कृषिपुरा कहा जाता है। दस गांव जिनकी जनसंख्या दो हजार से तीन हजार के बीच होती है, को ग्राम राजा कहा जाता है। 34 गांव जिनकी जनसंख्या एक हजार से दो हजार के बीच है, उन्हें महाग्राम कहा जाता है। बीस गांव ऐसे हैं जिनकी जनसंख्या 500 से कम है, को खेतका (छोटे गांव) कहा गया। पूरे हवेली तालुका के लिए घुरिये ने 'समुदाय' (Community) शब्द का प्रयोग किया। सन् 1891 से 1951 तक के जनसंख्या के आंकड़ों का उपयोग करते हुए जनसंख्या की संख्या एवं घनत्व की गणना की गयी है। धार्मिक-सामाजिक पक्षों पर विशेष ध्यान दिया गया है तथा शैक्षणिक और आर्थिक परिवर्तनों पर विचार किया गया है। इस अध्ययन में उपलब्ध सामग्री के आधार पर भारत के विभिन्न भागों के गांवों से तुलना की योजना बनायी जा सकती है।

जाति, वर्ग एवं व्यवसाय (Caste, Class and Occupation)

प्रो. घुरिये की यह पुस्तक पूर्व में लिखी दो पुस्तकों *Caste and Class in India* तथा *Caste and Race in India* का ही विस्तृत रूप है। इस पुस्तक में कुल 12 अध्याय हैं जिनमें जाति प्रथा के लक्षणों, स्वरूपों, विभिन्न युगों में जाति, प्रजाति एवं जाति, भारत के बाहर जाति के तत्वों, जाति की उत्पत्ति, अनुसूचित जातियों, व्यवसाय एवं जाति, वर्ग के कार्यों एवं जाति के भविष्य आदि विषयों पर चर्चा की गयी है। इस पुस्तक में व्यक्त विचारों की विस्तार से चर्चा आगे के पृष्ठों में की गयी है।

नीग्रो अफ्रीका में प्रजातीय सम्बन्ध (Race Relations in Negro Africa)

इस पुस्तक में प्रो. घुरिये ने अफ्रीका में प्रजातीय भेद-भाव पर आधारित नीग्रो समस्या पर वैषयिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। इसमें प्रजातीय तनावों का उल्लेख किया गया है जो सहारा के दक्षिण में अफ्रीका में मौजूद थे।

अनुसूचित जनजातियां (The Scheduled Tribes)

प्रो. घुरिये ने '*The Scheduled Tribes*' नामक अपनी पुस्तक में भारत की जनजातियों की समस्याओं और उनके समाधान के बारे में विस्तार से चर्चा की है। साथ ही उन्होंने कुछ भारतीय जनजातियों के सामाजिक संगठन, परिवार, विवाह, नातेदारी एवं धर्म, आदि के बारे में भी पूर्ण ब्यौरा प्रस्तुत किया है। यह पुस्तक पूर्व में प्रकाशित '*The Aborigines—so Called and Their Future*' नामक पुस्तक का ही परिवर्द्धित एवं संशोधित संस्करण है।

प्रथम अध्याय में प्रो. घुरिये ने जनजातियों के विभिन्न नामों जैसे आदिवासी, मूल निवासी, जनजाति, अनुसूचित जनजातियां आदि का उल्लेख किया है। भारत में विभिन्न वर्षों में हुई जनगणना में इनके लिए प्रयुक्त विभिन्न नामों का उल्लेख किया गया है।

अध्याय दो और तीन में जनजातियों का हिन्दुओं, ईसाइयों एवं अन्य लोगों से सम्पर्क एवं उनमें सात्मीकरण के कारण उत्पन्न तनावों और समस्याओं का उल्लेख किया गया है। **अध्याय चार और पांच** में जनजातियों के प्रति अंग्रेज शासकों की नीति का वर्णन किया गया है। **अध्याय छः** में जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु बुद्धिजीवियों द्वारा प्रस्तुत तीन दृष्टिकोण राष्ट्रीय उपवन, पृथक्करण एवं सात्मीकरण का उल्लेख किया गया है। **अध्याय सात** में सभी का एक समन्वित दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के साथ घुरिये ने अपने विचार भी व्यक्त किये हैं। **अध्याय आठ से ग्यारह तक** में भारत की प्रमुख जनजातियों के सामाजिक-धार्मिक जीवन, सामाजिक संरचना और संगठन, परिवार, विवाह और नातेदारी, आदि का उल्लेख किया गया है।

जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु वेरियर एल्विन ने **पुनरुद्धार एवं राष्ट्रीय उपवन (Revival and National Park)** का सुझाव दिया है। उनका मत है कि एक ऐसा क्षेत्र बनाया जाय, जहां आस-पास की जनजातियों को बसाया जाय। इस क्षेत्र में अन्य लोगों के प्रवेश पर प्रतिबन्ध लगा दिया जाय। इस उपवन में जहां तक सम्भव हो जनजातियों की संस्कृति एवं विशिष्ट विशेषताओं को बनाये रखने का प्रयास किया जाय। जनजाति के लोगों को इस क्षेत्र से बाहर जाने को कम से कम स्वीकृति दी जाय। इस प्रकार एल्विन राष्ट्रीय संरक्षित क्षेत्र के द्वारा जनजातियों के पुनरुत्थान की वकालत करते हैं।

हट्टन तथा मजूमदार आदि विद्वानों ने जनजातीय समस्याओं के समाधान हेतु **पृथक्करण (Isolation) की नीति** अपनाने का सुझाव दिया है। उनका मत है कि जनजातियों की सामाजिक-सांस्कृतिक धरोहर की निरन्तरता को बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि उनका पृथक् अस्तित्व बनाये रखा जाय।

प्रो. घुरिये ने उपर्युक्त दोनों ही दृष्टिकोणों की आलोचना की और उनके स्थान पर **आत्मसात** (Assimilation) का सुझाव दिया। घुरिये का मत है कि आदिम जातियां हिन्दू समाज का ही एक अंग हैं। ये पिछड़े हिन्दू हैं। अतः इनकी सभी सांस्कृतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं का समाधान हिन्दू समाज के साथ आत्मसात में ही निहित है।

प्रो. घुरिये की समाजशास्त्रीय जगत् को देन में से कुछ निम्नांकित हैं :

(1) प्रो. घुरिये ने जाति की उत्पत्ति का प्रजातीय सिद्धान्त प्रदान किया तथा जाति का भारतशास्त्रीय (Indologist) विश्लेषण किया। उन्होंने भारत के प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के आधार पर भारत में जाति और जनजाति का विश्लेषण किया और भारत में आर्य और अनार्य प्रजातियों एवं संस्कृतियों के मिश्रण के आधार पर भारतीय सामाजिक संस्थाओं के उद्विकास एवं परिवर्तन को समझाने का प्रयास किया।

(2) **भारतीय जनजातियों को घुरिये ने पिछड़े हिन्दू माना** तथा उनकी समस्याओं के समाधान हेतु वे उन्हें हिन्दू समाज में आत्मसात करने का सुझाव देते हैं।

(3) उनकी तीसरी देन नातेदारी के क्षेत्र में है। नातेदारी मानवशास्त्रियों के अध्ययन का विषय रहा है और उन्होंने नातेदारी का अध्ययन सम्बन्धों के नामकरण तथा प्रारम्भिक पारिवारिक एवं वैवाहिक स्वरूप क्या रहे होंगे, के सन्दर्भ में किया। किन्तु घुरिये ने सम्पूर्ण सामाजिक संगठन के सन्दर्भ में नातेदारी शब्दावली एवं नातेदारी का सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने नातेदारी की न केवल समाजशास्त्रीय व्याख्या की वरन् वे प्रथम भारतीय हैं जिन्होंने साहित्य का उपयोग वैज्ञानिक दृष्टि से किया।

(4) प्रो. घुरिये की चौथी देन अपने लेखन में समाजशास्त्रीय शोधों का उल्लेख है। उन्होंने स्वयं कई शोध कार्य किये। उनके निर्देशन में ही के. टी. मर्चेण्ट ने 1930-33 में परिवार और विवाह पर परिवर्तित विचारों का अध्ययन किया। स्वयं घुरिये ने बम्बई विश्वविद्यालय से अनेक निबन्ध प्रकाशित किये जो शोध पर आधारित थे। घुरिये के अनुसन्धान अभिवृत्तिमूलक अध्ययन (Attitudinal Studies) थे और उनकी दो प्रमुख कमियां थीं—उनमें निदर्शन एवं माप (Sampling & scale) का अभाव था। उनके अध्ययन की प्रमुख विशेषता यह रही है कि उन्होंने भारतीय सामाजिक संगठन एवं संस्कृति के बारे में ऐतिहासिक एवं समकालीन अनुभवाश्रित शोधों का प्रयोग किया है। उन्होंने संरचनात्मक-प्रकार्यात्मक पद्धति का भी प्रयोग किया।

(5) घुरिये की एक देन यह भी है कि उन्होंने सदैव समाज की ज्वलन्त समस्याओं पर अपना ध्यान केन्द्रित किया और समाज की समस्याओं का अध्ययन और उन पर अपने विचार उसी तरह व्यक्त किये जिस प्रकार से 19वीं और 20वीं सदी के समाजशास्त्रियों ने किये थे। उन्होंने इस सांस्कृतिक प्रत्यावर्तन (Cultural Retreat) की घड़ी में विश्वविद्यालय की भूमिका का भी उल्लेख किया। उन्होंने अफ्रीका की प्रजातीय समस्या पर भी अपनी पुस्तक प्रकाशित की। प्रो. घुरिये चाहे जाति, विवाह, अपराध या पुरातत्व पर कक्षा में भाषण

दे रहे हों, उनका समकालीन घटनाओं एवं व्यावहारिक समस्याओं पर अपना निजी अवलोकन रहा है। घुरिये की भारतीय समाजशास्त्र को देन के सन्दर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह भी है कि उन्होंने अपने अध्ययन में चाहे वे स्वयं द्वारा किये गये हों या उनके शोध छात्रों, एम. ए. के छात्रों या सहकर्मियों द्वारा, अनेक विषयों को समाहित किया है, जैसे—जाति, जनजाति, प्रजाति, सामाजिक दर्शन, सामाजिक, मनोविज्ञान, कला, लोकगीत, प्रादेशिक संस्कृति एवं सामाजिक पारिस्थितिकी, तनाव, मुसलमानों, ईसाइयों, जैनियों, जनजातियों एवं कृषकों के अध्ययन तथा प्रेस, सिनेमा एवं नातेदारी आदि। उन्होंने भारतीय जीवन के अध्ययन में संस्कृत की भूमिका को महत्व प्रदान किया है। संस्कृति घुरिये के लिए एक सम्पदा और शक्ति (Asset and Strength) है।

घुरिये को भारत में और विदेशों में एक श्रेष्ठ समाजशास्त्री के रूप में ख्याति प्राप्त है। उनके बारे में **राबर्ट मर्टन** लिखते हैं, "उनके कार्य इस देश में लम्बे समय तक जाने जायेंगे तथा उन्होंने उन्हें समाजशास्त्रीय सृजनात्मकता के प्रतीक बना दिया है।"[1] प्रो. बी. एस. गुहा ने भी उनके बारे में लिखा है कि ऐसे बहुत थोड़े लोग हैं जिन्होंने भारतीय मानवशास्त्र के लिए इतना अधिक किया जितना प्रो. घुरिये ने अध्यापन और शोध में किया है।"

(6) घुरिये की एक महान् देन यह है कि उन्होंने देश को अनेक लब्ध प्रतिष्ठित समाजशास्त्री प्रदान किये जो देश के विभिन्न भागों में विश्वविद्यालयों एवं महाविद्यालयों में समाजशास्त्र और मानवशास्त्र का अध्यापन कर रहे हैं तथा शोध कार्यों में संलग्न हैं। उन्होंने एम. एन. श्रीनिवास जैसे महान् भारतीय समाजशास्त्रियों को अपना शिष्यत्व प्रदान किया। इनके अतिरिक्त ए. आर. देसाई, एम. एस. गोरे, आई. पी. देसाई, वाई. वी. दामले, एम. एस. राव, श्रीमती इरावती कर्वे एवं के. एम. कापडिया जैसे महान् समाजशास्त्री भी आपके छात्र रहे हैं। घुरिये के व्याख्यान निर्देश देने वाले, मनोरंजक तथा जीवंत होते हैं जिनमें विनोद, व्यंग्य बुद्धि और महाराष्ट्रियन नाटकीय योग्यता पायी जाती है।

प्रो. घुरिये एक प्रसन्न और गर्वित पिता के रूप में जाने जाते हैं। उनके दो पुत्र हैं जिनका अच्छा शैक्षणिक रिकार्ड है। पढ़ना उनकी प्रमुख रुचि है और वे आराम के समय में शास्त्रीय गीत सुनना पसन्द करते हैं।

प्रो. घुरिये के सामाजिक विचार एवं सिद्धान्त
(SOCIAL VIEWS AND THEORIE'S OF PROF. GHURYE)

प्रो. घुरिये ने जाति की विशेषताओं, उत्पत्ति, विभिन्न युगों में उसमें होने वाले परिवर्तनों, जाति एवं प्रजाति तथा अन्य अवधारणाओं, अनुसूचित जातियों, व्यवसाय एवं जाति का भविष्य, अनुसूचित जनजातियां—उनकी समस्याएं एवं समाधान, भारत में सामाजिक तनाव, आदि विषयों पर अपना गहन अध्ययन प्रस्तुत किया है और उन्हें ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझाकर उनके वर्तमान और भविष्य के बारे में भी अपने अमूल्य विचार व्यक्त किये हैं।

प्रो. घुरिये के जाति प्रथा पर विचार (Prof. Ghurye's Views on Caste-System)

प्रो. घुरिये ने जाति से सम्बन्धित अपने विचारों की विस्तृत विवेचना '*Caste, Class and Occupation*' नामक पुस्तक में की है। जाति के बारे में घुरिये के विचारों को जानने से पूर्व जाति के अर्थ एवं परिभाषा को जान लेना आवश्यक है।

1 "His work has long been known in this country and has made him a symbol of sociological creativeness." —R. K. Merton, From Prof. *Ghurye Felicitation Volume*, edited by K. M. Kapadia, p. XX.

जाति का अर्थ तथा परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF CASTE)

जाति शब्द अंग्रेजी भाषा के **कास्ट** (caste) का हिन्दी अनुवाद है। अंग्रेजी के caste शब्द की व्युत्पत्ति पुर्तगाली भाषा के 'casta' शब्द से हुई है जिसका अर्थ मत, विभेद तथा जाति से लगाया जाता है। जाति शब्द की उत्पत्ति का पता 1665 में ग्रेसिया-डी ओरेटा नामक विद्वान ने लगाया। उसके बाद फ्रांस के अब्बे डुब्बॉय ने इसका प्रयोग प्रजाति के सन्दर्भ में किया। विभिन्न विद्वानों ने जाति को परिभाषित करने का प्रयास किया है।

मजूमदार एवं मदान के अनुसार, "जाति एक बन्द वर्ग है।"[1]

कूले के शब्दों में, "जब एक वर्ग पूर्णतः आनुवंशिकता पर आधारित होता है, तो हम उसे जाति कहते हैं।"[2] इन दोनों परिभाषाओं में इस बात पर जोर दिया गया है कि जाति की सदस्यता जन्म पर आधारित है। कोई भी व्यक्ति अपने गुणों, सम्पत्ति एवं शिक्षा में वृद्धि करके या व्यवसाय परिवर्तन करके जाति नहीं बदल सकता है। व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है, जीवनपर्यन्त उसी का सदस्य बना रहता है।

सर रिजले के अनुसार, "जाति परिवारों या परिवारों के समूहों का एक संकलन है जिसका कि सामान्य नाम है, जो एक काल्पनिक पूर्वज मानव या देवता से सामान्य उत्पत्ति का दावा करता है, एक ही परम्परागत व्यवसाय करने पर बल देता है और एक सजातीय समुदाय के रूप में उनके द्वारा मान्य होता है जो अपना ऐसा मत व्यक्त करने के योग्य हैं।"[3] **हट्टन** ने रिजले की परिभाषा की आलोचना करते हुए लिखा है कि रिजले ने जाति एवं गोत्र में भेद नहीं किया है। एक काल्पनिक पूर्वज से उत्पत्ति गोत्र की मानी जाती है, जाति की नहीं।

जे. एच. हट्टन के अनुसार, "जाति एक ऐसी व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत एक समाज अनेक आत्म-केन्द्रित एवं एक-दूसरे से पूर्णतः पृथक् इकाइयों (जातियों) में विभाजित रहता है। इन इकाइयों के बीच पारस्परिक सम्बन्ध ऊंच-नीच के आधार पर सांस्कारिक रूप से निर्धारित होते हैं।"[4]

केतकर के अनुसार, "जाति एक सामाजिक समूह है जिसकी दो विशेषताएं हैं (i) सदस्यता केवल उन व्यक्तियों तक सीमित है जिन्होंने उसी जाति में जन्म लिया हो और इस प्रकार से पैदा हुए व्यक्ति ही इसमें सम्मिलित होते हैं। (ii) सदस्य एक कठोर सामाजिक नियम द्वारा अपने समूह से बाहर विवाह करने से रोक दिये जाते हैं।"[5] केतकर ने जाति की दो विशेषताओं, जन्मजात सदस्यता एवं जाति-अन्तःविवाह (caste endogamy) का उल्लेख किया है जो उपयुक्त हैं, किन्तु इनमें जाति की अन्य विशेषताओं का उल्लेख नहीं है।

ब्लण्ट के अनुसार, "जाति एक अन्तर्विवाही समूह अथवा अन्तर्विवाही समूहों का संकलन है जिसका एक सामान्य नाम होता है, जिसकी सदस्यता आनुवंशिक होती है, जो

1 "A caste is a closed class."
—Majumdar and Madan, *An Introduction to Social Anthropology*, p. 12.

2 "When a class is somewhat strictly hereditary we may call it a caste."
—C. H. Cooley, *Social Organization*, p. 11.

3 Risley, *The People of India*, p. 5.

4 J. H. Hutton, *Caste in India*, p. 50.

5 Ketkar, *History of Caste in India*, p. 15.

सामाजिक सहवास के क्षेत्र में अपने सदस्यों पर कुछ प्रतिबन्ध लगाता है, इनके सदस्य या तो एक सामान्य परम्परागत व्यवसाय को करते हैं अथवा किसी सामान्य आधार पर अपनी उत्पत्ति का दावा करते हैं और इस प्रकार एक समरूप समुदाय के रूप में मान्य होते हैं।"[1] अब तक की परिभाषाओं में ब्लण्ट की परिभाषा अधिक सही है, किन्तु इसमें एक त्रुटि यह है कि जाति की उत्पत्ति एक सामान्य पूर्वज से बतायी गयी है, जबकि कोई भी जाति अपनी उत्पत्ति किसी एक पूर्वज से नहीं मानती है।

इरावती कर्वे ने जाति अन्तर्विवाह (caste endogamy) को इतना अधिक महत्व दिया है कि वे जाति को मूलतः एक अन्तर्विवाही समूह मानती हैं। अन्तर्विवाह के कारण जाति की सामाजिक सीमाएं निर्धारित हो जाती हैं। वे कहती हैं, "जाति वस्तुतः एक विस्तृत नातेदारी समूह (extended kin group) है।"[2]

इन परिभाषाओं से स्पष्ट है कि **जाति एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसकी सदस्यता जन्म पर आधारित है और जो अपने सदस्यों पर खान-पान, विवाह, पेशा और सामाजिक सहवास सम्बन्धी अनेक प्रतिबन्ध लागू करती है।** भारत में जाति का स्वरूप इतनी विभिन्नता लिए हुए है कि इसकी कोई भी सर्वमान्य परिभाषां देना कठिन है। यही कारण है कि कई विद्वानों ने जाति की परिभाषा देने के बजाय उसकी विशेषताओं का उल्लेख किया है, इनमें हट्टन, दत्ता, घुरिये, आदि प्रमुख हैं।

पुस्तक के प्रथम अध्याय में डॉ. घुरिये ने जाति व्यवस्था की परिभाषा के विवाद में न पड़ कर उसकी विशेषताओं (लक्षणों) का उल्लेख किया है। आपने **जाति-प्रथा की निम्न विशेषताओं का उल्लेख किया है :**

(1) समाज का खण्डात्मक विभाजन[3] (Segmental Division of Society)—जाति-व्यवस्था ने भारतीय समाज को विभिन्न खण्डों में विभाजित कर दिया है और प्रत्येक खण्ड के सदस्यों की स्थिति, पद तथा कार्य निश्चित हैं। घुरिये कहते हैं कि खण्ड-विभाजन से तात्पर्य है—एक जाति के सदस्यों की सामुदायिक भावना सम्पूर्ण समुदाय के प्रति न होकर अपनी ही जाति तक सीमित होती है। व्यक्ति की निष्ठा एवं श्रद्धा समुदाय के बजाय अपनी जाति के प्रति होती है। प्रत्येक जाति की एक जाति-पंचायत होती है जो जाति के सदस्यों पर नियन्त्रण रखती है और उनसे जातीय नियमों का पालन करवाती है। जाति के नियमों का उल्लंघन करने वाले पर जुर्माना किया जाता है और कभी-कभी उसे जाति से बहिष्कृत भी कर दिया जाता है।

(2) संस्तरण (Hierarchy)—समाज में सभी जातियों की सामाजिक स्थिति समान नहीं है, वरन् उनमें ऊंच-नीच का एक संस्तरण अथवा उतार-चढ़ाव पाया जाता है। ऊंच-नीच की इस व्यवस्था में ब्राह्मणों का स्थान सबसे ऊंचा है और शूद्रों का स्थान सबसे नीचा। क्षत्रिय एवं वैश्य इनके मध्य में हैं। जन्म पर आधारित होने के कारण इस संस्तरण में स्थिरता एवं दृढ़ता पायी जाती है। यही कारण है कि निम्न जातियां साधारणतः उच्च जातियों में सम्मिलित नहीं हो सकतीं। जाति संस्तरण में मध्यवर्ती जातियों की तुलना में ब्राह्मणों एवं शूद्रों की स्थिति अधिक स्थिर है क्योंकि ब्राह्मणों का और अधिक ऊपर एवं शूद्रों का और अधिक नीचे जाना

1 E. A. H. Blunt, *The Caste in Northern India*, p. 4.
2 I. Karve, 'What is Caste', The Economic Weekly, 1958.
3 G. S. Ghurye, *Caste, Class and Occupation*, pp. 26-27.

असम्भव है, जबकि मध्यवर्ती जातियां अपने को पास वाली जातियों से अधिक श्रेष्ठ एवं उच्च होने का दावा पेश करती रही हैं।

(3) **भोजन तथा सामाजिक सहवास पर प्रतिबन्ध** (Restrictions on Fooding and Social Intercourse)—जाति-व्यवस्था में जातियों के परस्पर भोजन एवं व्यवहार से सम्बन्धित अनेक निषेध पाये जाते हैं। प्रत्येक जाति के ऐसे नियम हैं कि उसके सदस्य किस जाति के यहां कच्चा, पक्का तथा फलाहारी भोजन कर सकते हैं, किन के हाथ का बना भोजन व किन के यहां पानी पी सकते हैं, किनके साथ बैठकर हुक्का-बीड़ी पी जा सकती है, किनके यहां के धातु या मिट्टी के बर्तनों का उपयोग अपने लिए किया जा सकता है, आदि। ब्राह्मणों के हाथ का बना कच्चा व पक्का खाना सभी जातियों के लोग ग्रहण कर लेते हैं, किन्तु शूद्रों के हाथ का बना किसी भी प्रकार का भोजन उच्च जातियों के लोग स्वीकार नहीं करते। सामान्यतः ऊंची जातियों के द्वारा बनाया गया भोजन निम्न जातियां स्वीकार कर लेती हैं, किन्तु निम्न जातियों के लोगों द्वारा बनाया गया कच्चा व कभी-कभी पक्का भोजन भी उच्च जातियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जाता है।

(4) **नागरिक एवं धार्मिक निर्योग्यताएं एवं विशेषाधिकार** (Civil and Religious Disabilities and Privileges)—जाति-व्यवस्था में उच्च जातियों को कई सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त हैं, जबकि निम्न एवं अछूत जातियों को उनसे वंचित किया गया है। खास तौर से दक्षिणी भारत में अछूत जातियों पर अनेक अयोग्यताएं लादी गयी हैं। मालाबार के इजावाह लोगों को जूते पहनने, छाता लगाने एवं गाय का दूध निकालने की मनाही थी। पेशवाओं के राज्य में पूना में महर एवं मंग अछूत जातियों को सायंकाल तीन बजे से प्रातः नौ बजे तक शहर में प्रवेश की इजाजत इसलिए नहीं थी कि उस समय परछाईं के लम्बी होने से किसी द्विज पर पड़ जाने से वह अपवित्र हो जाता था। पंजाब में हरिजन शहर में चलते समय लकड़ी के गट्टे बजाता था जिससे कि लोगों को ज्ञात हो जाय कि अछूत आ रहा है और वे मार्ग से दूर हट जायं। उन्हें सड़क पर थूकने की मनाही थी, अतः वे गले में थूकने के लिए एक बर्तन लटकाया करते थे। अछूतों को स्कूल, मन्दिर, तालाब, कुओं एवं सार्वजनिक स्थानों एवं बगीचों के उपयोग की मनाही थी। अछूतों की बस्तियां गांव से दूर होती थीं। इस प्रकार उच्च जातियों को सामाजिक एवं धार्मिक विशेषाधिकार प्राप्त रहे हैं और अछूतों को अनेक निर्योग्यताओं से पीड़ित रहना पड़ा है।

(5) **पेशे के अप्रतिबन्धित चुनाव का अभाव** (Lack of Unrestricted Choice of Occupation)—प्रायः प्रत्येक जाति का एक परम्परागत व्यवसाय होता है जो पीढ़ी दर पीढ़ी हस्तान्तरित होता रहता है। कई जातियों के नाम से ही उनके व्यवसाय का बोध होता है। प्रत्येक जाति यह चाहती है कि उसके सदस्य निर्धारित जातिगत व्यवसाय ही करें। अन्य जातियों के लोग भी एक व्यक्ति को अपना जातीय व्यवसाय बदलने से रोकते हैं, किन्तु कुछ व्यवसाय ऐसे हैं जैसे कृषि व्यापार एवं सेना में नौकरी जिसमें सभी जातियों के व्यक्ति काम करते हैं। मुगलकाल से ही जाति पर पेशे सम्बन्धी नियन्त्रण शिथिल हो गये थे। **बेन्स** का

मत है कि "जाति का पेशा परम्परागत होता है, परन्तु यह किसी अर्थ में आवश्यक नहीं कि उसी (पेशा) के द्वारा सब या अधिकतर जातियां आज अपनी जीविका निर्वाह करती हैं।"[1]

(6) **विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध** (Restriction of Marriage)—जाति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि प्रत्येक जाति अपनी ही जाति अथवा उपजाति में विवाह करती है। जाति की उपजाति से बाहर विवाह करने वाले को जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। **वेस्टरमार्क** ने तो जाति अन्तर्विवाह को जाति का सार तत्व (the essence of caste system) माना है।[2] यद्यपि कुछ पर्वतीय जातियों एवं दक्षिण के नम्बूद्री ब्राह्मणों में अपने से निम्न जातियों की लड़कियों से विवाह करने की प्रथा भी पायी जाती है, किंतु इन्हें अपवाद ही कहा जाएगा। जाति अन्तर्विवाह के प्रचलन के बारे में **गेत** का मत है कि इसका उद्देश्य जाति मिश्रण एवं जनजातियों की संख्या में होने वाली वृद्धि को रोकना था।[3]

पुस्तक के दूसरे अध्याय में प्रो. घुरिये ने जाति समूहों की प्रकृति का उल्लेख किया है। अध्याय तीन और चार में विभिन्न युगों में जाति व्यवस्था का क्या स्वरूप रहा है, इसका ऐतिहासिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। वैदिक युग से लेकर ब्रिटिश काल तक जाति प्रथा में होने वाले परिवर्तनों का प्रो. घुरिये ने विभिन्न प्रमाणों के साथ उल्लेख किया है। पांचवें अध्याय में प्रो. घुरिये ने प्रजाति एवं जाति के सम्बन्धों का उल्लेख किया है। छठे अध्याय में भारत के बाहर जातीय तत्वों का वर्णन किया है। सातवें अध्याय में जाति की उत्पत्ति के सिद्धान्तों की व्याख्या की गयी है।

प्रो. घुरिये ने जाति की उत्पत्ति के प्रजातीय सिद्धान्त एवं ब्राह्मणों की चतुरयुक्ति के सिद्धान्त को स्वीकार किया है। उनका मत है कि आर्यों और अनार्यों के प्रजातीय एवं सांस्कृतिक सम्पर्क ने जाति प्रथा को जन्म दिया। रक्त शुद्धता की भावना के कारण ही आर्यों और अनार्यों में कई उच्च व निम्न समूह बन गये। ब्राह्मणों ने अपने समूह को दूसरे समूहों के मिश्रण से मुक्त रखने के लिए ऐसे नियम बनाये जिनके द्वारा ब्राह्मण पुरुष तथा क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र स्त्रियों से उत्पन्न सन्तानों को विभिन्न प्रस्थितियां प्रदान की गयीं समय व्यतीत होने के साथ ये समूह जातियों के रूप में परिवर्तित हो गये। ब्राह्मणों ने उनके हाथ का भोजन करने एवं जल ग्रहण करने पर भी रोक लगा दी।

इस प्रकार अन्तर्जातीय विवाह तथा भोजन के सम्बन्ध में जो नियम थे उनका प्रमुख उद्देश्य ब्राह्मणों को अपने आपको शुद्ध बनाये रखने की इच्छा के परिणाम थे। यह इच्छा कुछ तो शुद्धता के अतिवादी पूर्ण विचारों के कारण थी और कुछ इस कारण से कि ब्राह्मण ही वैदिक ज्ञान को प्रवाहमान बनाये रख सकते हैं तथा कुछ उनकी अपनी उच्चता के अभिमान के कारण थी।

आगे चलकर अन्तर्जातीय विवाह एवं विभिन्न जातियों पर भोजन से सम्बन्धित प्रतिबन्ध लागू कर दिये गये। धीरे-धीरे व्यवसाय भी वंशानुगत हो गये। ब्राह्मणों ने पुरोहित के व्यवसाय पर अपना एकाधिकार रखा। प्रो. घुरिये का मत है कि ब्राह्मणों ने अपने कुल और सम्मान को बनाये रखने के लिए जाति-प्रथा को जन्म दिया। आर्य संस्कृति में ब्राह्मणों का प्रमुख स्थान था। यह संस्कृति मुख्यतः गंगा और यमुना के मैदान में ही पनपी और जाति के मुख्य आधार

1 Quoted by G. S. Ghurye, *op. cit.*, p. 15.
2 E. A. Westermark, *History of Human Marriage*, p. 59.
3 *Encyclopaedia of Religion and Ethics*, Vol. III, p. 234.

भी इसी क्षेत्र में ही पनपे। घुरिये लिखते हैं "मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि भारत में जाति भारतीय आर्य संस्कृति की ब्राह्मण सन्तान है। जिसका लालन-पालन गंगा तथा यमुना के प्रदेश में हुआ और वहां से इसे देश के अन्य भागों में स्थानान्तरित किया गया।"[1]

अध्याय आठ में ब्रिटिश शासन में जाति प्रथा में होने वाले परिवर्तन का उल्लेख किया गया है। अंग्रेजी शिक्षा एवं संस्कृति, न्याय व्यवस्था, अंग्रेजों के समय जाति के विरुद्ध होने वाले आन्दोलनों, औद्योगीकरण, नगरीकरण, नवीन विधानों, जातीय संगठनों के निर्माण एवं सरकारी कर्मचारी के रूप में सभी जातियों के व्यक्तियों द्वारा साथ-साथ कार्य करने, आदि कारकों ने ब्रिटिश शासन में जाति के परम्परागत स्वरूप को बदला उसकी कठोरता कम हुई और जातीय नियमों में शिथिलता आयी।

अस्पृश्यता एवं अनुसूचित जातियों सम्बन्धी विचार—प्रो. घुरिये ने इसी पुस्तक के नवें अध्याय में अस्पृश्यता और अनुसूचित जातियों पर विचार किया है। वे अनुसूचित जाति को परिभाषित करते हुए लिखते हैं, "मैं अनुसूचित जातियों की परिभाषा उन समूहों के रूप में करता हूं जिनका नाम एक समय विशेष में लागू अनुसूची आदेश में दिया गया हो।"[2] प्रो. घुरिये द्वारा अस्पृश्य और अनुसूचित जाति के लिए प्रयुक्त किये गये विभिन्न नामों का भी उल्लेख किया गया है। प्रो. घुरिये ने अस्पृश्यता और अछूत जातियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इसका विस्तृत उल्लेख ऐतिहासिक प्रमाणों के साथ किया है। वे अस्पृश्य जातियों की उत्पत्ति के लिए प्रजातीय कारकों, धर्म एवं शुद्धता के विचारों को उत्तरदायी मानते हैं। व्यवसाय ने भी अस्पृश्यता को तय किया। प्राचीन भारतीय धर्म ग्रन्थों में अस्पृश्य जातियों के लिए चाण्डाल, स्वपच, डोम, चमार, आदि शब्दों का प्रयोग किया गया है। घुरिये ने अस्पृश्यों से सम्बन्धित विभिन्न प्रकार के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं राजनीतिक निषेधों का उल्लेख किया है।

अस्पृश्यता को जन्म देने में प्रजातीय भेद ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। आर्य चूंकि भारत में बाहर से आक्रमणकारी के रूप में आये और उन्होंने यहां के मूल निवासी द्रविड़ों को पराजित किया, अतः विजेता होने के कारण उन्होंने अपने को द्रविड़ों से श्रेष्ठ माना। आर्यों ने द्रविड़ों को दास या दस्यु कहा और उन्हें अपने सम्पर्क और धार्मिक-पूजा संस्कार से पृथक् रखा और उन्हें निम्न जाति के रूप में सामाजिक स्थिति प्रदान की। इन्हें छूना भी उचित नहीं समझा और इनके द्वारा किये जाने वाले व्यवसाय को भी घृणित माना जाने लगा।

अस्पृश्य जातियों को अपवित्र माना जाने के कारण ही उन्हें अनेक सामाजिक, धार्मिक एवं आर्थिक निर्योग्यताएं प्राप्त रही हैं। उन्हें वेदों के पठन-पाठन, यज्ञ-हवन करने, मन्दिर प्रवेश, सार्वजनिक स्थानों का उपयोग करने, आदि की मनाही थी तथा समाज के निम्नतम पेशे;जैसे मरे हुए पशुओं को उठाना, चमड़े का कार्य करना, झाडू लगाना, आदि कार्य सौंपे गये। अस्पृश्य जातियों को ऐसे व्यवसाय करने की ही इजाजत थी जिन्हें अशुद्ध माना जाता

1 "I may conclude that caste in India is a Brahmanic child of Indo-Aryan culture, craddled in the land of the Ganga and the Yamuna and thence transferred to other parts of the country."—G. S. Ghurye, *Caste, Class and Occupation*, 1961, p. 172.

2 "I may define the Scheduled castes therefore as those groups which are named in the scheduled Castas Order in force for the time being."
—G. S. Ghurye, *op. cit.*, p. 213.

जाता है। घुरिये अस्पृश्यता की उत्पत्ति में शुद्धता के विचारों के महत्व को दर्शाते हुए लिखते हैं, "शुद्धता के विचार चाहे वे व्यवसाय सम्बन्धी हों अथवा संस्कार सम्बन्धी, जो जाति की उत्पत्ति में एक कारण माने गये हैं, अस्पृश्यता के विचार और व्यवहार की आत्मा है।"[1] मानव जाति की उत्पत्ति भारतीय धर्म ग्रन्थों में सृष्टि रचयिता ब्रह्मा के शरीर के विभिन्न अंगों से बतायी गयी है जिसमें शूद्रों की उत्पत्ति ब्रह्मा के पैरों से बताना और शूद्रों के बाद किसी भी अन्य वर्ग की उत्पत्ति नहीं बताने का तात्पर्य सांस्कारिक और व्यावसायिक शुद्धता के विचारों को बल देना एवं इस आधार पर अस्पृश्यता को स्पष्ट करना है।

व्यवसाय तथा जाति—अध्याय दस में प्रो. घुरिये ने व्यवसाय और जाति के सम्बन्धों को स्पष्ट किया है। क्या जातियां अपना वंशानुगत व्यवसाय कर रही हैं, इस सन्दर्भ में घुरिये ने गाडगिल, एन. वी. सोवनी के मद्रास, पूना और मुम्बई में किये गये सर्वोक्षणों का भी उल्लेख किया है। घुरिये का मत है कि जाति अपने उद्गम में व्यावसायिक नहीं है। इतिहास ने भी हमारे सामने ऐसी जातियों के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो भिन्न-भिन्न व्यवसाय करती थीं तथा एक ही जाति के सदस्य भी भिन्न-भिन्न व्यवसाय करती थे। फिर भी हम देखते हैं कि प्राचीन काल से ही वर्णों के अनुसार व्यवसाय भी निर्धारित किये गये हैं। 19वीं सदी में यह विश्वास भी विद्यमान था कि प्रत्येक जाति का अपना परम्परागत व्यवसाय भी है इसलिए वही उसके सदस्यों का वंशानुगत व्यवसाय भी है, जिसको दूसरे व्यवसाय की खोज में त्याग देना यदि पापपूर्ण नहीं तो कम से कम अनुचित अवश्य था। घुरिये कहते हैं कि भारत में 19वीं शताब्दी में सामाजिक वरिष्ठता तथा व्यवसायों अथवा व्यवसाय समूहों की श्रेणीबद्धता की लगभग सर्वसम्मत योजना विद्यमान थी। व्यवसायों के भारतीय मूल्यांकन में शारीरिक श्रम की तुलना में अशारीरिक श्रम के कार्य को उच्चतर मानने का लक्षण उसी प्रकार विद्यमान था जैसे अमरीका, इंगलैण्ड और पश्चिमी समाजों में था, किन्तु इसके अतिरिक्त एक और कारक भी महत्वपूर्ण था वह है शुद्धता और अशुद्धता या पवित्रता और अपवित्रता का कारक। उच्च जातियां पवित्र व्यवसायों को एवं निम्न और अस्पृश्य जातियां अपवित्र कार्यों को करती थीं। व्यवसायों में कृषि को उत्तम, व्यापार को मध्यम और नौकरी को सबसे निम्न माना गया, किन्तु ब्रिटिश शासन से ही नौकरी का दर्जा ऊंचा उठ गया और इस काल में डॉक्टरी, वकालत, इन्जिनियरी, आदि के नये व्यवसाय भी पनपे जिन्हें उच्च माना गया, किन्तु जिन्हें सभी जातियों के व्यक्ति कर सकते थे। इस प्रकार व्यवसाय और जाति के सम्बन्ध कभी वंशानुगत तो कभी स्वतन्त्र भी देखने को मिलते हैं।

अध्याय ग्यारह में प्रो. घुरिये ने वर्ग और उसके कार्यों का विस्तृत ब्यौरा दिया है। इस सन्दर्भ में घुरिये ने मार्क्स की वर्ग की अवधारणा का भी उल्लेख किया है। उन्होंने पूंजीपति, मध्यम और श्रमिक वर्ग के कार्यों का लेखा-जोखा भी प्रस्तुत किया है।

अध्याय बारह में प्रो. घुरिये ने जाति के भविष्य पर प्रकाश डाला है। आपने जाति प्रथा को परिवर्तित करने वाले कारकों के साथ-साथ जातीय नियमों में होने वाले परिवर्तनों का भी उल्लेख किया है। जहां एक ओर अंग्रेजी शासन काल में होने वाले परिवर्तनों ने जाति प्रथा के बन्धन ढीले किये, वहीं उन्होंने जाति-प्रथा को प्रोत्साहन भी दिया। जातीय संगठनों

1 **"Ideas of purity, whether occupational or ceremonial, which are found to have been a factor in the genesis of caste are the very soul of the idea and practice of untouchability."**
—G. S. Ghurye, *op. cit.*, p. 214.

के निर्माण ने भी जाति को सुदृढ़ बनाया। घुरिये कहते हैं कि जातीय अस्पृश्यता और शुद्धता की भावना में बहुत परिवर्तन हुआ है। मासिक धर्म की भ्रष्टता और मृत्यु सम्बन्धी अशुद्धता के पालन में नगरों और कस्बों में अन्य जातियों में ही नहीं, वरन् ब्राह्मणों में बहुत गिरावट आयी है। फिर भी घुरिये यह मानते हैं कि जाति प्रथा का उन्मूलन सरल कार्य नहीं है। जाति प्रथा में हम जो वांछनीय क्रान्ति लाना चाहते हैं वह केवल राष्ट्रीय भावना एवं समाजवादी विचारधारा के प्रचार के स्वाभाविक परिणामस्वरूप ही नहीं आ जायेगी, वरन् इसके लिए सतत् प्रयत्न और कारगर उपाय करने होंगे।

जाति व्यवस्था में परिवर्तन लाने वाले कारक
(FACTORS RESPONSIBLE FOR CHANGE IN CASTE SYSTEM)

वर्तमान समय में जाति में अनेक परिवर्तन हुए हैं और उसका परम्परात्मक स्वरूप विघटित हुआ है। जाति में परिवर्तन, विघटन या उसे निर्बल बनाने वाले कारक इस प्रकार हैं :

(1) **पाश्चात्य शिक्षा एवं सभ्यता**—अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत में धार्मिक शिक्षा का प्रचलन था, जिसमें केवल ब्राह्मणों को ही शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार था, शेष जातियों को शिक्षा से वंचित किया गया था। वे अपने जातीय व्यवसाय की शिक्षा परिवार-जनों से घर में ही प्राप्त करती थीं। अंग्रेजों ने भारत में धर्म-निरपेक्ष एवं सार्वभौमिक शिक्षा प्रारम्भ की। इस शिक्षा ने भारतीयों को रूढ़िवादिता एवं संकीर्णता से मुक्ति दिलायी एवं लोगों में स्वतन्त्रता, समानता एवं भाईचारे की भावना पैदा की। वैज्ञानिक शिक्षा ने लोगों में तार्किक दृष्टिकोण का विकास किया। फलस्वरूप जाति व्यवस्था निर्बल हुई।

अंग्रेजों के 150 वर्षों के राज्य के कारण भारत का पश्चिमी सभ्यता एवं संस्कृति से सम्पर्क हुआ। पश्चिम के व्यक्तिवाद, उदारवाद, भौतिकवाद एवं उपयोगितावाद ने यहां नवीन विचारों को बढ़ावा दिया। धन एवं व्यक्ति के गुणों का महत्व बढ़ा। प्रेम-विवाह एवं अन्तर्जातीय विवाह के कारण जातीय बन्धन शिथिल हुए तथा खान-पान एवं छुआछूत सम्बन्धी कठोरता कम हुई।

(2) **औद्योगीकरण एवं नगरीकरण**—औद्योगीकरण के कारण भारत में बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना हुई जिनमें सभी जातियों के लोग साथ-साथ काम करने लगे। इससे पूर्व प्रत्येक जाति का अलग-अलग व्यवसाय था। औद्योगीकरण में यह सम्भव न था कि चमड़े के कारखाने में केवल चमार या सूती कपड़े के कारखाने में केवल जुलाहे ही कार्य करें। सभी जातियों के लोगों द्वारा एक ही कारखाने में साथ-साथ काम करने से उनमें पारस्परिक समझ बढ़ी तथा जातीय भेदभाव दूर हुए। सभी जातियों के मजदूरों ने मिलकर ट्रेड यूनियन बनायी, वे एक ही दल, झण्डे एवं कार्यक्रम के दौरान संघर्ष करने लगे। नगरों में सभी जातियों के लोग साथ-साथ रहने लगे, इससे भी उनके बीच व्याप्त जातीय भेदभाव कम हुए।

(3) **धन का बढ़ता महत्व**—वर्तमान समय में जन्म के स्थान पर व्यक्तिगत गुणों एवं धन का महत्व बढ़ा है। व्यक्ति का मूल्यांकन अब जाति के आधार पर नहीं वरन् उसकी सम्पत्ति एवं गुणों के आधार पर होने लगा।

(4) **स्वतन्त्रता आन्दोलन**—अंग्रेजों से मुक्ति पाने के लिए स्वतन्त्रता आन्दोलन के दौरान हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने सभी देशवासियों को जातीय भेदभाव भुलाकर आन्दोलन में भाग लेने का आह्वान किया जिसके फलस्वरूप विभिन्न प्रान्तों, धर्मों, जातियों एवं भाषाओं से

सम्बन्धित लोगों ने एक झण्डे के नीचे एकत्रित होकर सत्याग्रह एवं आन्दोलन किये। सभी जातियों के लोग जेलों में साथ-साथ रहते, खाते-पीते एवं उठते-बैठते। इससे भी जातीय भेदभाव समाप्त हुआ।

(5) **प्रजातन्त्र की स्थापना**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में प्रजातन्त्र की स्थापना की गयी। नवीन संविधान में रंग, लिंग, जन्म, धर्म, आदि के आधार पर किसी के प्रति भेदभाव न बरतने का उल्लेख किया गया है। साथ ही सभी देशवासियों को समान मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं। प्रजातान्त्रिक विचारों के कारण भी जाति-प्रथा निर्बल हुई।

(6) **धार्मिक आन्दोलन**—ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज, रामकृष्ण मिशन तथा नानक, नामदेव, तुकाराम, कबीर, आदि सन्तों ने जाति के दोषों की कटु आलोचना की और जातीय छुआछूत एवं ऊंच-नीच को समाप्त करने में योग दिया।

(7) **यातायात एवं संचार के साधनों में उन्नति**—यातायात एवं संचार के नवीन साधनों के कारण लोगों में गतिशीलता बढ़ी, विभिन्न प्रान्तों, धर्मों एवं जातियों के लोग रेल, बस एवं वायुयान में सहयात्री बनकर यात्रा करने लगे। इससे उनमें सम्पर्क बढ़ा, समानता के भाव पनपे, छुआछूत कम हुई और खान-पान के नियमों में शिथिलता आयी।

(8) **स्त्री-शिक्षा का प्रसार**—स्त्रियों में शिक्षा के अभाव ने जातीय नियमों के पालन में योग दिया, किन्तु जब स्त्रियों में शिक्षा का प्रसार हुआ तो उन्होंने जातीय बन्धनों को तोड़ा और जाति-प्रथा के कारण उनको जिन यातनाओं को सहन करना पड़ रहा था, उनके प्रति विद्रोह किया। उन्होंने भी जाति से सम्बन्धित विवाह एवं खान-पान के नियमों को चुनौती दी। नवीन शिक्षा प्राप्त स्त्रियां जातीय बन्धनों को स्वीकार नहीं करती हैं।

(9) **संयुक्त परिवारों के विघटन** ने भी जाति-प्रथा को विघटित किया। संयुक्त परिवार में जातीय नियमों का पालन होता था। एकाकी परिवारों की स्थापना के कारण जाति का पोषण करने वाले विचारों में कमी आयी।

(10) **जाति पंचायतों का ह्रास**—जाति-प्रथा को दृढ़ता प्रदान करने में जाति पंचायतों एवं ग्राम पंचायतों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। जातीय नियमों का उल्लंघन करने वालों को जाति पंचायतें दण्ड देती थीं। उनके डर से सभी लोग जाति नियमों का पालन करते थे, किन्तु जब जाति पंचायतें समाप्त हुईं और उनके स्थान पर नवीन अदालतें स्थापित हुईं तो जाति-प्रथा भी कमजोर हुई।

(11) **जजमानी प्रथा की समाप्ति**—जजमानी प्रथा में एक जाति दूसरी जाति की सेवा करती थी, उनमें पारस्परिक निर्भरता थी, किन्तु जब औद्योगीकरण हुआ एवं नवीन व्यवसायों की स्थापना हुई तो जजमानी प्रथा टूटी, लोग अपने जातीय व्यवसाय के स्थान पर अन्य व्यवसाय भी करने लगे। इससे जातीय व्यवसाय सम्बन्धी बाध्यता समाप्त हुई और जाति व्यवस्था का आर्थिक आधार समाप्त हुआ।

(12) **नवीन कानूनों का प्रभाव**—ब्रिटिश काल से ही कई ऐसे कानून बने जो जाति-प्रथा के विरुद्ध थे। हिन्दू विवाह वैधकरण अधिनियम, 1949; विशेष विवाह अधिनियम, 1954; हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955; आदि ने विभिन्न धर्मों एवं जातियों के स्त्री-पुरुषों के विवाह को वैध घोषित किया। इससे जाति-अन्तर्विवाह के नियम में शिथिलता आयी। 1955 के 'अस्पृश्यता अपराध अधिनिमय' द्वारा छुआछूत को समाप्त कर दिया गया। भारतीय संविधान

के अनुच्छेद 15 के अनुसार राज्य किसी भी नागरिक के प्रति धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान, आदि के आधार पर भेदभाव नहीं बरतेगा। अनुच्छेद 17 के अनुसार, अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है। संविधान में भारत को एक धर्म-निरपेक्ष राज्य घोषित किया गया है, धर्म ने ही जाति को स्थायित्व प्रदान किया है। धर्म का महत्व घटने के साथ-साथ जाति व्यवस्था का महत्व भी घटा है।

जाति व्यवस्था में आधुनिक प्रवृत्तियां
(RECENT TRENDS IN CASTE SYSTEM)

उपर्युक्त कारकों के परिणामस्वरूप जाति व्यवस्था की संरचना एवं कार्यों में अनेक परिवर्तन आये हैं और जाति में निम्नांकित नवीन प्रवृत्तियों का उदय हुआ है :

(1) **ब्राह्मणों की स्थिति में गिरावट**—जाति-प्रथा के अन्तर्गत सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में ब्राह्मणों का एकाधिकार एवं प्रभुत्व रहा है, किन्तु वर्तमान में व्यक्तिगत गुणों एवं धन का महत्व बढ़ जाने के कारण निम्न जातियों के व्यक्ति भी शिक्षा ग्रहण कर, धन संचय कर एवं चुनाव में विजय प्राप्त कर अपनी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति को ऊंचा उठाने में सफल हुए हैं। यहां तक कि कई बार तो ब्राह्मणों को निम्न जातियों के अधिकारियों के अधीन कार्य करना पड़ता है। धार्मिक क्रियाओं एवं पूजा-पाठ का महत्व घटने के कारण भी ब्राह्मणों की परम्परागत प्रभुता को ठेस पहुंची है।

(2) **जातीय संस्तरण में परिवर्तन**—जाति-प्रथा में विभिन्न जातियों का एक संस्तरण पाया जाता है। प्रत्येक जाति यह जानती है कि कौन-कौनसी जातियां उससे ऊंची एवं नीची हैं। सभी जातियां इस संस्तरण को स्वीकार करती रही हैं, किन्तु वर्तमान में इस संस्तरण में परिवर्तन आया है और निम्न जातियां अपनी सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक स्थिति में सुधार करके जातीय संस्तरण में ऊंचा उठने का प्रयास कर रही हैं। **प्रो. श्रीनिवास** ने इस प्रक्रिया के लिए 'संस्कृतीकरण' (Sanskritization) शब्द का प्रयोग किया है। पहले जाति ही व्यक्ति का समाज में स्थान निर्धारित करती थी, किन्तु अब गुण, योग्यता, शिक्षा, सम्पत्ति एवं राजनीतिक शक्ति के आधार पर सामाजिक स्थिति तय होने लगी है। बड़े-बड़े नगरों में अपरिचितता का लाभ उठाकर निम्न जातियों के व्यक्ति अपने को उच्च जाति का घोषित करने लगे हैं।

(3) **पेशे के चुनाव में स्वतन्त्रता**—परम्परागत जाति-प्रथा में प्रत्येक जाति का एक निश्चित व्यवसाय होता था जिसे बदला नहीं जा सकता था, किन्तु अब व्यक्ति अपनी क्षमता एवं योग्यता के अनुसार व्यवसाय चुनने लगा। आज हमें शर्मा शू स्टोर, अग्रवाल पान भण्डार, बर्मा टेलरिंग हाउस देखने को मिलेंगे। इसके अतिरिक्त वर्तमान में कई नये व्यवसाय जैसे, डॉक्टरी, इंजीनियरिंग, वकालत एवं सरकार के विभिन्न विभागों में सेवा कार्य, आदि खुले हैं जिसमें सभी जातियों के व्यक्ति कार्य करते हैं। कृषि कार्य में अनेक जातियां लगी हुई हैं। इस प्रकार आज एक जाति अनेक व्यवसायों में तथा एक व्यवसाय में अनेक जातियां लगी हुई हैं। फिर भी ब्राह्मणों एवं हरिजनों के कार्यों को अन्य जातियों ने नहीं अपनाया है।

(4) **भोजन सम्बन्धी प्रतिबन्धों में परिवर्तन**—परम्परागत जाति प्रथा में खान-पान सम्बन्धी अनेक निषेध थे। शाकाहारी, मांसाहारी, कच्चे एवं पक्के भोजन के बारे में पवित्रता एवं अपवित्रता की धारणा प्रचलित थी, किन्तु अब कुछ ब्राह्मण भी मांसाहारी भोजन करने लगे

हैं। कच्चे एवं पक्के भोजन का भेद समाप्त हुआ है; होटल, रेस्तरां एवं क्लब में सभी जातियों के व्यक्ति साथ-साथ खाने-पीने लगे हैं। धातु एवं मिट्टी के बर्तनों को लेकर पवित्रता एवं अपवित्रता की धारणा थी, वह अब काफी कम हुई है। अब उच्च जातियां निम्न जातियों के यहां भोजन एवं पानी ग्रहण करने लगी हैं।

(5) **जन्म के महत्व में कमी**—जाति व्यवस्था में जन्म का अधिक महत्व था। ब्राह्मण के परिवार में जन्म लेने वाला व्यक्ति इसलिए श्रेष्ठ समझा जाता था कि उसने ऊंची जाति में जन्म लिया है, किन्तु वर्तमान में जन्म के बजाय व्यक्ति के कर्म एवं गुणों का महत्व बढ़ा है। आज योग्य, कुशल एवं साहसी व्यक्ति को श्रेष्ठ माना जाता है चाहे वह निम्न जाति का ही क्यों न हो।

(6) **विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्धों में परिवर्तन**—जाति व्यवस्था का मूल आधार जाति अन्तर्विवाह (Caste endogamy) रहा है। प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जाति में ही विवाह करना होता था। यही नहीं, जाति-प्रथा ने बाल-विवाह, कुलीन-विवाह एवं विधवा-विवाह निषेधों को जन्म दिया, किन्तु वर्तमान में जाति के विवाह सम्बन्धी नियन्त्रण शिथिल हुए हैं, अब अन्तर्जातीय विवाह, विलम्ब-विवाह, विवाह-विच्छेद एवं विधवा-पुनर्विवाह होने लगे हैं।

(7) **अस्पृश्य जातियों के अधिकारों में वृद्धि**—परम्परागत जाति व्यवस्था में शूद्र एवं अस्पृश्य जातियों को अनेक सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकारों से वंचित किया गया था, किन्तु समाज-सुधारकों एवं सरकारी प्रयत्नों के कारण आज उन्हें उच्च जातियों के समान ही सभी अधिकार एवं सुविधाएं प्राप्त हैं। उन्हें आर्थिक एवं राजनीतिक संरक्षण प्रदान किया गया है, विधान मण्डलों, संसद, सरकारी नौकरियों एवं अन्य क्षेत्रों में उनके लिए स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। कानूनी रूप में अस्पृश्यता का अन्त कर दिया गया है।

(8) **जातीय समितियों का निर्माण**—विभिन्न जातियों ने वर्तमान में अपने प्रान्तीय एवं राष्ट्रीय स्तर के संगठन बनाये हैं जो अपने जातीय हितों की रक्षा करते हैं। ये जातीय समितियां जाति को सामाजिक एवं राजनीतिक गतिशीलता तथा शक्ति प्रदान करने एवं आर्थिक लाभ पहुंचाने का कार्य करती हैं।

(9) **जातियों के बदलते हुए सम्बन्ध**—वर्तमान में जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों में परिवर्तन आया है। पहले दो जातियों के बीच जजमानी सम्बन्ध पाये जाते थे और एक जाति दूसरी जाति की अपने व्यवसाय द्वारा सेवा करती थी। अब जजमानी सम्बन्ध टूटे हैं तथा राजनीतिक शक्ति को लेकर उनमें टकराव होने लगा है। शक्ति के नवीन समीकरण पनपे हैं, सत्ता अब प्रभु जाति (Dominant Caste) एवं उच्च जातियों के हाथ से निम्न एवं बहुसंख्यक जातियों के हाथ में आयी है। यह बात पंचायतों के चुनावों से स्पष्ट है।

क्या जाति वर्ग में परिवर्तित हो रही है ?
(IS CASTE CHANGING INTO CLASS ?)

जाति व्यवस्था में होने वाले विभिन्न परिवर्तनों को देखकर कई विद्वान यह निष्कर्ष देते हैं कि भारत में जातियां वर्ग का रूप ले रही हैं। उनका मत है कि औद्योगीकरण एवं नगरीकरण के प्रभाव के कारण जाति संरचना में परिवर्तन हुए हैं, जन्म का महत्व घटा है और व्यवसाय एवं जाति के आर्थिक आधारों में परिवर्तन हुआ है। जाति के अन्दर ही वर्ग पैदा होने लगे हैं और विभिन्न जातियों के व्यक्ति एक वर्ग में सम्मिलित हो रहे हैं। जाति ने अपना जातीय संगठन बनाकर वर्ग की विशेषताएं ग्रहण की हैं। उदाहरण के लिए, शहरों

में हरिजनों की अपनी ट्रेड यूनियन है जो अपने हितों के लिए उसी प्रकार से संघर्ष करती है; जैसे, मजदूर वर्ग मालिक वर्ग से। इसी प्रकार से उद्योग में पाये जाने वाले श्रमिक संगठनों में सभी जातियों के सदस्य होते हैं। इन संगठनों के निर्माण का आधार जाति नहीं वरन् समान व्यवसाय है। एक व्यवसाय में लगे विभिन्न जातियों के लोगों में **वर्ग चेतना** पैदा हुई है। वे अपनी मांगों को मनवाने के लिए एक ही झण्डे, मंच एवं राजनीतिक दल के अन्तर्गत सम्मिलित होते हैं। देश के विभिन्न भागों में बनने वाले जातीय संगठनों में एकाधिक जातियों के सदस्य पाये जाते हैं। विशेष तौर पर निम्न जातियों द्वारा बनाये जाने वाले संगठनों में एकाधिक निम्न जातियां सम्मिलित हुई हैं। **रजनी कोठारी** ने गुजरात में क्षत्रिय जाति के संगठन का उल्लेख करते हुए कहा है कि इस संगठन में एकाधिक जातियों के सदस्य हैं। इस प्रकार जाति जो कि पहले एक बन्द व्यवस्था थी, में अब वर्ग की भांति ही खुलापन (Openness) आता जा रहा है। उद्योगों में ही नहीं वरन् कृषि में भी यही स्थिति है। औद्योगीकरण के कारण ग्रामीण व्यवसायों के नष्ट हो जाने से ग्रामीण दस्तकारी जातियां अपने व्यवसाय को छोड़कर कृषि कार्य करने लगी हैं और वे भूमिहीन कृषक के रूप में सर्वहारा वर्ग में बदल रही हैं। निम्न जातियों को वर्ग के रूप में बदलने में प्रजातन्त्रीय व्यवस्था एवं उन्हें दिये गये आर्थिक-राजनीतिक अधिकारों ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। सरकारी नौकरियों, विधान मण्डलों एवं संसद, आदि में निम्न जातियों को दी गयी सुविधा के कारण उनमें राजनीतिक सत्ता द्वारा अपने आर्थिक हितों की रक्षा के लिए जब एकजुटता होती है तब भी वे वर्ग की विशेषता ग्रहण कर लेती हैं।

ब्राइस रेन का मत है कि जाति व्यवस्था का आधार विभिन्न जातियों के बीच सांस्कृतिक भिन्नता का पाया जाना है, किसी प्रकार के संघर्ष का पाया जाना नहीं। आज एक ओर विभिन्न जातियों के बीच सांस्कृतिक अन्तर कम हुआ है अर्थात् विवाह, खान पान एवं सामाजिक सहवास के नियमों में शिथिलता आयी है, किन्तु दूसरी ओर उनके बीच पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा एवं संघर्ष में दिन-प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है।[1] इसका अर्थ हुआ कि जाति में वर्ग-संघर्ष की विशेषताएं आती जा रही हैं और जाति वर्ग का रूप ले रही है। उपर्युक्त विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में जाति वर्ग के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया में है।

इतना सब होने पर भी हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि जाति ने वर्ग का रूप ग्रहण कर लिया है या भविष्य में कर लेगी। जाति का आधार सामाजिक है और वर्ग का आर्थिक। इन दोनों की प्रकृति एवं मौलिक विशेषताओं में काफी अन्तर है। इतना अवश्य है कि समय के साथ जाति में कुछ वर्ग की विशेषताएं आने लगी हैं। फिर भी वह अपनी पृथकृता बनाये रखेगी। इस सन्दर्भ में **डॉ. योगेन्द्रसिंह** ने उचित ही लिखा है कि "किसी समान राजनीतिक या आर्थिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए कई बार कुछ जातियां संगठित हो जाती हैं और इस दृष्टि से उनमें वर्ग की विशेषताएं दिखायी देने लगती हैं, लेकिन ये परिवर्तन क्षणिक हैं। ऐसे लौकिक लक्ष्यों की प्राप्ति के बाद जातियां पुनः अपने मौलिक प्रकार्यों जैसे, वैवाहिक, सहभोजी तथा धार्मिक अनुष्ठान पर लौट आती हैं।"[2] **नर्मदेश्वर प्रसाद** का मत है कि "भारतीय जाति व्यवस्था धार्मिक-पौराणिक किस्म की है जबकि यूरोपीय जाति व्यवस्था आर्थिक-राजनीतिक

1 **Bryce Ryan, quoted by R. N. Saxena, *op. cit.*, p. 95.**
2 **Yogendra Singh, *op. cit.*, p. 172.**

किस्म की। आधुनिक समय में भारतीय जाति व्यवस्था ने आर्थिक-राजनीतिक विशेषताओं को भी ग्रहण कर लिया है; अर्थात् अब इसमें दोनों किस्मों का सम्मिश्रण है। यूरोप में जाति वर्ग के रूप में बदलने की और वर्ग के जाति के रूप में दृढ़ होने की सदैव सम्भावना रही है, लेकिन भारत में जाति ने कभी अपने को पूर्णतः वर्ग के रूप में मुक्त नहीं किया।"[1] डॉ. सक्सेना का मत है कि "वर्तमान भारत उन्हीं परिवर्तनकारी शक्तियों के प्रभाव में है जिन्होंने पश्चिमी समाज की वर्ग व्यवस्था को जन्म दिया, किन्तु निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि जाति-प्रथा वर्ग व्यवस्था में परिवर्तित हो जायेगी क्योंकि समान परिवर्तनकारी शक्तियां दो विभिन्न समाजों में परिवर्तन की समान गति और दिशा को जन्म नहीं दे सकतीं।"[2] डॉ. के. एल. शर्मा लिखते हैं कि जाति की प्रकृति संस्कारात्मक एवं धर्म-सभा से हटकर चुनावों, व्यवसायों एवं नौकरी में अपने सदस्यों को सुविधाएं प्रदान करने के रूप में बदल गयी है, लेकिन जातियां न तो मार्क्सवादी और न ही वेबर द्वारा बतलाये गये वर्गों के रूप में बदलती हैं।[3] सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि यह कहना भ्रामक है कि भारत में जाति व्यवस्था वर्ग व्यवस्था के रूप में परिवर्तित हो रही है।

भारत की प्रजातियों पर प्रो. घुरिये के विचार (Views of Prof. Ghurye on Races of India)

रिजले ने भारत में सात प्रकार के प्रजातीय तत्वों—तुर्की-ईरानियन, इण्डो-आर्यन, सीथो-द्रविडियन, आर्यो-द्रविडियन, मंगोलो-द्रविडियन, मंगोलॉयड एवं द्रविडियन का उल्लेख किया है। प्रो. घुरिये ने रिजले ने, जिस रूप में इन प्रजातियों का उल्लेख किया है उसकी आलोचना की है। प्रो. घुरिये ने भारत की हिन्दू जनसंख्या में छः मुख्य प्रजातीय तत्वों का उल्लेख किया है, जो निम्नांकित हैं :

(1) **भारतीय आर्य** (Indo-Aryan)—इस प्रजाति से सम्बन्धित लोग पंजाब, राजपूताना तथा संयुक्त प्रान्त के भागों तक फैले हुए हैं।

(2) **पूर्व-द्रविडियन** (Pre-Dravidian)—इस प्रजाति के तत्व संयुक्त प्रान्त की निम्नतर जातियों एवं बिहार की जनसंख्या में पाये जाते हैं।

(3) **द्रविड़** (Dravidian)—ये प्रजातीय तत्व दक्षिण के तामिल तथा मलयाली भाषा-भाषी जिलों तक फैले हुए हैं।

(4) **मंगोल** (Mongoloid)—ये प्रजातीय तत्व हिमालय, नेपाल तथा असम तक फैले हुए हैं।

(5) **पश्चिमी** (Western)—पश्चिमी प्रतिरूप पश्चिमी सीमा से मालाबार के उत्तर, मैसूर, तेलगू प्रदेश एवं समूचे महाराष्ट्र में पाया जाता है।

(6) **मुंडा** (Munda)—इस प्रकार के प्रजातीय तत्व छोटा नागपुर के चारों ओर केन्द्रित हैं।

---

1 Narmadeshwar Prasad, *op. cit.*, p. 140.
2 R. N. Saxena, *op. cit.*, p. 96.
3 K. L. Sharma, *'New Introduction'*, *in Review of Caste in India* by J. Murdock, p. XXV.

प्रो. घुरिये का मत है कि बिहार की जनसंख्या भारतीय-आर्य पूर्व-द्रविड़ तथा मुण्डा के मिश्रण से निर्मित है, जबकि बंगाल तथा उड़ीसा में पश्चिमी, मुण्डा तथा मंगोल प्रतिरूपों का सम्मिलन है। दक्षिण भारत के जंगली लोग पूर्व-द्रविड़ प्रतिरूप का प्रतिनिधित्व करते हैं। प्रो. घुरिये कहते हैं कि वान इक्स्टेडट (Van Eicksted) ने जिन छः प्रजातीय तत्वों का भारत के सन्दर्भ में उल्लेख किया है वह उनके वर्गीकरण के समान ही है। डॉ. गुहा के प्रजातीय वर्गीकरण को घुरिये त्रुटिपूर्ण मानते हैं।

उपर्युक्त विचारों के अतिरिक्त प्रो. घुरिये ने सभ्यता और संस्कृति के बारे में अपनी पुस्तक '*Cities and Civilization*' में तथा भारत और यूरोपीय संस्कृति में पायी जाने वाली पारिवारिक एवं नातेदारी व्यवस्था का तुलनात्मक एवं विस्तृत ऐतिहासिक ब्यौरा अपनी पुस्तक '*Family and Kin in Indo-European Culture*' नामक पुस्तक में दिया है।

प्रश्न

1. प्रो. जी. एस. घुरिये के जीवन एवं कृतियों का उल्लेख कीजिए।
2. जाति-प्रथा के बारे में प्रो. घुरिये के विचार बताइए। (पूर्वांचल, 1991)
3. भारत के प्रजातीय तत्वों के बारे में घुरिये के विचार स्पष्ट कीजिए।
4. भारत की जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु घुरिये के विचार बताइए।
5. प्रो. घुरिये के अनुसार जाति-प्रथा की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
6. घुरिये के समाजशास्त्रीय विचारों का उल्लेख कीजिए।
7. जाति, वर्ग एवं व्यवसाय के बारे में घुरिये के विचार स्पष्ट कीजिए।
8. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
   प्रो. जी. एस. घुरिये का समाजशास्त्र में योगदान। (पूर्वांचल, 1990)
9. भारत में घुरिये की जाति व्यवस्था की विशेषताओं की विवेचना कीजिए। इसमें हो रहे प्रमुख परिवर्तनों का विश्लेषण कीजिए। (पूर्वांचल, 1992)
10. भारतीय जाति व्यवस्था के परम्परागत रूप में उनकी विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (पूर्वांचल, 1994)
11. आधुनिक भारत में भारतीय जाति व्यवस्था में प्रमुख परिवर्तनों का उल्लेख करिए। (पूर्वांचल, 1994)
12. जाति व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? क्या आज भारतवर्ष में वर्ग व्यवस्था जाति व्यवस्था का स्थान ले रही है? (पूर्वांचल, 1993)
13. जाति व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? क्या यह व्यवस्था क्षीण हो रही है या प्रबल हो रही है? विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1996)
14. जाति व्यवस्था में परिवर्तन के प्रमुख कारकों की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1997)

15

एम. एन. श्रीनिवास

[M. N. SRINIVAS]

भारत के प्रमुख समाजशास्त्री मैसूर नरसिंहाचार श्रीनिवास ने समाजशास्त्रीय जगत को अपनी अनेक अमूल्य अवधारणाएं और विचार प्रदान किये हैं। संस्कृतीकरण, पश्चिमीकरण, प्रभु जाति और हिन्दू धर्म एवं जाति पर आपने अपने बहुमूल्य विचार व्यक्त किये हैं। आपने अनेक लेखों एवं पुस्तकों की रचना कर भारतीय समाजशास्त्रीय साहित्य को समृद्ध बनाया है। आपके विचारों का आधार आप द्वारा भारतीय गांवों में किये गये अध्ययन रहे हैं। हम यहां समाजशास्त्र के विकास में आपके योगदान का उल्लेख करेंगे।

आधुनिक भारत में जाति
(CASTE IN MODERN INDIA)

श्रीनिवास ने आधुनिक भारत में जातियों की स्थिति का उल्लेख किया है। 1957 में कलकत्ता में इण्डियन साइन्स कांग्रेस के 44वें अधिवेशन में अपने अध्यक्षीय भाषण में आपने जो विचार व्यक्त किये थे वही इस अध्याय में वर्णित हैं। इस अध्याय में आपने भारत के प्रशासन, शिक्षा एवं प्रजातन्त्रीकरण में जाति की भूमिका का उल्लेख किया है।

श्रीनिवास कहते हैं कि स्वतन्त्रता के बाद जातियों ने नये राजनीतिक कार्य ग्रहण कर लिए हैं। स्वतन्त्र भारत में संविधान में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को दिये गये अधिकारों ने उन्हें जीवन के नये आयाम दिए हैं।

अंग्रेजों के पूर्व भारत में जातियां एक मुखिया या राजा के भू-क्षेत्र तक सीमित थीं। एक राजा के भू-क्षेत्र से दूसरे राजा के भू-क्षेत्र में जाने की उन्हें मनाही थी, अत: जातियों में क्षैतिज विस्तार (Horizontal Extension) सम्भव नहीं था। एक ही क्षेत्र में सीमित होने के कारण विभिन्न जातियों में सहयोग को बढ़ावा मिला और व्यावसायिक दृष्टि से विभिन्न जातियों के बीच पारस्परिक निर्भरता बढ़ी। किन्तु अंग्रेजी राज्य की स्थापना के कारण जातियों की एक भू-क्षेत्र तक सीमित रहने की स्थिति का अन्त हुआ। अंग्रेजों ने भारत में सड़कों एवं रेलों का जाल बिछा दिया, उन्होंने पोस्ट, टेलीग्राफ और प्रेस का शुभारम्भ किया, जिनके परिणामस्वरूप जातियों को संगठित होने का अवसर मिला। रेलों और फैक्ट्रियों के कारण

जातियों के खान-पान और छुआछूत के नियमों में शिथिलता आयी। प्रो. घुरिये ने जाति प्रथा पर अंग्रेजी राज के प्रभावों का विस्तार से उल्लेख किया है।

अंग्रेजों द्वारा स्थापित न्यायालयों ने जाति पंचायतों द्वारा प्रयोग में लिए जाने वाले नागरिक और दण्ड संहिताओं को अपने हाथ में ले लिया। उन्होंने न्याय का नया सिद्धान्त दिया जिसके अनुसार कानून किसी के भी साथ जाति के आधार पर भेद नहीं करेगा। इससे जातियों की परम्परात्मक संस्तरणात्मक व्यवस्था नष्ट होने लगी। नवीन आर्थिक शक्तियों ने जाति व्यवस्था में गतिशीलता पैदा की। एफ. जी. बेली ने उड़ीसा के अध्ययन में यह पाया कि वहां बोड़ और गंजम जातियां जो कि शराब बनाने का कार्य करती थीं, ने अपनी आर्थिक स्थिति सुधार ली है, भूमि खरीद कर वे भू-स्वामी हो गयी हैं तथा संस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा जाति व्यवस्था में ऊंचा उठने का प्रयास कर रही हैं। उच्च जातियों के व्यक्ति ही अंग्रेजी शासन काल में क्लर्क, आध्यापक, वकील, डाक्टर और अधिकारी बने, वे ही राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रारम्भिक राष्ट्रीय नेता थे।

घुरिये कहते हैं कि 1857 के विप्लव से पूर्व 'बंगाल सेना' में ब्राह्मण और राजपूत ही सिपाही थे जिन्होंने विप्लव में मुख्य भूमिका निभायी। इसके बाद भारतीय सेना में विभिन्न जातियों के लोगों को लिया जाने लगा। अंग्रेजों ने सोचा कि भारत में यदि अंग्रेजी राज बनाये रखना है तो भारतीयों को जाति के आधार पर विभाजित रखना होगा।

भारतीय इतिहास में ब्राह्मणों की सर्वोच्चता को नकारने के लिए प्रयत्न होते रहे हैं, किन्तु इस सदी में हुए गैर-ब्राह्मण आन्दोलनों का उद्देश्य अपने को ब्राह्मणों के समकक्ष घोषित करना रहा है। माली जाति के ज्योतिराव फूले ने पूना में 1873 में 'सत्य शोधक समाज' की स्थापना की जो व्यक्ति की जाति पर नहीं उसके गुणों पर जोर देता है। फूले से प्रभावित होकर मद्रास में भी कई गैर-ब्राह्मण आन्दोलन चले जिनका उद्देश्य संस्कारों को सम्पन्न कराने के लिए ब्राह्मणों को आमन्त्रित नहीं करना गैर-ब्राह्मणों एवं अछूतों को शिक्षा प्रदान करना एवं राजकीय सेवाओं में सभी जातियों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए प्रयत्न करना रहा है। इन आन्दोलनों के कारण बम्बई और अन्य प्रान्तों में गैर-ब्राह्मणों के लिए कुछ स्थान निर्धारित कर दिये गये। मद्रास में रामास्वामी नायकर ने द्रविड़-कषगम् पार्टी के माध्यम से आर्य-विरोधी, हिन्दी-विरोधी, ब्राह्मण विरोधी और उत्तरी भारत विरोधी आन्दोलन चलाया। द्रविड़ मुन्नेत्र कषगम दल ने इसे और आगे बढ़ाया। गैर-ब्राह्मण आन्दोलन की विशेषता यह थी कि वह ब्राह्मण-विरोधी था।

श्रीनिवास कहते हैं कि ज्यों-ज्यों राजनीतिक सत्ता शासक से जनता के हाथों में आती गयी, जाति की शक्ति व गतिविधियों में वृद्धि होती गयी। जनता को सत्ता का हस्तान्तरण अंग्रेजी शासन काल से ही प्रारम्भ हो गया था। मोन्टेग्यू चेम्सफोर्ड सुधारों से ही सत्ता का हस्तान्तरण जनता को शुरू हुआ। कांग्रेस पार्टी में भी सभी जातियों के सदस्य थे और गांधीजी के नेतृत्व में भी विभिन्न जातियों के व्यक्ति कांग्रेस की ओर आकर्षित हुए। श्रीनिवास ने महाराष्ट्र में डाक्टर अम्बेडकर के नेतृत्व में हुए गैर-ब्राह्मण आन्दोलन का तथा आंध्र प्रदेश में कामा और रेड्डी जातियों (दोनों ही योद्धा जातियां हैं) के पारस्परिक संघर्ष का उल्लेख किया है। शिक्षा की वृद्धि के साथ-साथ दोनों जातियों की शत्रुता में भी वृद्धि हुई, किन्तु मद्रास में दोनों ही जातियों ने जस्टिस पार्टी की सदस्यता ग्रहण कर ब्राह्मणों को अपदस्थ करने का

प्रयत्न किया। 1934 में कामा जाति ने कांग्रेस पर व रेड्डी ने कम्युनिस्ट पार्टी पर अपना अधिकार कर लिया। श्रीनिवास ने दोनों जातियों के संघर्ष की विस्तार से चर्चा की है। विभिन्न प्रान्तों में चुनावों और राजनीतिक दलों में विभिन्न जातियों की स्थिति का भी श्रीनिवास ने विस्तार से वर्णन किया है। मैसूर में कांग्रेस पार्टी में लिंगायत और ओक्कालिगा जातियों का प्रभाव रहा है। श्रीनिवास ने भाषायी आधार पर राज्यों के पुनर्गठन ने जाति नेताओं की भूमिका का भी उल्लेख किया है। मैसूर में ब्राह्मणों को 5 स्थानों में से एक पर ही प्रार्थना-पत्र देने का अधिकार दिया गया जो कि संविधान के अनुच्छेद 29(2) के विपरीत है। इस नियम को न्यायालय में चुनौती दी गयी और न्यायालय ने इसे असंवैधानिक ठहराया।

केरल में ईसाइयों, मुसलमानों, नम्बूद्री ब्राह्मणों एवं नायरों में राजनीतिक संघर्ष देखा जा सकता है। वहां पर भी इजावाह और तियान पिछड़ी जातियां संस्कृतीकरण द्वारा अपनी सामाजिक स्थिति को ऊंचा उठाने का प्रयत्न कर रही हैं। वहां नायरों एवं इजावाह में संघर्ष देखने को मिलता है।

बिहार में राजपूत भूमिहार और कायस्थों में संघर्ष पाया जाता है। उत्तर प्रदेश में राजपूत एवं चमारों में राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए संघर्ष पाया जाता है। उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के ठाकुर और उच्च जातियों के तथा गूजर और मल्लाह जाति के कई लोग डकैती में संलग्न हैं। इसका कारण जमींदारी प्रथा का अन्त भी है। पंजाब में हिन्दुओं और सिक्खों में भाषायी आधार पर संघर्ष पाया जाता है। श्रीनिवास ने अकालीदल द्वारा पंजाबी सूबे की मांग का भी उल्लेख किया है। इस प्रकार से श्रीनिवास ने भारत के विभिन्न भागों में जातियों द्वारा निभायी जाने वाली भूमिका का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया है।

श्रीनिवास ने संविधान के उन प्रावधानों का भी उल्लेख किया है जिनमें द्वारा अस्पृश्यता का निषेध कर दिया गया है और इसे दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है। उनमें से प्रमुख हैं अनुच्छेद 15, 17, 25, 29(2), 38 एवं 46। इन प्रावधानों के द्वारा अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक एवं राजनीतिक संरक्षण एवं सुविधाएं प्रदान की गयी हैं तथा संसद, विधानमण्डलों एवं पंचायतों में उनके लिए स्थान सुरक्षित किये गये हैं। सरकारी नौकरियों में भी इनके लिए स्थान अरक्षित किये गये हैं। श्रीनिवास ने अनुसूचित जातियों व जनजातियों से सम्बन्धित कमीशन के विभिन्न प्रतिवेदनों एवं सुझावों का भी उल्लेख किया है।

श्रीनिवास ने राजनीतिज्ञों की उस दुविधा का भी उल्लेख किया है जिसके अन्तर्गत एक तरफ वे साम्प्रदायिकता का अन्त करना चाहते हैं, किन्तु दूसरी ओर वे इसके (साम्प्रदायिकता) माध्यम से वोट प्राप्त करना भी चाहते हैं।

संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण
(SANSKRITIZATION AND WESTERNIZATION)

श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण और पश्मिकरण की प्रक्रियाओं का उल्लेख भी किया है। 'संस्कृतीकरण' की अवधारणा का प्रयोग श्रीनिवास ने सर्वप्रथम अपनी पुस्तक '*Religion and Society among the Coorgs of South India*, 1952' में किया था। संस्कृतीकरण को परिभाषित करते हुए श्रीनिवास लिखते हैं, "संस्कृतीकरण वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न हिन्दू जाति या कोई जनजाति अथवा कोई अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः

द्विज जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्मकाण्ड विचारधारा और जीवन पद्धति को बदलता है। सामान्यतः ऐसे परिवर्तनों के वाद वह जाति, जातीय संस्तरण की प्रणाली में जो स्थान उसे मिला हुआ है उससे ऊंचे स्थान का दावा करने लगती है। साधारणतः बहुत दिनों तक दावा किये जाने के बाद ही उसे स्वीकृति मिलती है।''

श्रीनिवास ने बताया है कि संस्कृतीकरण करने वाली निम्न जाति ब्राह्मणों एवं उच्च जातियों की जीवन शैली को अपना लेती हैं। वह ब्राह्मणों की भांति ही अपनी कन्याओं का विवाह मासिक धर्म से पूर्व करने लगती है। दूसरे शब्दों में बाल-विवाह को अपना लेती हैं विधवा-विवाह का निषेध कर देती हैं, विधिवाओं के सिर मुंडवाने लगती हैं, तलाक की प्रथा को त्याग देती हैं, स्त्री अपने पति को परमेश्वर मानने लगती हैं, स्त्रियां पति से पहले भोजन नहीं करती तथा पति की थाली में ही भोजन करती हैं, पति के दीर्घायु होने के लिए कई व्रत भी रखने लगती हैं, वह एक पतिव्रत के आदर्श को ग्रहण कर लेती हैं। संस्कृतीकरण करने वाली जाति मृत व्यक्तियों के लिए पिण्डदान और श्राद्ध करना प्रारम्भ कर देती हैं। संस्कृतीकरण करने वाली जातियां पुत्र को धार्मिक महत्व देने लगती हैं और पुत्रियों का परिवार में सम्मान घट जाता है।

संस्कृतीकरण में नयी प्रथाओं और मूल्यों को ही नहीं अपनाया जाता, वरन् संस्कृत साहित्य में वर्णित पवित्र और लौकिक मूल्यों को भी अपनाया जाता है। संस्कृतीकरण करने वाली जाति कर्म, धर्म, पाप-पुण्य, माया, संसार और मोक्ष जैसी धारणाओं और शब्दावलियों का भी प्रयोग करने लगती हैं। वे हरिकथा सुनती हैं जिसका आध्यात्मिक महत्व होता है। वे संस्कृत साहित्य में वर्णित त्यौहारों जैसे दीपावली, दशहरा, होली, रक्षाबन्धन एवं देवताओं जैसे राम-कृष्ण, हनुमान, सीता, पार्वती, आदि को मनाने और मानने लगती हैं। उनके लिए भूतकाल एक आदर की वस्तु बन जाता है। श्रीनिवास कहते हैं कि शिक्षा में वृद्धि और आर्थिक समृद्धि संस्कृतीकरण को बढ़ावा देती हैं। श्रीनिवास कहते हैं कि संस्कृतीकरण करने वाली जाति को एक या दो पीढ़ी तक अपने उच्च जाति होने के लिए दावा पेश करना होता है, दबाव बनाये रखना होता है, तब उनका दावा स्वीकार किया जाता है। श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण के अनेक उदाहरण दिये हैं। कर्नाटक में लिंगायतों ने संस्कृतीकरण के लिए आन्दोलन चलाया। मैसूर में लिंगायत अपने आपको ब्राह्मणों के समकक्ष मानते हैं और उनके हाथ का बना भोजन नहीं करते हैं। दक्षिणी भारत के लुहार अपने को विश्वकर्मा ब्राह्मण कहते हैं, वे जनेऊ पहनते हैं। संस्कृतीकरण से जाति में केवल पदमूलक परिवर्तन आता है, संरचनात्मक परिवर्तन नहीं।

संस्कृतीकरण और ब्राह्मणीकरण
(SANSKRITIZATION AND BRAHMINIZATION)

श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण का सर्वप्रथम ब्राह्मणीय आदर्श ही प्रस्तुत किया था। उन्होंने संस्कृतीकरण की प्रथम परिभाषा में कहा है कि संस्कृतीकरण करने वाली निम्न जाति ब्राह्मणों के खान-पान, रिवाजों, देवताओं, कर्मकाण्डों और जीवन शैली को अपनाती है, किन्तु बाद में कई शोधकर्ताओं ने यह कहा कि निम्न जातियां ब्राह्मणों की ही नहीं, वरन् क्षत्रिय, वैश्य और प्रभु-जाति की संस्कृति और जीवन शैली का भी अनुकरण कर रही हैं। इसका कारण यह है कि यह आवश्यकता नहीं है कि सभी स्थानों और कालों में ब्राह्मणों को सर्वोच्च

स्वीकार किया जाय। कई स्थानों पर तो निम्न जातियां ब्राह्मणों के हाथ का बना खाना और पानी भी स्वीकार नहीं करती हैं। डॉ. श्रीनिवास ने स्वयं माना है कि संस्कृतीकरण कुछ बेढंगा शब्द है, परन्तु ब्राह्मणीकरण की तुलना में इसे अनेक कारणों से प्राथमिकता दी गयी है। संस्कृतीकरण की वृहद् प्रक्रिया में ब्राह्मणीकरण भी शामिल है। यद्यपि कुछ बातों में ब्राह्मणीकरण और संस्कृतीकरण परस्पर विपरीत भी हो जाते हैं। उदाहरण के रूप में, वैदिक काल में ब्राह्मण 'सोम' नामक एक मादक द्रव्य पीते थे, गौ मांस का प्रयोग करते थे और रक्त बलि चढ़ाते थे, लेकिन उत्तर वैदिककाल में ब्राह्मणों ने इन चीजों को छोड़ दिया। आजकल ब्राह्मण अधिकतर शाकाहारी हैं। यदि ब्राह्मणीकरण शब्द का प्रयोग किया जाता तो यह उल्लेख करना आवश्यक हो जाता है कि हम कौन से ब्राह्मण समूह को आदर्श रूप में मान रहे हैं और इतिहास के किस काल के ब्राह्मणों की चर्चा कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त संस्कृतीकरण के अभिकर्ता (Agent) सदैव ब्राह्मण ही नहीं रहे हैं वरन् अन्य जातियां भी रही हैं।

डॉ. योगेन्द्रसिंह के अनुसार, संस्कृतीकरण ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा अधिक व्यापक अवधारणा है। श्रीनिवास ने स्वयं यह अनुभव कर लिया था कि जिस प्रक्रिया ने निम्न जातियों को मैसूर में ब्राह्मणों के रीति-रिवाजों का अनुकरण करने के लिए प्रेरित किया वह निम्न जातियों में उच्च जातियों के सांस्कृतिक तरीकों का अनुकरण करने की एक सामान्य प्रकृति का ही उदाहरण था। बहुत से मामलों में ये उच्च जातियां अब्राह्मण थीं अर्थात् क्षत्रिय, जाट और वैश्य जातियों का भी अनुकरण किया गया।

संस्कृतीकरण के आदर्श
(MODELS OF SANSKRITIZATION)

श्रीनिवास ने प्रारम्भ में संस्कृतीकरण के ब्राह्मणी आदर्श का उल्लेख किया। कुछ समाजशास्त्रियों ने इसकी आलोचना की। वास्तविकता यह है कि संस्कृतीकरण के आदर्श सदैव ब्राह्मण ही नहीं रहे हैं। पोकॉक ने संस्कृतीकरण के क्षत्रिय आदर्श के अस्तित्व की भी चर्चा की है।

मिल्टन सिंगर ने बताया, "संस्कृतीकरण के एक या दो आदर्श नहीं पाये जाते बल्कि चार नहीं तो कम-से-कम तीन आदर्श अवश्य ही मौजूद हैं। प्रथम तीन वर्ण के लोगों को द्विज कहते हैं क्योंकि इनका उपनयन संस्कार होता है और इन्हें वैदिक कर्मकाण्डों को सम्पन्न करने का अधिकार होता है जिनमें वेदों के मन्त्रों का उच्चारण किया जाता है। श्रीनिवास के अनुसार द्विज वर्णों में ब्राह्मण इन संस्कारों का पूरा करने के सम्बन्ध में सबसे अधिक सावधान व सचेत होते हैं और इसलिए दूसरों की अपेक्षा इन्हें संस्कृतीकरण का उत्तम आदर्श माना जा सकता है। श्रीनिवास ने अवलोकन के आधार पर बताया है कि शूद्रों की व्यापक श्रेणी में कुछ जातियां ऐसी भी हैं जिनकी जीवन पद्धति काफी संस्कृतीकृत है, जबकि कुछ अन्य जातियों का संस्कृतीकरण कम या हुआ ही नहीं है। प्रभुत्वसम्पन्न कृषक जातियां (Dominant Peasant Castes) अनुकरण के स्थानीय आदर्श प्रस्तुत करती हैं और जैसा कि पोकॉक व सिंगर ने अवलोकित किया है, ऐसी जातियों के माध्यम से ही क्षत्रिय और अन्य आदर्श को अपनाया गया है। यदि स्थानीय प्रभुजाति ब्राह्मण है तब संस्कृतीकरण का आदर्श प्रायः ब्राह्मणी होगा और यदि वह राजपूत या वैश्य है तब वह आदर्श राजपूती या वैश्यी प्रकार का होगा।

इस प्रकार हमें संस्कृतीकरण के प्रमुख चार आदर्श देखने को मिलते हैं : ब्राह्मणीय आदर्श, वैश्य आदर्श, क्षत्रिय आदर्श तथा स्थानीय प्रभुजाति आदर्श।

संस्कृतीकरण तथा प्रभुजाति
(SANSKRITIZATION AND DOMINANT CASTE)

श्रीनिवास का मत है कि अनेक स्थानों पर स्थानीय प्रभुजातियां संस्कृतीकरण का आदर्श रही हैं। प्रभुजाति से तात्पर्य है वह जाति जो उस गांव या समुदाय में संख्या की दृष्टि से अधिक हो; जिसका स्थानीय कृषि योग्य भूमि के बड़े अंश पर स्वामित्व हो, जिसके पास आर्थिक राजनीतिक शक्ति हो और जिसे जातीय संस्तरण में उच्च स्थान प्राप्त हो। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न जातियां प्रभुजातियों के रूप में विद्यमान हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य वर्ण की जातियां ही प्रमुखत प्रभुजातियां हैं। संख्या की दृष्टि से अधिक होने पर भी कोई भी ऐसा उदाहरण नहीं है जहां निम्न जातियां प्रभुजाति के रूप में हों। उत्तर प्रदेश में अहीर, जाट, गूजर व राजपूत, गुजरात में पाटीदार, मैसूर में लिंगायत और ओक्कालिगाज, आंध्र में कामा व रेड्डी महाराष्ट्र में मराठा, केरल में नायर, राजस्थान में जाट व राजपूत, आदि प्रभुजातियां हैं। श्रीनिवास, पोकॉक और सिंगर का मत है कि किसान प्रभुजातियां ही अनुकरण के स्थानीय आदर्श प्रस्तुत करती हैं और वे ही क्षत्रिय और अन्य आदर्शों का माध्यम बनती हैं। श्रीनिवास कहते हैं स्थानीय प्रभुजाति का संस्कृतीकरण के विभिन्न आदर्शों के लिए माध्यम होना सांस्कृतिक संचरण की प्रक्रिया में उस जाति के महत्व का सूचक है।

प्रभुजातियों ने जहां एक ओर संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को विकसित करने में योग दिया है, वहीं उन्होंने इस प्रक्रिया में बाधा भी पैदा की है। गांव में प्रभुजाति के बुजुर्ग ही बहुत्ववादी संस्कृति और मूल्य व्यवस्था के प्रहरी होते थे। वे ही एक जाति को दूसरी जाति के पुश्तैनी धन्धे को अपनाने से रोकते थे। प्रभुजाति किसी नीची जाति के कर्मकाण्ड और जीवन-शैली में छोटे-मोटे परिवर्तनों की तो उपेक्षा कर देती थी, किन्तु वह किसी महत्वपूर्ण उच्च जातीय चरित्र को हथियाने लगती है तो वे उसे रोकते तथा दण्ड भी देते थे। पोकॉक ने गुजरात राज्य के केरा जिले का एक उदाहरण दिया। एक बार एक बारिया जाति का शक्ति मोटा ग्राम से होकर निकला। उसने खास पाटीदारों ढंग से धोती पहन रखी थी और पाटीदारों जैसी ही उठी हुई मूंछे रख रखी थीं तथा पाटीदारों की तरह ही हुक्का पीता जा रहा था। गांव के प्रमुख पाटीदार ने उसे पकड़वाकर जबरदस्ती उसकी मूंछे मुड़वा दीं और उसे हुक्म दिया कि आगे से कभी पाटीदार जैसा दिखने की कोशिश न करे और हुक्के को पीठ पीछे रख कर चले। विलियम रॉ ने ऐसी ही एक घटना का उल्लेख किया है। 1936 में उत्तर प्रदेश के सेनापुर गांव में नोनिया जाति ने जो कि निम्न जाति है, जब सामूहिक रूप से यज्ञोपवीत पहना तो कुछ क्षत्रिय जमींदारों ने उनकी पिटाई की, यज्ञोपवीत तोड़कर फेंक दिये और जाति पर सामूहिक जुर्माना किया। इसी प्रकार से 1921 की जनगणना रिपोर्ट में उल्लेख है कि जब उत्तरी भारत में अहीरों ने अपने आपको क्षत्रिय कहने और यज्ञोपवीत पहनने का निश्चय किया तो प्रभुता-सम्पन्न जातियों में रोष फैल गया। इसी प्रकार से उत्तर-बिहार में उच्च जातीय राजपूतों और भूमिहर ब्राह्मणों के अहीरों को द्विजों के चिह्न धारण करने से रोका था जिसके परिणामस्वरूप उनमें मारपीट व मुकद्दमेबाजी भी हुई थी हट्टन ने दक्षिणी भारत के रामनाड जिले की एक प्रभुजाति कल्लर और हरिजनों के बीच हुए संघर्ष

का उल्लेख किया है। कल्लरों ने हरिजनों पर आठ निषेध लगाये। वे थे—सोने-चांदी के गहने न पहनना, पुरुष अपने कूल्हों से ऊपर वस्त्र नहीं पहने, पुरुष कोट-कमीज बनियान नहीं पहनेंगे, बाल नहीं छटायेंगे, मिट्टी के बर्तनों के अतिरिक्त अन्य बर्तन काम में नहीं लेंगे, स्त्रियां अपने शरीर का ऊपरी भाग कपड़ों से नहीं ढकेंगी फूल या केशर का लेप नहीं करेंगी तथा पुरुष छाते व चप्पल का उपयोग नहीं करेंगे। इन निषेधों का उल्लंघन करने पर हरिजनों के साथ मारपीट हुई उनकी झौंपड़ियां जला दी गयीं, खलिहान, पशु एवं सामान लूट लिया गया। इन उदाहरणों से स्पष्ट है कि प्रभुजाति अपने क्षेत्र में रहने वाली विभिन्न जातियों के बीच संरचनात्मक दूरी बनाये रखती थी। श्रीनिवास कहते हैं कि "प्रभुजाति का कार्य केवल बहुत्ववादी संस्कृति के संरक्षक होने तक ही सीमित न था। वह निम्न जातियों में प्रभुजाति की अपनी प्रतिष्ठादायक जीवन-शैली का अनुकरण करने की इच्छा भी जगाती है।"

संस्कृतीकरण के स्त्रोत, कारक या सहायक दशाएं
(SOURCES, FACTORS OF FAVOURABLE CONDITIONS OF SANSKRITIZATION)

श्रीनिवास ने संस्कृतीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन देने वाले कुछ स्रोतों या कारकों का उल्लेख किया है। वे निम्नलिखित हैं :

(1) **राजनीतिक व्यवस्था**—संस्कृतीकरण के एक प्रमुख स्रोत के रूप में राजनीतिक व्यवस्था का उल्लेख किया जा सकता है। इस व्यवस्था में विशेषतः नीचे के स्तरों पर अनिश्चितता पायी जाती थी। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि क्षत्रिय वर्ण एक ऐसा वर्ण रहा है जिसमें सभी किस्म के समूह सम्मिलित होते रहे हैं। इस सम्बन्ध में एक प्रमुख आवश्यकता यही रही है कि ऐसे समूह के पास राजनीतिक शक्ति होनी चाहिए। यही वह परिस्थिति है जिसमें संस्कृतीकरण का विशेष रूप से महत्व था। जो भी व्यक्ति राजा या राज्य के प्रधान के रूप में स्थिति प्राप्त करने में सफल हो सका, उसके लिए क्षत्रिय बनना आवश्यक था, चाहे जन्म से उसकी जाति कोई भी क्यों न हो। चारण या भाट जाति ऐसे राजा के क्षत्रिय बनने में सहायक होती थी जो उसका सम्बन्ध किसी क्षत्रिय वंशावली से जोड़ देती थी। ऐसे राजा को अपने जीवन का तरीका परम्परागत क्षत्रियों के समान बदलना पड़ता था। इन्हीं के समान धार्मिक अनुष्ठान भी करने पड़ते थे, ऐसा करने के लिए उसे ब्राह्मणों का समर्थन प्राप्त करना पड़ता था। राजा या शासक और उसकी जाति संस्कृतीकरण के प्रभावशाली स्रोत रहे और अन्य जातियों के लिए संस्कृतीकरण जीवन पद्धति का एक विशिष्ट प्रतिमान प्रस्तुत करते हैं।

(2) **बड़े नगर, मन्दिर तथा तीर्थस्थान**—ये भी संस्कृतीकरण के अन्य स्रोत रहे हैं। ऐसे स्थानों पर एकत्रित जन समुदाय में सांस्कृतिक विचारों तथा विश्वासों के प्रसार हेतु उचित अवसर उपलब्ध होते रहे हैं। भजन मण्डलियों, हरि कथा तथा पुराने व नये संन्यासियों ने संस्कृतीकरण के प्रसार में विशेष रूप से योग दिया है। बड़े नगरों में प्रशिक्षित पुजारियों, संस्कृत स्कूलों व महाविद्यालयों, छापेखाने तथा धार्मिक संगठनों ने इस प्रक्रिया में सहायता पहुंचायी है।

(3) **संचार तथा यातायात के साधन**—संचार तथा यातायात के साधनों ने भी संस्कृतीकरण को देश के विभिन्न भागों तथा विविध समूहों में फैलने में योग दिया है। संस्कृतीकरण के

फलस्वरूप यद्यपि निम्न जातीय समूहों ने उच्च जातियों की जीवन पद्धति और सांस्कृतिक विचारों एवं विश्वासों को अपनाया अवश्य है, परन्तु सांथ ही इसके फलस्वरूप परम्परागत संस्कृति में महत्वपूर्ण परिवर्तन भी आये हैं। निम्न जातीय समूहों और उच्च जातियों में सांस्कृतिक धरातल पर कुछ आदान-प्रदान भी हुआ है लघु व दीर्घ परम्पराओं को आपस में एक-दूसरे से घुलने-मिलने का अवसर मिला है। फलस्वरूप एक ऐसी सरलीकृत तथा एकरूप संस्कृति का विकास हो सका है जो अशिक्षित लोगों की आवश्यकताओं के अनुरूप भी है।

(4) **आर्थिक सुधार**—देश के विभिन्न भागों में कई निम्न जातियों ने नवीन आर्थिक सुविधाओं का लाभ उठाकर अपने जीवन के तरीके को उच्च जातियों के समान बनाने और किसी द्विज वर्ण समूह में अपने को सम्मिलित करने का प्रयत्न किया है।

(5) **शिक्षा**—निम्न जातियों में शिक्षा का प्रचार होने पर भी शिक्षित व्यक्तियों में उच्च जातियों की जीवन-शैली को अपनाने की लालसा जागृत हो जाती है।

(6) **सामाजिक सुधार आन्दोलन**—देश के विभिन्न भागों में निम्न जातियों की स्थिति को सुधारने एवं उनकी सामाजिक प्रतिष्ठा को ऊंचा उठाने के लिए अनेक सुधार आन्दोलन हुए हैं। आर्य समाज, प्रार्थना समाज और गांधीजी के अछूतोद्धार प्रयत्नों के परिणामस्वरूप निम्न जातियों की सामाजिक स्थिति में परिवर्तन हुआ है और उन्होंने संस्कृतीकरण किया है।

(7) **नगरीकरण**—भारत में औद्योगीकरण के कारण बड़े-बड़े नगरों का निर्माण हुआ है। बड़े नगरों में जातीय भेद-भाव में कमी आयी है और प्रभु-जाति तथा उच्च जाति का निम्न जातियों पर नियन्त्रण भी शिथिल हुआ है। वहां अपनी असली जाति को छुपाकर उच्च जाति में सम्मिलित होना और नया नाम रख लेना भी सरल है। फिर नगरों में निम्न जाति द्वारा उच्च जाति के खान-पान, रहन-सहन, विश्वास, कर्मकाण्ड व जीवन शैली को अपनाने पर कोई विरोध भी नहीं करता।

(8) **नवीन संविधान एवं कानून**—स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद देश में नवीन संविधान अपनाया गया जिसमें जाति, धर्म, रंग, लिंग, प्रजाति व जन्म के साथ किसी भी नागरिक के प्रति भेदभाव न बरतने की बात कही गयी है। 1955 में अस्पृश्यता निवारण अधिनियम ने जातीय छुआछूत को कानूनन समाप्त कर दिया है और इसे दण्डनीय अपराध घोषित किया है। 1954 का विशेष विवाह अधिनियम अन्तर्जातीय विवाहों की स्वीकृति देता है। इन अधिनियमों ने भी संस्कृतीकरण करने के लिए निम्न जातियों को प्रोत्साहन दिया है।

पश्चिमीकरण
(WESTERNIZATION)

श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की अवधारणा का भी उल्लेख किया है। श्रीनिवास कहते हैं अंग्रेजी शासन के कारण भारतीय समाज और संस्कृति में बुनियादी और स्थायी परिवर्तन हुए। यह काल भारतीय इतिहास के पिछले सभी कालों से भिन्न था, क्योंकि अंग्रेज अपने साथ नई प्रौद्योगिकी, संस्थाएं, ज्ञान, विश्वास और मूल्य लेकर आये थे। नये प्रौद्योगिकी एवं संचार साधनों में होने वाली क्रान्ति की सहायता से अंग्रेजों ने देश का ऐसा एकीकरण किया जैसा इतिहास में पहले कभी नहीं था। अंग्रेजों ने ही भूमि का सर्वेक्षण करके राजस्व निर्धारित किया, आधुनिक नौकरशाही तन्त्र, सेना व पुलिस की स्थापना, नवीन न्याय एवं कानून व्यवस्था, संचार के नवीन साधन, रेलें, डाक-तार, सड़कें, नहरें, स्कूल और कॉलेज सभी का

शुभारम्भ भारत में अंग्रेजों के द्वारा ही किया गया। अंग्रेज अपने साथ छापाखाना भी लाये और इसने भारतीय चिन्तन और जीवन में अनेक परिवर्तन किये। स्कूलों के साथ-साथ पुस्तकों एवं पत्रिकाओं ने आधुनिक एवं पारस्परिक ज्ञान को बहुसंख्यक भारतीयों तक पहुंचा दिया और ज्ञान अब कुछ एक पुस्तैनी समूहों का विशेषाधिकार नहीं रहा।

उन्नीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में अंग्रेजों ने सती-प्रथा, बाल-हत्या, मानवबलि और दास-प्रथा जैसी कुरीतियों को मिटा दिया था। इस प्रकार अंग्रेजों का भारतीयों पर प्रभाव गहरा, बहुमुखी और लाभप्रद था। अंग्रेजों के इसी प्रभाव के लिए श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग किया है। पश्चिमीकरण को परिभाषित करते हुए श्रीनिवास लिखते हैं, "एक सौ पचास वर्षों के अंग्रेजी राज के फलस्वरूप भारतीय समाज और संस्कृति में होने वाले परिवर्तनों के लिए मैंने पश्चिमीकरण शब्द का प्रयोग किया है और यह शब्द औद्योगिकी, संस्थाएं, विचारधारा और मूल्य आदि, विभिन्न स्तरों पर होने वाले परिवर्तनों को समाविष्ट करता है।"

इसके बाद श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की दो अन्य सहवर्ती प्रक्रियाओं—औद्योगीकरण और नगरीकरण—के बीच अन्तर का उल्लेख किया है। श्रीनिवास ने **पश्चिमीकरण की कुछ विशेषताओं का भी उल्लेख किया है :**

(1) पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप न केवल नई संस्थाओं (जैसे समाचार-पत्र, चुनाव, ईसाई धर्म प्रचारक) का समावेश होता है, वरन् पुरानी संस्थाओं में भी परिवर्तन आ जाता है। पश्चिमीकरण के कारण ही भारत की प्राचीन शिक्षा संस्थाओं सेना, सरकारी नौकरी और न्याय व्यवस्था में परिवर्तन हुआ।

(2) पश्चिमीकरण में कुछ मूल्यगत अधिमान्यताएं भी निहित हैं, एक सबसे महत्वपूर्ण मूल्य जिसमें कई अन्य मूल्य सम्मिलित हैं **मानवतावाद** है। मानवतावाद का अर्थ है जाति, आर्थिक स्थिति, धर्म, आयु और लिंग भेद के बिना मनुष्य मात्र की भलाई करने की भावना। समानतावाद व लौकिकीकरण दोनों ही मानवतावाद में निहित हैं। अंग्रेजों द्वारा किये गये अनेक सुधारों में मानवतावाद की भावना निहित थी।

(3) पश्चिमीकरण में समानता की भावना भी सम्मिलित थी। अंग्रेजी कानून व्यवस्था के कारण भारत में समानता के सिद्धान्त की स्थापना और निश्चित अधिकारों की चेतना की सृष्टि हुई।

मानवतावाद के परिणामस्वरूप अकाल का सामना करने, महामारियों को रोकने और स्कूल, अस्पताल तथा अनाथालय स्थापित करने के लिए प्रशासनिक उपाय किये गये। हरिजनों, स्त्रियों, अनाथों, कोढ़ियों और जनजातियों को चिकित्सा व शिक्षा के साधन सुलभ करवाये गये। हिन्दू धर्म की सैद्धान्तिक व संस्थागत दोनों स्तरों पर फिर से व्याख्या हुई तथा विवाह जाति और अस्पृश्यता के प्रति दृष्टिकोण बदल गये।

भारत में पश्चिमीकरण
(WESTERNIZATION IN INDIA)

भारत में अंग्रेज़ी राज्य की स्थापना के पश्चात् अनेक राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं प्रौद्योगिक शक्तियां कार्य करने लगीं। इन शक्तियों ने यहां के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को अनेक रूपों में प्रभावित किया। यहां पश्चिमीकरण की प्रक्रिया कार्य करने लगी। अंग्रेजों के पास राजनीतिक एवं आर्थिक शक्ति थी। साथ ही उनके पास नवीन प्रौद्योगिकी,

वैज्ञानिक ज्ञान तथा महान् साहित्य था। इन सबसे प्रभावित हो उच्च जातियों के लोगों ने अंग्रेजों का अनुकरण करना प्रारम्भ किया; उनकी प्रथाओं एवं आदतों को अपनाया। यहां एक आश्चर्यजनक बात यह थी कि अभी तक उच्च जातियों के लोग जिन प्रथाओं, आदतों, भोजन में काम में ली जाने वाली वस्तुओं, शराब, मांस, आदि को बुरा समझते थे, वे सब अंग्रेजों में प्रचलित थीं, परन्तु अंग्रेजों के पास सत्ता थी, शक्ति थी, ज्ञान और विज्ञान का भण्डार था। अंग्रेज जातीय संस्तरण की प्रणाली में सर्वोच्च शिखर पर पहुंच गये और ब्राह्मणों का स्थान द्वितीय हो गया। जहां निम्न जातियां अपनी सामाजिक, प्रस्थिति को ऊंचा उठाने के उद्देश्य से उच्च जातियों और ब्राह्मणों के जीवन के ढंग को अपनाने में लगी हुई थीं, वहां ब्राह्मणों तथा कुछ अन्य उच्च जातियों के लोगों ने अंग्रेजों के जीवन के ढंग को अपनाने में तत्परता दिखायी। इस प्रकार देश में पश्चिमीकरण की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई। लोग शीघ्र ही समझ गये कि शासन और सत्ता से सम्बन्धित लाभ उसी समय मिल सकते हैं जब अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त की जाय तथा अपने को अंग्रेजीयत के रंग में रंग लिया जाय। परिणाम यह हुआ कि लोगों के रहन-सहन का ढंग, वेष-भूषा, खान-पान, तौर-तरीके या समग्र रूप में जीवन का ढंग ही बदल गया। पश्चिमीकरण के फलस्वरूप तार्किक दृष्टिकोण का विकास हुआ तथा ज्ञान, विज्ञान एवं नवीन प्रौद्योगिकी का प्रसार हुआ।

यहां हमें यह भी ध्यान में रखना है कि पश्चिमीकरण का स्वरूप और गति सब जगह और सब समूहों में समान नहीं थी। डॉ. श्रीनिवास ने मैसूर राज्य का उदाहरण देते हुए बतलाया है कि वहां पश्चिमीकरण की दौड़ में ब्राह्मण सबसे आगे थे.......। वे प्रथम लोग थे जिन्होंने यह अनुमान लगा लिया था कि अंग्रेजी राज्य की स्थापना से अब नवीन अवसर मिलने वाले हैं। ये लोग अपने मूल गांव को छोड़कर बंगलौर तथा मैसूर जैसे नगरों में आ गये ताकि अंग्रेजी शिक्षा का लाभ उठा सकें। नवीन राज व्यवस्था में नौकरी प्राप्त करने के लिए अंग्रेजी शिक्षा आवश्यक प्रवेश-प्रत्र के रूप में थी। यद्यपि ब्राह्मण अपनी शैक्षणिक परम्परा के कारण पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करने की दृष्टि से अनुकूल स्थिति में थे, लेकिन कुछ अन्य मामलों में पश्चिमीकरण की दौड़ में वे दूसरों का मुकाबला नहीं कर सके। ऐसा विशेषतः दक्षिण में था जहां उनमें से अधिकांश शाकाहारी थे तथा जो शराब का प्रयोग नहीं करते थे।

पश्चिमीकरण के कारण ब्राह्मणों को अंग्रेजों और यहां के शेष लोगों के बीच मध्यस्थ के रूप में भूमिका निभाने का सुअवसर मिला। परिणाम यह हुआ कि एक नवीन और लौकिक जाति व्यवस्था का परम्परागत व्यवस्था पर आधिपत्य हो गया जिसमें नवीन क्षत्रिय (अंग्रेज) शिखर पर थे, और ब्राह्मण दूसरे स्थान पर तथा जनसंख्या के शेष लोग जातीय पिरामिड के निम्नतम स्थल पर थे और बाकी सभी लोग नवीन प्रणाली में ब्राह्मण अंग्रेजों का अनुकरण कर रहे थे और बाकी सभी लोग ब्राह्मण और अंग्रेजों दोनों का ही, लेकिन यहां ब्राह्मणों को एक कठिन परिस्थिति का सामना करना पड़ रहा था क्योंकि अंग्रेजों के कुछ मूल्य और प्रथाएं ब्राह्मणों के मूल्यों और जीवन के तरीके के विपरीत थे। डॉ. श्रीनिवास के अनुसार, संस्तरण की नवीन प्रणाली में ब्राह्मणों की स्थिति निर्णायक थी। उनके माध्यम से ही मैसूर में पश्चिमीकरण हिन्दू समाज के अन्य लोगों तक पहुंचा, लेकिन इससे सम्भवतः पश्चिमीकरण अधिक हो पाया क्योंकि अन्य जातियां पहले से ही ब्राह्मणों के जीवन के तरीके का अनुकरण करने की अभ्यस्त थीं। यद्यपि ब्राह्मणों के पश्चिमीकरण ने सम्पूर्ण हिन्दू समाज

को पश्चिमीकृत होने में सहायता पहुंचायी, लेकिन स्वयं ब्राह्मण पश्चिमीकरण के कुछ पहलुओं जैसे अंग्रेजी भोज्य, वस्त्र और अपवित्रता से स्वतन्त्रता, आदि ग्रहण करने में कठिनाई महसूस कर रहे थे।

मैसूर में ब्राह्मणों के पश्चिमीकरण के फलस्वरूप उनके जीवन में अनेक परिवर्तन आये। उनकी वेष-भूषा और पहनावा बदला। गंजी खोपड़ी रखने के बजाय लोग अंग्रेजी बाल काटने लगे और परम्परागत वस्त्रों के स्थान पर कम-से-कम आंशिक रूप से, पश्चिमी किस्म के वस्त्र और जूते पहनने लगे। वेश-भूषा में परिवर्तन से संस्कारात्मक पवित्रता सम्बन्धी विचार भी धीरे-धीरे कमजोर पड़ने लगे। "......जैसे-जैसे पश्चिमी वस्त्र अधिक लोकप्रिय हुए, ब्राह्मण अपनी साधारण पोशाक पहने हुए ही भोजन करने लगे और अब टेबुल पर भोजन करना धनी लोगों में सामान्य होता जा रहा है।" कई ब्राह्मणों तक ने जनेऊ धारण करना बन्द कर दिया जो पश्चिमीकरण के पूर्व तक अत्यन्त आवश्यक था, अब ब्राह्मणों तक के भोजन में उन वस्तुओं का प्रयोग किया जाने लगा जो पहले वर्जित थीं, उदाहरण के रूप में प्याज, आलू, गाजर, शलगम और मूली, आदि। अव कई लोग अण्डे तथा मांस का प्रयोग करने लगे और शिक्षितों में सिगरेट तथा शराब पीना तो सामान्य हो गया है। ब्राह्मणों तक ने कई नवीन व्यवसायों को अपना लिया। पहले ये लोग परम्परा के अनुसार स्वयं हाथ से श्रम-साध्य कार्य नहीं करते थे। अब तो ब्राह्मण सेना तक में भर्ती होने लगे जिसके फलस्वरूप उनका रहन-सहन, आदतें और दृष्टिकोण काफी बदल गये। पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप ब्राह्मणों तथा अन्य लोगों का भौगोलिक और सामाजिक क्षेत्र काफी व्यापक हो गया तथा गतिशीलता में भी वृद्धि हुई। पहले ब्राह्मण डॉक्टर बनना पसन्द नहीं करते थे क्योंकि डॉक्टर को सभी जातियों के मरीजों को स्पर्श करना पड़ता है, यहां तक कि शवों को भी। लेकिन अब यह एक भूतकाल की बात रह गयी है।

डॉ. श्रीनिवास ने बताया है कि पहले मैसूर के कुछ ब्राह्मण समूहों में कन्यामूल्य की प्रथा थी, लेकिन पश्चिमीकरण और इसके फलस्वरूप अच्छी नौकरियों में लगे हुए शिक्षित लड़कों की मांग के कारण दहेज-प्रथा लोकप्रिय हो गयी। लड़कियों के विवाह की आयु काफी बढ़ गयी। पहले ब्राह्मण यौवनारम्भ के पूर्व ही अपनी लड़कियों का विवाह कर देते थे। आजकल नगरीय तथा मध्यवर्गीय ब्राह्मण शायद ही अपनी लड़कियों का विवाह 18 वर्ष की आयु के पूर्व करते हैं। अब बाल-विधवाएं नहीं के बरावर पायी जाती हैं तथा विधवाओं के सिर मुंडवाना तो भूतकाल की बात हो गयी है। डॉ. श्रीनिवास ने मैसूर में अपने क्षेत्रीय अध्ययन के आधार पर बताया है कि आधुनिक हिन्दू सामाजिक जीवन का एक रुचिपूर्ण विरोधाभास यह है कि ब्राह्मण अत्यधिक पश्चिमीकृत जबकि अन्य जातियां अधिकाधिक संस्कृतीकृत होती जा रही हैं। संस्तरण की प्रणाली में नीचे के स्तर की जातियां उन प्रथाओं को अपना रही हैं। जिन्हें ब्राह्मण छोड़ने में लगे हुए हैं। जहां तक कि निम्न जातियों का सम्बन्ध है, ऐसा लगता है कि जैसे पश्चिमीकरण के लिए संस्कृतीकरण एक अनिवार्य प्रारम्भिक तैयारी हो।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् अब कई निम्न स्तर की जातियां अंग्रेजी शिक्षा का लाभ उठाकर अपने आपको पश्चिमीकृत करती जा रही हैं अथवा यों कहा जा सकता है कि वे आधुनीकीकरण की ओर बढ़ रही हैं। अब विभिन्न जातियों में लोग ब्राह्मणों के अनुकरण या संस्कृतीकरण के माध्यम से नहीं बल्कि सीधे ही पश्चिमीकरण की ओर बढ़ रहे हैं। श्रीनिवास

ने स्वयं एक स्थान पर लिखा है कि "मैं यहां इस बात पर जोर देना चाहता हूं कि पश्चिमीकरण के लिए संस्कृतीकरण आवश्यक नहीं है। यह बात आधुनिक अवलोकन से सम्बन्धित है और मेरा तात्पर्य यह नहीं है कि पश्चिमीकरण के पूर्व संस्कृतीकरण कोई तार्किक आवश्यकता है। यह सम्भव है कि संस्कृतीकरण की मध्यवर्ती प्रक्रिया के बिना ही पश्चिमीकरण हो जाय। ऐसा नगरों में रहने वाले समूहों और व्यक्तियों और साथ ही ग्रामीण और जनजातीय लोगों में हो सकता है, और विशेषतः विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं के तहत तेजी हो रहे औद्योगीकरण में ऐसा होना और भी सम्भव है। बढ़ते हुए पश्चिमीकरण का तात्पर्य लोगों के दृष्टिकोण का अधिक लौकिकीकरण है।" इस सम्बन्ध में डॉ. श्रीनिवास का मत है कि शिक्षा, ऊंची आमदनी और नगरीकरण से जीवन शैली का लौकिकीकरण (Secularization) होता है जिसमें भोजन की प्रविधि के साथ-साथ भोजन के समय और भोजन की वस्तुओं में मूलभूत परिवर्तन शामिल हैं। मेज पर खाना भी जो लौकिकीकरण की उपज है, लौकिकीकरण को और आगे बढ़ाता है। दूसरे शब्दों में, नयी प्रविधि से लौकिकीकरण को और भी सहारा मिलता है। भोजन के सम्बन्ध में एक नया दृष्टिकोण उभरने लगता है, उसे इस दृष्टि से अधिकाधिक देखा जाने लगता है कि उससे स्वास्थ्य और क्षमता में वृद्धि होती है या नहीं, और इस दृष्टि से कम कि वह परम्परा से स्वीकृत है अथवा वर्जित।

यहां हमें इस बात को भी भली-भांति ध्यान में रखना है कि व्यवहार के एक क्षेत्र में पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप व्यवहार के अन्य सम्बद्ध क्षेत्र में अनिवार्यतः पश्चिमीकरण नहीं होता। सम्पूर्ण भारत में दशहरा के त्यौहार के अवसर पर अपने धन्धे से सम्बन्धित औजारों को साफ करने, उनके सिन्दूर लगाने, धूप खेने तथा फूल चढ़ाने का सामान्य रिवाज है। यह बात नगर और ग्राम दोनों ही क्षेत्रों में काम करने वाले लोगों के लिए सही है। डॉ. श्रीनिवास ने स्वयं बताया है कि इस अवसर पर मोटरों को धोकर उन पर सिन्दूर लगाया जाता है, उन्हें फूल मालाओं से सजाया जाता है। सिलाई की मशीनों, टाइपराइटरों और पुस्तकों के साथ भी यही होता है। इस प्रकार पश्चिमी प्रौद्योगिकी (Technology) के उपयोग का यह तात्पर्य नहीं है कि उपयोग करने वालों ने तर्क बुद्धिपरक और वैज्ञानिक विश्व-दृष्टि (World-view) स्वीकार कर ली है। उपर्युक्त कथन से यह स्पष्ट होता है कि भारत में परम्परा और आधुनिकता साथ-साथ चलती हैं, दोनों में पूर्णतः विरोध पाया जाय, यह आवश्यक नहीं है। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पश्चिमीकरण के परिणामस्वरूप व्यवहार के किसी एक क्षेत्र या स्तर पर परिवर्तन आ सकता है और यह आवश्यक नहीं है कि उससे सम्बन्धित अन्य क्षेत्र में भी परिवर्तन आये ही।

यहां इस बात का उल्लेख करना भी आवश्यक प्रतीत होता है कि पश्चिमीकरण की प्रक्रियाओं में प्रमुखतः उन लोगों ने भाग लिया जो नवीन शिक्षण संस्थाओं में शिक्षा प्राप्त कर व्यवसायों में ऊंची नौकरियों में तथा नगरों में व्यापार और उद्योगों-धन्धों में लग चुके थे। यातायात और संचार के साधनों के विकास, औद्योगीकरण तथा कृषि क्षेत्र में होने वाली प्रगति, अभिजात वर्ग और ग्रामीणों की क्षेत्रीय तथा सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि ने पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को तीव्र एवं साथ ही राष्ट्रव्यापी बना दिया। बड़े नगरों और समुद्री किनारों पर रहने वाले लोगों का पश्चिमीकरण सबसे पहले हुआ। उदाहरण के रूप में, मुम्बई, कलकत्ता तथा चेन्नई के लोगों पर पश्चिमीकरण का प्रभाव उन लोगों से बहुत पहले पड़ना

प्रारम्भ हो चुका था जो देश के दूरस्थ भीतरी प्रदेशों में रहते थे। डॉ. श्रीनिवास ने बताया है कि साधारण नगरों में रहने वाले गांवों में रहने वालों की बजाय पश्चिमी प्रभावों से अधिक प्रभावित होते हैं। नगर जितना बड़ा हो, इस प्रभाव की उतनी ही अधिक सम्भावना रहती है। छोटे गांवों में ऐसी सम्भावनाएं बहुत थोड़ी हैं, यद्यपि अब स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पहले की तुलना में ये सम्भावनाएं अधिक हैं।

नगरीकरण की प्रक्रिया को ग्रामीण छोर से देखने पर **हैरोल्ड गोल्ड** ने बताया है कि उत्तर प्रदेश में ब्राह्मण और राजपूत जैसी ऊंची जातियों का ही पश्चिमीकरण हो रहा है जिसमें नगरीकरण भी शामिल है और निम्न जातियों के पास आधुनिक जगत् में प्रवेश के लिए न तो साधन हैं और न ही प्रेरणा। वे गरीब हैं, अशिक्षित हैं और नगरों में उनकी रिश्तेदारियां भी नहीं हैं और ये सब उनकी गतिशीलता में बाधा डालते हैं। गोल्ड ने अपने स्वयं के कार्य-क्षेत्र के अलावा उत्तर प्रदेश के दो अन्य गांवों से भी अपने इस दृष्टिकोण के समर्थन में प्रमाण प्रस्तुत किये हैं कि पश्चिमीकरण और नगरीकरण ब्राह्मण, राजपूत (ठाकुर) तथा जाट जैसी उच्च जातियों का हो रहा है न कि सबसे निचली और सबसे गरीब जातियों का। "वास्तविकता आधुनिकीकृत होते हुए समाजों में गतिशीलता सम्बन्धी इन अपेक्षताओं से भिन्न प्रतीत होती है कि भूमिहीन और गरीब लोग ही नकद मजदूरी की तलाश में नगरों की ओर जाने के लिए बाध्य होते हैं और भू-स्वामी तथा धनी लोग अपेक्षतया अधिक समय तक अपने ग्रामीण आवास में रहने से सन्तुष्ट रहते हैं।" लेकिन श्रीनिवास ने बताया है कि सारे भारत को ध्यान में रखते हुए यह मानना असम्भव है कि 'नीची' जातियों की तो बात ही क्या, हरिजन जातियां भी नगरीकरण की प्रक्रिया में खिंचकर नहीं आयी हैं। आपकी यह मान्यता है कि चूंकि नीची जातियां ऊंची जातियों से संख्या में इतनी ज्यादा है कि हर जगह नगरों में भी वे अधिक संख्या में दिखायी पड़ती हैं। हम यहां डॉ. श्रीनिवास की इस बात से तो सहमत हैं कि नीची जातियों के लोग नगरों में भी अधिक संख्या में हैं, लेकिन फिर भी वास्तविकता यह है कि वे उच्च जातियों की तुलना में पश्चिमीकरण की दृष्टि से कम अनुकूल स्थिति में हैं। इसका कारण यह है कि पश्चिमीकरण के लिए उसके पास आर्थिक साधनों और आवश्यक प्रेरणा का अभाव है।

डॉ. श्रीनिवास ने उन जातियों की चर्चा की है जिन्होंने पश्चिमीकरण करने में अन्य जातियों का नेतृत्व किया—यद्यपि यहां किसी जाति के उल्लेख का यह अर्थ नहीं है कि उसके सभी सदस्यों का समान मात्रा में पश्चिमीकरण हो गया, अथवा जिन समूहों का उल्लेख नहीं किया गया है, उनमें कोई पश्चिमीकरण नहीं हुआ। भारत के अधिकतर भागों में ब्राह्मण समूह, उत्तर भारत में कायस्थ (लिपिक तथा सरकारी अधिकारी) बंगाल में वैध, पश्चिमी भारत में पारसी और बनिये, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिमी भारत में कुछ मुसलमान समूह और केरल में नायर तथा सीरियाई ईसाई लोगों ने पश्चिमी शिक्षा प्राप्त की और इसके परिणामस्वरूप नवीन पेशों को अपनाया। देश के विभिन्न भागों में अनेक ब्राह्मण जातियां—नम्बूद्रियों के अतिरिक्त सभी दक्षिण भारतीय ब्राह्मण, गुजरात में नागर और अनाविल ब्राह्मण और कश्मीरी, बंगाली तथा मराठी ब्राह्मण पेशों और सरकारी नौकरियों में प्रमुख थीं। इन जातियों से सम्बन्धित लोगों का पश्चिमीकरण सबसे पहले हुआ।

जहां तक भारतीय मुसलमानों का सम्बन्ध है, डॉ. श्रीनिवास ने बताया है कि राजनीतिक दृष्टि से शक्तिशाली मुसलमानों का एक छोटा समूह अंग्रेजों के भारत में आने के पहले से ही अभिजात वर्ग का महत्वपूर्ण भाग था, मगर अधिकतर मुसलमान जो कि निम्न जातियों से धर्म-परिवर्तन द्वारा मुसलमान बने थे, गरीब थे और मुसलमान जातियों की संस्तरण प्रणाली में सबसे नीचे थे। मुस्लिम अभिजात-वर्ग अंग्रेजों द्वारा उनसे भारत का शासन छीन लिए जाने के कारण नाराज था और उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त से कुछ पहले तक पश्चिमीकरण का तीव्र विरोधी था। लेकिन जब मुसलमानों ने स्वयं द्वारा अपने पर आरोपित पृथक्करण को तोड़कर नवीन धारा के साथ प्रवाहित होने का निश्चय किया, तो उन्होंने पाया कि हिन्दू उस धारा में बहुत आगे पहुंच चुके हैं। सर सैयद अहमद खां (1817-1898) मुसलमानों में पश्चिमीकरण आन्दोलन के संस्थापक थे। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस में कुछ ऐसे मुसलमान थे जो काफी पश्चिमीकृत थे।

ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर हम पाते हैं कि पश्चिमी प्रभाव के कारण उन्नीसवीं शताब्दी के सातवें दशक तक भारत में ऐसे नेताओं के वर्ग का उदय हो चुका था जो नवीन और आधुनिक भारत के लिए प्रकाश स्तम्भ बना। बहुत-से नेता जैसे टैगोर, विवेकानन्द, रानाडे, गोखले, तिलक, पटेल, गांधी, जवाहरलाल नेहरू तथा राधाकृष्णन, आदि देश को प्रथम सामाजिक सुधार आन्दोलन की ओर आगे बढ़ा रहे थे और तत्पश्चात् स्वतन्त्रता-प्राप्ति आन्दोलन की ओर। ये नेता मौजूदा सामाजिक कुरीतियों जैसे बाल-विवाह, सती-प्रथा, विधवा-विवाह निषेध, स्त्रियों को पृथक्करण में रखना, स्त्री, शिक्षा का विरोध, अस्पृश्यता तथा अन्तर्जातीय विवाह निषेध, आदि के प्रति जागरूक थे। उन्नीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में राजा राममोहन राय के प्रयत्न से सुधार आन्दोलन प्रारम्भ हुआ। नेताओं ने यह महसूस किया कि सामाजिक सुधार से ही देश शक्तिशाली बन सकता है, लेकिन तिलक के नेतृत्व में कुछ लोगों ने शीघ्र ही यह अनुमान लगा लिया कि राजनीतिक दृष्टि से स्वतन्त्र होने पर ही देश मजबूत बन सकता है। डॉ. श्रीनिवास के अनुसार धीरे-धीरे नवीन अभिजात-वर्ग की संख्या, शक्ति और प्रभाव में वृद्धि होती गयी और उसमें अपने समाज में मूलभूत परिवर्तन लाने की इच्छा ने एक धुन का रूप ले लिया, जिसमें धार्मिकता लेशमात्र से कुछ अधिक ही थी। समाज को सुधारने की प्रक्रिया में, अभिजात-वर्ग को पता चला कि भारत को आधुनिकीकरण की ओर बढ़ाने के कार्य को सफलतापूर्वक सम्पन्न करने के लिए राजसत्ता की आवश्यकता है। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम पचास वर्षों में देश में काफी राष्ट्रीय जागृति हुई। इस अवधि में रेलों के निर्माण, छापेखाने के विकास तथा शिक्षा के प्रसार ने राष्ट्रीयता के भावों को जागृत करने में काफी सहयोग दिया। इस प्रकार पश्चिमीकरण ने न केवल अभिजात-वर्ग के उदय में ही नहीं बल्कि हिन्दू समाज को अनेक कुरीतियों से मुक्त करने, राष्ट्रीयता के भाव जगाने और स्वतन्त्रता-प्राप्ति हेतु आन्दोलन चलाने में भी महत्वपूर्ण योग दिया।

श्रीनिवास कहते हैं कि संस्कृतीकरण पश्चिमीकरण की प्रथम सीढ़ी है। जो निम्न जाति पश्चिमीकरण करना चाहती है, वह पहले अपना संस्कृतीकरण करती है।

आधुनिकीकरण
(MODERNIZATION)

परम्परात्मक समाजों में होने वाले परिवर्तनों या औद्योगीकरण के कारण पश्चिमी समाजों में आये परिवर्तनों को समझने तथा दोनों में भिन्नता को प्रकट करने के लिए विद्वानों

ने आधुनिकीकरण की अवधारणा को जन्म दिया। एक तरफ उन्होंने परम्परात्मक समाज को रखा और दूसरी तरफ आधुनिक समाज को। इस प्रकार उन्होंने परम्परात्मक बनाम आधुनिकता (Tradition *versus* Modernity) को जन्म दिया। इसके साथ ही जब पाश्चात्य विद्वान उपनिवेशों एवं विकासशील देशों में होने वाले परिवर्तनों की चर्चा करते हैं तो वे आधुनिकीकरण की अवधारणा का सहारा लेते हैं।

कुछ लोगों ने आधुनिकीकरण को एक प्रक्रिया (Process) के रूप में माना है तो कुछ ने एक प्रतिफल (Product) के रूप में। आइजनस्टैड ने इसे एक प्रक्रिया मानते हुए लिखा है, "ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिकीकरण उस प्रकार की सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं की ओर परिवर्तन की प्रक्रिया है जो कि सत्रहवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक पश्चिमी यूरोप तथा उत्तरी अमेरिका में और बीसवीं शताब्दी तक दक्षिणी अमेरिकी, एशियाई व अफ्रीकी देशों में विकसित हुई।"[1] आधुनिकीकरण की प्रक्रिया किसी एक ही दिशा या क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन को प्रकट नहीं करती वरन् यह एक बहु-दिशा वाली प्रक्रिया (Multi-dimensional process) है। साथ ही यह किसी भी प्रकार के मूल्यों से बंधी हुई है (Value free)। परन्तु कभी-कभी इसका अर्थ अच्छाई और इच्छित परिवर्तन से लिया जाता है।[2] उदाहरण के लिए, जब कोई यह कहता है कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक संस्थाओं का आधुनिकीकरण हो रहा है, तब उसका उद्देश्य आलोचना करना नहीं है, वरन् अच्छाई बताना है।

एक अवधारणा : अनेक नाम
(SINGLE CONCEPT : VARIOUS NAMES)

आधुनिकीकरण की अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए अब तक कई पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने समय-समय पर अपने विचार प्रकट किये हैं और इस अवधारणा को अनेक नामों से सम्बोधित किया है। आधुनिकीकरण पर अपने विचार प्रकट करने वाले विद्वानों में कुछ प्रमुख ये हैं : Weiner, Apter, Lerner, Black, Inkles Bendix, Marrion J. Levy, Smelser, Eisenstadt, Nettle, A. R. Desai, Y. Singh, S.C. Dube, M. N. Srinivas, Edward Shils, W. C. Smith, आदि। आधुनिकीकरण शब्द के पर्यायवाची रूप में, अंग्रेजीकरण (Anglicization), यूरोपीयकरण (Europeanization), पाश्चात्यकरण (Westernization), शहरीकरण (Urbanization), उद्विकास (Evolution), विकास (Development), प्रगति (Progress), आदि शब्दों का प्रयोग भी हुआ है। औद्योगीकरण, नगरीकरण एवं पश्चिमीकरण की तरह आधुनिकीकरण भी एक जटिल प्रक्रिया है।

आधुनिकीकरण का प्रारूप
(MODEL FOR MODERNIZATION)

प्रश्न उठता है कि कौन-से परिवर्तन होने, कौन-सी स्थिति पैदा होने या कौन-सी प्रक्रिया प्रारम्भ होने पर उसे हम आधुनिकीकरण कहकर पुकारेंगे। साधाणतः आधुनिकीकरण के आदर्श

1 "Historically modernization is the process of change towards the type of social, economic and political systems that have developed in Western Europe and North America from the seventeenth century to the nineteenth and twentieth centuries to the South American, Asian and African countries."
—Eisenstadt, *Modernization : Protest and Change.*

2 M. N. Srinivas, *Social Change in India*, Hindi edition, p. 65.

पाश्चात्य देश एवं उनमें होने वाले परिवर्तन ही रहे हैं। जैसा कि **बेनडिक्स** कहते हैं, "आधुनिकीकरण से मेरा तात्पर्य उस किस्म के सामाजिक परिवर्तनों से है जो 1760-1830 में इंगलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति तथा 1789-1794 में फ्रांस की राजनीतिक क्रान्ति के दौरान उत्पन्न हुए।"[1] वर्तमान प्रजातन्त्र, शिक्षा-प्रणाली और औद्योगिक क्रान्ति का प्रारम्भ अधिकांशतः पश्चिमी देशों में ही हुआ है। अतः यदि उन परिवर्तनों का जो सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और अन्य क्षेत्रों में पश्चिमी देशों में हुए, दूसरे देशों में अनुकरण होता है तो वह आधुनिकीकरण के नाम से जाना जायेगा। अतः इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि प्रारम्भ में आधुनिकीकरण का प्रारूप पश्चिमी देश ही रहे हैं, अब चाहे रूस, चीन, जापान या अन्य देश भी आधुनिकीकरण के आदर्श के रूप में हों। **रूडोल्फ** एवं **रूडोल्फ** ने भी इस बात की पुष्टि की है।[2] **लर्नर** का मत है कि पश्चिमी मॉडल केवल ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी है, समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्वव्यापी। (The Western model is only historically western, sociologically it is global.)

आधुनिकीकरण : परिभाषा एवं अर्थ
(MODERNIZATION : DEFINITION AND MEANING)

अब तक विभिन्न विद्वानों ने आधुनिकीकरण पर बहुत कुछ लिखा है और इसे अनेक रूपों में परिभाषित किया है। यहां हम कुछ विद्वानों द्वारा प्रस्तुत परिभाषाओं एवं विचारों का उल्लेख करेंगे :

मैरियन जे. लेवी (Marrion J. Levy) ने आधुनिकीकरण को प्रौद्योगिक वृद्धि (Technological growth) के रूप में परिभाषित किया है, "मेरी आधुनिकीकरण की परिभाषा शक्ति के जड़ स्रोतों (inanimate sources of power) और प्रयत्न के प्रभाव को बढ़ाने के लिए उपकरणों के प्रयोग पर आधारित है। मैं इन दो तत्वों में से प्रत्येक को सातत्य (Continuum) का आधार मानता हूं।"[3] उपरोक्त परिभाषा से स्पष्ट है कि लेवी ने शक्ति के जड़ स्रोत जैसे, पेट्रोल, डीजल, कोयला, जल-विद्युत् तथा अणु-शक्ति और यन्त्रों के प्रयोग को आधुनिकीकरण के आधार के रूप में माना है। किसी समाज विशेष को कितना आधुनिक कहा जायेगा, यह इस बात पर निर्भर करता है कि वहां जड़ शक्ति तथा यन्त्रों का कितना प्रयोग हुआ है।

डॉ. योगेन्द्र सिंह (Dr. Yogendra Singh) ने बताया है कि साधारणतः आधुनिक होने का अर्थ फैशनेबल ले लिया जाता है (To be modern is to be fashionable)। वे आधुनिकीकरण को एक सांस्कृतिक प्रयत्न मानते हैं जिसमें तार्किक अभिवृत्ति, सार्वभौम दृष्टिकोण, परानुभूति, वैज्ञानिक विश्व दृष्टि, मानवता, प्रौद्योगिक प्रगति, आदि सम्मिलित हैं (Modernization includes rational attitude, universalistic viewpoint, empathy, scientific world view, humanity, technological advancement, etc.)।

1 Bendix, *Tradition and Modernity Recognized*, p. 329.
2 Rudolph and Rudolph, *The Modernity of Tradition*, p. 7.
3 "My definition of modernization hinges on the use of Inanimate sources of power and the use of tools to multiply the effect of I conceive each of these two elements as the basis of a continuum." —Marrion J. Levy, *Contrasting Factors in the Modernization of China and Japan* (1955).

डॉ. सिंह आधुनिकीकरण पर किसी एक ही जातीय समूह (ethnic group) या सांस्कृतिक समूह (cultural group) का स्वामित्व नहीं मानते वरन् सम्पूर्ण मानव समाज का अधिकार मानते हैं।

डेनियल लर्नर (Daniel Lerner) ने अपनी पुस्तक '*The Passing of Traditional Society : Modernizing the Middle East*' में आधुनिकीकरण का पश्चिमी मॉडल स्वीकार किया है। वे आधुनिकीकरण में निहित निम्नलिखित विशेषताओं का उल्लेख करते हैं :

(अ) बढ़ता हुआ नगरीकरण (Increasing Urbanization)

(ब) बढ़ती हुई साक्षरता (Increasing Literacy)

(स) बढ़ती हुई साक्षरता विभिन्न साधनों जैसे, समाचार-पत्रों, पुस्तकों, रेडियो, आदि के प्रयोग द्वारा शिक्षित लोगों के अर्थ पूर्ण विचार-विनिमय में सहभागिता को बढ़ाती है (Increasing literacy tends to increased participation of literate people in a meaningful discourse through various media, like newspapers, books, radio and so on.)।

(द) इन सभी से मनुष्य की क्षमता में वृद्धि होती है, राष्ट्र का आर्थिक लाभ होता है जो प्रति व्यक्ति आय को बढ़ाने में योग देता है (Economic development of the country helps to increase per capita income)।

(य) राजनीतिक जीवन की विशेषताओं को उन्नत करने में सहायता देता है (It helps in improving the qualities of political life)।

लर्नर उपर्युक्त विशेषताओं को शक्ति, तरुणाई, निपुणता तथा तार्किकता (power, youth, skill and rationality) के रूप में व्यक्त करते हैं। वे आधुनिकीकरण को प्रमुखतः मस्तिष्क की एक स्थिति के रूप में स्वीकार करते हैं, प्रगति की अपेक्षा, वृद्धि की ओर झुकाव तथा परिवर्तन के अनुरूप अपने को ढालने की तत्परता के रूप में मानते हैं (Modernity is primarily a state of mind, expectation of progress, propensity to growth, readiness to adopt ourself to change)। परानुभूति (empathy) भी आधुनिकीकरण का एक मुख्य तत्व है जिसमें अन्य लोगों के सुख-दुःख में भाग लेने और संकट के समय उनको सहायता देने की प्रवृत्ति बढ़ती है।

आइजनस्टैड (Eisenstadt) ने अपनी पुस्तक '*Modernization : Protest and Change*' (1966) में विभिन्न क्षेत्रों में आधुनिकीकरण को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है :

(अ) **आर्थिक क्षेत्र में**—प्रौद्योगिकी का उच्च स्तर।

(ब) **राजनीतिक क्षेत्र में**—समूह में शक्ति का प्रसार तथा सभी वयस्कों को शक्ति प्रदान करना (मताधिकार द्वारा) एवं संचार के साधनों द्वारा प्रजातन्त्र में भाग लेना।

(स) **सांस्कृतिक क्षेत्र में**—विभिन्न समाजों के साथ अनुकूलन की क्षमता में वृद्धि तथा दूसरे लोगों की परिस्थितियों के प्रति परानुभूति (empathy) में वृद्धि।

(द) **संरचना के क्षेत्र में**—सभी संगठनों के आकार का बढ़ना, उनमें जटिलता एवं विभेदीकरण की दृष्टि से वृद्धि।

(य) **पारिस्थितिकीय क्षेत्र में** (ecological field)—नगरीकरण की वृद्धि।

डॉ. राजकृष्ण (Dr. Raj Krishna) ने आधुनिकीकरण एवं आधुनिकता में अन्तर किया है। आप आधुनिकता को आधुनिकीकरण से अधिक व्यापक मानते हैं। आपके अनुसार आधुनिकीकरण एक ऐसी सभ्यता की ओर इंगित करता है जिसमें साक्षरता तथा नगरीकरण का उच्च स्तर तथा साथ ही लम्बवत और भौगोलिक गतिशीलता (Vertical and geographical mobility), प्रति व्यक्ति उच्च आय और प्रारम्भिक स्तर से उच्च स्तर की अर्थव्यवस्था जो कमी के स्तर (उत्पतन-बिन्दु—take off Stage) के परे जा चुकी हो, समाविष्ट हैं। दूसरी ओर आधुनिकता, एक ऐसी संस्कृति को बताती है जिसकी विशेषता का निर्धारण तार्किकता, व्यापक रूप में उदार दृष्टिकोण, मतों की विविधता तथा निर्णय लेने के विभिन्न केन्द्र, अनुभव के विभिन्न क्षेत्रों की स्वायत्तता, धर्मनिरपेक्ष आचार-शास्त्र तथा व्यक्ति के निजी संसार के प्रति आदर के रूप में होता है।[1]

सी. ई. ब्लैक (C. E. Black)[2] ने आधुनिकीकरण को ऐतिहासिक रूप में स्वीकार किया है और इसे परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया माना है जो पश्चिमी यूरोप और उत्तरी अमेरिका में सत्रहवीं सदी में विकसित, सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं से बीसवीं सदी के अमेरिका तथा यूरोप, आदि देशों की ओर अग्रसर होती है। आधुनिकीकरण एक ऐसी मनोवृत्ति का परिणाम है जिसमें यह विश्वास किया जाता है कि समाज को बदला जा सकता है और बदला जाना चाहिए तथा परिवर्तन वांछनीय है। आधुनिकीकरण में व्यक्ति को संस्थाओं के बदलते हुए कार्यों के अनुरूप समायोजन करना होता है, इससे व्यक्ति के ज्ञान में वृद्धि होती है जिसके परिणामस्वरूप वह पर्यावरण पर नियन्त्रण प्राप्त कर लेता है। ब्लैक के अनुसार आधुनिकीकरण का प्रारम्भ तो यूरोप व अमेरिका से हुआ परन्तु बीसवीं सदी तक इसका प्रसार सम्पूर्ण् विश्व में हो गया और इसने मानवीय सम्बन्धों के स्वरूप को ही परिवर्तित कर दिया।

डॉ. एस. सी. दुबे (Dr. S. C. Dube) ने '*Modernization : Its Meaning and Models*' (1964) तथा '*Modernization and Education*' (1969) में आधुनिकीकरण पर अपने विचार प्रकट किये हैं। आपने अपनी पुस्तक '*Contemporary India and its Modernization*' में भारत के सन्दर्भ में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को दर्शाने का प्रयत्न किया है। डॉ. दुबे आधुनिकीकरण को मूल्यों से मुक्त मानते हैं। आप इसके लिए कोई एक निश्चित मॉडल या मार्ग भी नहीं मानते, जैसा कि कुछ विद्वानों ने माना है। भारत में हमने राजनीतिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र, धर्म-निरपेक्षता तथा समाजवाद को अपनाया है तथा पश्चिम को मॉडल माना है, वहीं हमने समतावादी समाज (equalitarian society) के लिए रूस और चीन को मॉडल माना है।[3] आधुनिकीकरण के फलस्वरूप व्यक्तियों में तर्क, परानुभूति, गतिशीलता एवं सहभागिता बढ़ती है। डॉ. दुबे इसमें प्रमुखतः तीन बातों को सम्मिलित करते हैं :

(1) मानव समस्याओं के हल के लिए जड़-शक्ति का प्रयोग।

(2) ऐसा व्यक्तिगत रूप से न करके सामूहिक रूप से किया जाता है, परिणामस्वरूप जटिल संगठनों का निर्माण होता है।

---

1 Dr. Raj Krishna, quoted by A.R. Shah in *Tradition and Modernity in India*, p. 19.
2 C. E. Black, *The Dynamics of Modernization* (New York), 1966.
3 S. C. Dube, *Contemporary India and its Modernization*, p. 15.

(3) इस प्रकार के जटिल संगठनों को चलाने के लिए व्यक्तित्व, समाज और संस्कृति में परिवर्तन लाना आवश्यक है।[1] डॉ. दुबे शिक्षा को आधुनिकीकरण का एक सशक्त साधन मानते हैं क्योंकि शिक्षा ज्ञान की वृद्धि करती है एवं मूल्यों तथा धारणाओं में परिवर्तन लाती है जो आधुनिकीकरण के उद्देश्य तक पहुंचने के लिए बहुत आवश्यक है।

डॉ. एम. एनं. श्रीनिवास (M. N. Srinivas) ने '*Social Change in Modern India*' (1966) तथा '*Modernization : A Few Queries*' (1969) में आधुनिकीकरण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किये हैं : आप आधुनिकीकरण को एक तटस्थ शब्द नहीं मानते। आपके अनुसार आधुनिकीकरण का अर्थ अधिकांशतः 'अच्छाई' से लिया जाता है। किसी भी पश्चिमी देश के प्रत्यक्ष या परोक्ष सम्पर्क के कारण किसी गैर-पश्चिमी देश में होने वाले परिवर्तनों के लिए प्रचलित शब्द आधुनिकीकरण है। आप आधुनिकीकरण में निम्नलिखित बातों को सम्मिलित करते हैं : बढ़ा हुआ नगरीकरण, साक्षरता का प्रसार, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, वयस्क मताधिकार तथा तर्क का विकास।

डॉ. श्रीनिवास ने आधुनिकीकरण के तीन प्रमुख क्षेत्र बताये हैं :

(1) भौतिक संस्कृति का क्षेत्र (इसमें तकनीकी भी सम्मिलित की जाती है);

(2) सामाजिक संस्थाओं का क्षेत्र; और

(3) ज्ञान, मूल्य एवं मनोवृत्तियों का क्षेत्र।

ऊपरी तौर पर तो ये तीनों क्षेत्र भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते हैं, परन्तु ये परस्पर सम्बन्धित हैं। एक क्षेत्र में होने वाले परिवर्तन दूसरे क्षेत्र को भी प्रभावित करते हैं।

बी. वी. शाह (B. V. Shah) ने '*Problems of Modernization of Education in India*' (1969) नामक लेख में आधुनिकींकरण पर अपने विचार प्रकट किये हैं। शाह आधुनिकीकरण को बहु-दिशीय प्रक्रिया (Multi-dimensional process) मानते हैं जो आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक, आदि सभी क्षेत्रों में व्याप्त है।

(अ) आर्थिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ है—औद्योगीकरण का बढ़ना, अधिक उत्पादन, मशीनीकरण, मुद्रीकरण व शहरीकरण में वृद्धि। व्यक्तिगत व सामूहिक सम्पत्ति में भेद किया जाता है। रहने और काम करने के स्थान अलग-अलग होते हैं। लोगों को व्यवसाय चुनने की स्वतन्त्रता होती है। उनमें तर्क और गतिशीलता की वृद्धि होती है। आय, खरीद, बचत तथा पूंजी लगाने के क्षेत्र में नये दृष्टिकोण का विकास होता है।

(ब) राजनीतिक क्षेत्र में धर्मनिरपेक्ष व कल्याणकारी राज्य की स्थापना होती है जो शिक्षा, स्वास्थ्य, मकान एवं रोजगार की व्यवस्था करता है। कानून के समक्ष सभी को समानता प्रदान की जाती है तथा सरकार को चुनने अथवा बदलने की स्वतन्त्रता तथा अभिव्यक्ति की छूट होती है।

(स) सामाजिक क्षेत्र में संस्तरण की खुली व्यवस्था होती है। प्रदत्त पद के स्थान पर अर्जित पदों का महत्व होता है तथा सभी को अवसर की समानता दी जाती है। विवाह, धर्म, परिवार तथा व्यवसाय के क्षेत्र में वैयक्तिक स्वतन्त्रता पर बल दिया जाता है।

---

1 S. C. Dube, *Modernization and Education*, quoted by A. R. Desai, *op. cit.*, pp. 505-506.

(द) **वैयक्तिक क्षेत्र में** सामाजिक परिवर्तन के लिए मानव प्रयत्नों में विश्वास किया जाता है। धर्मनिरपेक्ष, तार्किक, वैज्ञानिक और विश्वव्यापी दृष्टिकोण का विकास होता है। सामाजिक समस्याओं के प्रति समानतावादी और स्वतन्त्रतात्मक दृष्टिकोण अपनाया जाता है।

ए. आर. देसाई (A. R. Desai) आधुनिकीकरण का प्रयोग केवल सामाजिक क्षेत्र तक ही सीमित नहीं बल्कि जीवन के सभी पहलुओं तक विस्तृत मानते हैं।

बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ तर्क-शक्ति का बढ़ना है। भौतिक व सामाजिक घटनाओं की तार्किक व्याख्या की जाती है। ईश्वर को आधार मानकर किसी भी घटना को स्वीकार नहीं किया जाता। धर्मनिरपेक्ष तार्किकता का ही परिणाम है जिसके फलस्वरूप अलौकिक जगत के स्थान पर इस दुनिया का (this worldly) दृष्टिकोण पनपता है।

सामाजिक क्षेत्र में—(अ) सामाजिक गतिशीलता बढ़ती है। पुरानी सामाजिक, आर्थिक राजनीतिक तथा मनोवैज्ञानिक धारणाओं को तोड़ कर व्यक्ति नये प्रकार के व्यवहार को अपनाने को प्रस्तुत होता है।

(ब) सामाजिक संरचना में परिवर्तन—व्यक्ति के व्यावसायिक एवं राजनीतिक कार्यों में परिवर्तन आता है, प्रदत्त के स्थान पर अर्जित पदों का महत्व बढ़ता है।

राजनीतिक क्षेत्र में—(अ) सार्वभौमिक सत्ता की वैधता (Legitimation) अलौकिक शक्ति से प्राप्त न होकर नागरिकों द्वारा प्राप्त होती है;

(ब) राजनीतिक शक्ति का लोगों में वयस्क मताधिकार के आधार पर हस्तान्तरण,

(स) समाज की केन्द्रीय कानूनी, प्रशासकीय तथा राजनीतिक संस्थाओं का विस्तार एवं प्रसार;

(द) प्रशासकों द्वारा जनता की भलाई की नीति अपनाना।

आर्थिक क्षेत्र में—(अ) उत्पादन, वितरण, यातायात तथा संचार आदि में पशु और मानव शक्ति के स्थान पर जड़-शक्ति का प्रयोग करना;

(ब) आर्थिक क्रियाओं का परम्परात्मक स्वरूप से पृथक्करण;

(स) मशीन, तकनीकी एवं औजारों का प्रयोग;

(द) उच्च तकनीकी के प्रभाव के कारण उद्योग, व्यवसाय, व्यापार, आदि में वृद्धि;

(य) आर्थिक कार्यों में विशेषीकरण का बढ़ना, साथ ही उत्पादन, उपभोग व बाजार में वृद्धि;

(र) अर्थव्यवस्था में उत्पादन तथा उपभोग में वृद्धि;

(ल) बढ़ता हुआ औद्योगीकरण जिसे हम आर्थिक आधुनिकीकरण की मुख्य विशेषता कह सकते हैं।

पारिस्थितिकीय क्षेत्र में नगरीकरण की वृद्धि होती है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में—(अ) शिक्षा का विस्तार तथा विशेष प्रकार की शिक्षा देने वाली संस्थाओं में वृद्धि।

(ब) नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास जो उन्नति व सुधार, योग्यता, सुख, अनुभव व क्षमता पर जोर दे।

(स) सभी प्रकार के समाजों के साथ समायोजन करने की धारणा का विकास, रुचि का बढ़ना, दूसरे लोगों के प्रति परानुभूति का बढ़ना, दूसरों का सम्मान करना, ज्ञान व

तकनीकी में विश्वास पैदा होना तथा व्यक्ति को उसने कार्य का प्रतिफल मिलना और मानवतावाद में विश्वास।

(द) समाज द्वारा ऐसी संस्थाओं और योग्यताओं का विकास करना जिससे कि लगातार बदलती हुई मांगों और समस्याओं से समायोजन किया जा सके।

इस प्रकार देसाई ने आधुनिकीकरण को एक विस्तृत क्षेत्र के सन्दर्भ में देखा है जिसमें समाज व संस्कृति के सभी पहलू आ जाते हैं।

आधुनिकीकरण पर भारतीय और पश्चिमी विद्वानों के उपर्युक्त विचारों से स्पष्ट है कि उन्होंने इस अवधारणा का प्रयोग परम्परात्मक, पिछड़े तथा उपनिवेश वाले देशों की पश्चिमी, पूंजीवादी एवं औद्योगीकरण व शहरीकरण कर रहे देशों के साथ तुलना करने के लिए किया है जो कि उनमें हो रहे नवीन परिवर्तनों की ओर इंगित करती है। बौद्धिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का अर्थ भौतिक एवं सामाजिक घटनाओं की तार्किक व्याख्या करना तथा उन्हें कार्य-कारण (Cause and effect) के आधार पर स्वीकार करना है। सामाजिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण होने पर गतिशीलता बढ़ती है, पुरानी प्रथाओं के स्थान पर नवीन मूल्य पनपते हैं, जटिल संस्थाओं का जन्म होता है, परिवार, रक्त-सम्बन्ध, आदि में शिथिलता आती है। राजनीतिक क्षेत्र में सत्ता को अलौकिक शक्ति की देन नहीं माना जाता, सत्ता का लोगों में विकेन्द्रीकरण और वयस्क मताधिकार द्वारा सरकार का चयन होता है। आर्थिक क्षेत्र में मशीनों का उपयोग बढ़ता है तथा उत्पादन जड़-शक्ति के प्रयोग द्वारा होता है। यातायात के साधनों का विकास होता है और औद्योगीकरण बढ़ता है। परिस्थितिजन्य क्षेत्र में नगरीकरण बढ़ता है। सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिकीकरण का तात्पर्य नये सांस्कृतिक दृष्टिकोण का विकास और व्यक्ति में नवीन गुणों के प्रादुर्भाव से है।

आधुनिकीकरण के सूचक (Indicators of Modernization)

किसी भी समाज का आधुनिकीकरण हो रहा है अथवा नहीं या कितनी मात्रा में हुआ है, इसका पता हम आधुनिकीकरण के सूचकों द्वारा लगा सकते हैं, जो निम्नांकित हैं :

(1) घटनाओं की विवेकपूर्ण व्याख्या,
(2) सामाजिक गतिशीलता में वृद्धि,
(3) धर्मनिरपेक्षता एवं लौकिकीकरण,
(4) प्रजातन्त्र की स्थापना, लोगों को वयस्क मताधिकार की प्राप्ति एवं लोगों के राजनीतिक सत्ता का हस्तान्तरण,
(5) नगरीकरण में वृद्धि,
(6) औद्योगीकरण,
(7) प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि,
(8) शिक्षा का प्रसार,
(9) वैज्ञानिक दृष्टिकोण,
(10) परानुभूति में वृद्धि,
(11) उत्पादन में जड़-शक्ति का प्रयोग,
(12) प्रदत्त के स्थान पर अर्जित पदों के महत्व में वृद्धि,
(13) श्रम-विभाजन एवं विशेषीकरण में वृद्धि,

(14) यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनों में वृद्धि,

(15) चिकित्सा एवं स्वास्थ्य में वृद्धि,

(16) कृषि के प्राचीन तरीकों के स्थान पर नवीन प्रविधियों के प्रयोग में वृद्धि,

(17) मशीन, तकनीकी एवं नवीन औजारों एवं यन्त्रों के प्रयोग में वृद्धि।

उपर्युक्त सभी स्थितियां किसी समाज के आधुनिकीकृत होने की सूचक हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि आधुनिकीकरण एक जटिल प्रक्रिया है जिसमें अनेक तत्वों का समावेश है तथा जो जीवन के भौतिक सामाजिक, राजनीतिक, सामाजिक-सांस्कृतिक, धार्मिक एवं बौद्धिक सभी पहलुओं से सम्बन्धित है। यह अवधारणा हमें परम्परात्मक समाजों में होने वाले परिवर्तनों को समझने में योग देती है। आज विश्व में कहीं परम्परागत समाज दिखलाई पड़ता है, तो कहीं आधुनिक समाज। इनकी तुलना करने तथा परिवर्तन की प्रकृति और दिशा को समझने में यह अवधारणा उपयोगी है।

आधुनिकीकरण बनाम परम्परा
(MODERNIZATION *Vs.* TRADITION)

एक सामान्य धारणा आधुनिकीकरण एवं परम्परा को एक-दूसरे का विरोधी मानने की है। इन्हें एक युग्म के रूप में स्वीकार किया जाता है। **रूडोल्फ** एवं **रूडोल्फ** लिखते हैं, "वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक परिवर्तनों के विश्लेषण में आधुनिकीकरण का प्रयोग साधारणतः परम्परा के विरोधी रूप में किया जाता है।"[1] पश्चिमी और गैर-पश्चिमी समाजों की तुलना में भी इन दोनों अवधारणाओं का प्रयोग हुआ है। समाज की प्रगति, परिवर्तन और उद्विकास परम्परा से आधुनिकीकरण की ओर माने गये हैं। **बेनडिक्स** (Bendix) ने आधुनिक के स्थान पर विकसित (Advanced) तथा परम्परात्मक के स्थान पर अनुगामी (Follower) शब्दों का प्रयोग किया है।

यह ठीक है कि परम्परात्मक समाज वर्तमान आधुनिकीकृत समाजों का सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक, बौद्धिक, शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में अनुकरण कर रहे हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि परम्परात्मक समाज आधुनिक से एकदम भिन्न है और परम्परात्मक ही हैं तथा आधुनिक समाज में परम्पराओं का कोई महत्व नहीं है। **एडवर्ड शील्स** लिखते हैं, "परम्परात्मक समाज किसी भी तरह से पूर्णतया परम्परात्मक नहीं है, आधुनिक समाज किसी भी तरह से परम्परामुक्त नहीं है।"[2] किसी भी आधुनिकता का निर्माण परम्परा के कन्धों व अनुभवों पर ही होता है। इस नाते वह भूत एवं वर्तमान के बीच एक कड़ी है (Tradition is a link between past and present)। प्रो. शील्स परम्परा व आधुनिकता को एक सातत्यता (Continuum) के रूप में स्वीकार करते हैं। आधुनिक समाज भी पूर्णतः आधुनिक नहीं है। विज्ञान की तरह ही आधुनिकीकरण भी खुले उद्देश्य वाली प्रक्रिया है। इसकी प्रकृति उद्विकासीय है, जो स्वतः परिवर्तित होती है और आगे बढ़ती रहती है। अतः

1 Rudolph and Rudolph, *The Modernity of Tradition.*

2 The traditional society is not by any means entirely traditional modern society is not by and means of tradition."—Shills, quoted by Y. Singh in his article *'Traditional Cultural Pattern in India and Industrial Change*, Shah and Rao, *op. cit.*, p. 43.

कोई भी समाज यह दावा नहीं कर सकता कि उसका पूरी तरह से आधुनिकीकरण हो गया है या वह पूरी तरह आधुनिक है वरन् वहां आधुनिकीकरण एक मात्रा में ही मौजूद है।

भारत में आधुनिकीकरण : समाजशास्त्रियों की दृष्टि में
(MODERNIZATION IN INDIA : IN THE VIEWS OF SOCIOLOGISTS)

डॉ. एस. सी. दुबे के विचार—दुबे का मत है कि भारत में परम्परा और आधुनिकता विरोधाभास के रूप में मौजूद है। हमने विकास की योजनाएं बनायी हैं और यह पाया है कि परम्पराएं उनमें बाधक सिद्ध हुईं। जातीयता व साम्प्रदायिकता ने राष्ट्रीय दृष्टिकोण में रोड़ा पैदा किया है। धर्म-निरपेक्षता के मार्ग में पवित्रता और अपवित्रता की प्राचीन धारणा बाधक रही है। विवेक के विकास में धर्म और धार्मिक संस्कार तथा कर्मकाण्ड बाधक हैं। प्रदत्त व अर्जित पदों का तालमेल नहीं बैठ पाया है। परम्परा प्रदत्त पदों को चाहती है तो आधुनिकता अर्जित पदों की पुष्टि करती है। आधुनिकता तटस्थता चाहती है तो परम्परा भावात्मकता। हिन्दुओं के प्राचीन धर्म के सिद्धान्त जैसे, कर्म का सिद्धान्त, जीवन-चक्र का सिद्धान्त, संस्तरण खण्डात्मकता, परलोकवाद, पवित्रता-अपवित्रता की धारणा, पुरुषों की प्रधानता तथा कौटुम्बिकता, आदि को आधुनिकीकरण के लिए त्यागना होगा, कर्तव्यनिष्ठा और अनुशासन को अपनाना होगा। दुबे ने भारत के आधुनिकीकरण में कई बाधाओं का भी उल्लेख किया है। आज का भारत परम्परा और आधुनिकता की दुविधा में फंस गया है। उसके सामने एक द्वन्द्व है कि वह किस सीमा तक परम्परा को छोड़े एवं किस सीमा तक आधुनिकता को अपनाये।

75 प्रतिशत लोग जो गांवों में रहते हैं, परम्परावादी हैं और गांव में आज भी कई परम्पराएं ऋग्वेद काल से चली आ रही हैं, दूसरी ओर गांव आधुनिकता से बिल्कुल अछूते भी नहीं हैं। यातायात, रेल, मोटर, सड़क, संचार, रेडियो, समाचार-पत्र, शिक्षा, प्रशासन, सामुदायिक योजनाएं, आदि ने वहां आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को बढ़ावा दिया है। गांवों में भौतिक और सांस्कृतिक परिवर्तन ही नहीं हो रहे हैं, वरन् नये मूल्य, सम्बन्ध व आकांक्षाएं भी पनप रहे हैं। वर्तमान में गांव समय के साथ-साथ चल रहे हैं तथा अब वे रूढ़िवादिता के गढ़ नहीं रहे हैं। उन्हें भी परिवर्तन की हवा लगी है, अब उन्हें हम स्थिर और जड़ नहीं कह सकते।

गांवों की समाज-व्यवस्था भाई-चारा, जाति एवं स्थानीयता पर आधारित थी। परिवार वंश एवं जाति से जुड़ा हुआ था, परन्तु अब उसका स्वरूप बदला है। वास्तव में देखें तो परम्परात्मक व समसामयिक ग्राम व्यवस्था में एकरूपता व स्थिरता दिखाई देती है, परन्तु उसके विभिन्न अंगों को सजीव करने वाले आधारभूत सिद्धान्तों में दूरगामी परिवर्तन हुए हैं और वे नया रूप ग्रहण कर रहे हैं। डॉ. दुबे ने परिवार, जाति, स्थानिकता, धर्म, आदि के सन्दर्भ में भी आधुनिकीकरण का उल्लेख किया है। परिवार में व्यक्तिवाद उभर रहा है, जबकि पहले सामूहिकता को महत्व दिया जाता था। अब समूह में लिंग, आयु व सम्बन्ध के आधार पर अधिकार का निर्धारण न होकर योग्यता, अनुभव तथा ज्ञान के आधार पर होता है। संयुक्त परिवार के सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्ध बदले हैं, स्त्रियों का परिवार में महत्व बढ़ा है। जाति के क्षेत्र में विवाह, व्यवसाय, संस्तरण, कर्मकाण्ड व पवित्रता की धारणा में परिवर्तन हुआ है, अन्तर्विवाह (endogamy) की धारणा यद्यपि अभी भी दृढ़ है। जातियों में छूआछूत को

कम करने के आन्दोलन हुए हैं तथा नगरों में विभिन्न जातियों के मेलजोल के अवसर बढ़े हैं। गांवों में भी जजमानी प्रथा व व्यवसाय में परिवर्तन हुए हैं। राजनीति में अन्तर्जातीय समझौते हुए हैं। अल्पसंख्यक उच्च जातियों के पास सत्ता और शक्ति है। साथ ही वे बहुसंख्यक निम्न जातियों के दबाव के सामने झुकी हैं और उनसे समझौते भी किये हैं। जातियों की पारस्परिक दूरी कम हुई है। जातियां नये रूप में संगठित हो रही हैं तथा उनके स्थानीय, प्रान्तीय और राष्ट्रीय संगठन बने हैं। धार्मिक विश्वास के क्षेत्र में भी परिवर्तन हुए हैं। कर्मकाण्ड व भाग्यवादिता में विश्वास कम हुआ है एवं नास्तिकता बढ़ी है। नयी शिक्षा-प्रणाली, नयी अर्थव्यवस्था, प्रशासन, सामुदायिक विकास योजना, नगरीकरण, औद्योगीकरण, यातायात व संचार, प्रेस, अखबार तथा नये सामाजिक एवं धार्मिक आन्दोलनों ने उपरोक्त परिवर्तनों को संजोया है।

इस प्रकार डॉ. दुबे के अनुसार भारतीय गांव आज भी परम्परा व आधुनिकता के दो ध्रुवों के बीच सहमा हुआ खड़ा है और अनिश्चय की स्थिति में है। एक ओर अतीत का आकर्षण है तो दूसरी ओर प्रगति की अनिवार्यता। बदले हुए जीवन के आयाम में परम्परा से सुरक्षा नहीं मिल पायी है। अतः वह नये अधिकार बोध व आकांक्षाओं के नये क्षितिज को छूना चाहता है। परन्तु हम कह सकते हैं कि परम्परा और आधुनिकता के बीच केवल गांव ही नहीं सम्पूर्ण देश सहमा हुआ खड़ा है।

डॉ. योगेश अटल के विचार—डॉ. अटल की मान्यता है कि भारत में परम्परा व आधुनिकता साथ-साथ चल रही है। वे इसे परिवारों के उदाहरण द्वारा इस प्रकार स्पष्ट करते हैं कि नयी शिक्षा और नये व्यवसाय के कारण लोग शहरों में आकर रहते हैं तथा यहां उसकी परिवार व्यवस्था में भी परिवर्तन आते हैं। स्थानीय दूरी ने पारिवारिक दूरी अधिक नहीं बढ़ायी है और सदस्यगण, विवाह, त्यौहार, उत्सव, जन्म, मृत्यु और छुट्टियों के अवसर पर मिलते हैं। विवाह पर खर्च चाहे केन्द्रीय परिवार करे परन्तु विवाह निमन्त्रण पत्रिका (कुमकुम पत्रिका) पर पितृवंशीय कुल के बुजुर्ग के नाम अंकित रहते हैं। करों ने भी परिवार के ढांचे को बदला है। आय-कर के कारण दुकानों के खाते अलग-अलग सदस्यों के नाम से चलते हैं। वे मकान और भूमि का बंटवारा कर देते हैं। घर और कार्यालय की परिस्थितियां भिन्न-भिन्न हैं। ऑफिस से लौटकर नयी पोशाक के साथ ही आधुनिकता को भी लोग खूंटी पर टांग देते हैं और धोती पहनकर भोजन करते हैं। इस बात का उल्लेख **आन्द्रेबिताई** ने अपनी पुस्तक '*Caste, Class and Power*' में भी किया है। स्त्रियां घर में परम्परात्मक हैं तो दूसरी ओर आधुनिक प्रसाधनों जैसे, गैस का चूल्हा, प्रेसर-कुकर का प्रयोग, चप्पल पहने खड़े-खड़े खाना बनाना, पार्टियों व होटलों में जाना, स्त्रियों द्वारा नौकरी करना, मम्मी-पापा, आदि शब्दों का प्रयोग, अंग्रेजी भाषा के शब्दों का प्रयोग तथा प्रेम-विवाह की आकांक्षाएं, आदि और आधुनिकता का मिश्रित रूप प्रकट करते हैं।

रूडोल्फ एवं रूडोल्फ के विचार—रूडोल्फ एवं रूडोल्फ का मत है कि अंग्रेजों ने भारत में आधुनिकीकरण की नींव रखी। उन्होंने भारत को नयी अर्थव्यवस्था और राजनीतिक एकता दी। प्रेस व नयी शिक्षा प्रणाली ने भारत में नये शिक्षित वर्ग को जन्म दिया। नवीन प्रविधियों, सिंचाई के साधनों तथा यातायात की वर्तमान सुविधाओं ने कृषि में क्रान्ति ला दी। गांवों की पृथकता व जड़ता सड़कों ने समाप्त कर दी। रेल यातायात ने उद्योगों को जन्म दिया जिससे

परम्परात्मक जाति-व्यवस्था पर आधारित समाज-व्यवस्था में कई परिवर्तन आये। एक तरफ जाति ने प्राचीन ग्राम्य व्यवस्था को बनाये रखा तो दूसरी तरफ प्रजातन्त्र को भी। भारत में राजनीति व जाति के सम्बन्ध तीन रूपों में देखने को मिलते हैं :

(1) **उदग्र गतिशीलता** (Vertical Mobility)—इसमें उच्च जाति के और प्रभावशाली लोग निम्न जातियों का सहारा परम्परात्मक वफादारी व अर्थव्यवस्था के नाम पर लेते हैं।

(2) **क्षैतिज गतिशीलता** (Horizontal Mobility) के अन्तर्गत प्रत्येक जाति ने अपने जातीय संगठन बनाये हैं और अपने सदस्यों के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक हितों को प्रोत्साहन दिया है। नये जातीय संगठनों का नेतृत्व नवीन एवं शिक्षित पीढ़ी के हाथ में है जो जनतान्त्रिक विचारों से ओत-प्रोत हैं और जिनमें परम्परात्मक आधुनिक विशेषताओं का सम्मिश्रण है।

(3) **विभेदमूलक गतिशीलता** (Differential Mobility) के अन्तर्गत राजनीतिक दल प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से बहुमत पाने के लिए मतदाताओं से प्रार्थना करते हैं। इसके लिए वे जाति का सहारा भी लेते हैं। उम्मीदवारों का चुनाव करते समय राजनीतिक दल क्षेत्र की जातीय स्थिति को भी ध्यान में रखते हैं।

रूडोल्फ़ ने भारत में कानून व न्याय-व्यवस्था के आधुनिकीकरण का भी उल्लेख किया है। कानून का शासन (Rule of Law) एवं वर्तमान न्याय-व्यवस्था भारत को अंग्रेजों की महान् देन है। इससे पूर्व देश में शासन छोटी-छोटी प्रथाओं तथा सामन्तों की सनक से चलता था। अंग्रेजों के समय में ही पहली बार सम्पूर्ण भारत एक ही प्रकार के कानून व न्याय-व्यवस्था द्वारा प्रशासित हुआ। आज हम ग्राम पंचायत स्तर से राष्ट्रीय स्तर तक न्यायालय की व्यवस्था देख सकते हैं। अंग्रेजों के समय में ही बाल-विवाह, विधवा पुनर्विवाह, स्त्री सम्पत्ति अधिकार, उत्तराधिकार एवं सती-प्रथा निरोधक कानून बने जिन्होंने परम्परात्मक व्यवस्था को आधुनिकता का पुट प्रदान किया। इतना अवश्य है कि सिद्धान्त और व्यवहार में तो फिर भी अन्तर बना रहा और गांवों में तो न्याय का कार्य जाति पंचायत व बड़े बुजुर्ग ही करते रहे।

भारत आधुनिकीकरण की ओर
(INDIA TOWARDS MODERNIZATION)

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया भारत के लिए कोई नयी बात नहीं है, वरन् इसकी नींव 19वीं सदी में ही उस समय रखी जा चुकी थी जब राजा राममोहन राय ने सुधार और नवीन सामाजिक विधानों के द्वारा इस देश की परम्परात्मक सामाजिक बुराइयों को दूर करने के प्रयत्न किये। सन् 1834 में बम्बई में एल्फिन्स्टॉन कॉलेज (Elphinstone College) की स्थापना हुई और इसी वर्ष 'दी टाइम्स ऑफ इण्डिया' नामक समाचार-पत्र प्रारम्भ हुआ। तब से लेकर अब तक भारत आधुनिकता की ओर सतत अग्रसर हो रहा है। अब मनु द्वारा उल्लेखित हिन्दू परम्पराएं क्षीण हो रही हैं। सती-प्रथा समाप्त हो गयी है, विधवाएं अब पुनर्विवाह करने लगी हैं, बाल-विवाहों की संख्या घटी है, जाति का लौकिकीकरण हो रहा है तथा खान-पान के नियमों में शिथिलता आयी है।

भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् योजनाबद्ध विकास प्रारम्भ किया गया। यहां पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किये गये। हमारे यहां गरीबी हटाने के लिए विशेष प्रयत्न किये गये हैं और जड़

शक्ति द्वारा उत्पादन कार्य बढ़ा है जिसने भारत में औद्योगीकरण की गति को तीव्र किया है। यहां सूती वस्त्र, प्लास्टिक, खाद, दवाइयां, सीमेण्ट, मशीनें और अणु शक्ति के प्लाण्ट एवं कारखाने खोले गये हैं। प्रति व्यक्ति आय में आशातीत वृद्धि हुई है। साक्षरता का प्रतिशत जो सन् 1951 में सोलह था सन् 1991 में बढ़कर यह 52.21 प्रतिशत हो गया। शिक्षा किसी एक ही जाति की थाती न रहकर सभी के लिए सुलभ है। अछूत एवं पिछड़ी जातियां तथा जनजातियां अपना शैक्षणिक स्तर उन्नत कर रही हैं। शिक्षा में विशेषीकरण बढ़ा है। नवीन बुद्धिजीवी वर्ग का उदय हुआ है जिसने समाज और राष्ट्र के हितों के लिए अनेक प्रयत्न किये हैं; भारत के लिए नयी नीतियां बनायीं हैं और भारत को सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र में आधुनिकता प्रदान की है।

औद्योगीकरण के साथ-साथ नगरीकरण भी बढ़ा है। सन् 1921 में 11.3%, 1951 में 17.3%, 1961 में 18%, 1981 में 21.81% तथा 1991 में 25.7% जनसंख्या नगरों में रहती थी। सन् 1931 में 1 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की संख्या 38 थी जो सन् 1961 में 116 एवं 1971 में 142 हो गयी है। 1991 में 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की संख्या 23 बतायी गयी है। देश में इस समय 4,689 नगर हैं। नगरों में श्रमिकों की संख्या बढ़ी है। शहरों में परिवार, जाति एवं नातेदारी के सम्बन्धों में शिथिलता आयी है। ईश्वर व धर्म का प्रभाव घटा है तथा तार्किक दृष्टिकोण विकसित हुआ है। गांवों से शहरों को एवं एक शहर से दूसरे शहर को जोड़ने वाली कच्ची व पक्की सड़कों का निर्माण हुआ है। यातायात के नवीन साधनों की सुविधाएं चारों ओर दृष्टिगोचर हो रही हैं। सामाजिक एवं भौगोलिक गतिशीलता में वृद्धि हुई है।

नगरों एवं शिक्षित लोगों के विचारों में लौकिकीकरण की प्रक्रिया देखी जा सकती है। भारतीय संविधान ने इसमें महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है। धर्म, रंग, लिंग, सम्प्रदाय, जन्म, मत, आदि के भेदभाव को कानूनी रूप से समाप्त कर दिया गया है और सभी को स्वतन्त्रता एवं समानता का अधिकार दिया गया है। विवाह, छुआछूत, सम्पत्ति, उत्तराधिकार और धर्म से सम्बन्धित नवीन कानूनों के जीवन के नये आयाम प्रस्तुत किये हैं। संयुक्त परिवार की परम्परात्मक धारणा बदली है। परिवार में अब बुजुर्गों का महत्व केवल आयु के आधार पर स्वीकार नहीं किया जाता। नयी पीढ़ी के शिक्षित युवकों एवं स्त्रियों की महत्वपूर्ण मामलों में राय ली जाने लगी है।

राजनीति के क्षेत्र में हमने प्रजातन्त्र को अपनाया है। इसका मूल आधार वयस्क मताधिकार है जिसका प्रयोग विभिन्न चुनावों में स्त्रियों और पुरुषों द्वारा किया गया है और दिनों-दिन चुनाव में भाग लेने वालों, मत देने वालों एवं उम्मीदवारों की संख्या में वृद्धि हुई है।

इस प्रकार आधुनिक भारत में औद्योगीकरण, नगरीकरण, पश्चिमीकरण तथा लौकिकीकरण की प्रक्रियाएं कार्यरत हैं। जाति, परिवार, वंश, नातेदारी, ईश्वर, धर्म, तीर्थस्थान, स्त्री-शिक्षा, आश्रम-व्यवस्था, छुआछूत, प्रदत्त पद, त्यौहार, आदि में अनेक परिवर्तन हुए हैं। वस्त्र, फर्नीचर, मकान की डिजाइन, केश-विन्यास, भोजन की विधि, अभिवादन, आदि में आधुनिकता आयी है।

जहां तक **ग्रामीण भारत में आधुनिकीकरण** (Modernization in Rural India) का प्रश्न है यह कहा जा सकता है कि ग्राम भी इस ओर आगे बढ़ रहे हैं। वे परिवर्तन को चाहने लगे हैं, उनके मूल्यों और आकांक्षाओं में कुछ परिवर्तन आने लगे हैं। वे अपने बच्चों को अच्छी शिक्षा दिलाने के पक्ष में हैं, ग्रामों में भी साक्षरता का प्रतिशत बढ़ता जा रहा है। ग्राम वाले अपने-अपने गांवों में स्कूल खोलने या उनमें नयी कक्षाएं प्रारम्भ करने की मांग समय-समय पर अधिकारियों एवं राजनेताओं के सामने रखने लगे हैं। आर्थिक क्षेत्र में जाति और व्यवसाय का सम्बन्ध शिथिल पड़ता जा रहा है। अब गांवों के लोग ऐसे व्यवसायों को अपना रहे हैं जो आर्थिक दृष्टि से लाभप्रद और सामाजिक दृष्टि से सम्मानजनक हैं। ग्राम के लोग नवीन कृषि प्रविधियों को काम में लेने लगे हैं। कृषि के क्षेत्र में धीरे-धीरे यन्त्रीकरण भी होता जा रहा है। आज का किसान अपनी उपज को बढ़ाने, आय के अतिरिक्त स्रोत प्रदान करने, अच्छा पक्का मकान बनाने और अपने जीवन-स्तर को ऊंचा उठाने की दिशा में प्रयत्नशील है। आज जजमानी प्रथा का प्रभाव पहले की तुलना में काफी कम हो गया है।

विभिन्न जातियों में कुछ संस्कारात्मक उत्सवों के अवसरों को छोड़कर, शेष लौकिक मामलों में सामाजिक सम्पर्क बढ़ा है, सामाजिक दूरी कम हुई है। चुनावों की राजनीति ने उच्च जातियों और निम्न जातियों को एक-दूसरे के साथ समझौता करने को प्रोत्साहित किया है। वर्तमान में ग्रामीण शक्ति-संरचना में किसानों और मध्यम आय वर्ग के लोगों का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। यद्यपि सत्ता अभी भी उच्च जातियों एवं वर्गों के धनी लोगों के हाथों में है, परन्तु अब वह वैधानिक रूप से संस्थागत नहीं है।

जमींदारी एवं जागीरदारी उन्मूलन ने गांवों को उन्नति की ओर अग्रसर होने में योग दिया है। भूमि पर सीलिंग के लागू होने अर्थात् व्यक्ति के पास होने वाली अधिकतम भूमि की सीमा के निर्धारण के ग्रामीण सामाजिक संरचना में कुछ परिवर्तन हुए हैं। इसके फलस्वरूप मध्यस्थों, पट्टीदारों, कृषि भूमि का कमजोर वर्ग के लोगों में वितरण, भूखण्डों के एकीकरण तथा संयुक्त खेती, आदि के रूप में अनेक परिवर्तन आये हैं। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्रों में विशेषत: स्वतन्त्रता-प्राप्ति के पश्चात् आर्थिक संस्थाओं, शक्ति संरचना तथा अन्तर्जातीय सम्बन्धों के क्षेत्र में आधुनिकीकरण की दिशा में परिवर्तन आये हैं। वहां अब जमींदारों एवं जागीरदारों का प्रभाव घट गया है और कृषकों को गांव का नेतृत्व संभालने का मौका मिला है।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि भारतीय गांव आधुनिकीकरण की दृष्टि से बहुत आगे बढ़ गये हैं। वहां परम्परा और आधुनिकता दोनों का ही प्रभाव स्पष्टतः दिखलायी पड़ता है। पंचायती राज्य संस्थाओं के माध्यम से जहां ग्रामीणों में नयी आशा का संचार हो रहा है, प्रजातन्त्रीय दृष्टिकोण पनप रहा है, वहां उन पर परिवार, जाति और धर्म का प्रभाव भी कम नहीं है। वहां आर्थिक संस्थाओं और शक्ति संरचना पर आधुनिकीकरण का प्रभाव स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, परन्तु सामाजिक, धार्मिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में परम्परा का प्रभाव आज भी पाया जाता है। औद्योगीकरण तथा नगरीकरण, यातायात और संचार के विकसित साधनों तथा साक्षरता के बढ़ते हुए प्रतिशत ने ग्रामीण-नगरीय सातत्य (Rural-urban Continuum) को बढ़ाने में योग दिया है। परिणामस्वरूप ग्रामीण समुदाय आधुनिकीकरण की ओर अग्रसर हुए हैं।

सुरिन्दर जेतली (Surinder Jetley) ने उत्तर प्रदेश के वाराणसी जिले के तीन सामुदायिक विकास खण्डों के छः गांवों के अध्ययन के आधार पर बताया है कि आधुनिक और परम्परागत प्रतिमानों के कई परस्पर विरोधी सम्मिश्रण भी हुए हैं। उदाहरण के रूप में, आर्थिक आधुनिकीकरण जीवन की सभी समस्याओं के प्रति वैज्ञानिक विश्व दृष्टि (Scientific world view) या सामाजिक सम्बन्धों के बारे में एक समतावादी दृष्टिकोण से सदैव सम्बद्ध नहीं रहा है।[1]

आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में ग्रामीणों की पृथकता का टूटना एक अनुकूल कारक है। अनेक ऐसे तरीके हैं जिनमें अपने ही समुदाय में रहता हुआ ग्रामीण आधुनिकता की विश्व-दृष्टि में भागीदार बन सकता है। उदाहरण के रूप में, वह परिवर्तन अभिकर्ताओं (Change agents) के सम्पर्क द्वारा, संचार के जन-साधनों के प्रयोग द्वारा अथवा अन्य प्रगतिशील ग्रामीणों के द्वारा जो उसकी दृष्टि में उसका मार्ग-दर्शन करने के योग्य हैं, ऐसा कर सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि ग्रामीणों और बाहरी दुनियां के बीच जैसे-जैसे सम्पर्क बढ़ता जाता है, आधुनिकीकरण की प्रक्रिया तीव्र होती जाती है। वर्तमान समय में ग्रामीणों को कृषि से सम्बन्धित आवश्यक वस्तुएं एवं सेवाएं प्राप्त करने हेतु अपने गांव के बाहर खण्ड और जिला मुख्यालयों, बीज गोदामों तथा प्रशिक्षण केन्द्रों तक जाना पड़ता है। यह सारा बाहरी सम्पर्क आधुनिकीकरण की प्रक्रिया में सहायक है।

विभिन्न अध्ययनों से ज्ञात होता है कि कृषि के प्रति ग्रामीण लोग तार्किक दृष्टिकोण अपनाने की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। आधुनिकीकरण के एक प्रमुख तत्व लौकिकीकरण (Secularism) के सम्बन्ध में जेतली ने पाया कि लोग यह विश्वास करने लगे हैं कि मनुष्य अपने भाग्य को नियन्त्रित कर सकता है, चाहे यह उत्पादन पर नियन्त्रण के रूप में या उपलब्धि के द्वारा अथवा व्यक्तिगत सम्बन्धों को व्यवस्थित करके अपनी प्रस्थिति को उन्नत करने की क्षमता के रूप में हो।[2]

यहां हमें यह भी ध्यान में रखना है कि आधुनिकीकरण सम्पूर्ण परम्परागत समाज के गुजरने को व्यक्त नहीं करता है। वास्तविकता यह है कि एक परम्परागत सामाजिक संरचना में अनेक आधुनिक संगठन, संस्थाएं और अभिवृत्तियां विकसित हो सकती हैं और यह बात भारत जैसे देश के लिए काफी सही है। निस्संदेह भारत ने आधुनिकता की ओर चरण बढ़ाए हैं, परन्तु हम परम्परा से मुक्ति नहीं पा सके हैं। इसके कई उदाहरण हम दैनिक जीवन में देख सकते हैं। कई अध्यापक, इंजीनियर, डॉक्टर और शिक्षित लोग बीमार पड़ने पर कुशल डॉक्टर की सेवाओं का उपयोग करेंगे ही, परन्तु साथ ही वे अपने स्वस्थ होने के लिए पूजा-पाठ, हवन, आदि भी करवायेंगे व ज्योतिष से अपने ग्रहों व नक्षत्रों की स्थिति भी पूछेंगे और ताबीज भी बांधेंगे। **डॉ. एम. एन. श्रीनिवास** ने ऐसे ही कुछ विरोधाभासों का उल्लेख किया है। केरल व तमिलनाडु के ऋतु विज्ञान की प्रयोगशाला में काम करने वाले वैज्ञानिक दिन के उस भाग में जब राहु का प्रभार होता है, कोई शुभ कार्य प्रारम्भ नहीं करते हैं। राजनेताओं व व्यापारियों पर भी हम ज्योतिष का प्रभाव देख सकते हैं। सन् 1957 में केरल में जब कम्युनिस्टों ने शासन की बागडोर संभाली तो अच्छा मुहुर्त देखकर ही मन्त्रिमण्डल को शपथ दिलायी गयी। पण्डित नेहरू तर्क-संगत समाजवादी थे और उन्होंने कई बार ज्योतिष

1 Surinder Jetley, *Modernizing Indian Peasants* (1977), p. 165.
2 *Ibid.*, p. 173.

की आलोचना की परन्तु जब कभी भी राजनीतिक संकट की सम्भावना होती तो उनके मन्त्रिमण्डल के साथी ज्योतिषियों के पास जाते। सन् 1944 में उन्होंने अपनी पुत्री इन्दिराजी को पुत्र जन्म पर लिखा था कि किसी सुयोग्य व्यक्ति से बच्चे की जन्म-कुण्डली तैयार करवा लें। उन्होंने यह भी इच्छा जाहिर की कि उनके मरने पर भस्मी को गंगा में प्रवाहित किया जाये और वायुयान द्वारा भारत भूमि पर छिड़क दी जाये। ऐसी ही इच्छा कम्युनिस्ट नेता ब्रजेश सिंह ने भी प्रकट की थी जो स्टालिन की पुत्री स्वेतलाना के पति थे। भारत में इन विरोधाभासों का कारण भूमिका संघर्ष, प्राचीन संस्कार व जातीय दृढ़ भावना है। इस प्रकार हम भारत में परम्परा व आधुनिकता के विरोधों को साथ-साथ फलता-फूलता देख सकते हैं।

भारत में आधुनिकीकरण का आदर्श पश्चिमी देश ही रहे हैं, फिर भी हमने रूस का समाजवादी आदर्श भी अपनाया है। भारत का आधुनिकीकरण अपने ही ढंग का है जिसमें पश्चिमी तथा साम्यवादी देशों के आदर्शों के साथ-साथ अपनी निजी परम्पराओं का मिश्रण भी देखने को मिलता है। यहां स्थानीय दशाओं के अनुरूप आधुनिकता को परिवर्तित एवं परिवर्धित किया गया है। धर्म, संस्कृति, संस्कार एवं विश्वासों में हम उतने ही परिवर्तन देख सकते हैं जितने कि उद्योगों व ग्रामीण जीवन में। ये परिवर्तन आधुनिकीकरण में बाधक नहीं हुए हैं। आधुनिकीकरण के क्षेत्र में भारत कभी भी किसी भी पश्चिमी देश की कार्बन कॉपी नहीं बन सकता है, वरन् नवीन परिवर्तनों को अपनाते हुए भी अपनी पृथकृता और विशेषता बनाये रखेगा। जैसा कि **मिल्टन सिंगर** लिखते हैं, "भारत अमेरिका और यूरोप की कार्बन कॉपी बनने नहीं जा रहा है और जैसे अमेरिका व यूरोप एक-दूसरे से भिन्न हैं, भारत में आधुनिकीकरण निश्चित रूप से भारतीय विशिष्टता लिए हुए होगा।"

(India is not goning to be a carbon copy of America and Europe, and as America and Europe are different from each other, modernization in India well certainly have an Indian accent.)

वर्ण एवं जाति
(CASTE AND VARNA)

प्रो. श्रीनिवास ने वर्ण और जाति के भेद व सम्बन्ध का भी विस्तार से उल्लेख किया है।

सामान्य व्यक्ति के लिए वर्ण का अर्थ हिन्दू समाज का ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार भागों में विभाजन है। इनमें से प्रथम तीन को द्विज कहा जाता है जिन्हें यज्ञोपवीत धारण करने का अधिकार है, जबकि शूद्रों को नहीं। अस्पृश्य, वर्ण व्यवस्था के बाहर हैं।

घुरिये कहते हैं कि ऋग्वेद में चार वर्णों का नहीं, वरन् दो वर्णों आर्य और दास का उल्लेख मिलता है। वर्ण का अर्थ रंग से लिया गया है। आर्यों और दासों के रंगभेद को दर्शाने के लिए ही वर्ण शब्द का प्रयोग किया गया। आर्य गोरे एवं दास काले वर्ण के थे। आर्य और दास का भेद बाद में आर्य और शूद्रों पर लागू कर दिया गया।

ऋग्वेद में आर्य और दास के अतिरिक्त समाज का विभाजन ब्राह्मण, क्षत्रिय और विश (वैश्य) में भी किया गया था। ऋग्वेद काल के वर्ग ही आगे चलकर वर्णों के रूप में स्थापित हो गये।

श्रीनिवास ने जाति की उन विशेषताओं का उल्लेख किया है जो वर्ण में भी पायी जाती हैं। वर्ण व्यवस्था के अनुसार जातियों की संख्या भी चार है तथा अस्पृश्य इनसे बाहर

हैं। यह संख्या भारत के सभी भागों में एक समान है। वर्ण-प्रारूप ने जाति की गलत प्रतिमा पेश की है। समाजशास्त्रियों को यदि वे जाति व्यवस्था को समझना चाहते हैं तो वर्ण प्रारूप से मुक्ति पानी होगी।

श्रीनिवास कहते हैं कि स्थानीय संस्तरण में जातियों की स्थिति स्पष्ट नहीं है। यह सत्य है कि देश के अधिकांश भागों में ब्राह्मण सर्वोच्च एवं अछूत सबसे निम्न स्तर पर हैं, किन्तु दक्षिण में लिंगायत अपने को ब्राह्मणों के समकक्ष मानते हैं, वे ब्राह्मणों के हाथ का बना भोजन नहीं करते। लिंगायत पुरोहित तथा अन्य जातियों में भी संस्कारों को सम्पन्न करांते हैं।

जाति व्यवस्था की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि मध्यक्षेत्र की जातियों की स्थिति स्पष्ट नहीं है। यह अनिश्चतता ही कई जातियों को सामाजिक स्थिति में ऊंचा उठने के लिए प्रेरित करती रही है तथा प्रत्येक जाति अपनी समकक्ष जातियों से ऊंचा होने का दावा करती रही हैं। मांस-मदिरा का सेवन करने वाली जातियां निम्न और शाकाहारी जातियां उच्च मानी जाती हैं। इसी प्रकार से व्यवसाय भी जातियों की उच्चता व निम्नता को तय करता है। चमड़े का कार्य, बाल काटना, मैला उठाना निम्न कार्य हैं इन्हें करने वाली जातियां भी निम्न समझी जाती हैं। इसी प्रकार से खान-पान के नियम, विधवाओं द्वारा सिर मुंडवाना, तलाक, आदि के आधार पर भी जातियों की स्थिति का निर्धारण होता है। निम्न जातियां उच्च जातियों द्वारा बना भोजन व जल ग्रहण करती हैं। उच्च जातियों में विधवाएं सिर मुंडवाती हैं और उनमें तलाक की प्रथा नहीं पायी जाती। क्षेत्रीय अध्ययनों से ज्ञात होता है कि जातियों की उच्चता का क्रम एक गांव से दूसरे गांव में भिन्न-भिन्न है।

एक तथ्य यह भी है कि उच्च जातियां सम्पन्न और निम्न जातियां गरीब हैं। आर्थिक और राजनीतिक श्रेष्ठता से जो स्तरीकरण पैदा होता है वह सांस्कारिक श्रेष्ठता से भिन्न है। सांस्कारिक और आर्थिक राजनीतिक श्रेष्ठता के आधार पर पाया जाने वाला भेद बहुत गहन है। मैसूर के गांव रामपुरा में ब्राह्मण पुरोहित का गांव का मुखिया सम्मान करता है जो कि ओक्कालिगा किसान जाति का है, किन्तु मुखिया गांव और क्षेत्र का एक सम्पन्न व्यक्ति है। वह एक बड़ा भू-स्वामी साहूकार, प्रभावशाली व्यक्ति और गांव के राम मन्दिर के प्रबन्धकों में से एक है। मन्दिर के पुजारी का लड़का जब पास हो गया तो वह उसे आगे पढ़ाने के लिए सलाह के लिए मुखिया के पास गया। जबकि वर्ण-प्रारूप के अन्तर्गत वह शूद्र जाति के अन्तर्गत आता है।

सामान्यतः उच्च जाति का व्यक्ति भी सहायता एवं सलाह लेने के लिए सम्पन्न और शक्तिशाली निम्न जाति के व्यक्ति के पास जाता है। ऐसी स्थिति में उच्च जाति का व्यक्ति निम्न जाति के व्यक्ति पर निर्भर होता है। इस प्रकार किसी जाति की स्थिति का निर्धारण सन्दर्भों में ही देखा जाना चाहिए। सांस्कृतिक सन्दर्भ में ब्राह्मण उच्च है तो लौकिक मामलों में गांव का मुखिया। विशिष्ट सन्दर्भों के अतिरिक्त भी जातियों की स्थायी स्थितियां भी होती हैं। ब्राह्मण का स्थान ओक्कालिगा से ऊंचा है। ऊपर के उदाहरण में ब्राह्मण पुजारी की सहायता करने का तात्पर्य पुण्य कमाना है। मुखिया को भी ब्राह्मण पुजारी की आवश्यकता पड़ती है, जब कभी भी उसका ब्राह्मण मित्र गांव में आता है तो वह पुजारी को ही उसे भोजन कराने के लिए कहता है।

वर्ण योजना ने निश्चय ही जाति के चित्र को विकृत किया है, किन्तु इसने सामान्य व्यक्ति को जाति को समझने में सहायता दी है जो कि सम्पूर्ण भारत में पायी जाती है। वर्ण ने सम्पूर्ण भारत के लिए एक सामाजिक भाषा प्रदान की है तथा सामान्य परिचय ने एकता में भी सहायता दी है।

जब हम जाति गतिशीलता की बात करते हैं तब भी उसका सन्दर्भ वर्ण ही होता है न कि स्थानीय जाति स्थिति। प्रत्येक क्षेत्र में एक जाति का एक विशिष्ट नाम उसकी विशिष्ट प्रथाएं और परम्पराएं होती हैं जो दूसरी जातियों से भिन्न होती हैं। फिर भी निम्न जातियां अपने ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य होने का दावा पेश करती रही हैं।

जातियां : क्या वे कल के भारत में विद्यमान रह सकती हैं
(CASTES : CAN THEY EXIST IN THE INDIA OF TOMORROW)

प्रो. श्रीनिवास ने जातियों के भविष्य पर भी विचार किया है। उन्होंने दो प्रश्न उठाये हैं—एक, क्या कल के भारत में जातियों का अस्तित्व रहना चाहिए और दूसरा, क्या उनके बने रहने की सम्भावना है? प्रथम प्रश्न आदर्शवादी है, जबकि दूसरा प्रश्न वास्तविकता से सम्बन्धित है। श्रीनिवास पहले प्रथम प्रश्न पर विचार करते हैं।

भारत में कुछ व्यक्ति ऐसे हैं जो संख्या में थोड़े हैं, किन्तु शक्तिशाली हैं; उनकी इच्छा है कि जाति व्यवस्था समाप्त हो जानी चाहिए, दूसरी ओर अधिकांश जनता और प्रमुख रूप से हिन्दुओं का मत है कि जाति प्रथा समाप्त नहीं होनी चाहिए। वे जाति के बिना समाज व्यवस्था का चलना असम्भव मानते हैं। ग्रामीण लोगों के लिए संयुक्त परिवार और जाति वे सारे कार्य करती हैं जो कि औद्योगिक दृष्टि से विकसित पाश्चात्य देशों में एक कल्याणकारी राज्य करता है। एक जाति अपने सदस्यों में एक सांस्कृतिक समानता भी पैदा करती है।

किन्तु कुछ अल्पसंख्यक लोगों का मत है कि जाति हमारे राष्ट्रीय जीवन के लिए खतरा है और ऐसे लोगों की संख्या आज बढ़ रही है, किन्तु अधिकांश लोगों का मत है कि जाति एक बुराई नहीं है। जब तक स्वयं लोग जातिवाद की बुराइयों को महसूस न करें, जाति के विरुद्ध प्रभावशाली ढंग से कुछ भी नहीं किया जा सकता। अभी तक भी हमारे राजनीतिज्ञों और सामाजिक कार्यकर्ताओं ने इस जटिल समस्या पर कोई जागरूकता प्रकट नहीं की है। जो लोग जाति-विहीन और वर्ग विहीन समाज की बातें करते हैं वे भी सार्वजनिक रूप से इसकी निन्दा नहीं करते। पण्डित नेहरू और कांग्रेस ने भारत के संविधान में जातिविहीन और वर्गविहीन समाज के आदर्श को सम्मिलित किया है।

श्रीनिवास ने 1954 में मैसूर राज्य के मण्डिया जिले के एक गांव में हरिजनों और किसानों के झगड़े का उल्लेख किया है, जिसमें एक कांग्रेसी किसान नेता ने जब जातिविहीन समाज की बात कही तो हरिजनों ने उनके साथ भोजन करने और अपनी लड़की ब्याहने की बात कही, अतः यह आदर्श केवल पुस्तकों तक ही सही है वास्तव में नहीं। जब हम वास्तविकता की धरती पर उतरते हैं और वोट लेते या देते हैं तो जाति के नाम पर। यहां तक कि मिनिस्टर की नियुक्ति भी जाति के आधार पर होती है, क्योंकि जाति के सिद्धान्त हमारे राजनीतिक व सामाजिक जीवन में इतने घर कर गये हैं कि सभी ने इनको माना है और इस सिद्धान्त को पंचायत के चुनावों से लेकर केबिनेट के चुनाव तक में लागू किया है। श्रीनिवास ने मैसूर राज्य का उदाहरण देते हुए कहा है कि वहां मुख्यमन्त्री ने मन्त्रियों

की नियुक्ति में ही नहीं वरन् सेक्रेटरी की नियुक्ति में भी जाति का आधार अपनाया है। यद्यपि वे कानूनी रूप से जाति व वर्ग रहित समाज की बात करते हैं।

केवल प्रस्ताव व कानून बनाने से ही कोई कार्य नहीं हो जाता है, जब तक कि उसको सच्चे अर्थों में लागू नहीं किया जाय। यदि हम सोचते हैं कि हम सरलता से जाति से छुटकारा पा सकते हैं तो हम गलती करते हैं। जाति एक ऐसी संस्था है जो बहुत शक्तिशाली है और यह समाप्त होने से पूर्व बहुत खून-खराबा करेगी।

वे नियम जो अस्पृश्यता निवारण के लिए बनाये गये हैं, उन्होंने कुछ कार्य अवश्य किया है और निम्न जातियां उनका सहारा लेकर उच्च जातियों से संघर्ष कर रही हैं, किन्तु इन कानूनों को वास्तविक रूप देने के लिए खून बहाना पड़ेगा और मुख्य रूप से गांवों में ऐसी घटनाएं घटेंगी। ज्यों-ज्यों हरिजन शिक्षा प्राप्त करेंगे, उनकी आर्थिक दशा उन्नत होगी तो उच्च हिन्दू इसको सहन नहीं कर पायेंगे इसी प्रकार से हरिजनों को दिया गया मताधिकार भी हिन्दू स्वीकार नहीं करेंगे।

दूसरा प्रश्न है—क्या कल के भारत में जातियां समाप्त हो जायेंगी? इस प्रश्न का उत्तर देने से पूर्व कुछ समय पूर्व घटी घटनाओं का उल्लेख करना आवश्यक है।

जब भारत में अंग्रेजों का राज्य था तब हमारा समाज एक सामन्ती समाज था। अधिकांश लोग गांवों में रहते थे और कुछ ही शहरों में। उस समय के शहर आज के औद्योगिक शहरों से भिन्न थे। उस समय जाति ही व्यक्ति के अधिकार और कर्तव्य निर्धारित करती थी। एक व्यक्ति के विभिन्न जातियों से भिन्न-भिन्न प्रकार के सम्बन्ध थे। उस समय वस्तु-विनिमय का प्रचलन था। सामन्त ही राजनीतिक व्यवस्था का सर्वेसर्वा था। एक सामन्त दूसरे सामन्त से लड़ता रहता था। इस सारी व्यवस्था ने कई महत्वपूर्ण प्रभाव डाले, जैसे एक जाति की क्षैतिज दृढ़ता एक सामन्त के शासन तक ही सीमित थी तथा क्षेत्र की जातियां आत्मनिर्भर बनने के लिए मजबूर थीं।

गांवों में वस्तु विनिमय प्रचलित था। नाई, धोबी, कुम्हार और लुहार सभी एक-दूसरे पर निर्भर थे। प्रत्येक जाति अपनी और अन्य जातियों की दृढ़ता से परिचित थी। सभी अपने गांव के प्रति वफादार थे। यह थी अंग्रेजों के आने से पूर्व भारत के नगरों एवं गांवों की स्थिति।

किन्तु जब अंग्रेज भारत में आये और उनका सम्पूर्ण भारत पर साम्राज्य हो गया तो दशा बदली। पूरे भारत पर शासन करने के लिए उन्होंने देश में यातायात और संचार के साधनों का जाल बिछा दिया और भारत एक राजनीतिक इकाई बना। अब जातियां क्षेत्रीय आधार पर संगठित होने लगीं। प्रेस, डाक, अखबार पुस्तकें, टेलीफोन, रेल एवं बस, आदि ने भारत के विभिन्न भागों में रहने वाले एक जाति के सदस्यों को परस्पर मिलने का अवसर प्रदान किया। जाति की पत्रिकाएं प्रकाशित होने लगीं, जाति संगठन के लिए पैसा एकत्रित किया जाने लगा, व जाति के गरीब लोगों की सहायता की जाने लगी। जाति के छात्रावास, अस्पताल, सहकारी समितियां बनायी जाने लगीं। स्पष्ट है कि पिछले 100 वर्षों में जाति की दृढ़ता बढ़ी और अन्तर्जातीय निर्भरता समाप्त हुई।

जाति की क्षैतिज दृढ़ता को बढ़ाने में अन्य कारकों ने भी योग दिया। अब उन कार्यों को जिन पर उच्च जातियों का एकाधिकार था; निम्न जातियां भी करने लगीं। विभिन्न जातियों में धीरे-धीरे ब्राह्मण विरोधी भावनाएं बढ़ीं। राजकीय नौकरियों में उच्च एवं निम्न जातियों में प्रतियोगिता बढ़ी। इसी प्रकार से वयस्क मताधिकार के कारण विभिन्न जातियों में क्षैतिज

दृढ़ता का विकास हुआ एवं उनमें संघर्ष भी हुए। हरिजनों में शिक्षा का विस्तार हुआ अब उच्च हिन्दुओं के लिए उन्हें अपनी दयनीय दशा में रखना कठिन हो गया। हरिजन संगठित होकर संविधान द्वारा प्राप्त सुविधाओं को हासिल करने के लिए प्रयत्न करने लगे। इससे विभिन्न जातियों में संघर्ष तो बढ़ा, किन्तु अन्त में उच्च जातियों को हार माननी पड़ी। फिर भी हम यह नहीं कह सकते कि अस्पृश्यता एक रात में ही दूर हो जायेगी।

औद्योगीकरण एवं विकसित अर्थव्यवस्था के कारण शिक्षित लोगों को ही सेवाओं में लिया जायेगा। इससे विभिन्न जातियों के बीच कटुता कम होगी। औद्योगीकरण एवं नवीन शिक्षा भी जातियों की कटुता को कम करेगी। सह-शिक्षा अन्तर्जातीय विवाहों को बढ़ावा देगी।

इस प्रकार से थोड़े समय के लिए तो देश में जाति से कठिनाइयां पैदा होंगी, किन्तु लम्बे समय में जाकर वयस्क मताधिकार, औद्योगिक क्रान्ति, शिक्षा का प्रसार एवं उच्च शिक्षा, संविधान में हरिजनों को दिये गये अधिकार एवं पिछड़ी जातियों को दी गयी सुविधाओं एवं निम्न जातियों द्वारा अपनायी गयी संस्कृतीकरण की प्रक्रिया, आदि जाति की बुराइयों को दूर कर देंगी। तब तक के लिए समाज सुधारकों को जाति से संघर्ष करने के लिए कठोर परिश्रम करना पड़ेगा और धैर्य से काम लेना होगा।

फिर भी एक प्रश्न रह जायेगा कि यदि जाति समाप्त हो जाती है तो हिन्दूवाद (हिन्दू धर्म) का क्या होगा?

प्रभु जाति
(DOMINANT CASTE)

भारत में सामाजिक संस्तरण का मुख्य आधार जाति प्रथा है। यहां विभिन्न जातियां जजमानी प्रथा द्वारा आर्थिक रूप से एक-दूसरे पर निर्भर रही हैं। निम्न एवं उच्च जातियों के पारस्परिक सम्बन्ध भूस्वामी और काश्तकार, मालिक और सेवक, साहूकार और ऋण लेने वाले, संरक्षक और मातहत, आदि के रूप में भी पाये जाते हैं। जातियों के पारस्परिक सम्बन्धों एवं ग्राम एकता को समझने के लिए 'प्रभु जाति' की अवधारणा को समझना आवश्यक है। 'प्रभु जाति' की अवधारणा गांव की राजनीतिक व्यवस्था, शक्ति एवं न्याय व्यवस्था और प्रभुत्व को समझने में भी योग देती है। 1959 में प्रो. श्रीनिवास ने मैसूर के रामपुरा गांव के अध्ययन के दौरान 'प्रभु जाति की अवधारणा को जन्म दिया।[1] इस अवधारणा का प्रयोग विभिन्न विद्वानों ने अपने अंध्ययनों में किया है और इसके सहारे उन्हें गांव के राजनीतिक संगठन, अन्तर्जातीय संघर्ष एवं प्रभुत्व को समझने में योग मिला है। डॉ. दुबे तथा मजूमदार ने इस अवधारणा का प्रयोग कर इसकी उपयोगिता का परीक्षण किया है।

प्रभु जाति की परिभाषा एवं अर्थ (Definition and Meaning of Dominant Caste)

प्रभु जाति की परिभाषा करते हुए डॉ. एम. एन. श्रीनिवास लिखते हैं, "एक जाति तब 'प्रभु' कही जाती है जब वह संख्या के आधार पर गांव अथवा स्थानीय क्षेत्र में शक्तिशाली हो और प्रभावशाली आर्थिक व राजनीतिक शक्ति रखती हो यह आवश्यक नहीं कि वह परम्परात्मक जाति पदक्रम सोपान में सर्वोच्च जाति की हो।"[2] वे आगे फिर लिखते हैं कि

1 'The Dominant Caste in Rampura', *American Anthropologist* (1959), pp. 1-16.
2 "A caste is dominant when it is numerically the strongest in the village or local area, and economically and politically exercises a preponderating influence. It need not be the highest caste in terms of traditional and conventional ranking of caste."
—M. N. Srinivas, *India's Villages*, p. 7.

कोई भी जाति एक क्षेत्र में 'प्रभु' हो सकती है, किन्तु मैंने अब तक किसी भी अछूत जाति को 'प्रभु जाति' के रूप में नहीं पाया। कभी-कभी हिन्दू जाति व्यवस्था से बाहर का कोई समूह भी जैसे कुर्ग व राजगोंड़ अपनी संख्या, सम्पत्ति और भौतिक शक्ति के आधार पर 'प्रभु' बन जाता है।[1]

प्रभु जाति की अवधारणा को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए यहां हम उसकी प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख करेंगे। ये विशेषताएं इस प्रकार हैं :

(1) संख्यात्मक शक्ति, (2) आर्थिक व राजनीतिक प्रभुत्व, (3) धार्मिक कृत्यों अथवा जाति व्यवस्था में उच्च सामाजिक स्थिति, (4) आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय, (5) सम्पूर्ण गांव की एकता, न्याय और कल्याण के लिए कार्य।

(1) **संख्यात्मक शक्ति** (Numerical Strength)—'प्रभु जाति' का सर्वप्रमुख आधार उसकी संख्यात्मक शक्ति है। 'प्रभु जाति' गांव में अथवा क्षेत्र में अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक संख्या में होती है। संख्या में अधिक होने से वह अन्य जातियों पर अपना प्रभुत्व रखती है। अल्पसंख्यक जातियों को उसकी शक्ति के सम्मुख झुकना होता है और कई बार तो प्रभु जाति उन पर अत्याचार भी करती है। अल्पसंख्यक जातियां ऐसी स्थिति में प्रभु जाति का विरोध भी करती हैं।

(2) **आर्थिक व राजनीतिक प्रभुत्व** (Economic and Political Dominance)—क्षेत्र अथवा गांव में प्रभु जाति आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति रखती है। उसके पास गांव की सर्वाधिक भूमि होती है जिस पर अन्य जातियों के लोगों द्वारा काम करवाया जाता है। मैसूर के वानगला और डेलाना गांव में वहां की ओक्कालिगा प्रभु जाति के पास गांव की 80% भूमि थी। उत्तर प्रदेश के सेनापुर की राजपूत प्रभु जाति के पास गांव की 82% भूमि और गुजरात के कसेन्दा गांव के बघेला राजपूतों के पास गांव की सारी भूमि थी।[2] प्रभु जाति अन्य जातियों को अपनी सम्पन्नता के कारण ऋण देने में सक्षम होती है। इस प्रकार अन्य जातियां प्रभु जाति पर आर्थिक रूप से निर्भर होती हैं। आर्थिक निर्भरता राजनीतिक प्रभुत्व को भी जन्म देती है। चुनावों के समय प्रभु जाति अपने आश्रितों के मत प्राप्त करने में सक्षम होती है। कभी-कभी वह राजनीतिक शक्ति एवं पद पाने के लिए बल प्रयोग और डराने-धमकाने का कार्य भी करती है। गांव में प्रभु जातियां राज्य विधान सभा और लोकसभा के चुनावों में 'वोट बैंक' का कार्य करती हैं।

(3) **धार्मिक कृत्यों अथवा जाति व्यवस्था में उच्च सामाजिक स्थिति** (Higher Status in Ritual or Caste Hierarchy)—'प्रभु जाति' के लिए यह आवश्यक है कि वह जाति-व्यवस्था में अपना ऊंचा स्थान रखती हो। कोई भी निम्न जाति गांव में प्रभु-जाति नहीं पायी गयी है क्योंकि सामाजिक संस्तरण में जातियों की पवित्रता और अपवित्रता भी एक महत्वपूर्ण पक्ष रहा है। कई बार एक निम्न जाति संख्या में अधिक होने अथवा आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न होने पर भी गांव में प्रभु जाति का स्थान इसलिए ही नहीं ले पायी कि वह जाति संस्तरण में निम्न स्तर पर है।

(4) **आधुनिक शिक्षा एवं नवीन व्यवसाय** (Modern Education and New Occupation)—गांव में 'प्रभु जाति' अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक शिक्षित होती है। वह

1 *Ibid.*
2 Y. Singh, *Modernization of Indian Tradition*, p. 164.

नवीन व्यवसायों और नौकरियों में लगी होती है। शिक्षित होने के कारण उसका सम्पर्क राजकीय अधिकारियों से होता है। इन सब बातों का अन्य जातियों पर प्रभाव पड़ता है और वे प्रभु जाति का दबदबा मानती है।

(5) सम्पूर्ण गांव की एकता न्याय और कल्याण के लिए कार्य (Administration of Justice, Unity and Welfare of the Community as a whole)—प्रभु जाति गांव की एकता को बनाये रखने में योग देती है और ऐसे कार्य करती है जिससे सारे समुदाय की भलाई हो। सारे गांव में झगड़े निपटाने एवं न्याय का कार्य भी करती है। प्रभु जाति अन्य जातियों के नियमों का सम्मान करती है। अन्य जातियों के विवाद हल करने के लिए प्रभु जाति के वयोवृद्ध व्यक्तियों के पास लाये जाते हैं। प्रभु जाति निष्पक्ष और तटस्थ होती है। केवल वे मामले ही जो जाति से सम्बन्धित होते हैं, पास के गांवों में रहने वाले अपनी जाति के वयोवृद्ध व्यक्तियों के पास ले जाते हैं। सार्वजनिक उत्सवों एवं सभाओं में प्रभु जाति की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। स्पष्ट है कि प्रभु जाति अपनी संख्या, उच्च सामाजिक स्थिति, आर्थिक सम्पन्नता, राजनीतिक शक्ति, शिक्षा, आदि के कारण गांव में प्रभुत्वशाली मानी जाती है। प्रभु जाति का नेता गांव में शक्तिशाली व्यक्ति होता है। सामान्यतः यह गांव में सर्वाधिक सम्पन्न अथवा वयोवृद्ध व्यक्ति हो सकता है या अपने व्यक्तिगत गुणों एवं सेवा भावना के कारण लोग उसको आदर एवं सम्मान की दृष्टि से देखते हैं तथा उसका मार्ग-दर्शन प्राप्त करते हैं।

प्रभु जाति की अवधारणा का परीक्षण एवं उपयोग विभिन्न विद्वानों ने किया है। **मेयर**[1] (Mayer) ने इस अवधारणा का और विकास किया है। उनका मत है कि श्रीनिवास ने प्रभु जाति को गांव में प्रभुत्व के सन्दर्भ में ही देखा है। वे क्षेत्र की प्रभु जाति का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि कोई भी जाति यदि एक क्षेत्र के अधिकांश गांवों में प्रभावशाली है तो वह क्षेत्र में भी प्रभु जाति बन ज़ाती है। इसके अतिरिक्त कोई भी जाति जिला अथवा राज्य स्तर पर सरकार में प्रभुत्वशाली बन सकती है यदि उसके प्रभावशाली सदस्य जिला परिषदों अथवा राज्य मन्त्रिमण्डल में अधिक संख्या में हों। कोई भी जाति क्षेत्र में प्रभुत्वशाली न होकर भी सरकार में उच्च स्तर पर प्रभावशाली हो सकती है। उदाहरण के लिए, 19वीं सदी में गण्टूर में देशस्थ ब्राह्मण जिले के सर्वोच्च प्रशासकीय पदों पर थे और अंग्रेज लोग प्रान्तीय स्तर पर प्रशासन में एकाधिकार किये हुए थे। ये दोनों ही समूह मद्रास के लिए विदेशी थे और इनका ग्राम अथवा क्षेत्र स्तर पर कोई प्रभुत्व नहीं था।

प्रभु जाति की अवधारणा का महत्व बताते हुए ड्यूमा कहते हैं कि "प्रभुत्व की अवधारणा अथवा प्रभु जाति, भारत में सामाजिक मानवशास्त्र के क्षेत्र में किये गये अध्ययनों की दृढ़ और लाभदायक उपलब्धि का प्रतिनिधित्व करती है।"

रामपुरा की प्रभु जाति ओक्कालिगा (Okkaligas—The Dominant Caste of Rampura)—प्रो. श्रीनिवास ने मैसूर के रामपुरा गांव में ओक्कालिगा जाति को प्रभु जाति के रूप में पाया। गांव की कुल जनसंख्या 1948 में 1,523 थी। उनमें से 735 ओक्कालिगा जाति के व्यक्ति थे। यह जाति कृषि कार्य में लगी हुई थी। रामपुरा गांव में सबसे बड़े भू-स्वामी ओक्कालिगा जाति के लोग हैं। ये लोग मड्या और मद्रास जिले में अपना प्रभाव रखते हैं।

1 A. C. Mayer, 'The Dominant Caste in a Region of Central India.' *South-western Journal of Anthropology*, 14 : 407-27.

रामपुरा गांव में कुल चार स्नातक हैं, उनमें से तीन ओक्कालिगा हैं। कई ओक्कालिगाओं ने व्यापार का कार्य प्रारम्भ कर दिया है। वे चाय की दुकान, परचूनी वस्तुएं, कपड़ा बेचने तथा साइकिल किराये पर देने का कार्य करते हैं। कुछ युवकों ने परिवर्तित राजनीतिक स्थिति के बारे में गम्भीर चेतना दर्शायी है तथा उनमें राजनीतिक शक्ति प्राप्त करने की महत्वाकांक्षाएं हैं।

ओक्कालिगा जाति के वयोवृद्ध व्यक्ति अपनी ही जाति के झगड़े नहीं निपटाते वरन् उन जातियों के लिए भी न्याय करते हैं जो उनका हस्तक्षेप चाहती हैं। रामपुरा के लोग किसी झगड़े को शहरी न्यायालय में ले जाने की अपेक्षा ओक्कालिगा जाति के वयोवृद्ध लोगों के पास ले जाना उचित समझते हैं। जो व्यक्ति न्याय के लिए शहर जाता है उसे गांव वाले अनुचित समझते हैं। ऐसे व्यक्ति को सयानों (Elders) की सत्ता एवं गांव की एकता का उल्लंघन करने वाला समझा जाता है। अतः उसे सम्मान की दृष्टि से नहीं देखा जाता। प्रभु जाति के वयोवृद्ध व्यक्ति गांव की अन्य जातियों के नियमों से परिचित हैं। अतः वे न्याय करते समय उस जाति की संहिताओं का पालन करते हैं। रामपुरा के मुसलमान अपने झगड़े ओक्कालिगा जाति के पास ले जाते हैं। गांव के गरीब लोग अपने पारिवारिक झगड़ों को अपने आश्रयदाता कृषकों के पास ले जाते हैं जो अधिकांशतः ओक्कालिगा ही होते हैं। प्रभु जाति ऐसे विवादों को भी निपटाती है जिनमें ब्राह्मण, अछूत अथवा मुसलमान मुकदमेबाज होते हैं। एक जाति के विवादी अपने जाति पंचों द्वारा किये गये निर्णयों को इस आधार पर ठुकरा सकते हैं कि वे अन्याय व दुष्टता की भावना पर आधारित हैं। अपने मुकदमे की अपील वे प्रभु जाति के पास कर सकते हैं।

ग्रामीण अध्ययन और उनका महत्व
(VILLAGE STUDIES AND THEIR SIGNIFICANCE)

प्रो. श्रीनिवास ने भारतीय ग्रामीण समुदायों के मानवशास्त्रीय अध्ययन का अन्य विज्ञानों जैसे अर्थशास्त्र, तुलनात्मक धर्म और इतिहास तथा सामाजिक और कृषि के पुनर्निर्माण में क्या व्यावहारिक योगदान हो सकता है, का उल्लेख किया है। श्रीनिवास कहते हैं कि सामाजिक मानवशास्त्री किसी एक छोटे गांव या समुदाय का चयन करके यह जानना चाहेगा कि किस प्रकार के समाज के विभिन्न अंग परस्पर जुड़े हुए हैं व धर्म, कानून, नातेदारी किसी एक का अध्ययन करते समय वह सम्पूर्ण समाज के सन्दर्भ में इन्हें देखता है। कुछ लोगों का मत है कि मानवशास्त्री किसी एक छोटे गांव या जनजाति का अध्ययन करता है अतः उसका यह ज्ञान सारे देश के बारे में विश्वसनीय मार्ग-दर्शक नहीं हो सकता। श्रीनिवास कहते हैं कि सामाजिक मानवशास्त्री विभिन्न सांस्कृतिक क्षेत्रों के गांवों का अध्ययन करके एक तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कर सकते हैं। वह विभिन्न गांवों के बीच पाये जाने वाले अन्तर्जातीय सम्बन्धों तथा सिंचाई का सामाजिक व आर्थिक संस्थाओं पर प्रभाव, धर्म व जाति के पारस्परिक सम्बन्धों को प्रकट सकता है। इसी तरह से एक गांव का गहन अध्ययन करने पर मानवशास्त्री को देश के ग्रामीण सामाजिक जीवन की जानकारी प्राप्त होगी। गहन क्षेत्र-कार्य का अनुभव एक मानवशास्त्री के जीवन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और वह उसे प्राथमिक जानकारी प्रदान करता है। क्षेत्र जानकारी का स्थान पुस्तकीय ज्ञान नहीं ले सकता। श्रीनिवास कहते हैं कि एक मानवशास्त्री द्वारा संकलित किये गये तथ्य एक अर्थशास्त्री, राजनीतिशास्त्री और सांख्यिकीवेत्ता द्वारा संकलित तथ्य की तुलना में अधिक उपयोगी, विश्वसनीय और महत्वपूर्ण

होते हैं क्योंकि वह गहन अध्ययन के द्वारा सूचनाएं संकलित करता है तथा उसे सही सूचनाएं एकत्रित करने के लिए प्रशिक्षित किया जाता है। सूचनाएं संकलित करने से पूर्व उन्हें समस्या की पूर्ण जानकारी प्रदान की जाती है।

हमारी सरकार कृषकों के कल्याण के लिए कटिबद्ध है। गांवों में भूस्वामित्व ऋण, भूमिहीन श्रमिकों, बेकारी, पशुओं, गरीबी, अशिक्षा और अस्वास्थ्य, आदि से सम्बन्धित अनेक समस्याएं व्याप्त हैं, जिनके बारे में सामाजिक मानवशास्त्री सरकार को जानकारी दे सकता है जिससे कि इन समस्याओं के समाधान में सरकार को सहायता मिल सकती है। कई बार हम यह सोचते हैं कि जो पशु कृषि या अन्य दृष्टि से अनुपयोगी हो गये हैं उन्हें मार दिया जाना चाहिए, लेकिन ऐसा इसलिए नहीं होता कि पशुओं का धार्मिक महत्व है। गाय को मारना पाप समझा जाता है।

पिछले कई वर्षों से ग्रामीणों और कृषकों को अज्ञानी और अन्धविश्वासी समझा जाता रहा है, उनकी कृषि तथा सामाजिक आर्थिक दशा को सुधारने के लिए कई संगठित प्रयास किये जाते रहे हैं। एक मानवशास्त्री गांव का गहन अध्ययन करके अधिकारियों को इन प्रयासों की सफलता और असफलता तथा ग्रामीणों के दृष्टिकोण से परिचित करा सकता है। मैकिम मेरिट ने उत्तर प्रदेश के किशनगढ़ी गांव का अध्ययन करके यह बताया कि ग्रामवासियों ने सभी परिवर्तनों का विरोध ही किया। उन्होंने नई फसलों और कृषि के नये तरीकों का आविष्कार किया है। इसी तरह से ग्रामीणों द्वारा ईंधन के लिए गोबर का उपयोग किया जाता है इसका कारण यह नहीं है कि उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि गोबर अच्छी खाद भी है, वरन् ईंधन की कमी के कारण वे ऐसा करते हैं। लकड़ी के हल का प्रयोग भी छोटे बैलों के लिए हल्का होने के कारण किया जाता है। विवाह में अधिक खर्च भी वे अपनी प्रतिष्ठा के लिए करते हैं इस तरह से ग्रामीणों की परम्परावादिता अकारण नहीं है, वरन् उसके पीछे तर्क है। उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक संस्थाएं उन्हें सुरक्षा और स्थायित्व प्रदान करती हैं इसलिए ये परिवर्तन के प्रति उदासीन होते हैं। इसी तरह से संयुक्त परिवार और कृषि व्यवस्था भी परस्पर सम्बन्धित है। अतः गांवों में सभी परिवर्तन उनके लिए लाभदायक नहीं हो सकते। गांव के बारे में यह जानकारी मानवशास्त्री प्रदान कर सकते हैं।

श्रीनिवास का मत है कि भारतीय ग्रामों के बारे में जो कुछ जानकारी पुरानी पुस्तकों और उच्च जातियों द्वारा प्रदान की जाती है उसे सही नहीं मान सकते और इस बात को भी स्वीकार नहीं किया जा सकता कि जो कृषि जितनी पुरानी होगी वह उतनी ही विश्वसनीय होगी। उनकी धारणा है कि हमें पुरानी पुस्तकों के विचार का मूल्यांकन वैज्ञानिक अध्ययन के आधार पर करना चाहिए। वर्तमान समाज का अनुभवाश्रित अध्ययन हमें वर्ण, जाति, संयुक्त परिवार और हिन्दूवाद से सम्बन्धित नये अर्थ प्रदान करेंगे। वर्तमान में पायी जाने वाली सामाजिक संस्थाओं का ज्ञान हमें भूतकाल की संस्थाओं को समझने में योग देगा। श्रीनिवास ऐतिहासिक तथ्यों को क्षेत्र कार्यकर्ताओं द्वारा संकलित किये गये तथ्यों की तरह सही, वैज्ञानिक और समृद्ध नहीं मानते। इस प्रकार ग्रामीण अध्ययन हमें भारतीय समाज के बारे में ऐतिहासिक और वास्तविक स्थिति से अवगत करायेंगे। मानवशास्त्री मानव समाजों की प्रकृति के बारे में जानकारी प्रदान कर सैद्धान्तिक ज्ञान में भी वृद्धि करते हैं। इस प्रकार से ग्रामीण अध्ययन गांवों में होने वाले नवीन परिवर्तनों, संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण की

प्रक्रियाओं, ग्रामीण कल्याण योजनाओं, सैद्धान्तिक ज्ञान में वृद्धि और भारतीय ग्रामीणों के वास्तविक सामाजिक जीवन की जानकारी प्रदान करने की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

सामाजिक मानवशास्त्र तथा ग्रामीण और नगरीय समाजों का अध्ययन
(SOCIAL ANTHROPOLOGY AND THE STUDY OF RURAL AND URBAN SOCIETIES)

पिछले सौ वर्षों में सामाजिक मानवशास्त्र ने अपना ध्यान आदिम समाजों के अध्ययनों पर केन्द्रित किया है। यद्यपि गैर-आदिवासी समाजों का अध्ययन भी किया जाता रहा है। प्राचीन ग्रीस, रोम, भारत, चीन, मिस्र के अध्ययन मॉर्गन हेनरीमैन, रार्बटसन स्मिथ, फ्रेजर, कॉलेन्जस, मॉस तथा ह्यबर जैसे मानवशास्त्रियों द्वारा किये गये हैं। इन्होंने इन समाजों का उद्विकासीय और ऐतिहासिक दृष्टि से अध्ययन किया है।

सामाजिक मानवशास्त्री समाजों का सहभागिक अवलोकन पद्धति द्वारा अध्ययन करते हैं। मॉर्गन पहला व्यक्ति था जिसने आदिवासियों का (ईराक्विश लोगों का) क्षेत्रीय-अध्ययन (Field-Study) किया। इसी प्रकार से फ्रेज बॉअस ने बेफिनलैण्ड के और हैडन ने टोरेसस्ट्रेट्स के लोगों का अध्ययन किया। क्षेत्रीय अध्ययन से एक विषय की वृद्धि होती है, उसे आधार मिलता है तथा सिद्धान्तों को व्यवहार में प्रयोग करने का अवसर मिलता है। सैद्धान्तिक विकास से श्रेष्ठ क्षेत्रीय-कार्य किया जा सकता है और क्षेत्रीय-कार्य सैद्धान्तिक विकास में सहयोग देता है।

ब्रिटेन के समाजशास्त्रियों ने समाज, सामाजिक संरचना और सामाजिक सम्बन्धों के बारे में अध्ययन किया है। अमरीकन मानवशास्त्रियों की रुचि संस्कृति और व्यक्तित्व के अध्ययन में रही है। प्रारम्भ में समाजशास्त्रियों की रुचि तुलनात्मक अध्ययन पद्धति (Comparative Method) में रही है। उनका विश्वास है कि तुलनात्मक पद्धति द्वारा संस्थाओं को अच्छी तरह से समझा जा सकता है और संस्थाओं के अध्ययन द्वारा किसी भी समाज को समझ सकते हैं।

इस शताब्दी के तीसरे दशक में सामाजिक मानवशास्त्रियों द्वारा चीन जापान, आयरलैण्ड, कनाडा और मेसाच्युसेट्स के ग्रामीण समुदायों का अध्ययन किया गया है। सामाजिक मानवशास्त्रियों का विश्वास है कि आदिम आधुनिक व ऐतिहासिक सभी प्रकार के समाजों का अध्ययन उनके क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। भारत में सामाजिक मानवशास्त्रियों ने लिखित साहित्य के सन्दर्भ में भारतीय समाज और संस्कृति का अध्ययन किया है और यह देखने का प्रयास किया है कि पुस्तकों में उल्लेखित ज्ञान और वास्तविक जीवन में क्या अन्तर है।

लघु समुदायों के गहन अध्ययन से भारत की संस्कृति और जीवन के विश्लेषण में सहायता मिली है। श्रीनिवास कहते हैं कि मेरी संस्कृतीकरण की अवधारणा तथा हिन्दू धर्म के अखिल भारतीय प्रायद्वीपीय, क्षेत्रीय और स्थानीय स्वरूपों में विभाजन ने भारत के विभिन्न भागों और उनकी समस्याओं को समझने में सहायता प्रदान की है। लघु समुदाय, महान् परम्परा, प्रभु जाति, आदि की अवधारणाओं ने भी ग्रामीण अध्ययनों में महत्वपूर्ण सहायता की है।

अब तक सामाजिक मानवशास्त्री नगरीय समस्याओं का अध्ययन नहीं करते थे, परन्तु पिछले कुछ वर्षों में उन्होंने भारत और विदेशों में कस्बों और फैक्ट्रियों का क्षेत्रीय अध्ययन

किया है। उन्होंने यह जानने का प्रयास किया है कि फैक्ट्री में भाषा क्षेत्र, जाति और नातेदारी के सम्बन्ध किस तरह से क्रियाशील होते हैं? नगर में जाति तथा संयुक्त परिवार में क्या परिवर्तन आते हैं। जाति, नातेदारी, भाषा, धर्म के बन्धन, नगरों में निवास के प्रतिमान श्रम संगठन, सहकारी आन्दोलन तथा राजनीति और शिक्षा को किस प्रकार से प्रभावित करते हैं।

क्षेत्रीय कार्य तभी लाभदायक होता है जब वह किसी एक छोटे समुदाय के लिए प्रयुक्त किया जाता है। वृहद् समाजों के अध्ययन के लिए प्रश्नावली, वैयक्तिक अध्ययन तथा सांख्यिकीय पद्धतियों का प्रयोग किया जाता है। कुछ समस्याओं के अध्ययन के लिए अन्तर अनुशासन पद्धति (Inter-disciplinary Approach) का प्रयोग किया जाता है। श्रीनिवास कहते हैं कि अब तक सामाजिक मानवशास्त्री क्षेत्रीय-कार्य के लिए सांख्यिकीय पद्धति का प्रयोग नहीं करते थे, किन्तु अब वे विभिन्न समस्याओं के सन्दर्भ में इसका प्रयोग करने लगे हैं। जब हमें कई गांवों, नगरों, फैक्ट्रियों और क्षेत्रों का अध्ययन करना हो, तो सांख्यिकी पद्धति का प्रयोग उपयोगी सिद्ध होगा। श्रीनिवास कहते हैं कि प्रश्नावली पद्धति भी गहन अध्ययनों के लिए उपयोगी है।

श्रीनिवास ने वर्तमान में भारत में सामाजिक शोध की प्रवृत्ति का भी उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि भारत में किए जाने वाले शोधों की एक विशेषता यह है कि विश्वविद्यालय के अध्यापक किसी समस्या का अध्ययन इसलिए नहीं करते कि वह महत्वपूर्ण और रुचिकर है, वरन् इसलिए करते हैं कि उन्हें भारत या राज्य सरकार या किसी विदेशी संस्था द्वारा ऐसा करने को कहा गया है। इस प्रकार कोई समस्या बौद्धिक अर्थ में समस्या न होकर प्रशासकीय अर्थ में होती है। समाज वैज्ञानिकों को शोध के लिए बहुत कम पैसा दिया जाता है इसलिए वे सोचते हैं कि कुछ न करने से कुछ करना ही अच्छा है। शोध के लिए समस्याओं को गैर-शैक्षणिक निकाय के हाथ में सौंपना समाज वैज्ञानिकों के विकास के लिए खतरनाक है।

श्रीनिवास कहते हैं कि वर्तमान में भारत में एक नये प्रकार की शोध संरचना का विकास हो रहा है जिसके अन्तर्गत पिरामिड के शीर्ष पर शोध प्रोजेक्ट का डायरेक्टर होता है उसके नीचे सुपरिण्टेण्डेण्ट और उसके बाद वरिष्ठ और कनिष्ठ अनुसन्धानकर्ता जो कि या तो एम. ए. के छात्र होते हैं या शोध डिग्री के छात्र। डायरेक्टर और डिप्टी डायरेक्टर अन्य कार्यों में व्यस्त रहते हैं और शोध कार्य की रिपोर्ट आखिरी छः महीनों में जल्दी-जल्दी लिख ली जाती है। श्रीनिवास कहते हैं कि कोई भी समाज वैज्ञानिक जो कि भारत में समाज विज्ञानों का समुचित विकास चाहते हैं आज जो कुछ हो रहा है उसे दर्शक ज्ञात कर नहीं देख सकते। वर्तमान परिस्थितियों में सामाजिक मानवशास्त्र या समाज विज्ञानों में कोई भी उल्लेखनीय और मौलिक कार्य सम्भव नहीं है।

हिन्दूवाद (हिन्दू धर्म)
(HINDUISM)

प्रो. श्रीनिवास ने हिन्दू धर्म पर भी विचार व्यक्त किये हैं। हिन्दू धर्म में चर्च की तरह का कोई संगठन और स्पष्ट रूप से परिभाषित सिद्धान्तों के निकाय नहीं हैं तथा हिन्दू बनने के लिए हिन्दू जातियों में जन्म लेने के अतिरिक्त और कोई तरीका नहीं है। फिर भी हिन्दू धर्म ने कई समूहों को आत्मसात किया है। हिन्दू धर्म में हमें अनेक विरोधाभास देखने को मिलते हैं। इसमें अनेक सम्प्रदाय, देवी-देवता और एक देववाद में विश्वास पाये जाते हैं।

इसमें शैव व वैष्णव दो प्रमुख मत विद्यमान हैं और प्रत्येक मत कई सम्प्रदायों में बंटा हुआ है। श्रीनिवास कहते हैं कि हिन्दू धर्म को परिभाषित करना बहुत कठिन है क्योंकि कोई भी ऐसे विश्वास व संस्थाएं नहीं हैं जो सभी हिन्दुओं में पाये जाते हों और उन्हें दूसरों से भिन्न करते हों फिर भी जाति की संस्था हिन्दू धर्म के लिए मौलिक है जो हिन्दुओं के अतिरिक्त मुसलमानों, ईसाइयों और सिखों में भी पायी है।

हिन्दू धर्म के लिए जो मौलिक विश्वास पाये जाते हैं वे किसी-न-किसी समूह द्वारा नकारे गये हैं, उदाहरण के लिए दक्षिणी भारत के शैव, कर्म के सिद्धान्त को नहीं मानतें। चार्वाक सुखवाद में विश्वास करता है और धर्म को नकारता है फिर भी वे हिन्दू माने जाते हैं। हिन्दू धर्म में सम्मिलित होने का एकमात्र तरीका हिन्दू जातियों में जन्म लेना ही है। यद्यपि कई विदेशी समूह जो कि भारत में आये जिन्होंने जाति की विशेषताओं को ग्रहण कर लिया हिन्दू व्यवस्थाओं में सम्मिलित हो गये।

श्रीनिवास कहते हैं कि जाति व्यवस्था को हिन्दू धर्म से पृथक् करना असम्भव है क्योंकि हिन्दू धर्म की कई अवधारणाओं का सम्बन्ध जाति से है। उदाहरण के लिए, पाप-पुण्य, कर्म, मोक्ष, धर्म और पुरुषार्थ की अवधारणा जाति से सम्बन्धित है। एक व्यक्ति जिस प्रकार के कर्म करता है अगले जन्म में उसी के अनुरूप वह उच्च और निम्न जाति में जन्म लेता है। पवित्रता और अपवित्रता की धारणा भी हिन्दू धर्म का एक प्रमुख तत्व है। विभिन्न जातियों के बीच खान-पान और विवाह के सम्बन्ध पवित्रता और अपवित्रता के आधार पर तय होते हैं। संयुक्त परिवार एवं वंश से भी इसका सम्बन्ध है। जन्म, मृत्यु और देवी-देवताओं के पूजन और उत्सव भी पवित्रता और अपवित्रता की धारणा से प्रभावित हैं। यहां तक कि ग्राम समुदाय भी धार्मिक समूह ही है क्योंकि प्रत्येक गांव के भी देवी-देवता होते हैं। श्रीनिवास वर्ण-व्यवस्था को भी हिन्दू धर्म का एक अंग मानते हैं जिसके आधार पर समाज को चार भागों में बांटा गया है।

श्रीनिवास का मत है कि संस्कृतीकरण की प्रक्रिया द्वारा उच्च समूहों और विशेष रूप से ब्राह्मणों की संस्कृति सम्पूर्ण भारत में तथा बौद्ध धर्म के द्वारा विदेशों में फैली है।

हिन्दू धर्म ईसाई और इस्लाम धर्म की भांति अन्य धर्मावलम्बियों का धर्म परिवर्तन नहीं करता है, किन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि इसमें धर्म परिवर्तन नहीं होता। प्राचीन समय में सीथियन, पार्थियन, हूण, येची, आदि समूह हिन्दू धर्म में सम्मिलित हुए हैं। जनजातियों और निम्न जातियों ने भी संस्कृतीकरण द्वारा हिन्दू धर्म को स्वीकार किया है।

श्रीनिवास ने बताया है कि संस्कृतीकरण के द्वारा कई हिन्दू सम्प्रदायों ने धर्म परिवर्तन का कार्य किया है। शंकराचार्य, रामानुज व माधव ने विभिन्न धर्मावलम्बियों को अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित किया है। फिर भी हिन्दू धर्म में कोई ऐसी औपचारिक व्यवस्था नहीं है जो गैर-हिन्दू को हिन्दू बनाती है। हिन्दू धर्म में हमें एक देवी-देवता के अनेक नाम देखने को मिलते हैं और उनके अनेक स्वरूप पाये जाते हैं। इसी तरह से देवी-देवताओं के विभिन्न वाहनों का भी उल्लेख किया गया है;जैसे शिव का वाहन नन्दी, विष्णु का गरुड़ व गणेश का चूहा है। इस वाहन पशु-पक्षियों को पवित्र माना जाता है, इसलिए इन्हें मारने का भी निषेध किया गया है।

शिव और विष्णु की पूजा वैदिक युग से प्रारम्भ मानी जाती है और इन्हीं के आधार पर हिन्दू धर्म में शैव व वैष्णव दो मत हैं। इन दोनों मतों में अनेक भिन्नताएं होते हुए भी उनमें टकराव नहीं पाया जाता है। हरि-कथा व पौराणिक कथाओं में इन दोनों की एकता का उल्लेख किया गया है। यही कारण है कि हिन्दू धर्म में अनेक सम्प्रदाय और मत-मतान्तर होते हुए भी उनमें पारस्परिक कटुता नहीं पायी जाती है। हिन्दू धर्म में प्रकृति पूजा को भी महत्व दिया है तथा ईश्वर प्राप्ति के तीन मार्ग—ज्ञान, कर्म और भक्ति बनाये गये हैं। उत्तर में भक्ति आन्दोलन का सम्बन्ध प्रमुखतया कृष्ण से रहा है, जबकि दक्षिण में शिव और विष्णु दोनों से। भक्ति आन्दोलन दक्षिण से प्रारम्भ होकर ही उत्तरी भारत में फैला।

हिन्दू धर्म का एक और सम्प्रदाय शाक्त मत है जो शक्ति की पूजा में विश्वास रखता है। देवी को शक्ति के रूप में माना गया है। दुर्गा, काली, पार्वती, भगवती, चामुण्डा, लक्ष्मी, आदि सभी को शक्ति का अवतार मानकर उनकी पूजा की जाती है। शाक्त मत भी कुछ सम्प्रदायों में विभक्त है। शक्ति की पूजा के लिए मन्त्र-तन्त्र और बलि का सहारा लिया जाता है।

सभी जीवित धर्मों की तरह हिन्दू धर्म ने भी प्राचीन समय से ही अपनी समकालीन शक्तियों के प्रति प्रतिक्रिया व्यक्त की है। ऋग्वेद कालीन आर्यों ने संस्कारों को महत्व दिया। आगे चलकर बौद्ध धर्म और जैन धर्म का हिन्दू धर्म पर प्रभाव पड़ा। इस्लाम में भी हिन्दू धर्म को चुनौती दी। इसके परिणामस्वरूप उत्तरी भारत में सिख धर्म व आर्य समाज का जन्म हुआ। हाल ही में ईसाई धर्म के सम्पर्क के कारण हिन्दुओं के मस्तिष्क में एक क्रान्ति उत्पन्न हुई है। जिन हिन्दुओं ने पश्चिमी संस्कृति को अपना लिया और बाइबिल का अध्ययन किया उन्होंने हिन्दू धर्म की आलोचना की। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दू धर्म में अनेक सुधार किये गये। पश्चिम के विद्वानों ने संस्कृत के माध्यम से भारतीय धर्म ग्रन्थों का अध्ययन किया और हिन्दू धर्म की प्रशंसा की है। इससे हिन्दुओं में आत्मविश्वास जगा है। श्रीनिवास कहते हैं कि पश्चिम के सम्पर्क के कारण हिन्दू धर्म का शुद्धिकरण हुआ है और उसे शक्ति मिली है। पश्चिम में धर्म और विज्ञान में जिस प्रकार का संघर्ष पाया जाता है वैसा भारत में नहीं दिखाई देता है।

हिन्दू धर्म का भविष्य क्या है? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है, किन्तु इसका उत्तर देना कठिन है। वर्तमान में कई विरोधी शक्तियां कार्य कर रही हैं। देश का योजनाबद्ध आर्थिक विकास शिक्षा का प्रसार, समाजवादी समाज की स्थापना की इच्छा धर्म को विपरीत दिशा में प्रभावित करेंगे। चूंकि हिन्दू धर्म में ईसाइयों व इस्लाम की भांति कोई संगठन नहीं है। अतः इसकी स्थिति शोचनीय है। गांव, जाति और संयुक्त परिवार जो कि परम्पराओं के प्रमुख वाहक हैं, में योजनाबद्ध विकास के कारण परिवर्तन होंगे, वे हिन्दू धर्म को वैचारिक आक्रमण की तुलना में अधिक प्रभावित करेंगे।

प्रश्न

1. 'आधुनिक भारत में जाति' विषय पर श्रीनिवास के विचारों का उल्लेख कीजिए।
2. श्रीनिवास की संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणाओं को स्पष्ट कीजिए।
3. 'वर्ण और जाति' पर श्रीनिवास के विचार बताइए।
4. भारत में जाति के भविष्य पर श्रीनिवास के विचारों का उल्लेख कीजिए।

5. 'ग्रामीण अध्ययन और उनके महत्व' पर श्रीनिवास के विचारों को स्पष्ट कीजिए।
6. 'सामाजिक मानवशास्त्र तथा ग्रामीण एवं नगरीय समाजों का अध्ययन' विषय पर एम. एन. श्रीनिवास के विचार बताइए।
7. हिन्दू धर्म के बारे में श्रीनिवास के विचारों का उल्लेख कीजिए।
8. भारत में समाजशास्त्र के विकास में प्रो. एम. एन. श्रीनिवास के योगदान का उल्लेख कीजिए।
9. प्रभु जाति पर टिप्पणी लिखिए।
10. डॉ. एम. एन. श्रीनिवास के आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण के योगदान पर एक निबन्ध लिखिए। (पूर्वांचल, 1990)
11. डॉ. एम. एन. श्रीनिवास के संस्कृतीकरण, ब्राह्मणीकरण तथा प्रभु जाति पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए। (पूर्वांचल, 1991)
12. आधुनिकता की परिभाषा दीजिए। परम्परा से इसका भेद कीजिए। (पूर्वांचल, 1992)
13. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए :
    (i) संस्कृतीकरण और पश्चिमीकरण। (पूर्वांचल, 1992)
14. जाति व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? क्या आज भारतवर्ष में वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था का स्थान ले रही है? (पूर्वांचल, 1993)
15. आधुनिकीकरण क्या है? भारतवर्ष में इसके कारकों की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1993)
16. आधुनिक भारत में भारतीय जाति व्यवस्था में प्रमुख परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए। (पूर्वांचल, 1994)
17. भारत में जाति व्यवस्था की विशेषताओं की विवेचना कीजिए। इसमें हो रहे प्रमुख परिवर्तनों का विश्लेषण कीजिए। (पूर्वांचल, 1995)
18. संस्कृतीकरण किसे कहते हैं? संस्कृतीकरण के विषय में एम. एन. श्रीनिवास के विचारों की समीक्षा कीजिए। (पूर्वांचल, 1995)
19. जाति-व्यवस्था से आप क्या समझते हैं? क्या यह व्यवस्था क्षीण हो रही है या प्रबल हो रही है? विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1996)
20. एम. एन. श्रीनिवास के भारतीय सामाजिक चिन्तन में प्रमुख योगदान की चर्चा कीजिए। (पूर्वांचल, 1996)
21. संस्कृतीकरण से आप क्या समझते हैं? वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में इसके महत्व की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1997)
22. जाति व्यवस्था में परिवर्तन के प्रमुख कारकों की विवेचना कीजिए। (पूर्वांचल, 1997)
23. भारत में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का वर्णन एम. एन. श्रीनिवास के विचारों के द्वारा उल्लेख कीजिए। (पूर्वांचल, 1994)

भारत में सामाजिक चिन्तन एवं समाजशास्त्र

लघु उत्तरीय, अति लघु उत्तरीय एवं वस्तुनिष्ठ प्रश्न

अध्याय 1 : भारतीय सामाजिक चिन्तन (विचारधारा)

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक विचार की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
2. प्राचीन भारतीय चिन्तन के प्रमुख स्रोत वताइए।
3. प्राचीन भारतीय सामाजिक चिन्तन की प्रमुख विशेषताएं संक्षेप में समझाइए।
4. वैदिककालीन सामाजिक विचार पर टिप्पणी लिखिए।
5. वैदिककालीन भारतीय चिन्तन की प्रमुख विशेषताएं वताइए।
6. मध्यकालीन तथा आधुनिक विचार पर टिप्पणी लिखिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(नोट : निम्नांकित प्रश्नों का उत्तर 20 शब्दों में दीजिए।)

1. सामाजिक विचारधारा का अर्थ अति संक्षेप में वताइए।
2. धर्म गाथाएं क्या हैं?
3. प्राचीन भारतीय सामाजिक चिन्तन की कोई दो विशेषताएं वताइए।
4. वैदिककालीन सामाजिक विचारों में प्रमुखतः किन विषयों पर चर्चा की गई है?
5. वैदिककालीन राज व्यवस्था कैसी थी?
6. आधुनिक काल के विचारकों में प्रमुख विचारक कौन हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सत्य/असत्य कथन पहचानिए—

1. सामाजिक विचारधारा अमूर्त है। ✓
2. सामाजिक विचारधारा की प्रकृति विकासवादी है। ✓
3. भारत में सामाजिक विचारों का प्रारम्भ आर्यों के आगमन से ही माना जाता है। ✓
4. प्राचीन भारतीय सामाजिक विचारों में हमें स्पष्टता का वाहुल्य देखने को मिलता है। ✓

[उत्तर—सत्य कथन—1, 2, 3; असत्य कथन—4]

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

1. भारतीय सभ्यता और संस्कृति के वारे में जानकारी प्रदान करने वाले सर्वप्रथम लिखित ग्रन्थ...वेद...है।
2. वेदों में.........सवसे प्राचीन है। ऋग्वेद

3. मैक्समूलर का मत है कि एक भारतीय ब्राह्मण ने एथेन्स में.........से धर्म की चर्चा की थी।
4. वेदों में वर्णित धर्म '........' का पर्यायवाची नहीं है।

[उत्तर—1. वेद 2. ऋग्वेद 3. सुकरात 4. रिलिजन]

3. वैदिक काल के बाद कौन-सा काल प्रारम्भ होता है?

(अ) महाकाव्य काल (ब) आधुनिक काल (स) वैदिक काल (द) उत्तर वैदिक काल

[उत्तर—(अ)]

4. ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति किस आयु में आश्रम में रहता है?

(अ) 25-50 वर्ष (ब) 50-75 वर्ष
(स) 8 या 10 वर्ष से 25 वर्ष तक (द) 75-100 वर्ष

[उत्तर—(स)]

5. भारतीय सामाजिक विचारधारा के विकास को कितने युगों में बांटा जा सकता है?

(अ) चार (ब) पांच (स) सात (द) दस

[उत्तर—(अ)]

6. "सामाजिक विचार साथियों के वीच सम्वन्धों में मानव प्राणियों से सम्बन्धित है।" यह परिभाषा किसने दी है?

(अ) रोलिन चेम्वलिस (ब) फरफे (स) वोगार्डस (द) मैंक्स वेवर

[उत्तर—(अ)]

7. "जहां तक भूतकाल और वर्तमान का प्रश्न है, सामान्यतः सामाजिक समस्याओं पर अकेले व्यक्तियों के विचार को ही सामाजिक विचार कहा जा सकता है।" यह परिभाषा किस समाजशास्त्री की है?

(अ) वोगार्डस (ब) इलियट व मैरिल (स) मार्क्स (द) दुर्खीम

[उत्तर—(अ)]

8. "सामाजिक विचारधारा मानवीय जीवन से सम्बन्धित है।........सामाजिक विचार एक शब्द है क्योंकि इसमें मानव समूह की सभी प्रकार की गतिविधियां सम्मिलित हैं।" यह परिभाषा किस विद्वान की है?

(अ) मैकाइवर (ब) किंग्सले डेविस (स) फरफे (द) लैण्डिस

[उत्तर—(स)]

9. सही जोड़े बनाइए—

(1) डवलपमेण्ट ऑफ सोश्यल थॉट (अ) चेम्वलिस
(2) सोश्यल थॉट (ब) फरफे
(3) हिस्ट्री ऑफ सोश्यल थॉट (स) वोगार्डस

[उत्तर—1. (स) 2. (अ) 3. (ब)]

अध्याय 2 : मनुस्मृति के सन्दर्भ में भारत में सामाजिक चिन्तन का विकास

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. मनु पर टिप्पणी लिखिए।
2. मनुस्मृति में किन विषयों पर विचार किया गया है?
3. मनुस्मृति में धर्म का प्रतिपादन किस प्रकार किया गया है?
4. सामान्य तथा विशिष्ट धर्म में अन्तर बताइए।
5. वर्ण व्यवस्था पर टिप्पणी लिखिए।

6. संस्कार की अवधारणा क्या है ?
7. हिन्दू जीवन के मुख्य संस्कार वताइए।
8. हिन्दू विवाह के निषेध समझाइए।
9. मनु की राजव्यवस्था पर टिप्पणी लिखिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(नोट : निम्नांकित प्रश्नों का उत्तर 20 शब्दों में दीजिए)

1. पी.वी. काणे के मनुस्मृति की रचना के सम्वन्ध में क्या विचार हैं?
2. मनुस्मृति में किन विषयों की व्याख्या की गई है?
3. विशिष्ट धर्म क्या है?
4. युगधर्म का अर्थ समझाइए।
5. सामान्य तथा विशिष्ट धर्म में कोई दो अन्तर वताइए।
6. वर्ण विभाजन का क्या आधार है?
7. आश्रमों के प्रकार वताइए।
8. डॉ. राजवली पाण्डेय ने संस्कार को किस प्रकार समझाया है?
9. सीमन्तोन्नयन संस्कार क्या है?
10. हिन्दू संस्कारों का कोई एक समाजशास्त्रीय महत्व वताइए।
11. पैशाच विवाह क्या है?
12. मनु के अनुसार सप्तांग राज्य क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सत्य/असत्य कथन पहचानिए—
   1. पी.वी. काणे के अनुसार वैदिक संस्कृत साहित्य में मनु का वर्णन कई रूपों में किया गया है।
   2. पुराणों में 14 मनु होने का भी उल्लेख मिलता है।
   3. वी.सी. सरकार के अनुसार मनुस्मृति चौथी शताब्दी के बाद लिखी गयी।
   4. मनुस्मृति में 14 अध्याय हैं।
   5. मनुस्मृति के तीसरे अध्याय में ब्राह्मचर्य की महिमा गृहस्थ के कर्तव्यों एवं यज्ञादि का वर्णन है।

   [उत्तर—सत्य कथन—1, 2, 5; असत्य कथन—3, 4]

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—
   1. मनुस्मृति में श्लोकों की संख्या.......है।
   2. मनुस्मृति के अध्याय ग्यारह में.......का उल्लेख है।
   3. धर्म शब्द '.......' धातु से वना है।
   4. मनु ने धर्म के.......स्वरूपों का उल्लेख किया है।
   5. फ्रांसीसी विचारक.......ने मनु को धार्मिक एवं ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में स्वीकार नहीं किया है।
   6. विशिष्ट धर्म को.......भी कहा गया है।

   [उत्तर—(1) 2,694 (2) दान (3) धृ (4) तीन (5) रेनेग्रिनों (6) स्वधर्म]

3. हिन्दू शास्त्रकारों ने व्यक्ति के जीवन को कितनी अवस्थाओं में विभाजित किया है?
(अ) चार (ब) पांच (स) सात (द) आठ
[उत्तर—(अ)]

4. श्रीमदभागवत् में सामान्य धर्म के कितने लक्षण बताये गये हैं?
(अ) तीस (ब) बीस (स) दस (द) चालीस
[उत्तर—(अ)]

5. 'धर्मशास्त्र का इतिहास' पुस्तक के लेखक हैं :
(अ) मैकिय मेरियट (ब) मैकाइवर (स) पी.वी. काणे (द) न्यूकॉम्ब
[उत्तर—(स)]

6. डॉ. वी.सी. सरकार मनुस्मृति को ईसा से लगभग कितने वर्ष पूर्व की रचना मानते हैं?
(अ) 100 वर्ष (ब) 150 वर्ष (स) 50 वर्ष (द) 900 वर्ष
[उत्तर—(ब)]

7. कितने वर्ष की आयु पूरी कर लेने के बाद व्यक्ति को वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना होता था?
(अ) 50 वर्ष (ब) 75 वर्ष (स) 25 वर्ष (द) 100 वर्ष
[उत्तर—(अ)]

8. किसके अनुसार संस्कार वह है जिसके सम्पादन से कोई पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य होता है?
(अ) शवर (ब) मनु (स) मित्रोदय (द) पाण्डेय
[उत्तर—(अ)]

9. जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना बीज स्थापित करता है, उसे कौन सा संस्कार कहते हैं?
(अ) पुंसवन (ब) जातकर्म (स) गर्भाधान (द) निष्क्रमण
[उत्तर—(स)]

10. 'पुंसवन' शब्द का अर्थ क्या है?
(अ) पुत्र संतान को जन्म देना (ब) पुत्री को जन्म देना
(स) दो बच्चों को एक साथ जन्म देना (द) इनमें से कोई नहीं।
[उत्तर—(अ)]

11. समावर्तन संस्कार किस बात का सूचक है?
(अ) विद्यार्थी जीवन के प्रारम्भ होने का (ब) विद्यार्थी जीवन के अन्त का
(स) शिशु के विधिपूर्वक घर से बाहर जाने का (द) इनमें से कोई नहीं।
[उत्तर—(ब)]

12. जब एक उच्च वर्ण, जाति, कुल, गोत्र के लडके का विवाह ऐसी लडकी से किया जाए जिसका वर्ण, जाति, कुल आदि लड़के से नीचा हो तो ऐसे विवाह को कहेंगे :
(अ) अनुलोम विवाह (ब) प्रतिलोम विवाह
(स) बहिर्विवाह (द) इनमें से कोई नहीं
[उत्तर—(अ)]

13. मनु के अनुसार वेद किसका स्रोत है?
(अ) विवाह का (ब) परिवार का (स) नातेदारी का (द) कानून का
[उत्तर—(द)]

14. 'मनु की समाज व्यवस्था' पुस्तक के लेखक हैं :
(अ) सत्यमित्र दुबे (ब) चाणक्य (स) चरक (द) मनु
[उत्तर—(अ)]

अध्याय 3 : सामाजिक संरचना : वर्ण

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. ऋग्वेद के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति बताइए।
2. उपनिषदों के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति बताइए।
3. महाभारत में वर्ण की उत्पत्ति कैसे मानी गई है?
4. गीता के अनुसार वर्णों की उत्पत्ति बताइए।
5. क्षत्रिय वर्ण का धर्म बताइए।
6. वैश्य वर्ण का उल्लेख कीजिए।
7. शूद्रों का धर्म क्या था?
8. वर्ण-व्यवस्था की विशेषताएं बताइए।
9. वर्ण-व्यवस्था का समाजशास्त्रीय महत्व क्या है?
10. वर्ण-व्यवस्था के दोषों का उल्लेख कीजिए।
11. वर्ण एवं वर्ग में क्या अन्तर है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामाजिक संरचना की कोई एक परिभाषा दीजिए।
2. वर्ण का शाब्दिक अर्थ क्या है?
3. विभिन्न वर्णों के नाम बताइए?
4. ब्राह्मण वर्ण का क्या धर्म है?
5. वर्ण व्यवस्था की कोई एक विशेषता बताइये।
6. वर्ण-व्यवस्था का आधार किसे मानते हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर-संकेत सहित)

1. निम्नलिखित से चार वर्णों को छांटिए :
(i) कुलश्रेष्ठ, (ii) ब्राह्मण, (iii) अग्रवाल, (iv) शूद्र, (v) वंसल, (vi) सक्सेना, (vii) टोडा, (viii) वैश्य, (ix) नाई, (x) धोबी, (xi) क्षत्रिय।
[उत्तर—(ii), (iv), (viii), (xi)]
2. वर्ण की उत्पत्ति का वह कौन-सा सिद्धान्त है जिसके अनुसार सबसे पहले ब्रह्मा ने केवल ब्राह्मणों को जन्म दिया?
[उत्तर—'उपनिषदों का सामाजिक उपयोगिता का सिद्धान्त']
3. कोष्ठकों में दिए गए शब्दों में से उपयुक्त शब्दों का चयन कीजिए और रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :
1. वर्ण-व्यवस्था को स्थायी बनाने के लिए...........की नीति को महत्व दिया गया।
(अनुलोम, सजातीयता, बहिर्विवाह, प्रतिलोम)
2. घुरिये के अनुसार वर्ण का सम्बन्ध विभिन्न समूहों के बीच...........का भेद होने से था।
(व्यवसाय, गुण, रंग, स्वभाव)

3. वर्ण-व्यवस्था का आधारभूत उद्देश्य समाज का............विभाजन करना था।
(कार्यात्मक, धार्मिक, सामाजिक, नैतिक)

[उत्तर—(1) अनुलोम, (2) व्यवसाय, (3) कार्यात्मक।]

4. निम्नांकित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

1. आरम्भ में समाज का विभाजन केवल दो वर्णों आर्य तथा..........के रूप में था।
2. पुरुष सूक्त के अनुसार, क्षत्रियों की उत्पत्ति.............की भुजाओं से हुई।
3. वर्ण-व्यवस्था में खुलापन है, जबकि जाति एक.............व्यवस्था है।
4. वर्ण उत्पत्ति पर सबसे प्राचीन ग्रन्थ..........है।
5. 'वर्ग का आधार व्यक्ति का...........था।'
6. वर्ण-व्यवस्था का आधारभूत उद्देश्य समाज का............विभाजन करना था।
7. वर्ण-व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाला प्रमुख ग्रन्थ............है।
8. वर्ण का आधार व्यक्ति की.............थी।

[उत्तर—(1) अनार्य, (2) ब्रह्मा, (3) बन्द, (4) ऋग्वेद, (5) कर्म, (6) मनोवैज्ञानिक आधार पर कार्य, (7) ऋग्वेद, (8) वृत्ति।]

5. निम्नांकित में से मूलरूप में वर्ण-व्यवस्था का आधार क्या था :

(अ) जन्म (ब) कर्म (स) रंग (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—(ब) कर्म।]

6. वर्ण का साहित्यिक अर्थ है :

(अ) रंग (ब) वर्ण (स) व्यवसाय (द) जाति

[उत्तर—(अ)]

7. वर्ण-व्यवस्था निम्न में से सम्बन्धित है :

(अ) जन्म से (ब) कर्म से (स) धर्म से (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—(ब)]

8. निम्नांकित के सही जोड़े बनाइए :

(i) ऋग्वेद	(क) वर्ण विभाजन गुणों के आधार पर
(ii) गीता	(ख) शान्ति पर्व
(iii) महाभारत	(ग) ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य
(iv) द्विज	(घ) पुरुष सूक्त
(v) श्वेत रंग	(ङ) शूद्र
(vi) लाल रंग	(च) ब्राह्मण
(vii) पीत रंग	(छ) क्षत्रिय
(viii) कृष्ण रंग	(झ) वैश्य

[उत्तर—(i) घ, (ii) क, (iii) ख, (iv) ग, (v) च, (vi) छ, (vii) झ, (viii) ङ]

9. निम्नांकित में से सत्य/असत्य कथन छांटिए :

1. पुरुष सूक्त का उल्लेख महाभारत में किया गया है।
2. भगवद्गीता कृष्ण ने लिखी थी।
3. सतोगुण का सम्बन्ध ब्राह्मणों से है।
4. क्षत्रियों का सम्बन्ध राजस गुण से है।
5. शान्तिपर्व ऋग्वेद का अंश है।
6. महात्मा गांधी वर्ण को वंशानुक्रम का नियम मानते हैं।

7. तमोगुण वैश्यों की विशेषता है।
8. मनुस्मृति में अध्ययन अध्यापन एवं यज्ञ सभी वर्णों के लिए स्वीकृत माना गया है।
9. प्रजा की रक्षा, दान एवं यज्ञ क्षत्रियों के कर्तव्य माने गए हैं।
10. कृषि, पशु पालन एवं व्यापार वैश्यों का दायित्व था।
11. सभी वर्णों की सेवा शूद्रों का कर्तव्य था।

[उत्तर—सत्य कथन—3, 4, 6, 7, 9, 10, 11; असत्य कथन—1, 2, 5, 8]

अध्याय 4 : आश्रम व्यवस्था

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. आश्रमों के प्रकार एवं उनकी समयावधि बताइए।
2. ब्रह्मचर्य आश्रम का समाजशास्त्रीय महत्व बताइए।
3. एक गृहस्थ के कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए।
4. गृहस्थाश्रम का महत्व बताइए।
5. एक वानप्रस्थी के कर्तव्य बताइए।
6. वानप्रस्थ आश्रम का महत्व बताइए।
7. एक संन्यासी के कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए।
8. संन्यास आश्रम का महत्व बताइए।
9. आश्रमों का समाजशास्त्रीय महत्व क्या है?
10. सर्वाधिक महत्वपूर्ण आश्रम कौन-सा है और क्यों?
11. आधुनिक भारत में आश्रम व्यवस्था का व्यावहारिक महत्व क्या है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. आश्रम व्यवस्था का अर्थ अति-संक्षेप में समझाइए।
2. आश्रमों के प्रकार बताइए।
3. विद्यार्थी की दिनचर्या का उल्लेख कीजिए।
4. आश्रमों में सबसे महत्वपूर्ण आश्रम किसे माना गया है?
5. वानप्रस्थ आश्रम की समय-अवधि बताइए।
6. ऋणों की धारणा से क्या तात्पर्य है?
7. आश्रम-व्यवस्था का कोई एक महत्व बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर-संकेत सहित)

1. निम्नांकित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :
   1. सभी आश्रमों का मूल............आश्रम है।
   2. आश्रमों की संख्या............है।
   3. एक व्यक्ति सर्वप्रथम............आश्रम का सदस्य बनता है।
   4. अन्तिम आश्रम............आश्रम है।
   5. गृहस्थाश्रम में पुरुष की आयु-सीमा............से............तक होती है।
   6. वानप्रस्थ आश्रम का काल............से............वर्ष था।
   7. मोक्ष के लिए............आश्रम में प्रवेश आवश्यक माना गया है।

[उत्तर—(1) गृहस्थ, (2) चार, (3) ब्रह्मचर्य, (4) संन्यास, (5) 25 से 50 वर्ष, (6) 50 से 75 वर्ष, (7) संन्यास।]

2. निम्नलिखित में से कौन-से आश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत आते हैं :

   (i) विधवा आश्रम, (ii) गुरुकुल आश्रम, (iii) संन्यास आश्रम, (iv) मुमुक्ष आश्रम, (v) वानप्रस्थ आश्रम, (vi) अनाथ आश्रम, (vii) योगी आश्रम, (viii) ब्रह्मचर्य आश्रम।

   [उत्तर—(iii), (v), (viii)]

3. निम्नांक्रित परिस्थितियां जिस आश्रम को प्रकट करती हों, उनका नाम बताइए :

   (i) वह आश्रम जिसमें व्यक्ति से इन्द्रियों पर संयम रखने व शारीरिक और बौद्धिक विकास करने की आशा की जाती है।

   (ii) वह आश्रम जिसमें व्यक्ति के जीवित होने पर भी उसका संसार से कोई सम्बन्ध नहीं रहता।

   (iii) वह आश्रम जिसमें व्यक्ति से धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थों को पूरा करने की आशा की जाती है।

   [उत्तर—(i) ब्रह्मचर्य आश्रम, (ii) संन्यास आश्रम, (iii) गृहस्थ आश्रम।]

4. निम्नांकित को सही रूप में व्यवस्थित कीजिए :

   (अ) गृहस्थ आश्रम (ब) संन्यास आश्रम (स) ब्रह्मचर्य आश्रम (द) वानप्रस्थ आश्रम

   [उत्तर—(स), (अ), (द), (ब)]

5. निम्नांकित में से वानप्रस्थ आश्रम की आयु क्या है?

   (अ) 25 वर्ष तक (ब) 25 से 50 वर्ष (स) 50 से 75 वर्ष (द) 75 से 100 वर्ष

   [उत्तर—(स)]

6. आश्रमों की संख्या है :

   (i) (अ) दो, (ब) चार, (स) पांच, (द) इनमें से कोई नहीं

   (ii) (अ) एक, (ब) दो, (स) तीन, (द) चार

   [उत्तर—(i) ब, (ii) द]

7. प्रसिद्ध पुस्तक 'हिन्दू संस्कार' के लेखक का नाम क्या है?

   (अ) घुरिये (ब) कौटिल्य (स) पी. एच. प्रभु (द) डॉ. राजवली पाण्डेय

   [उत्तर—(द)]

8. 'हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइजेशन' के लेखक कौन हैं :

   (अ) स्मिथ हट्टन (ब) पी. एच. प्रभु (स) पी. वी. काणे (द) मनु

   [उत्तर—(ब)]

9. (i) प्रथम आश्रम है :

   (अ) ब्रह्मचर्य (ब) गृहस्थ (स) वानप्रस्थ (द) संन्यास

   (ii) अन्तिम आश्रम है :

   (अ) ब्रह्मचर्य (ब) गृहस्थ (स) वानप्रस्थ (द) संन्यास

   [उत्तर—(i) (द), (ii) (द)]

10. निम्नांकित में से सत्य/असत्य कथन छांटिए :

    1. डॉ. प्रभु के अनुसार आश्रम का अर्थ उस स्थान से है जहां उद्योग या प्रयत्न किया जाता है।
    2. डॉ. प्रभु ने आश्रमों को मोक्ष प्राप्ति के मार्ग में विश्राम स्थल माना है।
    3. आश्रमों की संख्या पांच है।
    4. वानप्रस्थ जीवन का अन्तिम आश्रम है।
    5. आश्रमों का उद्देश्य पुरुषार्थों की पूर्ति करना था।
    6. महाभारत में आश्रमों को विकास की सीढ़ियां माना गया है।

7. हिन्दू जीवन दर्शन में गृहस्थ के लिए पांच यज्ञों की पूर्ति आवश्यक मानी गई है।
8. संन्यास आश्रम की आयु 50 से 75 वर्ष मानी गई है।
9. वायु पुराण में संन्यासी के दस कर्तव्य बताए गए हैं।
10. वानप्रस्थ की आयु 75 से 100 वर्ष मानी गई है।

[उत्तर—सत्य कथन—1, 2, 5, 6, 7, 9; असत्य कथन—3, 4,.8, 10]

11. निम्नांकित के सही जोड़े बनाइए :

(i) ब्रह्मचर्य आश्रम — (अ) 75 से 100 वर्ष
(ii) गृहस्थ आश्रम — (ब) उपनयन संस्कार
(iii) संन्यास आश्रम — (स) वन की ओर प्रस्थान करना
(iv) वानप्रस्थ आश्रम — (द) विवाह संस्कार

[उत्तर—(i) ब, (ii) द, (iii) अ, (iv) स]

अध्याय 5 : पुरुषार्थ

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. पुरुषार्थों के प्रकारों को स्पष्ट कीजिए।
2. धर्म का अर्थ बताइए।
3. 'अर्थ' पुरुषार्थ को स्पष्ट कीजिए।
4. 'काम' पुरुषार्थ का अर्थ बताइए।
5. 'मोक्ष' की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
6. मोक्ष प्राप्ति के साधनों की विवेचना कीजिए।
7. पुरुषार्थ का समाजशास्त्रीय महत्व बताइए।
8. धर्म और अर्थ पुरुषार्थों में सम्बन्ध बताइए।
9. 'काम' और 'धर्म' पुरुषार्थों में सम्बन्ध बताइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. पुरुषार्थ का अर्थ बताइए?
2. पुरुषार्थ के प्रकार कौन-कौन से हैं?
3. 'काम' पुरुषार्थ का क्या तात्पर्य है?
4. 'अर्थ' का तात्पर्य क्या है?
5. पुरुषार्थ का कोई एक समाजशास्त्रीय महत्व बताइए।
6. धर्म का तात्पर्य क्या है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर संकेत सहित)

1. निम्नांकित में से सत्य/असत्य कथन छांटिए :
   1. पुरुषार्थ तीन प्रकार के होते हैं।
   2. जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है।
   3. मोक्ष और निर्वाण एक ही हैं।
   4. काम का तात्पर्य मजदूरी करना है।
   5. धर्म का तात्पर्य मूर्ति पूजा है।
   6. मोक्ष एक व्यक्ति अपने जीते जी प्राप्त नहीं कर सकता है।

[उत्तर—सत्य कथन—2, 3, 6; असत्य कथन—1, 4, 5]

2. निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर हां/नहीं में दीजिए :
   1. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष को पुरुषार्थ कहा जाता है।
   2. हिन्दू धर्मशास्त्रों के अनुसार केवल ब्राह्मण ही मोक्ष का अधिकारी है।
   3. ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को द्विज कहा जाता है।
   4. कर्म, ज्ञान और भक्ति मोक्ष के साधन हैं।
   5. काम पुरुषार्थ की पूर्ति केवल शूद्रों के लिए निर्धारित है।
   6. धर्म का तात्पर्य सभी जीवों के प्रति दया धारण करने से है।

   [उत्तर—हां—(1), (3), (4),.(6) शेष का उत्तर 'नहीं' होगा]

3. नीचे कुछ प्रश्न और उनके उत्तर के विकल्प दिए गए हैं। सही विकल्प का चयन कीजिए :

   (i) निम्नांकित में से कौन-सा पुरुषार्थ नहीं है?
   (अ) धर्म (ब) अर्थ (स) काम (द) योगसाधना

   (ii) निम्नांकित में से मोक्ष प्राप्ति का मार्ग कौन-सा है :
   (अ) ज्ञान मार्ग (ब) भक्ति मार्ग (स) कर्म मार्ग (द) सभी

   (iii) निम्नांकित में से धर्म कौन-सा है :
   (अ) मूर्ति पूजा (ब) गो सेवा
   (स) धर्मशाला बनवाना (द) कर्तव्य पालन

   (iv) मनु ने मानवता के कल्याण के लिए कौन से त्रिवर्ग में समन्वय को आवश्यक बताया है :
   (अ) धर्म, अर्थ, काम (ब) धर्म, अर्थ, मोक्ष
   (स) अर्थ, काम, मोक्ष (द) इनमें से कोई नहीं

   [उत्तर—(i) द, (ii) द, (iii) द, (iv) अ]

4. निम्नांकित प्रश्नों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :

   (i) पुरुषार्थों की संख्या..............है।
   (ii) अपने कर्तव्य का पालन..............है।
   (iii) कर्म, भक्ति और ज्ञान..............प्राप्ति के साधन हैं।
   (iv) प्रभु ने..............को आश्रम व्यवस्था का मनोवैज्ञानिक नैतिक आधार माना है।

   [उत्तर—(i) चार, (ii) धर्म, (iii) मोक्ष, (iv) पुरुषार्थ]

5. निम्नांकित के सही जोड़े बनाइए :

   (i) धर्म (क) ईश्वर की पूजा आराधना
   (ii) अर्थ (ख) निर्वाण
   (iii) काम (ग) निर्धारित कार्यों का पालन
   (iv) मोक्ष (घ) सभी प्राणियों की रक्षा करना
   (v) भक्तिमार्ग (ङ) यौन इच्छा एवं कामनाओं की पूर्ति
   (vi) कर्म मार्ग (च) ईश्वर के अव्यक्त स्वरूप को मन में स्थिर करना
   (vii) ज्ञान मार्ग (छ) भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना

   [उत्तर—(i) घ, (ii) छ, (iii) ङ, (iv) ख, (v) क, (vi) ग, (vii) च]

अध्याय 6 : संस्कार

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. संस्कार का क्या अर्थ है?
2. संस्कारों के उद्देश्य क्या हैं?
3. प्रमुख हिन्दू संस्कार कौन-कौन से हैं?

टिप्पणी लिखिए :

4. गर्भाधान संस्कार
5. पुंसवन संस्कार
6. सीमन्तोन्नयन संस्कार
7. जातकर्म संस्कार
8. नामकरण संस्कार
9. निष्क्रमण संस्कार
10. अन्नप्राशन संस्कार
11. चूड़ाकरण संस्कार
12. कर्णवेध संस्कार
13. विद्यारम्भ संस्कार
14. उपनयन संस्कार
15. समावर्तन संस्कार
16. संस्कारों का समाजशास्त्रीय महत्व
17. संस्कारों की अव्यावहारिकता या ह्रास के कारण

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. संस्कार की कोई एक परिभाषा दीजिए?
2. संस्कारों के कोई दो उद्देश्य वताइए?
3. हिन्दू जीवन में संस्कारों की संख्या कितनी वताई गई है?
4. हिन्दू जीवन के किसी एक संस्कार का अर्थ समझाइए?
5. संस्कार व्यक्तित्व के विकास में कैसे सहायक हैं?
6. संस्कारों से नैतिक गुणों का विकास कैसे होता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर-संकेत सहित)

1. निम्नांकित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :
   1. संस्कारों का एक उद्देश्य व्यक्ति को अशुभ.............के प्रभाव से वचाना है।
   2. शिशु के विधि-विधानपूर्वक प्रथम वार घर से वाहर जाने को.............संस्कार कहते हैं।
   3. लड़के के प्रथम वार केश काटने का सम्वन्ध.............संस्कार से है।
   4. जनेऊ पहनने का सम्वन्ध.............संस्कार से है।
   5. व्रह्मचारी द्वारा अपना अध्ययन समाप्त कर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश से पूर्व............. संस्कार सम्पन्न किया जाता था।
   6. हिन्दू जीवन से सम्वन्धित अन्तिम संस्कार.............संस्कार कहलाता है।

   [उत्तर—(1) शक्तियों, (2) निष्क्रमण, (3) चूड़ाकरण, (4) उपनयन, (5) समावर्तन, (6) अन्त्येष्टि।]
2. निम्नांकित कथनों में से सत्य और असत्य कथन वताइए :
   1. संस्कारों का उद्देश्य पुरुषार्थों को प्राप्त करना है।
   2. भारतीय समाज में आज भी सभी संस्कार सम्पन्न किए जाते हैं।
   3. चूड़ाकरण संस्कार में शिशु के सिर के वाल काटे जाते हैं।
   4. अन्नप्राशन संस्कार का उद्देश्य वच्चे को माता का दूध पीने से अलग करना है।
   5. वच्चा जव पहली वार रेल यात्रा करता है तो उसे निष्क्रमण संस्कार कहते हैं।
   6. कर्ण-वेध संस्कार में वच्चे के नाक और कान का छेदन किया जाता है।
   7. उपनयन संस्कार केवल द्विज वर्ण ही सम्पन्न करता था।
   8. नवजात शिशु को अमंगलकारी शक्तियों के प्रभाव से वचाने के लिए जातकर्म संस्कार सम्पन्न किया जाता है।

   [उत्तर—सत्य कथन—3, 4, 7, 8; असत्य कथन—1, 2, 5, 6]
3. निम्नांकित कथनों का सम्वन्ध जिन संस्कारों से है, उनके नाम लिखिए :
   1. जिस कर्म के द्वारा पुरुष स्त्री में अपना वीज स्थापित करता है।

2. जिस संस्कार में पुत्र सन्तान की कामना की जाती है।
3. जिस संस्कार में गर्भिणी स्त्री के केशों को ऊपर उठाया जाता है।
4. जिस संस्कार में बच्चे का नाम रखा जाता है।
5. जिस संस्कार में बच्चे को अन्न और दूध-भात खिलाया जाता है।
6. जिस संस्कार के बाद व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता है।

[उत्तर—(1) गर्भाधान संस्कार, (2) पुंसवन, (3) सीमन्तोन्नयन, (4) नामकरण, (5) अन्नप्राशन, (6) विवाह संस्कार]

4. निम्नांकित में से किस संस्कार का सम्बन्ध शिक्षा से है :

(i) उपनयन (ii) समावर्तन (iii) निष्क्रमण (iv) नामकरण

[उत्तर—(i)]

5. चार महत्वपूर्ण संस्कारों के नाम लिखिए।

[उत्तर—उपनयन, चूड़ाकरण, विवाह, अन्त्येष्टि]

6. निम्नांकित के सही जोड़े बनाइए :

(i) पुंसवन	(क) गर्भिणी स्त्री के केशों को ऊपर उठाना
(ii) उपनयन	(ख) शिशु को प्रथम बार घर के बाहर ले जाना
(iii) चूड़ाकरण	(ग) शिशु जन्म के ठीक पश्चात् पिता द्वारा शिशु को शहद और घी चटाना
(iv) सीमन्तोन्नयन	(घ) गुरुकुल से घर की ओर लौटना
(v) निष्क्रमण	(च) पुत्र को जन्म देना
(vi) समावर्तन	(छ) जनेऊ संस्कार
(vii) अन्नप्राशन	(ङ) शिशु को पहली बार भोजन कराना
(viii) जातकर्म	(ढ) केश, नाखून एवं रमश्रु को काटना

[उत्तर—(i) च, (ii) छ, (iii) ढ, (iv) क, (v) ख, (vi) घ, (vii) ङ, (viii) ग]

अध्याय 7 : विवाह

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. विवाह का अर्थ बताइए।
2. विवाह की कोई पांच विशेषताएं बताइए।
3. विवाह के उद्देश्य क्या हैं?
4. विवाह के प्रकार बताइए।
5. बहुपति विवाह से क्या तात्पर्य है?
6. बहुपति विवाह के गुण बताइए।
7. बहुपति विवाह के दोष बताइए।
8. बहुपत्नी विवाह से क्या तात्पर्य है?
9. बहुपत्नी विवाह के कारण बताइए।
10. समूह विवाह को स्पष्ट कीजिए।
11. हिन्दू विवाह का अर्थ बताइए।
12. हिन्दू विवाह के प्रकार बताइए।
13. अनुलोम तथा प्रतिलोम विवाह में अन्तर कीजिए।
14. "हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है।" स्पष्ट कीजिए।

15. वहिर्विवाह को समझाइए।
16. हिन्दू विवाह के स्वरूप बताइए।
17. हिन्दू विवाह में होने वाले परिवर्तन के कारण बताइए।
18. हिन्दू विवाह में वर्तमान में कौन-कौन से परिवर्तन आए हैं?
19. गान्धर्व विवाह किसे कहते हैं?
20. आर्य विवाह क्या है?
21. राक्षस विवाह किसे कहते हैं?
22. हिन्दू विवाह के निषेध कौन-कौन से हैं?
23. अन्तर्विवाह के कारण बताइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. विवाह का शाब्दिक अर्थ समझाइए।
2. विवाह की कोई दो विशेषताएं बताइए।
3. विवाह का कोई एक उद्देश्य स्पष्ट कीजिए।
4. हिन्दू विवाह को एक धार्मिक संस्कार क्यों माना जाता है?
5. ब्राह्म विवाह क्या है?
6. अन्तर्विवाह का अर्थ समझाइए।
7. भ्रातृक बहुपति विवाह क्या है?
8. अभ्रातृक बहुपति विवाह का अर्थ बताइए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर-संकेत सहित)

1. निम्नांकित में से सत्य/असत्य कथन छांटिए :
   1. समूह विवाह में एक व्यक्ति लड़कियों के एक समूह से विवाह करता है।
   2. द्विपत्नी विवाह में एक व्यक्ति पहली पत्नी की मृत्यु या तलाक के बाद दूसरी स्त्री से विवाह करता है।
   3. एकाधिक स्त्रियों से विवाह करना बहुपत्नीत्व कहलाता है।
   4. दो या दो से अधिक भाई किसी एक स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे भ्रातृक बहुपति विवाह कहते हैं।
   5. बहुविवाह का कारण लिंग असमानता है।
   6. लूसी मेयर एक विवाह को विवाह का आदि स्वरूप मानते हैं।

   [उत्तर—सत्य कथन—3, 4, 5; असत्य कथन—1, 2, 6]

1. निम्नांकित कथनों में सत्य/असत्य कथनों को चुनिए :
   1. हिन्दू विवाह एक धार्मिक संस्कार है।
   2. डॉ. कापड़िया के अनुसार हिन्दू विवाह का उद्देश्य "धर्म, प्रजा तथा रति" है।
   3. हिन्दू विवाह का आधार आर्थिक है।
   4. बहुविवाह का तात्पर्य बहुपति विवाह है।
   5. अभ्रातृक बहुपति विवाह प्रथा हिन्दुओं में पाई जाती है।
   6. असुर विवाह में लड़की के परिवार वालों तथा लड़कों को धन या रकम दी जाती है।
   7. युद्ध में अपहरण करके लड़की के साथ विवाह करना ही राक्षस विवाह है।

8. अन्तर्विवाह का तात्पर्य है कि एक व्यक्ति अपने जीवन-साथी का चुनाव अपने समूह के वाहर किसी अन्य समूह से करे।

[उत्तर—सत्य कथन—1, 2, 6, 7; असत्य कथन—3, 4, 5, 8]

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :
   1. हिन्दू विवाह एक..........संस्कार है।
   2. डॉ. कापड़िया के अनुसार हिन्दू विवाह का उद्देश्य "धर्म, प्रजा तथा..........है।"
   3. जब एक उच्च समूह का लड़का अपने से निम्न समूह की लड़की से विवाह करता है तो उसे..........कहते हैं।
   4. हिन्दुओं में विवाह के..........परम्परागत स्वरूप माने गए हैं।
   5. कन्या-मूल्य देकर सम्पन्न किए जाने वाले विवाह को..........कहते हैं।
   6. ....विवाह में विवाह का इच्छुक वर कन्या के पिता को एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोड़े प्रदान करके विवाह करता है।
   7. एक व्यक्ति अपने जीवन-साथी का चुनाव अपने ही समूह में से करे तो उसे..........कहते हैं।
   8. एक व्यक्ति जिस समूह का सदस्य है, उससे वाहर विवाह करे तो उसे..........कहते हैं।

[उत्तर—1. धार्मिक, 2. रति, 3. अनुलोम, 4. आठ, 5. असुर विवाह, 6. आर्ष, 7. अन्तर्विवाह, 8. वर्हिविवाह]

4. निम्नांकित के सही जोड़े वनाइए :

(i) एक विवाह	(अ) एस्कीमो
(ii) वहुपति विवाह	(ब) पुरुषों के एक समूह का स्त्रियों के एक समूह से विवाह
(iii) द्वि-पत्नी विवाह	(स) खस
(iv) समूह विवाह	(द) एक समय में एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है।

[उत्तर—(i) द, (ii) स, (iii) अ, (iv) ब]

5. निम्नांकित पुस्तकों के लेखकों के नाम वताइए :
   1. मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया
   2. द पोजीशन ऑन वूमेन इन हिन्दू सिविलीजेशन
   3. हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र
   4. रेसेज एण्ड कल्चर्स ऑफ इण्डिया

[उत्तर—1. के. एम. कापड़िया, 2. ए. एस. अल्टेकर, 3. पी. वी. काणे, 4. डी. एन. मजूमदार]

4. निम्नलिखित प्रत्येक प्रश्न के चार वैकल्पिक उत्तर प्रश्न के नीचे दिए गए हैं। इन चारों में से केवल एक ही सही उत्तर है। जिस उत्तर को आप सही या सबसे उचित समझते हैं, उसे चुनिए :
   1. "विवाह की परिभाषा यह है कि वह स्त्री-पुरुष का ऐसा योग है, जिसमें स्त्री से जन्मा वच्चा माता-पिता की वैध सन्तान माना जाए।" विवाह की यह परिभाषा निम्नांकित में से किस विद्वान की है :
      (अ) लूसी मेयर (ब) बर्नार्ड (स) मैकाइवर (द) स्पेन्सर
   2. "जिन साधनों द्वारा मानव समाज यौन सम्बन्धों का नियमन करता है, उन्हें विवाह की संज्ञा दी जा सकती है।" यह परिभाषा दी है :
      (अ) मैकाइवर एवं पेज ने (ब) जॉनसन ने
      (स) डब्ल्यू. एच. आर. रिवर्स ने (द) हॉबल ने

3. "विवाह स्त्री और पुरुष के पारिवारिक जीवन में प्रवेश की संस्था है।" विवाह की यह परिभाषा दी है :
   (अ) डेविस ने (ब) वोगार्डस ने (स) हॉवल ने (द) रिवर्स ने
4. एक समय में एक पुरुष एक स्त्री से विवाह करता है तो ऐसे विवाह को कहते हैं :
   (अ) अनुलोम विवाह (ब) एक विवाह
   (स) बहुपति विवाह (द) अन्तर्विवाह
5. एक समय में एक पुरुष एकाधिक स्त्रियों से विवाह करता है तो ऐसे विवाह को कहते हैं :
   (अ) समूह विवाह (ब) द्वि-विवाह
   (स) बहुपत्नी विवाह (द) साली विवाह
6. जब सब भाई मिलकर एक स्त्री से विवाह करते हैं तो उसे कहते हैं :
   (अ) भ्रातृक बहुपति विवाह (ब) बहुपति विवाह
   (स) देवर विवाह (द) समूह विवाह
7. जब एक स्त्री के एक समय में एक से अधिक पति होते हैं तो उसे कहते हैं :
   (अ) बहुविवाह (ब) समूह विवाह (स) अन्तर्विवाह (द) बहुपति विवाह
8. "एक विवाह ही विवाह का सच्चा स्वरूप है, रहा था और रहेगा।" यह कथन निम्नांकित में से किस विद्वान का है :
   (अ) मॉर्गन (ब) मैकाइवर (स) डेविस (द) मैलिनोवस्की
9. निम्नांकित में से किस जनजाति में भ्रातृक बहुपति प्रथा पाई जाती है :
   (अ) टोडा (ब) भील (स) कूकी (द) नागा
10. पुरुषों का एक समूह स्त्रियों के एक समूह से विवाह करता है और समूह का प्रत्येक पुरुष समूह की प्रत्येक स्त्री का पति होता है तो ऐसे विवाह को कहते हैं :
   (अ) बहुविवाह (ब) समूह विवाह
   (स) द्वि-पत्नी विवाह (द) अन्तर्विवाह

[उत्तर—1. (अ), 2. (स), 3. (ब), 4. (ब), 5. (स), 6. (अ), 7. (द), 8. (द), 9. (अ), 10. (ब)]

7. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :
   1. समूह विवाह में पुरुषों एक समूह..........के एक समूह से विवाह करता है।
   2. विवाह एक मौलिक और..........सामाजिक संस्था है।
   3. विवाह दो..........का सम्बन्ध है।
   4. विवाह...........व्यक्ति की सामाजिक स्थिति के निर्धारण में योग देती है।
   5. ....विवाह में एक स्त्री का एकाधिक पुरुषों से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित होता है।
   6. एक व्यक्ति अपने जीवन-साथी का चुनाव अपने ही समूह में करता है तो उसे..........कहते हैं।

[उत्तर—1. स्त्रियों, 2. सार्वभौमिक, 3. विषमलिंगियों, 4. संस्था, 5. बहुपति, 6. अन्तर्विवाह]

8. नीचे कुछ प्रश्न और उनके उत्तर के विकल्प दिए गए हैं। सही विकल्प का चयन कीजिए :
   1. "बहिर्विवाह से बोध होता है उस विनिमय का जिसमें एक सामाजिक समूह के सदस्य के लिए यह अनिवार्य होता है कि वह दूसरे सामाजिक समूह से अपना जीवन-साथी ढूंढे।" यह परिभाषा दी है :
   (अ) रिवर्स ने (ब) दुबे ने (स) कापड़िया ने (द) मॉर्गन ने

2. 'प्रवर' का अर्थ है :
(अ) गोत्र (ब) दूसरा वर (स) श्रेष्ठ ब्राह्मण (द) आह्वान करना
3. सपिण्डी का तात्पर्य है :
(अ) जौ, तिल या आटे से बना गोला
(ब) वे व्यक्ति जो मृत व्यक्ति को पिण्ड दान करते हैं
(स) पिण्डलियां
(द) इन तीनों में से एक भी नहीं
4. 'अन्तर्विवाह को रूढ़िवादी और वहिर्विवाह को प्रगतिवादी' बताने वाले विद्वान हैं :
(अ) मैकाइवर एवं पेज (ब) गिलिन एवं गिलिन
(स) समनर एवं केलर (द) इनमें से कोई नहीं
5. जब एक उच्च समूह का लड़का अपने से निम्न समूह की लड़की से विवाह करता है तो उसे कहते हैं :
(अ) बहिर्विवाह (ब) प्रतिलोम विवाह (स) अनुलोम विवाह (द) अन्तर्विवाह
6. एक निम्न समूह के लड़के का उच्च समूह की लड़की से विवाह को कहते हैं :
(अ) प्रतिलोम विवाह (ब) अनुलोम विवाह
(स) गोत्र बहिर्विवाह (द) प्रवर बहिर्विवाह
7. हिन्दुओं में विवाह को माना जाता है :
(अ) धार्मिक संस्कार (ब) सामाजिक समझौता
(स) कानूनी बन्धन (द) इनमें से कोई भी नहीं
8. हिन्दुओं में विवाह के कितने परम्परागत स्वरूप माने गए हैं :
(अ) 16 (ब) 12 (स) 8 (द) 5
9. निम्न में से कौन-सा हिन्दू विवाह का उद्देश्य नहीं है :
(अ) धर्म (ब) प्रजा (स) अर्थोपार्जन (द) रति आनन्द
10. "वेदों के ज्ञाता शीलवान वर को स्वयं बुलाकर, वस्त्र एवं आभूषण, आदि से सुसज्जित कर पूजा एवं धार्मिक विधि से कन्या का दान करने को कहते हैं :
(अ) आर्ष विवाह (ब) दैव विवाह
(स) ब्राह्म विवाह (द) प्रजापत्य विवाह
11. एक गाय और एक बैल अथवा इनके दो जोड़े वर द्वारा कन्या के पिता को देकर विवाह करने को कहते हैं :
(अ) असुर विवाह (ब) गान्धर्व विवाह
(स) आर्ष विवाह (द) प्रजापत्य विवाह
12. कन्या-मूल्य देकर सम्पन्न किए जाने वाले विवाह को कहते हैं :
(अ) गान्धर्व विवाह (ब) असुर विवाह
(स) ब्राह्म विवाह (द) इनमें से कोई भी नहीं
13. हिन्दू विवाह अधिनियम पारित हुआ सन् :
(अ) 1954 में (ब) 1955 में (स) 1956 में (द) 1829 में

[उत्तर—1. (अ), 2. (द), 3. (ब), 4. (स), 5. (स), 6. (अ), 7. (अ), 8. (स), 9. (स), 10. (स), 11. (स), 12. (ब), 13. (ब)]

अध्याय 8 : परिवार

लघु उत्तरात्मक प्रश्न

1. मैकाइवर एवं पेज द्वारा वर्णित परिवार की सार्वभौमिक विशेषताएं क्या हैं?
2. परिवार की विशिष्ट विशेषताएं बताइए।
3. केन्द्रीय (नाभिक) परिवार किसे कहते हैं?
4. नाभिक एवं संयुक्त परिवार में अन्तर बताइए।
5. विस्तृत परिवार का क्या अर्थ है?
6. निवास के आधार पर परिवार के प्रकार बताइए।
7. पितृसत्तात्मक परिवार को स्पष्ट कीजिए।
8. मातृसत्तात्मक परिवार किसे कहते हैं?
9. विवाह के आधार पर परिवार के प्रकार बताइए।
10. परिवार के शारीरिक एवं प्राणिशास्त्रीय कार्य बताइए।
11. परिवार के आर्थिक कार्य क्या हैं?
12. परिवार के धार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक कार्य बताइए।
13. परिवार में होने वाले परिवर्तन कौन-कौन से हैं?
14. संयुक्त परिवार की विशेषताएं बताइए।
15. संयुक्त परिवार के प्रकार बताइए।
16. मिताक्षरा संयुक्त परिवार किसे कहते हैं?
17. दायभाग संयुक्त परिवार किसे कहते हैं?
18. संयुक्त परिवार के गुण (महत्व) बताइए।
19. संयुक्त परिवार के दोष बताइए।
20. संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तनों का उल्लेख कीजिए।
21. संयुक्त परिवार में परिवर्तन लाने वाले कारक कौन-कौन से हैं?
22. भारत में संयुक्त परिवार का भविष्य क्या है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. परिवार का अर्थ बताइए
2. परिवार की कोई एक परिभाषा दीजिए।
3. परिवार की सामान्य विशेषताओं के नाम बताइए।
4. संयुक्त परिवार की कोई एक परिभाषा दीजिए।
5. नाभिक केन्द्रीय परिवार का अर्थ दो वाक्यों में समझाइए।
6. प्रजनन-मूलक परिवार किसे कहते हैं?
7. संयुक्त परिवार में परिवर्तन लाने वाला कोई एक कारक बताइए।
8. जन्म-मूलक परिवार किसे कहते हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर-संकेत सहित)

1. नीचे कुछ प्रश्न और उनके उत्तर के विकल्प दिए गए हैं, सही विकल्प का चयन कीजिए।
   (i) "परिवार ही एक ऐसा समूह है जिसे मनुष्य पशु अवस्था से अपने साथ लाया है।" यह कथन किस विद्वान का है :
   (अ) मरडॉक का (ब) ब्रिफाल्ट का (स) टायलर का (द) मैलिनोवस्की का

(ii) 'Family' शब्द का उद्गम 'Famulus' शब्द से हुआ है। Famulus शब्द किस भाषा का है :
(अ) हिब्रू (ब) अमेरिकन (स) लैटिन (द) अंग्रेजी

(iii) "परिवार पर्याप्त निश्चित यौन सम्बन्ध द्वारा परिभाषित एक ऐसा समूह है जो बच्चों के जनन एवं लालन-पालन की व्यवस्था करता है।" यह परिभाषा दी है :
(अ) डॉ. दुबे ने (ब) मैकाइवर एवं पेज ने
(स) टायलर ने (द) मरडॉक ने

(iv) "परिवार में स्त्री और पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है। उनमें से कम-से-कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृति रहती है और उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करते हैं।" यह परिभाषा निम्नांकित में से किस विद्वान की है :
(अ) लूसी मेयर (ब) डॉ. रिवर्स (स) डॉ. दुबे (द) मजूमदार

(v) "परिवार एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके लक्षण सामान्य निवास, आर्थिक सहयोग और जनन हैं। इसमें दोनों लिंगों के बालिग शामिल हैं जिनमें कम-से-कम दो व्यक्तियों द्वारा स्वीकृत यौन सम्बन्ध होता है। जिन बालिग व्यक्तियों में यौन सम्बन्ध है, उनके अपने या गोद लिए हुए एक या अधिक बच्चे होते हैं।" यह परिभाषा है :
(अ) रिवर्स की (ब) मरडॉक की (स) टायलर की (द) मॉर्गन की

(vi) "परिवार एक गृहस्थ समूह है जिसमें माता-पिता और सन्तान साथ-साथ रहते हैं। इसके मूल रूप में दम्पति और उसकी सन्तान रहती है।" निम्नांकित में से यह परिभाषा किस विद्वान ने दी है :
(अ) मैकाइवर एवं पेज (ब) के. डेविस
(स) बोगार्डस (द) लूसी मेयर

(vii) परिवार की 5 सामान्य और 8 विशिष्टताओं का उल्लेख किस समाजशास्त्री ने किया :
(अ) मैकाइवर एवं पेज ने (ब) गिलिन एवं गिलिन ने
(स) मजूमदार एवं मदान ने (द) डॉ. दुबे ने

(viii) पति-पत्नी और उनके आश्रित बच्चों से मिलकर बने परिवार को कहते हैं :
(अ) पितृवंशीय परिवार (ब) केन्द्रीय या नाभिक परिवार
(स) समरक्त परिवार (द) संयुक्त परिवार

(ix) जिस परिवार में तीन या अधिक पीढ़ियों के सदस्य साथ-साथ निवास करते हैं, जिनकी रसोई, पूजा-पाठ एवं सम्पत्ति सामूहिक होती है और जो सामान्य रक्त सम्बन्धों से सम्बन्धित होते हैं, ऐसे परिवार को कहते हैं :
(अ) विस्तृत परिवार (ब) पितृसत्तात्मक परिवार
(स) संयुक्त परिवार (द) जन्ममूलक परिवार

(x) जिसमें विवाह के बाद स्त्री को अपने पति एवं उसके माता-पिता के घर जाकर रहना आवश्यक हो उसे कहते हैं :
(अ) मातृसत्तात्मक परिवार (ब) पितृस्थानीय परिवार
(स) केन्द्रीय परिवार (द) एक विवाही परिवार

(xi) विवाह के बाद पति जब पत्नी के माता-पिता के निवास-स्थान पर रहने लगता है तो उसे कहते हैं :
(अ) मातृस्थानीय परिवार (ब) पत्नी स्थानीय परिवार
(स) द्वि-स्थानीय परिवार (द) मातृवंशीय परिवार

(xii) जिस परिवार में सत्ता एवं अधिकार पिता से पुत्रों को मिलता है ऐसे परिवार को कहते हैं :
(अ) पितृसत्तात्मक परिवार (ब) पितृवंशीय परिवार
(स) पतिसत्तात्मक परिवार (द) इनमें से कोई भी नहीं

(xiii) जिस परिवार में सत्ता एवं अधिकार माता से पुत्रियों को मिलता है, उसे कहते हैं :
(अ) पत्नी सत्तात्मक परिवार (ब) मातृसत्तात्मक परिवार
(स) पितृवंशीय परिवार (द) मामा स्थानीय परिवार

(xiv) जिस परिवार में वंश परम्परा पिता के नाम से चलती है, उसे कहते हैं :
(अ) पितृमार्गी परिवार (ब) पितृवंशीय परिवार
(स) पितृस्थानीय परिवार (द) पितृसत्तात्मक परिवार

(xv) जिस परिवार में वंश परम्परा मां के नाम से चलती है, उसे कहते हैं :
(अ) मातृसत्तात्मक परिवार (ब) मातृस्थानीय परिवार
(स) मातृवंशीय परिवार (द) मातृमार्गी परिवार

(xvi) जिस परिवार में एक व्यक्ति एक ही समय में अपने दादा और नानी से सम्बद्ध रहता है, उसे कहते हैं :
(अ) उभयवाही परिवार (ब) द्वि-नामी परिवार
(स) पितृ-मातृमार्गी परिवार (द) द्वि-स्थानीय परिवार

[उत्तर—(i) द, (ii) स, (iii) ब, (iv) स, (v) ब, (vi) द, (vii) अ, (viii) ब, (ix) स, (x) ब, (xi) अ, (xii) अ, (xiii) ब, (xiv) ब, (xv) स, (xvi) ब]

2. निम्नांकित वाक्यों में रिक्त स्थानों की पूर्ति कोष्ठक में दिए गए शब्दों में से कीजिए :

(अ) मिताक्षरा टीका...........ने लिखी। (विज्ञानेश्वर/जीमूतवाहन)

(ब) दायभाग ग्रन्थ के रचयिता हैं..........। (हरिदत्त वेदालंकार/जीमूतवाहन)

(स) जिस परिवार में पुत्र को जन्म से ही पिता की सम्पत्ति में अधिकार प्राप्त होता है उसे कहते हैं...........परिवार। (संयुक्त/मिताक्षरा)

(द) जिस परिवार में पिता की मृत्यु के बाद ही पुत्र का पिता की सम्पत्ति पर अधिकार होता है, उसे कहते हैं..........परिवार। (दायभाग/मिताक्षरा)

[उत्तर—(अ) विज्ञानेश्वर, (ब) जीमूतवाहन, (स) मिताक्षरा, (द) दायभाग।]

3. नीचे कुछ पुस्तकें और लेखकों के नाम के विकल्प दिए गए हैं। सही विकल्प का चयन कीजिए :

1. 'हिन्दू लॉ एण्ड कस्टम' नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं?
(अ) जे. डी. मेन (ब) हेनरीमेन
(स) एफ. डी. मुल्ला (द) डॉ. दुबे

2. 'सम आसपेक्ट्स ऑफ फैमिली इन महुवा' नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं?
(अ) केतकर (ब) नर्मदेश्वर प्रसाद
(स) आई. पी. देसाई (द) के. एम. कापड़िया

3. 'हिन्दू सोसाइटी एट क्रास रोड' नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं?
(अ) के. एम. पणिकर (ब) सर जदुनाथ सरकार
(स) डॉ. घुरिए (द) बी. कुप्पुस्वामी

4. 'मैरिज एण्ड फैमिली इन इण्डिया' नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं?
(अ) मजूमदार (ब) डॉ. दुबे
(स) पणिकर (द) के. एम. कापड़िया

5. 'हिन्दू सोशल ऑर्गेनाइजेशन' नामक पुस्तक के लेखक कौन हैं?

(अ) पी. एच. प्रभु (ब) के. एम. कापड़िया

(स) एम. एन. श्रीनिवास (द) हेनरीमेन

[उत्तर—1. (अ) 2. (स) 3. (अ) 4. (द) 5. (अ)]

4. निम्नांकित में से सत्य/असत्य कथन छांटिए :

1. परिवार एक सार्वभौम संस्था है।
2. परिवार एक संस्था और समिति दोनों ही है।
3. संयुक्त परिवार केवल भारत में ही पाए जाते हैं।
4. खस जनजाति मातृसत्तात्मक परिवार व्यवस्था को मानती है।
5. बंगाल और असम में दायभाग संयुक्त परिवार पाए जाते हैं।
6. हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम 1956 में पारित हुआ।
7. जिस परिवार में व्यक्ति जन्म लेता है उसे विवाह मूलक परिवार कहते हैं।
8. बहुपति विवाही परिवार भीलों में पाए जाते हैं।

[उत्तर—सत्य कथन—1, 2, 5, 6; असत्य कथन—3, 4, 7, 8]

5. निम्नांकित में से संयुक्त परिवार को विघटित करने वाले कारक कौन से हैं?

1. औद्योगीकरण, 2. जनसंख्या में वृद्धि,
3. सामाजिक समस्याएं, 4. श्रमिकों की अदक्षता,
5. महिला आन्दोलन, 6. गोपनीय स्थान का अभाव,
7. बाल-विवाह अधिनियम, 8. पश्चिमी शिक्षा।

[उत्तर—1, 2, 5, 7]

6. निम्नांकित में से संयुक्त परिवार में होने वाले परिवर्तन छांटिए?

1. स्त्रियों की दुर्दशा, 2. कर्ता की सत्ता में ह्रास,
3. अधिक सन्तानोत्पत्ति, 4. स्त्रियों की शक्ति में वृद्धि,
5. गतिशीलता में बाधक, 6. आकार में परिवर्तन,
7. व्यक्तित्व के विकास में बाधक, 8. सामूहिकता के तत्वों में कमी।

[उत्तर—2, 4, 6, 8]

अध्याय 9 : आधुनिक विचारक : श्री अरबिन्द घोष

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. श्री अरबिन्द का जीवन-चित्रण कीजिए।
2. श्री अरविन्द के दर्शन में अध्यात्मवाद व भौतिकवाद का समन्वय किस प्रकार पाया जाता है?
3. श्री अरबिन्द के इतिहास एवं संस्कृति सम्बन्धी विचार संक्षेप में बताइए।
4. श्री अरबिन्द की मानव चक्र की अवधारणा संक्षेप में समझाइए।
5. श्री अरबिन्द के राष्ट्रवाद सम्बन्धी विचार बताइए।
6. श्री अरबिन्द की अतिमानव की अवधारणा क्या है?
7. श्री अरविन्द के राजनीतिक विचार बताइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(नोट : निम्नांकित प्रश्नों का उत्तर 20 शब्दों में दीजिए)

1. रोमा रोलां के श्री अरविन्द के सम्बन्ध में क्या विचार थे ?
2. श्री अरबिन्द की किन्हीं दो प्रमुख पुस्तकों के नाम बताइए।

3. श्री अरबिन्द ने अध्यात्मवाद और भौतिकवाद के समन्वय को किस प्रकार दर्शाया है?
4. श्री अरबिन्द के चिन्तन में वेदान्तिक चिन्तन किस प्रकार झलकता है?
5. श्री अरविन्द के अनुसार मानव विकास के प्रमुख स्तर कौन-कौन से हैं?
6. श्री अरविन्द की दृष्टि में राष्ट्रवाद का क्या अर्थ है?
7. श्री अरविन्द के अनुसार मानव अतिमानव में प्रवेश कैसे करेगा?
8. पूंजीवाद के विषय में श्री अरविन्द के क्या विचार थे ?
9. निष्क्रिय प्रतिरोध से सम्बन्धित कोई दो प्रमुख बातें बताइए।
10. श्री अरविन्द ने संस्कृति को किससे निर्मित माना है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सत्य/असत्य कथन पहचानिए—

1. दिलीप कुमार राय अरबिन्द घोष को 'भारत का महानत् जीवित योगी' मानते थे।
2. श्री हरिदास चौधरी के अनुसार श्री अरविन्द वास्तव में एक आश्चर्यजनक रूप से सृजनशील व्यक्ति हैं जिनकी अतीत में एक गहरी अन्तर्दृष्टि है।
3. अरविन्द घोष का जन्म 20 अप्रैल, 1873 को पश्चिम बंगाल के एक धनी परिवार में हुआ था।
4. अरविन्द घोष का देहान्त 5 दिसम्वर, 1950 को हुआ था।

[उत्तर—सत्य कथन—1, 2, 4; असत्य कथन—3]

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

1. ....ने श्री अरबिन्द को हमारे युग का पैगम्बर माना है।
2. रोमा रोलां ने अरविन्द घोष को '........' तथा 'एशिया एवं यूरोप की प्रतिभा का समन्वय' कहा है।
3. श्री अरविन्द घोष ने मानव के सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास को........युगों में वांटकर समझाया।
4. प्रतीकात्मक युग का सम्बन्ध भारतीय इतिहास के वैदिककालीन समाज से है जिसे........को प्रमुखता दी गयी।
5. श्री अरविन्द........व्यवस्था के आलोचक रहे हैं।
6. श्री अरविन्द आवश्यकतानुसार........के प्रयोग के समर्थक हैं।

[उत्तर—(1) फ्रेडरिक स्वजलवर्ग (2) भारतीय दार्शनिकी का सम्राट (3) चार (4) धर्म (5) पूंजीवादी (6) हिंसा]

3. सही जोड़े बनाइये—

1. द आइडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी — (अ) वी.पी. वर्मा
2. मॉर्डर्न इण्डियन पॉलिटिकल थॉट — (व) द ह्यूमन साइकल
3. श्री अरबिन्द घोष — (स) श्री अरविन्द

[उत्तर—(1) (स) (2) (अ) (3) (व)]

4. *Essay on Geeta* के लेखक हैं :

(अ) महात्मा गांधी (ब) ज्योतिबा फूले (स) श्री अरविन्द (द) इन्दिरा गांधी

[उत्तर—(स)]

5. *The Synthesis of Yoga* के लेखक हैं :
   (अ) अरविन्द घोष (ब) डॉ अम्बेडकर
   (स) सुषमा स्वराज (द) अटल विहारी वाजपेयी
   [उत्तर—(अ)]
6. श्री अरविन्द को 'हमारे युग का पैगम्बर' किसने माना है?
   (अ) डॉ. फ्रेडरिक (ब) रोमा रोलां
   (स) दिलीप कुमार राय (द) डॉ. हरिदास चौधरी
   [उत्तर—(अ)]
7. प्रतीकात्मक युग के बाद कौन-सा युग प्रारम्भ होता है?
   (अ) परम्परावद्ध युग (ब) व्यक्तिवादी युग
   (स) प्रकारात्मक युग (द) इनमें से कोई नहीं
   [उत्तर—(स)]
8. किस युग में सामाजिक जीवन पूर्णतः व्यवस्थित हो गया?
   (अ) परम्परावद्ध युग (ब) व्यक्तिवादी युग
   (स) प्रतीकात्मक युग (द) प्रकारात्मक युग
   [उत्तर—(अ)]

अध्याय 10 : महात्मा गांधी

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. महात्मा गांधी का जीवन-परिचय संक्षेप में दीजिए।
2. गांधीज़ी के दर्शन की पृष्ठभूमि समझाइए।
3. साध्य एवं साधन में एकता के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार बताइए।
4. गांधीजी के आदर्श समाज (रामराज्य) की रूपरेखा प्रस्तुत कीजिए।
5. अस्पृश्यता के सम्बन्ध में गांधीजी के विचार बताइए।
6. गांधीजी के ट्रस्टीशिप सिद्धान्त की मुख्य विशेषताएं बताइए।
7. अहिंसा से गांधीजी का क्या तात्पर्य था?
8. सत्याग्रह का अर्थ समझाइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. 1942 में गांधीजी ने कौन-सा आन्दोलन चलाया?
2. गांधीजी के जीवन को प्रभावित करने में किन पुस्तकों की प्रमुख भूमिका रही?
3. अहिंसा का क्या अर्थ है?
4. सत्याग्रह का अर्थ समझाइए।
5. औद्योगीकरण के सम्बन्ध में गांधीजी के क्या विचार थे?
6. गांधीजी के आदर्श समाज की कोई दो प्रमुख विशेषताएं बताइए।
7. न्यासिता के सम्बन्ध में गांधीजी की क्या मान्यता है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सत्य/असत्य कथन पहचानिए —
   1. भारत का 'राष्ट्रपिता' महात्मा गांधी को कहा जाता है।
   2. 1920 से 1947 तक का समय (काल) 'गांधीयुग' कहा जाता है।
   3. गांधी ने लिखा, "मेरा सुझाव राजनीति की ओर नहीं धर्म की ओर है।"

4. गांधीजी का जन्म 2 अक्टूबर, 1869 में काठियावाड़ के पोरबन्दर नामक स्थान पर हुआ था।
5. सन् 1940 में गांधीजी ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध सविनय अवज्ञा आन्दोलन चलाया।

[उत्तर—सत्य कथन—1, 2, 4; असत्य कथन—3, 5]

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—
   1. ....में ब्रिटिश सरकार द्वारा रौलेट ऐक्ट पास किया गया।
   2. अप्रैल, 1919 में........हत्याकाण्ड हुआ।
   3. 4 मार्च, 1922 को........काण्ड हुआ।
   4. सन् 1942 में गांधीजी ने 'भारत छोड़ो आन्दोलन चलाया जिसमें '........' का नारा दिया।
   5. ....नामक युवक ने गोली मारकर गांधीजी की हत्या की।

[उत्तर—(1) 1918 (2) जलियांवाला वाग (3) चौरी-चौरा (4) करो या मरो (5) नाथूराम गोडसे]

3. "आगे आने वाली पीढ़ियां शायद ही यह विश्वास कर सकेंगी कि उन जैसे हाड़-मांस का पुतला कभी इस भूमि पर पैदा हुआ था।" यह कथन किसका है?
(अ) आइन्स्टीन (ब) स्टेन्ले जोन्स (स) गांधीजी (द) नाथूराम गोडसे
[उत्तर— (अ)]

4. यह कथन किसका है, "हत्यारे ने महात्मा गांधी की हत्या करके उन्हें अमर बना दिया। मृत्यु से वे अपने जीवन की अपेक्षा अधिक वलशाली हो गए।"
(अ) स्टेन्ले जोन्स (ब) पोलक (स) अरुण्डेल (द) इनमें से कोई नहीं
[उत्तर—(अ)]

5. यह किसने कहा था, "मैंने राजनीति का चोंगा पहन रखा है, किन्तु हृदय से एक धार्मिक पुरुष हूं।"
(अ) पोलक (ब) अरुण्डेल (स) गांधीजी (द) इनमें से कोई नहीं।
[उत्तर—(अ)]

6. दक्षिण अफ्रीका की सरकार के अन्यायों के विरुद्ध लड़ने के लिए गांधीजी ने किस संगठन का गठन किया?
(अ) नेपाल भारतीय कांग्रेस (ब) यूथ कांग्रेस
(स) हरिजन सेवक संघ (द) इनमें से कोई नहीं।
[उत्तर—(अ)]

7. 'हिन्द स्वराज' तथा 'मेरे सत्य के प्रयोग' के लेखक कौन हैं?
(अ) महात्मा गांधी (ब) सुभाष चन्द्र वोस
(स) जवाहरलाल नेहरू (द) इन्दिरा गांधी
[उत्तर—(अ)]

अध्याय 11 : गांधीजी की सर्वोदय तथा सामाजिक पुनर्निर्माण कार्यक्रम की अवधारणा

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सर्वोदय का आदर्श क्या है?
2. सर्वोदय का अर्थ समझाइए।
3. महात्मा गांधी के सर्वोदय के सम्वन्ध में क्या विचार थे?
4. सर्वोदय के आदर्शों पर टिप्पणी लिखिए।

5. भूदान आन्दोलन क्या है?
6. गांधीजी के सामाजिक पुनर्निर्माण कार्यक्रम पर टिप्पणी लिखिए।
7. गांधीजी का आदर्श समाज क्या है?
8. गांधीजी के सामाजिक विचार संक्षेप में समझाइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सर्वोदय का अर्थ अति संक्षेप में समझाइए।
2. गांधीजी ने किस पुस्तक के सम्बन्ध में लिखा कि 'यह पुस्तक मेरे जीवन का मूल विन्दु लक्षित करती है।'
3. सर्वोदय आन्दोलन के तीन प्रमुख आदर्श कौन से माने गये हैं?
4. ग्राम राज के किन चार लक्षणों का उल्लेख किया गया है?
5. गांधीजी के आदर्श राज्य की कोई दो विशेषताएं बताइए?
6. अपरिग्रह का सिद्धान्त क्या है?
7. गांधीवादी समाजवाद को दो वाक्यों में समझाइए?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न (उत्तर-संकेत सहित)

1. सत्य/असत्य कथन छांटिए :

1. महात्मा गांधी एक आध्यात्मिक सन्त थे।
2. बीसवीं सदी के मनीषियों में महात्मा गांधी का नाम सबसे अधिक प्रमुख रूप से लिया जा सकता है।
3. विनोबाजी ने 'आधारभूत प्रजातंत्र' के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया।
4. गांधीजी के शब्दों में, "प्रत्येक अपना सर्वस्व समुदाय को प्रदान कर देगा और उसके सम्बन्ध में प्रत्येक प्रकार की चिन्ता समुदाय के द्वारा की जाएगी।"

[उत्तर—सत्य कथन—1, 2. 3 ; असत्य कथन—4.]

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

1. ....ने 'रामराज्य शब्द का प्रयोग भावनावश अलंकारिक अर्थ में किया है, शाब्दिक अर्थ में नहीं।'
2. गांधीजी अपने आदर्श राज्य को, '........' के नाम से भी पुकारते हैं।
3. प्रन्यास (न्यासिता) सिद्धान्त ....ने प्रतिपादित किया।
4. वर्ण-व्यवस्था को सामान्यतया हिन्दू सामाजिक जीवन का एक ....समझा जाता है।

[उत्तर—1. गांधीजी 2. अहिंसात्मक समाज 3. गांधीजी 4. दोष]

3. हरिजन सेवक संघ की स्थापना कब हुई?

(अ) 1952 (ब) 1942 (स)1932 (द) 1962

4. "बुनियादी शिक्षा उस सामाजिक क्रान्ति का एक महत्वपूर्ण अंग है जो सत्य एवं अहिंसा की गांधीजी की धारणा और स्वयं उनके जीवन का मूल स्वर है।" यह कथन किस विद्वान का है?

(अ) गांधीजी (ब) विलफ्रेड वेलांक (स) विनोबा भावे (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—(ब)]

5. 'ईशोपनिषद' का यह श्लोक किस नम्बर पर मिलता है—"सब कुछ में, जो कुछ भी इस ब्रह्माण्ड में है, परमात्मा रमा हुआ है। इन सबका परित्याग कर दो और आनन्द करो। दूसरों के धन का लोभ न करो।"

(अ) प्रथम (ब) द्वितीय (स) तृतीय (द) चतुर्थ

[उत्तर—अ]

6. 'द्विराष्ट्र सिद्धान्त' के प्रतिपादक थे :
(अ) मि. जिन्ना (ब) गांधीजी (स) विनोबा भावे (द) इनमें से कोई नहीं
[उत्तर—(अ)]
7. "प्रत्येक अपना सर्वस्व समुदाय को प्रदान कर देगा और उसके सम्बन्ध में प्रत्येक प्रकार की चिन्ता समुदाय के द्वारा की जायेगी" यह शब्द किसके हैं :
(अ) एम. चौधरी (ब) गांधीजी (स) डॉ. शर्मा (द) इनमें से कोई नहीं
[उत्तर— (अ)]
8. "भूदान कार्य के साथ मैंने अभी हाल ही में एक अन्य कार्यक्रम सम्पत्ति-दान यज्ञ का प्रारम्भ किया है। यह भूदान यज्ञ की पूर्ति के लिए आवश्यक है।" यह कथन किस विद्वान का है :
(अ) विनावा भावे (ब) गोविन्द रानाडे (स) गांधीजी (द) इनमें से कोई नहीं
[उत्तर—(अ)]
9. अप्रैल 1951 में देश के किस भाग में सर्वोदय सम्मेलन आयोजित हुआ?
(अ) शिवराम पल्ली (ब) आगरा (स) रामपुर (द) इनमें से कोई नहीं
[उत्तर—(अ)]
10. आधारभूत प्रजातंत्र सिद्धान्त के प्रतिपादक हैं :
(अ) के.एल. शर्मा (ब) विनोबा भावे (स) गांधीजी (द) इनमें से कोई नहीं
[उत्तर—(ब)]
11. '*Unto this last*' पुस्तक के लेखक हैं :
(अ) गांधीजी (ब) विनोबा भावे (स) जॉन रस्किन (द) इनमें से कोई नहीं
[उत्तर—(स)]
12. सही जोड़े बताइए :

1. *Unto this Last*	(अ) विनोबा भावे
2. आधारभूत प्रजातंत्र सिद्धान्त	(ब) 1932
3. द्विराष्ट्र सिद्धान्त	(स) जान रस्किन
4. हरिजन सेवक संघ	(द) मि. जिन्ना

[उत्तर—1. (स) 2. (अ) 3. (द) 4. (ब)]

अध्याय 12 : भारतीय पुनर्जागरण के काल में सामाजिक चिन्तन

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. उन्नीसवीं शताब्दी का भारतीय इतिहास में विशेष महत्व क्यों है?
2. पुनर्जागरण का अर्थ समझाइए।
3. भारतीय पुनर्जागरण की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख कीजिए।
4. भारत में पुनर्जागरण आन्दोलन को जन्म देने वाली किन्हीं दो परिस्थितियों को समझाइए।
5. भारतीय पुनर्जागरण काल के सामाजिक चिन्तन पर टिप्पणी लिखिए।
6. संक्षेप में सुधार आन्दोलन के परिणाम बताइए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(नोट : निम्नांकित प्रश्नों के उत्तर 20 शब्दों में दीजिए।)
1. पुनर्जागरण शब्द का प्रयोग किस अर्थ में किया गया है?
2. भारतीय पुनर्जागरण की कोई एक विशेषता बताइए।
3. भारतीय समाचार-पत्रों एवं साहित्य ने समाज-सुधार आन्दोलन में किस प्रकार योग दिया है?

4. भारत के लोग समाज-सुधार की ओर प्रवृत्त क्यों हुए?
5. अति संक्षेप में भारतीय पुनर्जागरण के परिणाम बताइए।
6. आर्य समाज/ब्रह्म समाज/प्रार्थना समाज की स्थापना कब, किसके द्वारा की गई?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सत्य/असत्य कथन पहचानिए —

1. ब्रह्म समाज विचारधारा के मुख्य आन्दोलनकर्ता राजा राममोहन राय थे।
2. पुनर्जागरण फ्रैंच भाषा के शब्द 'रिनेसा' का हिन्दी रूपान्तरण है।
3. भारतीय पुनर्जागरण काल के सामाजिक चिन्तन का मुख्य आधार धर्म रहा है।
4. भारतीय पुनर्जागरण काल के सामाजिक चिन्तन का सम्वन्ध वर्तमान से जुड़ा रहा है।

[उत्तर—सत्य कथन—1, 2, 3; असत्य कथन—4]

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

1. भारतीय पुनर्जागरण काल का सामाजिक चिन्तन........तथा मानवतावादी रहा है।
2. डॉ. रामधारी सिंह को........नाम से भी जाना जाता है।
3. सन्........में अंग्रेजी भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया।
4. केशवचन्द्र सेन के प्रयत्नों से '........' वना, जिसके अन्तर्गत बहुविवाह को दण्डनीय अपराध घोषित कर दिया गया।

[उत्तर—(1) समन्वयात्मक, उदार (2) दिनकर (3) 1835 (4) नेटिव मेरिज एक्ट]

3. 'स्वराज' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम किसने किया?

(अ) स्वामी दयानन्द सरस्वती (ब) विवेकानन्द
(स) महात्मा गांधी (द) डॉ. अम्बेडकर

[उत्तर—(अ)]

4. विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, किस सन् में पारित किया गया?

(अ) 1935 में (ब) 1856 में (स) 1956 में (द) 1998 में

[उत्तर—(ब)]

5. समाज सुधारकों के प्रयत्नों से 'एज ऑफ कन्सेन्ट बिल' बना।

(अ) 1891 में (ब) 1991 में (स) 1971 में (द) 1950 में

[उत्तर—(अ)]

6. राजा राममोहन राय का जन्म हुआ :

(अ) 1772 में (ब) 1872 में (स) 1973 में (द) 1974 में

[उत्तर—(अ)]

7. राजा राममोहन राय ने ब्रह्म समाज की स्थापना कब की?

(अ) 1828 में (ब) 1928 में (स) 1930 में (द) 1940 में

[उत्तर—(अ)]

8. ब्रह्म समाज को कितने भागों में बांटा गया?

(अ) तीन (ब) दो (स) चार (द) पांच

[उत्तर—(ब)]

9. 'नये युग का अग्रदूत' किसे कहा गया है?

(अ) राजा राममोहन राय (ब) स्वामी विवेकानन्द
(स) दयानन्द सरस्वती (द) अम्बेडकर

[उत्तर—(अ)]

10. 'सन्त-सभा' की स्थापना किसने की?

(अ) राजा राममोहन राय (ब) केशवचन्द्र सेन

(स) महात्मा गांधी (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—(ब)]

11. सत्यार्थ प्रकाश, संस्कार विधि, यजुर्वेद भाष्य आदि पुस्तकों की रचना किसने की?

(अ) महर्षि दयानन्द (ब) केशवचन्द्र सेन

(स) बालगंगाधर तिलक (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—(अ)]

12. कवि दिनकर ने आर्य समाज को क्या कहा?

(अ) जाग्रत हिन्दुत्व का समरनाद (ब) समाज सुधार सभा

(स) प्रार्थना समाज (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—(अ)]

13. थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना किसने की?

(अ) कर्नल अल्काट व ब्लेवटास्की ने (ब) रामधारी सिंह दिनकर ने

(स) दयानन्द सरस्वती ने (द) राजा राममोहन राय ने

[उत्तर—(अ)]

14. दि इण्डियन आइडियल्स, इण्डिया ए नेशन, हाउ इण्डिया गॉट हर फ्रीडम किसकी रचनाएं हैं?

(अ) एनीबीसेण्ट (ब) डॉ. आत्माराम

(स) टी. बी. बॉटोमोर (द) प्रो. राधाकमल मुकर्जी

[उत्तर—(अ)]

15. सही जोड़े बनाइए—

(1) एनीबीसेण्ट का जन्म (अ) 1847

(2) रामकृष्ण मिशन की स्थापना (ब) 1897

(3) आर्य समाज की स्थापना (स) 1875

(4) सन्त सभा की स्थापना (द) केशवचन्द्र सेन

[उत्तर—1. (अ) 2. (ब) 3. (स) 4. (द)]

अध्याय 13 : भारत में समाजशास्त्र

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्राचीन भारत में समाजशास्त्र के विकास पर टिप्पणी लिखिए।
2. भारत में समाजशास्त्र के औपचारिक प्रतिस्थापना युग की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं?
3. पाश्चात्य समाजशास्त्रीय परम्परा से प्रभावित विचारधारा के मानने वाले विद्वानों का समाजशास्त्रीय योगदान बताइये।
4. परम्परागत भारतीय चिन्तन से प्रभावित समाजशास्त्रियों ने भारत में समाजशास्त्र के विकास में क्या योग दिया?
5. पाश्चात्य एवं भारतीय समाजशास्त्रीय परम्पराओं से सम्बन्धित चिन्तन से प्रभावित प्रवृत्ति क्या है?

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(नोट : निम्नांकित प्रश्नों का उत्तर 20 शब्दों में दीजिए।)

1. एक विशिष्ट एवं पृथक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की उत्पत्ति का श्रेय किस विद्वान को है?
2. किन प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में सामाजिक चिन्तन का व्यवस्थित रूप देखने को मिलता है?
3. प्राचीन भारतीय ग्रन्थों का समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन करने में किन विद्वानों ने योग दिया?
4. कब से कब तक का समय भारत में समाजशास्त्र के विकास का प्रतिस्थापन युग कहा जा सकता है?
5. भारत में समाजशास्त्र के विकास की प्रमुख प्रवृत्तियां बताइए।
6. समाजशास्त्र के विकास में किसी भारतीय समाजशास्त्री के योगदान का अति संक्षेप में उल्लेख कीजिए।

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सत्य/असत्य कथन पहचानिए —

1. बोटोमोर के अनुसार समाजशास्त्र एक आधुनिक विज्ञान है जो एक शताब्दी से अधिक पुराना नहीं है।
2. एक विशिष्ट एवं पृथक विज्ञान के रूप में समाजशास्त्र की उत्पत्ति का श्रेय फ्रांस के अगस्त कॉम्ट को है।
3. मैकाइवर ने अर्थशास्त्र की रचना की।
4. मनु ने मनुस्मृति की रचना की।

[उत्तर—सत्य कथन—1, 2, 4; असत्य कथन—3]

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

1. समाजशास्त्र की उत्पत्ति का श्रेय........को जाता है।
2. शुक्राचार्य ने........की रचना की।
3. सन्........से........तक का काल भारत में समाजशास्त्र का औपचारिक प्रतिस्थापन युग कहा जा सकता है।
4. सर्वप्रथम सन् 1914 में........में स्नातक स्तर पर समाजशास्त्र का अध्ययन कार्य प्रारम्भ हुआ।

[उत्तर—(1) अगस्त कॉम्ट (2) नीतिशास्त्र (3) 1914-1947 (4) बम्बई विश्वविद्यालय।]

3. किनके प्रयत्नों से 'सोशियोलॉजिकल बुलेटिन' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ?

(अ) डॉ. घुरिये (ब) डॉ. मजूमदार (स) डॉ. हर्ट्न (द) रिजले

[उत्तर—(अ)]

4. *'Marriage and Family in India'* पुस्तक के लेखक हैं :

(अ) मैकाइवर व पेज (ब) गिलिन व गिलिन (स) डॉ. कापड़िया (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—(स)]

5. डॉ. श्री निवास ने कहां के लोगों का अध्ययन किया?

(अ) दक्षिण भारत के कुर्ग लोगों का (ब) उत्तर भारत के लोगों का

(स) पश्चिम भारत के लोगों का (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—(अ)]

6. 'सांस्कृतीकरण' की अवधारणा किसने प्रस्तुत की?
(अ) डॉ. मजूमदार (ब) डॉ. रिवर्स (स) श्रीनिवास (द) रिजले
[उत्तर—(स)]

7. 'An Indian Village' 'India's Changing Villages' तथा 'The Kamar' पुस्तकों के लेखक हैं :
(अ) डॉ. एस.सी. दुबे (ब) डॉ. मजूमदार (स) डॉ. रिवर्स (द) डॉ. रिजले
[उत्तर—(अ)]

8. 'अर्थशास्त्र का संस्थात्मक सिद्धान्त' किसने प्रतिपादित किया?
(अ) डॉ. राधाकमल मुखर्जी (ब) रामकृष्ण मुखर्जी
(स) डी.पी. मुखर्जी (द) इनमें से कोई नहीं।
[उत्तर—(अ)]

9. प्रवासिता का सिद्धान्त' किस विद्वान की देन है?
(अ) डॉ. राधाकमल मुखर्जी (ब) जी.एस. घुरिये
(स) डी.पी. मुखर्जी (द) इनमें से कोई नहीं।
[उत्तर—(अ)]

10. 'Modern Indian Culture' तथा 'Diversities' पुस्तकों के लेखक हैं :
(अ) डॉ. सक्सेना (ब) डॉ डी.पी. मुखर्जी
(स) डॉ. घुरिये (द) इनमें से कोई नहीं
[उत्तर—(ब)]

11. डी.पी. मुखर्जी किस प्रवृत्ति से अधिक प्रभावित रहे हैं?
(अ) मार्क्सवादी चिन्तन (ब) परम्परावादी चिन्तन
(स) सर्वोदयी चिन्तन (द) इनमें से कोई नहीं
[उत्तर—(अ)]

12. सही जोड़े बनाइए—
1. *Social Ecology* (अ) डॉ. जी.एस. घुरिये
2. *Diversities* (ब) डी.पी. मुखर्जी
3. *Culture and Society* (स) राधाकमल मुखर्जी
[उत्तर—1. (स) 2. (ब) 3. (अ)]

अध्याय 14 : गोविन्द सदाशिव घुरिये

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. डॉ. घुरिये का जीवन-चित्रण कीजिए।
2. डॉ. घुरिये के अनुसार जाति की प्रमुख विशेषताएं कौन सी हैं?
3. जनजातियों पर डॉ. घुरिये के विचार बताइए।
4. भारत की प्रजातियों के सम्बन्ध में डॉ. घुरिये ने क्या लिखा है?
5. अस्पृश्यता के सम्बन्ध में प्रो. घुरिये के विचार बताइये।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(नोट : निम्नांकित प्रश्नों का उत्तर 20 शब्दों में दीजिए।)
1. डॉ. घुरिये की दो प्रसिद्ध रचनाएं कौन सी हैं?
2. समाज के खण्डात्मक विभाजन से क्या तात्पर्य है?

3. जाति के आधार पर विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध किस रूप में पाए जाते हैं?
4. व्यवसाय तथा जाति के सम्बन्धों का उल्लेख डॉ. घुरिये ने कहां किस पुस्तक में किया है?
5. प्रो. घुरिये ने *'The Scheduled Tribes'* नामक पुस्तक में किन विषयों पर चर्चा की है?
6. प्रो. घुरिये ने भारतीय जनसंख्या में किन छः मुख्य प्रजातीय तत्वों का उल्लेख किया है?
7. जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु डॉ. घुरिये ने क्या सुझाव दिया है?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सत्य/असत्य कथन पहचानिए —

1. प्रो. घुरिये का जन्म 12 दिसम्बर, 1893 में महाराष्ट्र के मालवा क्षेत्र के एक सारस्वत ब्राह्मण परिवार में हुआ।
2. सन् 1930 में लखनऊ विश्वविद्यालय ने समाजशास्त्र विषय पढ़ाने के लिए प्रो. पैट्रिक गेड्डिस को आमंत्रित किया।
3. घुरिये ने डॉ. रिवर्स के निर्देशन में 'जाति का प्रजातीय सिद्धान्त' विषय पर शोध कार्य किया।
4. 1923 में प्रो. घुरिये ने केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से डाक्टरेट की उपाधि ग्रहण की।

[उत्तर—सत्य कथन—1, 3, 4; असत्य कथन—2]

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

1. 'भारतीय साधु' पुस्तक घुरिये ने........में प्रकाशित की।
2. 'भारत में सामाजिक तनाव' नामक घुरिये की पुस्तक में कुल........अध्याय हैं।
3. प्रो. घुरिये को 'जाति, वर्ग एवं व्यवसाय' पुस्तक पूर्व में लिखी दो पुस्तकों *Caste and Class in India* तथा........का ही विस्तृत रूप है।
4. प्रो. घुरिये ने........नामक अपनी पुस्तक में भारत की जनजातियों की समस्याओं और उनके समाधान के वारे में विस्तार से चर्चा की है।

[उत्तर—(1) 1964 (2) 14 (3) Caste and Race in India (4) The Scheduled Tribes.]

3. किन विद्वानों ने जनजातीय समस्याओं के समाधान हेतु पृथक्करण की नीति अपनाने का सुझाव दिया है?

(अ) घुरिये व डॉ. दास (ब) हट्टन तथा मजूमदार
(स) मैकाइवर व पेज (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—(ब)]

4. भारतीय जनजातियों को घुरिये ने क्या माना है?

(अ) पिछड़े हिन्दू (ब) हिन्दू (स) हिन्दू पिछड़े (द) इनमें से कोई नहीं

[उत्तर—(अ)]

5. घुरिये के वारे में यह कथन किसने लिखा है "उनके कार्य इस देश में लम्वे समय तक जाने जायेंगे तथा उन्होंने उन्हें समाजशास्त्रीय सृजनात्मकता के प्रतीक बना दिया है।"

(अ) मर्टन (ब) घुरिये (स) डॉ. दास (द) मैकाइवर

[उत्तर—(अ)]

6. प्रो. घुरिये ने जाति सम्बन्धी अपने विचार किस पुस्तक में प्रस्तुत किये हैं?

(अ) Caste, Class and Occupation (ब) भारतीय साधु
(स) Gods and Men (द) Social Process

[उत्तर—(अ)]

7. 'भारत में सामाजिक तनाव' पुस्तक किस सन् में प्रकाशित हुई?
   (अ) 1968 (अ) 1964 (स) 1960 (द) 1950
   [उत्तर—(अ)]

अध्याय 15 : एम. एन. श्रीनिवास

लघु उत्तरीय प्रश्न

1. श्रीनिवास के जाति सम्बन्धी विचारों पर टिप्पणी कीजिए।
2. संस्कृतीकरण की अवधारणा समझाइए।
3. पश्चिमीकरण से क्या तात्पर्य है?
4. संस्कृतीकरण के आदर्शों पर टिप्पणी कीजिए।
5. प्रभु जाति की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
6. भारत में पश्चिमीकरण पर टिप्पणी लिखिए।
7. श्रीनिवास के अनुसार वर्ण और जाति में क्या भेद पाया जाता है?
8. ग्रामीण अंध्ययनों का क्या महत्व है?
9. समाजशास्त्र में प्रो. श्रीनिवास के योगदान पर टिप्पणी कीजिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

(नोट : निम्नांकित प्रश्नों का उत्तर 20 शब्दों में दीजिए)

1. संस्कृतीकरण की अवधारणा का प्रयोग श्रीनिवास ने अपनी किस पुस्तक में किया?
2. संस्कृतीकरण की परिभाषा दीजिए।
3. संस्कृतीकरण के आदर्श वताइए।
4. संस्कृतीकरण और प्रभु जातियों का क्या सम्बन्ध है?
5. पश्चिमीकरण का अर्थ अति संक्षेप में समझाइए।
6. पश्चिमीकरण के कारण मैसूर के ब्राह्मणों के जीवन में कौन से परिवर्तन आये?
7. प्रो. श्रीनिवास ने जातियों के भविष्य को लेकर कौन-कौन से दो प्रश्न उठाये हैं?
8. प्रभु जाति की परिभाषा दीजिए।
9. सामाजिक मानवशास्त्री किस पद्धति को काम में लेते हुए समाजों का अध्ययन करते हैं?

वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. सत्य/असत्य कथन पहचानिये—

1. संस्कृतीकरण की अवधारणा श्रीनिवास ने प्रतिपादित की है।
2. पश्चिमीकरण की अवधारणा के प्रतिपादक राधाकमल मुखर्जी हैं।
3. श्री निवास ने संस्कृतीकरण का सर्वप्रथम ब्राह्मणीय आदर्श प्रस्तुत किया था।
4. डॉ. योगेन्द्र सिंह के अनुसार संस्कृतीकरण ब्राह्मणीकरण की अपेक्षा अधिक व्यापक अवधारणा है।

[उत्तर—सत्य कथन—1, 3, 4; असत्य कथन—2]

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए—

1. ....ने संस्कृतीकरण के क्षत्रिय आदर्श के अस्ि:त्व की चर्चा की है।
2. सन् 1955 में........ने जातीय छुआछूत को कानूनन समाप्त कर दिया है।
3. 1954 का........अधिनियम अन्तर्जातीय विवाहों को स्वीकृति देता है।

4. पश्चिमीकरण की अवधारणा का उल्लेख........ने किया है।
5. पश्चिमीकरण में........की भावना सम्मिलित है।

[उत्तर—(1) पोकॉक (2) अस्पृश्यता अपराध अधिनियम (3) विशेष विवाह (4) श्रीनिवास (5) समानता]

3. यह किसका मत है कि पश्चिमी मॉडल केवल ऐतिहासिक दृष्टि से पश्चिमी है, समाजशास्त्रीय दृष्टि से विश्वव्यापी। :

(अ) लर्नर (ब) रुडोल्फ (स) दुर्खीम (द) मार्क्स

[उत्तर—(अ)]

4. "साधारणतः आधुनिक होने का अर्थ फैशनेबल से लिया जाता है।" यह किसने बताया है?

(अ) रुडोल्फ (ब) लर्नर (स) लैण्डिस (द) योगेन्द्र सिंह

[उत्तर—(द)]

5. '*Modernisation : Protest and Change*' पुस्तक के लेखक हैं :

(अ) लर्नर (ब) रुडोल्फ (स) आइजन स्टैड (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—(स)]

6. आधुनिकता को आधुनिकीकरण से अधिक व्यापक कौन मानता है?

(अ) डॉ. राजकृष्ण (ब) डॉ. रामकृष्ण (स) डॉ. राधाकमल (द) इनमें से कोई नहीं।

[उत्तर—(अ)]

7. '*Contemporary India and its Modernisation*' पुस्तक के लेखक हैं :

(अ) डॉ. दुबे (ब) डॉ. घुरिये (स) डॉ. रिजले (द) डॉ. मजूमदार

[उत्तर—(अ)]

8. किसने आधुनिक के स्थान पर विकसित तथा परम्परात्मक के स्थान पर अनुगामी शब्दों का प्रयोग किया है?

(अ) रुडोल्फ (ब) मैकाइवर (स) लैण्डिस (द) बेनडिक्स

[उत्तर—(द)]

9. 'दी टाइम्स ऑफ इण्डिया' समाचारपत्र का प्रकाशन कब प्रारम्भ हुआ?

(अ) 1857 में (ब) 1957 में (स) 1834 में (द) 1890 में

[उत्तर—(स)]

10. डॉ. घुरिये के अनुसार ऋग्वेद में कितने वर्णों का उल्लेख मिलता है?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पांच

[उत्तर—(अ) आर्य और दास]

11. हिन्दू धर्म में ईश्वर प्राप्ति के कितने मार्ग बताए गए हैं?

(अ) दो (ब) तीन (स) चार (द) पांच

[उत्तर—(ब) ज्ञान, कर्म, भक्ति]

12. सही जोड़े बनाइये—

1. Caste, Class and Power (अ) आन्द्रेबिताई
2. Caste, Class and Occupation (ब) घुरिये
3. Social Change in Modern India (स) श्रीनिवास

[उत्तर—(1) (अ) (2) (ब) (3) (स)]